कल्याण

Vol. 70 1996 No. 2-5, 10-11

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

धर्म

'वृषो हि भगवान् धर्मः'

वर्ष ७०
संख्या २

[परिशिष्टाङ्क—१]

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०५२, श्रीकृष्ण-सं० ५२२१, फरवरी १९९६ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

गुरुसेवा-धर्मके आदर्श—भगवान् श्रीराम एवं लक्ष्मण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
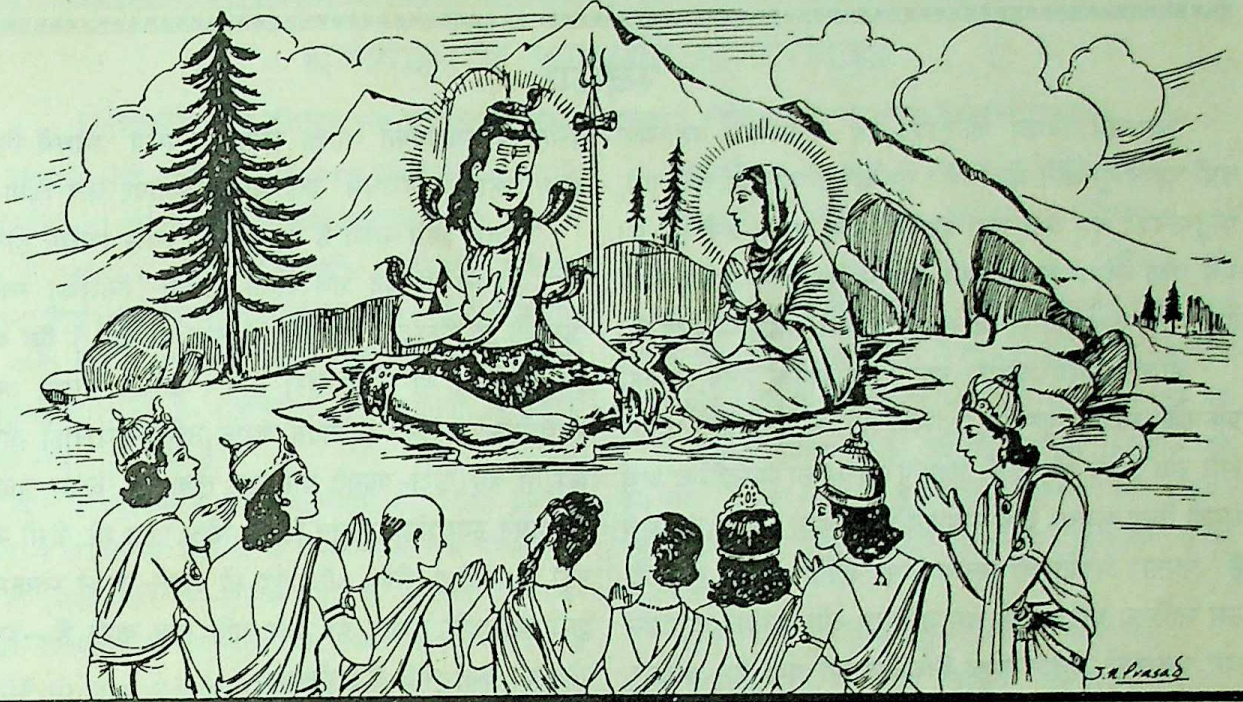
कल्याण

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

वर्ष ७० } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०५२, श्रीकृष्ण-सं० ५२२१, फरवरी १९९६ ई० { संख्या २ / पूर्ण संख्या ८३१

भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणद्वारा गुरु विश्वामित्रका पादसंवाहन-धर्म

निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

स्वधर्म

'स्वधर्ममें रहकर जीवनका रथ चलाओ'—यह बात वर्षों पहले गुरुजीने कही थी। गुरुजी तो परलोक चले गये, परंतु उनकी वह बात सदा हृदयमें स्थान करके बनी हुई है। धर्म तथा स्वधर्मके विषयमें गीतामें बहुत-से वाक्य आये हैं। परंतु स्वधर्मका सच्चा रहस्य गीतामें समझाया गया है।

आज संसारमें धर्मका रहस्य समझानेके लिये अनेकों प्रकारके प्रवचन, पुस्तकें, मासिक पत्र, संस्थाएँ तथा मन्दिर और संत आदि मौजूद हैं, तथापि स्वधर्मका वास्तविक अर्थ समझे बिना धर्मका अर्थ समझमें नहीं आता। 'स्व' का अर्थ है 'अपना' अर्थात् जो मनुष्य जिस जातिमें उत्पन्न हुआ है, उस जातिका धर्म। हमारे समाजमें गुण और कर्मके आधारपर चार प्रकारकी वर्णव्यवस्था निर्धारित की गयी है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन चारोंमें सारी मनुष्य-जाति आ जाती है। इन चारोंके लिये सर्वसामान्य आचरण करनेके लिये जो आदर्श निर्धारित किये गये हैं, वे 'धर्म' कहलाते हैं। इसी प्रकार इन चारोंके लिये पृथक्-पृथक् विशेष धर्मके अनुसार आचरणमें लानेके लिये जो आदर्श निर्धारित हैं, वे 'स्वधर्म' कहलाते हैं। उदाहरणार्थ सत्य, तप, दया और दान—इन चारोंका यथाशक्ति पालन करना चारों ही जातियोंका धर्म है। परंतु ब्राह्मणके लिये पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान लेना और दान देना—ये 'स्वधर्म' कहलाते हैं। इस प्रकार 'धर्म' और 'स्वधर्म'का जो रहस्य बताया गया है, उसका यथार्थ ज्ञान समाजमें हो, तभी समाजका पाया मजबूत होगा।

आज धर्मका प्रचार होता है, परंतु 'स्वधर्म'का प्रचार नहीं होता। इस कारण 'स्वधर्म'का आचरण किये बिना धर्मका पालन करनेमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं। जिस प्रकार भाषा सीखनेमें पहले बारहखड़ी, व्याकरण आदि सीखनेके उपरान्त साहित्य सिखलाया जाता है, उसी प्रकार संसारके मनुष्योंको स्वधर्म, धर्म और परधर्मकी शिक्षा दी जाय तो संसारके मनुष्योंमें क्लेश, कलह, मतभेद तथा लड़ाई-दंगा मिट जाय। भगवान्ने इसीलिये स्वधर्मकी महत्ता समझाते समय '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**' कहकर 'स्वधर्म' की आवश्यकतापर जोर दिया है।

बहुतसे लोग कहते हैं कि पृथक्-पृथक् स्वधर्म होनेपर ऐसी भावना होनेका भय रहता है कि 'किसका स्वधर्म ऊँचा है तो किसका नीचा।' पर सच तो यह है कि कोई स्वधर्म ऊँचा या नीचा नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वधर्मरूपी कर्मका सम्पादन करके उसे भगवान्को अर्पण करे तो वह मोक्ष-पदको प्राप्त कर लेता है। केवल ब्राह्मण ही अपने स्वधर्मका पालन करके मोक्ष पाता हो, ऐसी बात नहीं है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने स्वकर्मके द्वारा ब्राह्मणके समान ही उच्च गति प्राप्त करते हैं—इसमें शंकाकी बात नहीं है। गीताके—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

—अपने कर्मके द्वारा भगवान्को पूजकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है, इस वाक्यसे यह शंका दूर हो जाती है।

आज समाजमें राजस और तामस-प्रभाव बढ़ जानेके कारण लोगोंको 'स्वधर्म'का पालन करना कठिन प्रतीत होता है। इस कारण वे 'स्वधर्म'की उपेक्षा कर रहे हैं तथा सामान्य धर्म पालन करनेका प्रयत्न करते हैं, परंतु उसमें सफलता नहीं मिलती। इस प्रकार स्वधर्म और धर्म दोनोंका यथावत् पालन न करनेसे परधर्मको समझनेका ज्ञान प्राप्त नहीं होता। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि स्वधर्म-पालन छोड़कर मनुष्य परधर्मका पालन करनेके लिये तत्पर हो जाता है। ऐसा करनेसे अपने स्वधर्मका पालन ही केवल निष्फल नहीं जाता, बल्कि परधर्मका भी यथावत् पालन नहीं किया जा सकता। परिणाम यह होता है कि मनुष्य '**इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः**'की स्थितिमें पड़ जाता है।

अपना समाज जिस दिन स्वधर्मका पालन करने लगेगा, उसी दिन धर्मका प्रभाव भी पड़ेगा और परधर्मका मर्म भी समझमें आ सकेगा।

परमात्मा सबको स्वधर्म-पालन करनेके लिये बल दें, यही प्रार्थना है।

धर्मशास्त्रोंमें मनुस्मृतिका वैशिष्ट्य

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृंगेरीशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

संसारके सभी प्राणी अपना कल्याण चाहते हैं और उसीके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, किंतु सभीके कल्याण-प्राप्तिके साधनोंमें 'धर्म'ही मुख्य है—यह सभी ऋषि-महर्षियोंका सुनिश्चित निर्भ्रान्त निर्णय है। उस धर्मका ज्ञान एकमात्र वेदोंसे ही सम्भव है। वही वेदोक्त धर्म मनु आदि स्मृतियोंमें सरल भाषामें विस्तारसे प्रतिपादित है। इसलिये ये सभी स्मृतियाँ 'धर्मशास्त्र' नामसे संसारमें प्रसिद्ध हैं।

कहा जा सकता है कि जब वेदोंसे ही धर्मका ज्ञान हो सकता है तो फिर इन स्मृतियों या धर्मशास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर है—श्रुतियाँ अनन्त हैं, असंख्य हैं। उनकी शाखा-प्रशाखाओंकी अनन्तता और व्यापकताके कारण कई जन्मोंमें भी अध्ययन सम्भव नहीं है। साथ ही वे इतनी जटिल और दुर्बोध हैं कि कोई संसारी प्राणी उनका ठीक-ठीक अर्थ समझ नहीं सकता। साथ ही अब उनकी अधिकांश शाखाएँ लुप्त, प्रगुप्त और प्रणष्ट हो गयी हैं। उनका कोई अता-पता ही नहीं रह गया। जब उनका दर्शन भी असम्भव हो गया है तो उनके द्वारा धर्म जाननेका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। मनुष्योंपर कृपा करके सर्वज्ञ-कल्प मनुवादी वेदवेत्ता, मन्त्रद्रष्टा विद्वानोंने उन वेदोंके आधारपर ही सरल भाषामें स्मृतियों या धर्मशास्त्रोंकी रचना कर धर्मका ज्ञान करानेका प्रयत्न किया। इसलिये धर्म-निर्णयमें धर्मशास्त्रोंका—स्मृतियोंका प्रमाण सर्वथा निर्विवाद है।

सभी स्मृतिप्रणेताओंमें महाराज मनु अग्रगण्य हैं और सभी स्मृतियोंमें मनुस्मृति निर्विवाद-रूपसे प्रधान या सर्वोपरि मानी गयी है। उसकी महिमामें कहा भी गया है—**'यद्वै किञ्च मनुरवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः'**। अर्थात् मनुने जो भी कहा है वह कल्याणका भी परम कल्याण है। ओषधियोंकी भी ओषधि है। सन्मार्गका भी सन्मार्ग है अर्थात् सर्वोपरि धर्म है। भाव यह है कि रोगमुक्तिके लिये रोगीको औषधि लेना जैसे परमावश्यक है, वैसे संसार-क्लेशमें पड़े मानवके लिये मनुस्मृतिके वचन भी परम औषध, परम पथ्य, परम कल्याणकारी हैं। उनका अनुसरण अवश्य करना चाहिये—करना ही होगा।

अस्तु, भगवान् आदिराज मनुका कथन है—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥

(मनु० २। २)

अर्थात् इस संसारमें (किसी वस्तुकी) कामना करना श्रेष्ठ नहीं है, फिर भी कामना नहीं है, ऐसा नहीं है। वेदोंका अध्ययन करना और वेदविहित कर्मानुसार करना भी काम्य है। भाव यह है कि अधिक कामना उचित नहीं है, अन्यथा कामनाएँ जब जड़ जमा लेंगी तो बन्धनसे, पुनर्जन्मोंकी परम्परासे और संसार-चक्रसे मुक्ति नहीं मिलेगी। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें यही बात—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥[1]

(१८। ६)

—इत्यादि वचनोंसे बार-बार दुहराई है। इसी मतका प्रतिपादन किया है, समर्थन किया है। अतः कर्मफलमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

धर्मशास्त्रोंमें वर्णित धर्म कई प्रकारके हैं। इनमें दो मुख्य हैं—सामान्य धर्म और विशेष धर्म। सामान्य धर्म तो सबके लिये समान है किंतु विशेष धर्म जो जिसका विहित है, उसीका उसमें अधिकार है। इसीको लक्ष्य कर गीतामें कहा गया है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३। ३५)

अर्थात् अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना ही कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।

अहिंसा, सत्य-भाषण, चोरी आदि न करना, पवित्र रहना, इन्द्रियोंपर नियन्त्रण करना—ये सबके लिये सामान्य धर्म हैं। इनमें भी इन्द्रिय-निग्रहका विशेष महत्त्व है। जो इन्द्रियोंके नियन्त्रणमें समर्थ नहीं है, वही चोरी-डकैती और हत्या आदिमें प्रवृत्त होता है और फिर महापापी बन जाता है। जो जितेन्द्रिय है, वह शान्तचित्त बुद्धिमान् व्यक्ति कभी हिंसा आदि पाप-

१-हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।

कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होता। अतः सभीको इन्द्रिय-निग्रहमें ही विशेषरूपसे प्रयत्नशील होना चाहिये। जैसे लगामसे नियन्त्रित घोड़ा रथको ठीकसे चलाता है परंतु बेकाबू घोड़ा उसी रथको गढ़े आदिमें गिरा सकता है, वैसे ही अनियन्त्रितेन्द्रिय व्यक्तिका पतन भी निश्चित है। इसलिये मनुने कहा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥

(२। ८८)

अर्थात् जैसे सारथी घोड़ोंको नियन्त्रित करनेमें प्रयत्नशील रहता है, वैसे ही मनुष्यको अपनी इन्द्रियोंको सुनियन्त्रित करनेके लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये।

इसी बातको भगवान् श्रीकृष्णने भी निम्नलिखित श्लोकोंमें कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २। ६७-६८)

अर्थात् जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है। हे महाबाहो अर्जुन! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है।

इसी प्रकार धर्म-चिकीर्षु मनुष्यको अपने मन, वचन और बुद्धिकी शुद्धि तथा पवित्रतापर पूरा ध्यान रखना चाहिये। वाणीकी शुद्धि तो मधुर, सत्य-भाषणसे सम्पन्न होती है और मनकी शुद्धि राग-द्वेषसे मुक्त होनेपर होती है। ऐसा ही व्यक्ति शास्त्रोक्त धर्माचरणका फल पाता है—दूसरा नहीं। जैसा कि मनुजीने कहा है—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥

(मनु० २। १६०)

अर्थात् जिसकी वाणी और मन शुद्ध तथा हमेशा सम्यक् रीतिसे सुरक्षित है, वह वेदान्तमें कहे हुए सभी फलोंको पाता है।

भगवान् भी गीतामें यही कहते हैं—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(१७। १५)

अर्थात् जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है[1] तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नामजपका अभ्यास है, वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

धर्म ही इस लोक तथा परलोकके सभी सुखोंका मूल कारण है, साथ ही परम पुरुषार्थ—मोक्षका भी यही मूल कारण है और अद्वैत-ज्ञानका भी साधन है। इस बातको मनुजीने भी स्पष्टरूपसे कहा है—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥
यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥

(मनु० १२। ८५, ९२)

अर्थात् सभी कर्मोंमें आत्मज्ञान सबसे श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि वही सभी विद्याओंमें श्रेष्ठ है, उसीसे अमृतत्वका लाभ होता है। इसलिये श्रेष्ठ ब्राह्मणको चाहिये कि वह अन्य साधारण कर्मोंको छोड़कर भी आत्मज्ञान, इन्द्रिय-निग्रह और वेदाभ्यासमें संलग्न रहे। भगवान्ने भी इस बातको—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(गीता ४। ३८)

अर्थात् 'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।

—इस रूपमें कहा है।

इस प्रकार गीता और मनुस्मृतिकी बहुत-सी बातें परस्पर मिलती हैं। इसलिये भी साक्षात् भगवद्वचनोंसे साम्य होनेके कारण मनुस्मृतिकी सभी धर्मशास्त्रोंमें प्रधानता सिद्ध हो जाती है। सभी मनुष्य साधिकार यथाविधि इस मानव धर्मशास्त्र-मनुस्मृतिका अध्ययन, मनन और तदनुसार आचरण कर परम कल्याणके भागी बन सकते हैं।

१-मन और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा ही कहनेका नाम 'यथार्थ भाषण' है।

धर्म क्या है?

(महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

विशालविश्वस्य निधानबीजं
वरं वरेण्यं विधिविष्णुशर्वैः।
वसुंधरावारिविमानवह्नि-
वायुस्वरूपं प्रणवं विवन्दे॥

धर्म क्या है?—'**ध्रियते येन स धर्मः**'। जिसने इस विश्व-ब्रह्माण्डको धारण किया है, वह धर्म है।

ऋग्वेदमें लिखा है—

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥

(ऋक्-संहिता १। २२। १८)

अर्थात् परमेश्वरने आकाशके बीचमें त्रिपाद-परिमित स्थानमें त्रिलोकका निर्माण करके उनके भीतर धर्मों (जगन्निर्वाहक कर्मसमूहों)-को स्थापित किया।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

(ऋग्वेद १०। ९०। १६)

'यज्ञके द्वारा यज्ञपुरुषकी देवताओंने पूजा की थी, यह प्राथमिक धर्म था।' देवलोककी प्रेरणासे मनुष्य-लोकमें यज्ञ प्रवर्तित हुआ।

ईशोपनिषद्में लिखा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

(१५)

'ज्योतिर्मय पात्रके द्वारा सत्यका (अर्थात् आदित्यमण्डलस्थ व्याहृति-अवयव पुरुषका) मुख (मुख्य स्वरूप) आवृत है। हे जगत्के परिपोषक सूर्यदेव! सत्यस्वरूप तुम्हारी उपासनाके फलसे सत्यस्वरूपकी मेरी उपलब्धिके लिये उस आवरणको हटा दो।'

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।

(कठ० उ० १। १। २१)

नचिकेता आत्मज्ञानकी प्राप्तिके अधिकारी हैं या नहीं—यह परीक्षा करनेके लिये यमराज कहते हैं—

'इस तत्त्वके विषयमें सृष्टिकालमें देवगणको भी संदेह हुआ था, क्योंकि यह आत्माख्य धर्म सूक्ष्म होनेके कारण सुविज्ञेय नहीं है।' इस मन्त्रसे धर्म 'आत्मा'के नामसे कथित हुआ है।

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।

(कठ० १। २। १३)

मनुष्य इस आत्मतत्त्वको श्रवण करके, 'मैं ही आत्मा हूँ'—इस प्रकार उसको सम्यक् ग्रहण करके, पश्चात् आत्मज्ञानरूपी श्रेष्ठ धर्मकी सहायतासे प्राप्त उस आत्माको देहादिसे पृथक् उपलब्ध करता है।

यहाँ तत्त्वज्ञानको ही धर्म कहा है।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।

(कठ० १। २। १४)

—इस मन्त्रमें शास्त्रीय अनुष्ठानको धर्म कहा है।

यथोदकं दुर्गे वृष्टम्।

(कठ० २। १। १४)

'दुर्गम पर्वत-शिखरपर वर्षित वृष्टिधारा जिस प्रकार निम्नतर पहाड़ी प्रदेशमें फैल जाती है, उसी प्रकार जो व्यक्ति '**धर्मान्**' अर्थात् सब प्राणियोंको....।' इस मन्त्रमें उपनिषद्माताने 'धर्म' शब्द प्राणीके अर्थमें प्रयुक्त किया है।

सत्यं वद। धर्मं चर।

(तैत्तिरीय० १। ११। १)

'सत्य बोलो। धर्म (अनुष्ठेय कर्म)-का आचरण करो।' इस स्थलमें 'धर्म' शब्द अनुष्ठेय कर्मके अर्थमें है।

स च एतदेवं विद्वान्.....

(छान्दोग्योपनिषद् २। १। ४)

'जो कोई इस प्रकार जानकर साधुगुण-विशिष्टरूपमें सामकी उपासना करता है, उसके पास सारे उत्तम धर्म (पुण्यसमूह) अति शीघ्र आ जाते हैं और उसके भोग्य-रूपमें अवस्थान करते हैं।' यहाँ 'धर्म' शब्द पुण्य-अर्थमें आया है।

'स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं'

(बृहदारण्यक० १। ४। १४)

'वे तब भी सक्षम न हुए, उन्होंने श्रेयःस्वरूप, सबके लिये कल्याणप्रद धर्मकी सृष्टि की।' यह धर्म ही क्षत्रियका क्षत्रिय अर्थात् नियन्ता है। अतएव धर्मसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। राजाकी सहायतासे जैसे कोई दूसरेको जीत लेता है, उसी प्रकार धर्मकी सहायतासे दुर्बल मनुष्य सबको जीतनेकी कामना करता है। वह धर्म ही सत्य है। इसी कारण जब कोई सत्य बोलता है, तब ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह धर्म कहता है और धर्म बोलनेपर कहते हैं कि यह सत्य कहता है, क्योंकि धर्म ही यह दोनों हो जाता है।

श्रुतिमाता धर्मस्वरूपा हैं। धर्म आत्मा है, धर्म तत्त्वज्ञान है, धर्म प्राणी है, धर्म शास्त्रविधिरूप है, धर्म पुण्य है, धर्म सत्य है। दृष्ट-अदृष्टरूपमें धर्म ही कार्य उत्पादन करता है, इत्यादि बातें कही गयीं।

नचिकेताने यमसे कहा—'आपने धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कार्य-कारणसे पृथक् तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमानसे भी पृथक् जिस वस्तुको प्रत्यक्ष किया है, उसे मुझको कहें' (कठोपनिषद् १।२।१४)। यमने कहा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठ० १।२।१५)

'जिसको सारे वेद परम वाञ्छित बतलाते हैं, निखिल तपस्या जिसकी प्राप्तिका उपाय है, मनुष्य जिसको प्राप्त करनेके हेतु ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, वह परम ईप्सिततम वस्तु पुरुषोत्तम ॐकार है।'

पर और अपर ब्रह्म इस ॐकारको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करेगा, इसके द्वारा उसे पायेगा। यह सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है। पर और अपर ब्रह्म—दोनोंका यही आश्रय है। जो इस ॐकारकी उपासना करेगा, वह ब्रह्मलोकमें पूजित होगा। (कठोपनिषद् १।२।१६-१७)

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः।
तस्माद् विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥

(प्रश्नोपनिषद् ५।२)

'हे सत्यकाम! ये जो पर और अपर ब्रह्म हैं, ये दोनों ॐकारस्वरूप हैं। इसी कारण ज्ञानवान् व्यक्ति ॐकारका अवलम्बन करके अपने अभिलषित पर या अपर ब्रह्म ॐकारको आत्मस्वरूपमें प्राप्त करता है।'

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।

(माण्डूक्योपनिषद् १)

'ॐकार—यह अक्षर (वर्ण) ही जगत् तथा '**भूः-भुवः-स्वः**-'रूप त्रिभुवन—सब कुछ है। इसकी सुस्पष्ट व्याख्या यह है कि अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् जो कुछ है, सब ॐकार ही है। इससे अतिरिक्त जो कुछ त्रिकालातीत है, वह भी ॐकार ही है।'

ॐकारके सिवा और कुछ नहीं है। स्थावर-जङ्गम—सब कुछ ॐकार है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज—समस्त प्राणियोंके रूपमें तथा नद-नदी, पर्वत, लौह आदि स्थावररूप बनकर वही विराजमान हो रहा है। यह ॐकार ही परमार्थका सारस्वरूप अद्वैत ब्रह्म है।

परमार्थसारभूतं यदद्वैतमशेषतः।

धर्म इस ॐकारका ही नाम है।

उक्थमुक्थकरश्चोक्थी ब्रह्मक्षत्रविडन्तिमः।
धर्मोऽधर्महरो धर्म्यो धर्मी धर्मपरायणः॥५४॥

(ॐकारसहस्रनाम, प्रणवकल्प)

संहिताएँ तथा मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वसिष्ठ, प्रजापति, लघुशङ्ख, औशनस, बृहद् यम, लघु यम, अरुण, आङ्गिरस, उत्तराङ्गिरस, कपिल, लघ्वाश्वलायन, वृद्ध हारीत, लोहित, दाल्भ्य, कण्व, बृहत्पराशर और नारद—ये स्मृतियाँ हैं। इन सबका नाम धर्मशास्त्र है। श्रीमनुभगवान्ने मनुसंहिताके प्रथम अध्यायमें आत्मज्ञानको ही प्रकृष्ट धर्म बतलाया है। उसको प्राप्त करनेके लिये उपनयन आदि संस्कार आवश्यक हैं, यह बतलानेके पहले धर्मका लक्षण बतलाते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

(मनु० २।१)

'जो धर्म राग-द्वेषविहीन साधुचरित विद्वानोंके द्वारा अनुष्ठित होता है तथा जिसको हृदय अनुमोदित करता है (जिससे हृदयमें किसी प्रकारकी विमति नहीं आती), उस धर्मको सुनो।'

धर्मका मूल अथवा प्रमाण—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

(मनु० २। ६)

'सारे वेद, वेदज्ञोंकी स्मृतियाँ, उनके शील (ब्रह्मण्यता आदि तेरह गुण), साधुजनके आचार तथा आत्मतुष्टि—ये कतिपय धर्मके मूल या प्रमाण हैं।'

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

(मनु० २। १०)

'वेदोंका नाम है श्रुति, धर्मशास्त्रोंका नाम है स्मृति। सब विषयोंमें इन दोनों शास्त्रोंके विरुद्ध तर्कके द्वारा मीमांसा अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि श्रुति और स्मृतिसे धर्म स्वयं प्रकाशित हुआ है।'

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मतुष्टि—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण (प्रमाण) ऋषियोंने निर्दिष्ट किये हैं।'

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

(मनु० २। १३)

'यथार्थ धर्मका ज्ञान उनको ही होता है, जो अर्थ और काममें आसक्त नहीं होते और धर्मकी जिज्ञासा करनेवालोंके लिये वेद ही प्रकृष्ट प्रमाण है।'

सत्ययुगमें एक प्रकारका धर्म था, त्रेतायुगमें दूसरे प्रकारका, द्वापरमें अन्य प्रकारका और कलियुगमें और ही प्रकारका धर्म है। जैसे-जैसे युगका ह्रास होता जाता है, उसी प्रकार धर्मका भी ह्रास होता है। (मनु० १। ८५)

सत्ययुगमें धर्म तपस्याप्रधान होता है, त्रेतामें ज्ञानप्रधान होता है, द्वापरमें यज्ञप्रधान होता है तथा कलियुगमें दान ही एकमात्र धर्म है। (मनु० १। ८६)

वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, गुणधर्म, नैमित्तिक धर्म, पुरुषधर्म, स्त्री-धर्म आदि सब धर्मोंके विषयमें भगवान् मनु आदि संहिताकारोंने लिखा है—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

(मनु० १२। १०६)

'वेद और वेदमूलक स्मृति आदि शास्त्रोंके उपदेशका जो अविरोधी तर्कके द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्मके स्वरूपको जान सकता है।'

चारों आश्रमोंके साधारण धर्म—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

'धृति (धैर्य) अर्थात् संतोष, क्षमा अर्थात् सामर्थ्य रहते हुए भी अपकारीका अपकार न करना, दम अर्थात् विषयोंका संसर्ग होनेपर भी मनको निर्विकार रखना, अस्तेय अर्थात् काय, वचन और मनसे परद्रव्यको न चुराना, शौच अर्थात् शास्त्रानुसार मिट्टी-जल आदिके द्वारा देहशुद्धि, इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् यथेच्छ विषय-भोगसे हटाकर अलौकिक विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्रसम्मत मार्गसे इन्द्रियोंको ले चलना, 'धी' अर्थात् आत्मविषयिणी बुद्धि—'मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ'—इस प्रकारकी बुद्धि, विद्या अर्थात् आत्मज्ञान जिससे हो उस ब्रह्मविद्याका अनुशीलन, सत्य अर्थात् यथार्थ कथन और प्राणियोंका हित-साधन, अक्रोध अर्थात् क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी क्रुद्ध न होना—इन दसोंका नाम धर्म है।' इनमें जो सम्यक् प्रतिष्ठित है, वही धार्मिक है। उसीको परम गतिकी प्राप्ति होती है।

सर्वसाधारणके अनुष्ठेय धर्म—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतत् सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

(मनु० १०। ६३)

'अहिंसा, सत्यवचन, परद्रव्य अपहरण न करना, शुचिता तथा इन्द्रियनिग्रह अर्थात् इन्द्रियोंका संयम—इनको सर्वसाधारण चारों वर्णोंके धर्म तथा संकीर्ण जातिके धर्मके

रूपमें अनुष्ठेय बतलाते हुए भगवान् मनुने निर्देश किया है।' विष्णुसंहितामें लिखा है—

'क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, गुरु-सेवा, तीर्थ-दर्शन, दया, ऋजुता, निर्लोभता, देव-ब्राह्मणोंकी पूजा और अनसूया—ये साधारण धर्म हैं। ये सब धर्म चारों वर्णोंके हैं।'

जैमिनिकृत मीमांसादर्शनका प्रथम सूत्र है—'**अथातो धर्मजिज्ञासा।**' अर्थात् धर्मकी मीमांसा ही मीमांसादर्शनका मूल है, ऐसा जान पड़ता है। धर्म क्या है? उसका क्या लक्ष्य है? किस कर्मके करनेसे धर्म होता है और किस कर्मके करनेसे धर्म नहीं होता? इसका उत्तर देनेके पहले धर्मका एक लक्षण करना आवश्यक है। धर्म-जिज्ञासाका अर्थ है—धर्मको जाननेकी इच्छा। धर्मको जाननेकी आवश्यकता क्या है तथा धर्मके कौन-कौन-से साधन हैं? प्रसिद्ध धर्म क्या है और अप्रसिद्ध धर्म क्या है? एक आदमी धर्मका लक्षण एक प्रकारसे करता है और दूसरा दूसरे प्रकारसे करता है। इन सब बातोंकी मीमांसा करके जैमिनिने धर्मके लक्षणमें यह सूत्र लिखा है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

'क्रियामें प्रवर्तित करनेवाले शास्त्र-वचनका नाम '**चोदना**' है। अर्थात् आचार्यसे प्रेरित होकर जो याग आदि किये जाते हैं, उसीका नाम धर्म है।' आचार्यके उपदेशके अनुसार किया जानेवाला यज्ञ आदि ही धर्म है। जो कार्य मनुष्यके कल्याणके लिये होता है, उसका नाम धर्म है। अर्थात् जिस कर्मका अनुष्ठान करनेसे मङ्गल होता है, वही धर्म है तथा जिससे भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट अर्थ अवगत करनेमें समर्थ हो सकते हैं, उसका नाम धर्म है। जो कुछ श्रेयस्कर अर्थात् मङ्गलजनक है, उसका नाम धर्म है—

य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते।

(विश्वकोषमें मीमांसा १। २ सूत्रभाष्य)

धर्मका लक्षण—

पात्रे दानं मतिः कृष्णे मातापित्रोश्च पूजनम्।
श्रद्धा बलिर्गवां ग्रासः षड्विधं धर्मलक्षणम्॥

(शब्दकल्पद्रुममें पाद्मोत्तरखण्ड)

'सुपात्रको दान देना, कृष्णमें मति, माता-पिताकी पूजा, श्रद्धा, प्राणियोंके आहारके लिये द्रव्य-दान, गोग्रास प्रदान करना—ये छः प्रकारके धर्मके लक्षण हैं।'

धर्मका अङ्ग—

ब्रह्मचर्येण सत्येन तपसा च प्रवर्तते।
दानेन नियमेनापि क्षमाशौचेन वल्लभ॥
अहिंसया सुशान्त्या च अस्तेयेनापि वर्तते।
एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रसूचयेत्॥

(पाद्म, भूमिखण्ड)

'ब्रह्मचर्य, सत्य और तपस्या, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, सुशान्ति तथा अस्तेयके द्वारा धर्म सूचित होता है।'

धर्मका मूल—

अद्रोहोऽप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः।
ब्रह्मचर्यं ततः सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम्॥

(मत्स्यपुराण)

'अद्रोह, अलोभ, बाह्येन्द्रिय-निग्रह, प्राणिमात्रके प्रति दया, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य, करुणा, क्षमा और धैर्य—ये सनातन-धर्मके दुर्लभ मूल हैं।'

वामनपुराणमें बतलाया गया है कि 'एक बार सुकेशी नामक एक राक्षसने ऋषियोंसे यह प्रश्न किया था कि जगत्में श्रेय क्या है?' ऋषियोंने बतलाया कि 'इहलोक और परलोकमें धर्म ही श्रेय है। साधुजन इस अक्षय धर्मका आश्रय लेनेके कारण ही जगत्में पूज्य हैं और धर्ममार्गपर चलनेसे सब सुखी हो सकते हैं।'

मत्स्यपुराण (३। ९०)-के अनुसार धर्म देवता ब्रह्माके दक्षिण स्तनसे उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भागवतके अनुसार दक्ष प्रजापतिने धर्मदेवको १३ कन्याएँ दानमें दी थीं। उनसे धर्मदेवकी अनेक संतानें उत्पन्न हुईं। उनमें श्रद्धाके गर्भसे सत्य, मैत्रीके गर्भसे प्रसाद, दयाके गर्भसे अभय, शान्तिके गर्भसे यम, तुष्टिके गर्भसे हर्ष, पुष्टिके गर्भसे गर्व, क्रियाके गर्भसे योग, उन्नतिके गर्भसे दर्प, वृद्धिके गर्भसे अर्थ, मेधाके गर्भसे स्मृति, तितिक्षाके गर्भसे मङ्गल, लज्जाके गर्भसे विनय और मूर्तिके गर्भसे नर-नारायण उत्पन्न हुए।

धर्मकी उत्पत्ति—

धर्मके आविर्भावके विषयमें वराहपुराणमें आया है कि 'प्रजाकी सृष्टि करनेकी अभिलाषासे परात्पर ब्रह्माजी अत्यन्त चिन्तनसे युक्त हुए। उनके चिन्तनसे उनके दक्षिण अङ्गसे श्वेत कुण्डलधारी तथा श्वेत माल्य और अनुलेपन आदिसे युक्त एक पुरुष प्रकट हुआ। ब्रह्माने उसको देखकर कहा—'तुम चतुष्पाद वृषाकृति हो, तुम ज्येष्ठ होकर प्रजा-पालन करो'—इतना कहकर वे शान्त हो गये। वही धर्म सत्ययुगमें चतुष्पाद, त्रेतामें त्रिपाद, द्वापरमें द्विपाद और कलिमें एक पादद्वारा प्रजावर्गका पालन करता है। गुण, द्रव्य, क्रिया और जाति—ये चार पाद हैं। वह वेदमें त्रिशृङ्गके नामसे अभिहित होता है। उसका आद्यन्त ॐकार है, दो सिर और सात हाथ हैं। उदात्तादि तीन स्वरोंके द्वारा बद्ध है। ब्रह्माने यह भी कहा कि 'धर्मदेव, आजसे त्रयोदशी तुम्हारी तिथि होगी, इस तिथिमें तुम्हारे उद्देश्यसे जो उपवास करेगा, वह पापसे मुक्त हो जायगा।'

वामनपुराणमें लिखा है कि धर्मके अहिंसा नामक भार्यासे चार पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें योगशास्त्रविशारद ज्येष्ठ पुत्र सनत्कुमार थे, द्वितीय पुत्र सनातन थे, तृतीय सनक और चतुर्थ सनन्दन थे। परंतु दूसरे पुराणोंमें ये लोग ब्रह्माके मानसपुत्र कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें चतुष्पादकी कथा इस प्रकार वर्णित है—

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव॥
इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद् यतः।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः॥

(श्रीमद्भा० १। १७। २४-२५)

'सत्ययुगमें तपस्या, शौच, दया और सत्यरूप तुम्हारे चार पाद थे। विस्मय, विषय-सङ्ग और गर्वके द्वारा उनमेंसे तीन पाद टूट गये हैं। अब सत्यरूप तुम्हारा एक पाद अवशिष्ट है। तुम इसीके आश्रयसे किसी प्रकार अवस्थित रह सकोगे, ऐसा सोच रहे हो, किंतु यह दुरंत कलि असत्यसे परिवर्धित होकर तुम्हारे उस पादको भी भग्न करनेके लिये उद्यत हो रहा है।'

धर्मका आधारस्थान—

'सारे वैष्णव, यति, ब्रह्मचारी, पतिव्रता नारी, प्राज्ञ व्यक्ति, वानप्रस्थी, भिक्षु, धर्मशील नृप, सद्वैद्य, द्विज-सेवा-परायण शूद्र तथा सज्जनोंके संसर्गमें रहनेवाले लोग—इन सब लोगोंमें धर्म सर्वदा सम्पूर्णरूपसे अवस्थित रहता है तथा अश्वत्थ, वट, बिल्व, चन्दन, देवपूजाके योग्य पुष्पोंवाले वृक्ष, देवालय, तीर्थस्थान, वेद-वेदाङ्ग श्रवण करनेवाले व्यक्ति, जहाँ वेदपाठ होता हो, श्रीकृष्णके नाम-गुण जहाँ कीर्तित होते हों, व्रत-पूजा, तप तथा विधिपूर्वक यज्ञके साक्षी-स्थल, दीक्षा, परीक्षा, शपथके स्थान, गोष्ठ, गोष्पद-भूमि तथा गोगृह—इन सब स्थानोंमें धर्म अवस्थित रहता है तथा इन सब स्थानोंमें धर्म निस्तेज नहीं होता।' (ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड, अ० ३२)

हेमाद्रि, व्रत-खण्डमें उद्धृत भविष्यपुराणके अनुसार 'वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म और नैमित्तिक धर्म—ये पाँच प्रकारके धर्म हैं। एक वर्णका आश्रय लेकर जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको वर्णधर्म कहते हैं—जैसे उपनयन आदि। आश्रमको आश्रय करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको आश्रमधर्म कहते हैं—यथा भिक्षा तथा दण्डादिधारण। वर्णत्व और आश्रमत्वको अधिकार करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको वर्णाश्रमधर्म कहते हैं—जैसे मौञ्जी-मेखलादि-धारण! जो धर्म गुणके द्वारा प्रवर्तित होता है, उसे गुणधर्म कहते हैं—जैसे नियमपूर्वक प्रजापालन आदि। किसी निमित्तको आश्रय करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको नैमित्तिक धर्म कहते हैं—जैसे प्रायश्चित्त-विधि आदि।'

विश्वामित्रके द्वारा कथित धर्मका लक्षण—

यमार्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः।
स धर्मो यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते॥

'आगमतत्त्वको जाननेवाले आर्यलोग जिस कर्मका अनुष्ठान करते हैं तथा जिसकी प्रशंसा करते हैं, उसको धर्म कहते हैं और जिन कर्मोंकी निन्दा करते हैं, उनको अधर्म कहते हैं।' प्रवृत्ति और निवृत्तिजनक दो प्रकारके वैदिक कर्मोंका ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें निर्देश किया था। इनमें प्रवृत्तिलक्षण जो कर्म हैं, उनको धर्म कहते हैं। ये धर्म गुणभेदानुसार तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। जिन कर्मोंमें किसी प्रकारकी फल-कामना नहीं होती, ये ही कर्म हमारे कर्तव्य-कर्म हैं, इस प्रकारकी

बुद्धिसे जो कर्म अनुष्ठित होते हैं, उनको सात्त्विक कर्म कहते हैं। सात्त्विक धर्मका अनुष्ठान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्षके निमित्त संकल्प करके जो कार्य अनुष्ठित होते हैं, उनको राजसधर्म कहते हैं। कर्ममें विधिकी अपेक्षा न करके केवल कर्म-बुद्धिसे जो कार्य अनुष्ठित होता है, उसको तामसधर्म कहते हैं।

'मनुष्यके लिये जो कर्तव्य या आचरणीय कहा गया है, वही धर्म है। स्मृतिशास्त्रसे धर्मका यह अर्थ प्राप्त होता है।'

'पुराण-शास्त्रमें धर्मका एक अर्थ नहीं देखनेमें आता, अनेक स्थलोंमें धर्म-शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है।'

'मनोवृत्तियोंको धर्म कहा गया है—जैसे दयाधर्म, सत्यधर्म, अहिंसा परम धर्म, क्रोध-अपकृष्ट धर्म इत्यादि।'

'इन्द्रियोंके कार्य भी धर्म-नामसे कथित होते हैं—जैसे चक्षुका धर्म है दर्शन, नासिकाका धर्म है आघ्राण, मनका धर्म है चिन्तन—आदि।'

'कर्तव्यका नाम भी धर्म है, जैसे पिताका धर्म, पुत्रका धर्म, पत्नीका धर्म इत्यादि।'

'गुणोंकी क्रियाको भी धर्म कहते हैं—जैसे शीतका धर्म संकोचन, तापका धर्म है सम्प्रसारण इत्यादि।'

'वृत्त्यनुकूल कार्यको भी धर्म कहते हैं—जैसे क्षौरधर्म, याजकका धर्म, कृषकका धर्म, व्यवसायीका धर्म इत्यादि।'

कतिपय विशिष्ट व्यापारोंकी समष्टिको भी धर्म कहा जाता है—जैसे जागतिक धर्म, लौकिक धर्म, सामाजिक धर्म, कौलिक धर्म, दैहिक धर्म और मानसिक धर्म आदि।'

अहिंसालक्षणो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा।

(महाभारत)

'धर्म अहिंसालक्षण है और अधर्म हिंसालक्षण है।'

'को धर्मः? भूतदया।' अर्थात् प्राणिवर्गके ऊपर दया करना ही धर्म है।

दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्यहिंसासदृशं सुपुण्यम्।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः
सुधर्मनिष्ठो दृढधर्मवृद्धये॥

(श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ११२)

'दान, तपस्या, तीर्थसेवा और जप—ये अहिंसाके समान पुण्यजनक नहीं हैं। अतएव उत्तम धर्मपरायण मुमुक्षु पुरुष सुधर्मकी दृढ़ता बढ़ानेके लिये पर-पीडनरूप हिंसा न करे।'

जैसे वक्रगामिनी नदी सागरमें मिलती है, उसी प्रकार सारे धर्म अहिंसक पुरुषका आश्रय लेते हैं। काष्ठस्थित अग्निके समान स्थावर-जङ्गममें व्याप्त भगवान्‌की उपेक्षा करनेवाले हिंसक पुरुषका धर्म आश्रय नहीं करता।

(श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ११३)

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

(श्रीमद्भा० ६।१।४०)

'वेदमें जो कुछ कहा गया है, वह धर्म है, उसके विपरीत सब कुछ अधर्म है।'

विहितक्रियया साध्यो धर्मः पुंसां गुणो मतः।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते॥

(धर्मदीपिका)

'शास्त्र-विहित क्रिया-साध्य पुरुषोंके गुणका नाम धर्म है, प्रतिषिद्ध-क्रिया-साध्य गुणका नाम अधर्म है।'

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

(हितोपदेश, मित्रलाभ)

'मनुष्यका धर्म ही एकमात्र सुहृद् है, मृत्युके पश्चात् और कोई उसका अनुगमन नहीं करता, एकमात्र धर्म ही अनुगमन करता है।'

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें धर्म ही प्रथम प्रधान पुरुषार्थ है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३।३५)

'उत्तमरूपसे अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म कुछ अङ्गहीन भी हो तो श्रेष्ठ है। स्वधर्ममें मृत्यु भी श्रेय है, क्योंकि उससे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। परधर्म भयानक है, क्योंकि वह नरकमें ले जाता है।'

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन)

'जिससे सम्यक् सांसारिक उन्नति और मोक्ष अर्थात् परमार्थकी प्राप्ति हो वही धर्म है। धर्मशब्दका पर्याय है पुण्य, श्रेय, सुकृत, वृष (अमरकोष), न्याय, स्वभाव, आचार, उपमा, क्रतु, अहिंसा, (उपनिषद्), धनु, यम, सोमप (मेदिनी कोष), सत्संग, अर्हत (हेमचन्द्र)।

धर्मके अनन्त लक्षण हैं। श्रुति-स्मृतिमें धर्मके जो लक्षण कहे गये हैं, उनको एकत्रित करना मनुष्यके वशकी बात नहीं है। स्थूलरूपमें, जिससे सांसारिक उन्नति और परमार्थकी प्राप्ति होती है, वही धर्म है।

भारतीय नर-नारीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्साक्षात्कार है, इसका उपाय शास्त्र है। जो दृढ़तापूर्वक शास्त्रका अवलम्बन करता है, वह जीवन-संग्राममें विजयी होकर निश्चय ही श्रीभगवान्‌को प्राप्त होता है। आज कलियुगके मोहान्धकारमें पड़कर अधिकांश लोग पथभ्रष्ट हो रहे हैं। ऐहिक सुखके सिवा और भी कुछ है, इसे वे नहीं जानते। शास्त्रानुकूल आचार-धर्मका त्याग करनेके कारण अशान्तिरूपी अनलकी ज्वाला चतुर्दिक् प्रज्वलित हो रही है। भयंकर कलिने समस्त शास्त्रीय धर्मको ग्रसित कर लिया है। शास्त्रानुकूल आचार-पालन करनेकी सामर्थ्य भी मनुष्यमें नहीं है। केवल भोग-ही-भोग है। अशास्त्रीय भोग रोगरूप होकर दारुण संताप दे रहा है। इस अधर्मके महाप्लावनसे कैसे मानवकी रक्षा होगी! आज धर्मकी उपेक्षा हो रही है, पद-पदपर धार्मिक लोग लाञ्छित हो रहे हैं, क्या होगा? क्या होगा?

श्रीभगवान् कह रहे हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका प्रादुर्भाव होता है, तब-तब मैं अपनेको सृजित करता हूँ। साधुजनकी रक्षा और दुष्कर्मी लोगोंके विनाश तथा धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें (तत्तत्-कालमें) अवतीर्ण होता हूँ।'

हे स्वधर्म और शास्त्रीय आचारके पालक सज्जनवृन्द! आपलोग भयभीत न हों। भगवान् हैं—वे धर्म और धार्मिक लोगोंकी रक्षाके लिये इस मृत्युलोकमें अवतीर्ण होते हैं।

काय-मन-वचनसे उनका आश्रय लेनेपर मनुष्यके सारे दुःख निवृत्त होंगे ही! उनके श्रीमुखकी वाणी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

'हे पार्थ! तुम मद्‌गतचित्त हो जाओ, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी प्रीतिके लिये यज्ञादिका अनुष्ठान करो तथा मुझको नमस्कार करो, इससे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे—तुमसे मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो! तुम सारे धर्माधर्मका त्याग करके एकमात्र मेरे शरणापन्न हो जाओ। (सब प्रकारके कर्मोंका त्याग करनेसे पीछे कहीं पाप न हो, इस भयसे) तुम शोक न करना, मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा।'

वे ही श्रीशुकके रूपमें श्रीमद्भागवतमें कलिकालमें संसारसे उत्तीर्ण होनेका उपाय बतला रहे हैं—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१-५२)

'दोषोंकी खानि कलियुगका एकमात्र महान् गुण यह है कि केवल हरिकीर्तनके द्वारा मानव सर्वसङ्ग-विनिर्मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त होता है। सत्ययुगमें निर्विकल्प समाधियोगसे विष्णुका ध्यान करके, त्रेतामें नाना प्रकारके यज्ञोंके द्वारा यज्ञपुरुषका यजन करके, द्वापरयुगमें काय-मन-वचनसे विष्णुकी परिचर्या करके जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें भगवान् श्रीहरिके नाम-संकीर्तनसे प्राप्त होता है और वह फल है श्रीभगवत्साक्षात्कार—ईश्वरदर्शन।'

विष्णुपुराणमें श्रीव्यासजी कहते हैं—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपुराण ६। २। १५, १७)

'सत्ययुगमें दस वर्ष, त्रेतायुगमें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि अनुष्ठान करनेसे जो फल होता है, कलियुगमें केवल एक रात-दिनके अनुष्ठानमें वही फल प्राप्त हो जाता है।'

'सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतायुगमें यज्ञ, द्वापरमें भगवान्की पूजा-सेवा करके जो फल मिलता है, कलियुगमें भगवान् श्रीकेशवका नाम-कीर्तन करनेसे वही फल प्राप्त होता है।'

केवल पुराणोंमें ही नहीं, कलिसंतरण-उपनिषद्में भी लिखा है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका गान करके ब्राह्मण सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। साढ़े तीन करोड़ जप करनेपर सद्यः मुक्त हो जाता है।

योगसार-तन्त्रमें भगवान् श्रीशंकरने जगन्माता पार्वतीसे सब वर्णोंके लिये कल्याणकारी—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इस तारक-ब्रह्मका उपदेश किया है।

राधातन्त्रमें माँ जगज्जननीने वासुदेव श्रीकृष्णको—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका उपदेश दिया है। श्रीमान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने अपने परिकरवृन्दसे कहा है—

आपन सभारे प्रभु करे उपदेशे।
कृष्ण नाम महामन्त्र सुनह हरिषे॥
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
प्रभु बोले कहिलाम एइ महामन्त्र।
इहा जप गिया सब करिया निर्बन्ध॥
इहा हइते सर्व सिद्धि हइबे सबार।
सर्वक्षण बल इथे नाहि विधि आर॥

अर्थात् श्रीमान् महाप्रभु उपदेश देते हैं कि आप सब लोग कृष्णनाम-महामन्त्रको आनन्दपूर्वक सुन लीजिये—**हरे कृष्ण हरे कृष्ण०**—इत्यादि। प्रभु बोले कि मैंने यह महामन्त्र सबको सुना दिया, अब जाकर मुक्तभावसे इसका जप करो। इसके लिये कोई दूसरी विधि नहीं है, इसका जप करनेसे सबको सर्वसिद्धि प्राप्त होगी।

इस भयावह कलिकालमें श्रीभगवान्का नाम-कीर्तन ही परम धर्म है। भगवान् पुकार रहे हैं—'आओ, आओ, पापी-तापी, रोग-शोकग्रस्त, अनाथ-आतुर, बाल-वृद्ध, युवक-युवती, ब्राह्मण-चाण्डाल, सारे मानव! तुम चाहे जो हो, चाहे तुम्हारे पाप कितने ही बड़े क्यों न हों, तुम भगवान्का नाम-स्मरण करो, नाम-स्मरण करो, तुम्हारे पाप-ताप, दुःख-दैन्य सब दूर होंगे। तुम निश्चय ही श्रीभगवान्का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाओगे। तुम्हारा मनुष्य-जन्म सार्थक हो जायगा।

धर्मकी जय! धर्मकी जय!! नामकी जय!!!

एक परमात्माके सिवा किसीका किसी भी कालमें कुछ भी सहारा न समझकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य-भावसे अतिशय श्रद्धा-भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना तथा भगवान्का भजन, स्मरण करते हुए ही उनके आज्ञानुसार समस्त कर्तव्य कर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल भगवान्के लिये ही आचरण करते रहना, यही सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण होना है।

भारतीय गृहस्थीमें धर्मपालन

(आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

भारतीय संस्कृति और सभ्यताका आधार यहाँका पवित्र और मङ्गलमय जीवन ही है। भारतीय आचार्योंने जीवन-संचालनके लिये उसे चार आश्रमोंमें विभाजित कर दिया था—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थाश्रम, (३) वानप्रस्थ और (४) संन्यास। इन चार आश्रमोंमें सबसे श्रेष्ठ और उपयोगी आश्रम गृहस्थाश्रम ही माना जाता है। आश्रमोंके पालन-पोषणका भार गृहस्थोंके ऊपर ही निर्भर रहता है। मनुजीने कहा है—'जैसे समस्त जीव वायुका सहारा लेकर जीते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रमके सहारे अपना जीवन चलाते हैं। आधुनिक युगमें जिस तरह किसानवर्ग अन्न उत्पादन करके समस्त वर्गोंके जीवनको चला रहा है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्रमें भी गृहस्थ समस्त जीवोंका पालन-पोषण करता है।' मनुने पुनः कहा है—तीनों आश्रमवाले गृहस्थोंके द्वारा नित्य ज्ञान और अन्न आदिसे प्रतिपालित होते हैं। एतदर्थ 'गृहस्थाश्रम' ही सबसे बड़ा आश्रम है—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

(मनु० ३। ७८)

मनुने गृहस्थोंके लिये अनेकों धर्मों एवं कर्मोंका विश्लेषण किया है। आधुनिक युगमें उन कर्मोंकी सूची देख एवं सुनकर कुछ लोग नाक-भौंह सिकोड़ सकते हैं। कर्तव्यका पालन कठोर हो सकता है। किंतु जो अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर सकता, उसका जन्म भी व्यर्थ ही है। गृहस्थाश्रमकी जो रूप-रेखा पाश्चात्त्य देशोंमें है, उसपर यहाँ कुछ नहीं लिखा जा सकता। माता-पिता जीवित हैं, लड़का विवाह होते ही अपनी स्त्रीको लेकर पृथक् अपनी दुनिया बसा लेता है। यह प्रथा अब भारतमें भी जोरोंसे फैलती जा रही है। हमारे यहाँ तो नित्य वेदपाठसे ऋषियोंके, होमसे देवोंके, श्राद्धसे पितरोंके, अन्नसे मानवोंके और बलि-कर्मसे भूतोंके विधिपूर्वक पूजनका विधान है। क्या पाश्चात्त्य देशोंका अनुकरण करनेवालों, नयी सभ्यतामें बहनेवालों, माता-पिताको छोड़कर अपनी स्त्रीके साथ अलग संसार बसानेवालोंके लिये यह सम्भव है? कदापि नहीं। भारतके एक सुन्दर सुव्यवस्थित गृहस्थाश्रमकी रूप-रेखा देखिये—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्गमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

घरमें नित्य आनन्द-मङ्गल होता रहे, बच्चे सभी पढ़े-लिखे एवं सभ्य हों, स्त्री मीठी बोली बोलनेवाली हो, सच्चे मित्र हों, उत्तम कमाईसे आया हुआ धन हो और अपनी ही भार्यासे प्रेम हो, नौकर सब आज्ञापालक हों और प्रतिदिन भगवान् शंकर और अतिथियोंका पूजन तथा सत्कार होता हो तो ऐसा गृहस्थाश्रम स्वर्गके समान है। इसके विपरीत, जिस घरके बच्चे सदा रोते रहते हों, घरमें सर्वदा पानी भरा रहता हो, आँगनमें सर्वदा कीचड़ भरा रहता हो, खाटोंमें खटमल भरे हों और भोजन रूखा मिलता हो, घरमें धुआँ भरा रहता हो, स्त्री कर्कशा हो, घरका स्वामी सर्वदा क्रोधावेशमें रहता हो तथा जाड़ेमें ठंडे जलसे ही स्नान करना पड़ता हो, तो ऐसा गृहस्थाश्रम नरकके समान है। गृहस्थाश्रममें गृहस्थधर्मका तभी विधिवत् पालन हो सकता है, जब—

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
शास्त्रवित् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥

'न्यायसे उपार्जित धन हो और सर्वदा तत्त्वज्ञानकी चर्चा होती हो तथा अतिथिदेवका सम्मान होता हो, शास्त्रकी चर्चा होती हो और घरके सब लोग सत्यवादी हों, तो ऐसे गृहस्थाश्रमके लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं।'

एक कविने लिखा है—

जिस घरमें दधिमन्थनका शब्द न सुन पड़े और जिस गृहस्थके घरमें छोटे बच्चोंका अभाव हो और जिस गृहस्थके घरमें गुरुजनोंकी पूजा न होती हो, वह घर वनके समान है—

यत्र नास्ति दधिमन्थनघोषो
यत्र नो लघुशिशूनि कुलानि।
यत्र नास्ति गुरुगौरवपूजा
तानि किं बत गृहाणि वनानि॥

'जिस गृहस्थके घर ब्राह्मणोंके चरणोंके धोनेसे कीचड़ नहीं हुआ, अर्थात् जिस गृहस्थके घरमें निमन्त्रित ब्राह्मणोंको बुलाकर उनके पाँव नहीं धोये गये और जिस घरमें वेदों और शास्त्रोंका उच्चारण नहीं हुआ, जिस गृहस्थके घरमें **स्वाहा** (हवन),**स्वधा** (तर्पण) आदि पवित्र कार्य न हुए, वह घर घर नहीं, श्मशान है।' इसके समर्थनमें पुनः लिखा गया है कि 'वह गृहस्थका घर स्वर्गके तुल्य है, जिसमें ब्राह्मणोंके चरण-धोवनसे कीचड़ हो गया है, जिस गृहस्थके घरमें वेदों और शास्त्रोंका शब्द गूँजता रहता है और हवन तथा तर्पणसे 'स्वाहा' और 'स्वधा' के मन्त्र गूँजते रहते हैं।' भारतीय गृहस्थाश्रमसे पाश्चात्त्य गृहस्थाश्रममें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि भारतीय गृहस्थाश्रममें धर्मकी प्रधानता रहती है। ईश्वरकी पूजा तथा अतिथिकी पूजाकी प्रधानतासे भारतीय गृहस्थ-आश्रमकी प्रधानता सर्वमान्य है। भारतीय गृहस्थ-आश्रममें १३ वस्तुओंकी प्रधानता और आवश्यकता मानी गयी है—१-मानवता, २-श्रेष्ठ वंशमें जन्म, ३-विभव, ४-दीर्घायु, ५-आरोग्य, ६-सच्चे मित्र, ७-सुन्दर पुत्र, ८-साध्वी स्त्री, ९-ईश्वरमें अगाध भक्ति, १०-विद्वत्ता, ११-सुजनता, १२-इन्द्रियोंपर नियन्त्रण, १३-सत्पात्रको दान—ये तेरह वस्तुएँ जिस गृहस्थके पास हैं, वह सफल गृहस्थ है। समस्त धर्मावलम्बियोंके यहाँ गृहस्थाश्रम है। सबके नियम-अनुष्ठान भिन्न-भिन्न हैं। हिंदुओंके गृहस्थाश्रम-धर्मके पालनमें पाँच स्थानोंके पापोंसे मुक्त होनेके लिये पाँच प्रकारकी पूजाएँ होती हैं—१-चूल्हा, २-चक्की, ३-झाड़ू, ४-ओखली और ५-जलके घड़ोंसे हिंसाकी सम्भावना रहती है। अतः ऋषि, पितर, देव,भूत और अतिथियोंकी पूजा करके इनसे छुटकारा कराया जाता है। वास्तवमें यह कर्म गृहस्थाश्रमको स्वर्ग बनानेके लिये ही निर्धारित हुए और यही गृहस्थ-धर्म है। वेद-पाठद्वारा ऋषियोंकी, होमसे देवोंकी, श्राद्धसे पितरोंकी, अन्नसे अतिथियोंकी और बलिकर्मसे भूतोंकी विधिवत् पूजा करें। गृहस्थ अपने धर्मका पालन करके अन्तमें स्वर्गका अधिकारी बनता है। भारतीय संस्कृतिमें अतिथिकी पूजाका बहुत महत्त्व है। जिसके घरसे अतिथि बिना सत्कार वापस चला जाता है, उसका सत्कर्म तुरंत नष्ट हो जाता है। यह है भारतीय संस्कृति-सभ्यताका प्रतीक भारतीय गृहस्थाश्रम-धर्म।

गर्भपात महापाप है

यत्पापं ब्रह्महत्याया द्विगुणं गर्भपातने। प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते॥ (पराशरस्मृति ४। २०)

'ब्रह्महत्यासे जो पाप लगता है, उससे दुगुना पाप गर्भपात करनेसे लगता है। इस गर्भपातरूपी महापापका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है, इसमें तो उस स्त्रीका त्याग कर देनेका ही विधान है।'

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया । पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च॥(मनुस्मृति ४। २०८)

'गर्भहत्या करनेवालेका देखा हुआ, रजस्वला स्त्रीका स्पर्श किया हुआ, पक्षीका खाया हुआ और कुत्तेका स्पर्श किया हुआ अन्न न खाये।'

गर्भपात करनेवालेकी अगले जन्ममें संतान नहीं होती—इस बातको प्रकट करनेवाले अनेक श्लोक '**वृद्धसूर्यारुणकर्मविपाक**' नामक ग्रन्थमें आये हैं। उनमेंसे कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

पूर्वे जनुषि या नारी गर्भघातकरी ह्यभूत्। गर्भपातेन दुःखार्ता साऽत्र जन्मनि जायते॥ (४७७। १)

'जो स्त्री पूर्वजन्ममें गर्भपात करती है, वह इस जन्ममें भी गर्भपातका दुःख भोगनेवाली होती है अर्थात् उसे संतान नहीं होती।'

वन्ध्येयं या महाभाग पृच्छति स्वं प्रयोजनम्। गर्भपातरता पूर्वे जनुष्यत्र फलं त्विदम्॥

(६५९। १, ८५६। १, ९२१। १, १८५७। १)

'कोई स्त्री पूछती है कि मैं इस जन्ममें वन्ध्या (संतानहीन) किस कारण हुई, तो इसका उत्तर है किं यह पूर्वजन्ममें तेरे द्वारा किये गये गर्भपातका ही फल है।'

गर्भपातनपापाढ्या बभूव प्राग्भवेऽण्डज। साऽत्रैव तेन पापेन गर्भस्थैर्यं न विन्दति॥ (११८७। १)

'हे अरुण! जो पूर्वजन्ममें गर्भपात करती है, इस जन्ममें उस पापके कारण उसका गर्भ नहीं ठहरता अर्थात् वह संतानहीन होती है। (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मानव-धर्म

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

[विशेषाङ्क पृ०-सं० ६३ से आगे]

सनातन वैदिक आर्यधर्म यह नहीं कहता कि तुम अपनी जातिको, वर्गको, सम्प्रदायको, मान्यताको छोड़कर अमुकमें दीक्षित हो जाओ, तभी तुम्हारा उद्धार होगा। उसका कथन है—तुम जहाँ हो, वहीं रहकर धर्माचरण करो। तुम वर्णाश्रमी हो तो अपने-अपने वर्ण-आश्रममें रहो, अवर्णाश्रमी हो—आर्य, अनार्य, म्लेच्छ जो भी हो, वहीं स्वधर्मका पालन करो, सद्गुणोंको धारण करो। तुम्हारा कल्याण होगा। वैदिक आर्यधर्म जाति, वर्ग, रंग, व्यवसाय, सम्प्रदायको छोड़नेकी सम्मति नहीं देता, वह तो अधर्मको छोड़कर धर्माचरणकी सम्मति देता है। महात्मा रैदास आज हमारे प्रात:स्मरणीय हैं। बड़े-बड़े वैदिक ब्राह्मण श्रद्धासे उनके लिये नतमस्तक होते हैं। उन्होंने अपनी जाति नहीं छोड़ी, बड़े गौरवसे वे अपनेको चमार कहते हैं, उन्होंने अपना व्यवसाय नहीं छोड़ा। अन्ततक जूते बनाकर, जूते गाँठकर निर्वाह करते रहे, किंतु उन्होंने स्वधर्मको छोड़कर अन्य धर्मको नहीं अपनाया। निष्कपट, निर्दोष (कैतवरहित) जो भगवत्-भक्तिरूप धर्म है, उसे धारण किया। वे भक्ताग्रगण्य हो गये।

आज जो ये ईसाई मिशनरियाँ अनेक प्रलोभन देकर ईसाई बना रहे हैं, निश्चय ही यह प्रभु ईसाके सिद्धान्तोंके सर्वथा विपरीत है। मुझे हँसी आती है—जो आदमी चोर-डाकू है, व्यभिचारी है, व्यभिचारकी पूर्तिके लिये ही जिसने धर्मदीक्षाका ढोंग रचा है, एक ही दिनमें बपतिस्मा लेकर या सुन्नत कराकर जो काफिरसे ईसाई या मुसलमान बन जाता है, उसके आचरणोंमें क़ोई परिवर्तन हुआ हो, सो भी बात नहीं, उसमें किन्हीं सद्गुणोंका विकास हो गया हो, यह भी बात नहीं, वह एक गिरोहको छोड़कर दूसरे स्वार्थी गिरोहका सदस्य बन गया। इतनेसे ही क्या वह धार्मिक बन गया? यही इन संख्या बढ़ानेके लोभी पंथोंमें बड़ा दोष है।

यह प्रवृत्ति परवर्ती बौद्धसम्प्रदायसे आरम्भ हुई है और शनै:-शनै: बढ़ते-बढ़ते अब पराकाष्ठाको पहुँच गयी है। अब तो यह रोग हमारे सनातन वैदिक आर्यधर्मके उपसम्प्रदायोंमें भी बढ़ गया है।

इस भारतवर्षमें धर्म-असहिष्णुता कभी नहीं हुई। बौद्धधर्म कोई वैदिक आर्यधर्मसे पृथक् धर्म नहीं था। वह तो वैदिक धर्मके अन्तर्गत ही सुधारकोंका एक समूह था। समाजने हिंदूधर्म, बौद्धधर्म—ऐसा भेदभाव कभी नहीं किया, जो राजा-महाराजा होते थे, बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मणोंको समानभावसे पूजते थे, समानभावसे उन्हें दान देते थे। वे ही सब सिद्धान्त, वही सब सद्गुणोंके विकासपर बल। धर्म तो एक ही है।

शनै:-शनै: बौद्धधर्ममें हीनयान, महायान आदि बहुतसे भेद-प्रभेद बढ़े, प्रचारका लोभ बढ़ा। संख्या बढ़ानेके प्रलोभनको वे रोक न सके। कैसे भी बढ़े, भिक्षुओंकी, भिक्षुणियोंकी संख्या बढ़ायी जाय। बौद्धधर्मका प्रचार हो, बुद्धके नामका डंका सम्पूर्ण विश्वमें फैले—ऐसी प्रवृत्ति बौद्धसंघोंमें, बौद्धाचार्योंमें बढ़ी। उसीकी पूर्तिके लिये वे हथेलीपर सीस रखकर देश-विदेशोंमें भटकते फिरे। लाखों भिक्षु धर्मप्रचारके निमित्त पृथिवीके विभिन्न देशोंमें गये। उस समय भी उनकी यह प्रवृत्ति नहीं थी कि लोग अपने कुलपरम्परागत धर्मको छोड़कर बुद्धधर्ममें दीक्षित हो जायँ। उस समयतक बौद्धधर्मकी कोई निश्चित रूपरेखा ही नहीं बनी थी। कोई भेदभाव वैदिकधर्मसे हुआ ही न था। बुद्ध भगवान् चाहते थे—यज्ञोंमें जो वेदके नामपर लाखों जीवोंकी बलि दी जाती है, वह न दी जाय। यदि इस क्रूर हिंसाका समर्थन करते हैं तो उन्हें भी अमान्य ठहरा दिया जाय। इतना ही उनका मतभेद था। सत्य, अहिंसा, भूतोंका प्रिय, हित आदि सद्गुणोंकी बात तो समान ही थी। बौद्धभिक्षु चीन, चापान—जहाँ भी गये, उन्होंने प्राचीन मान्यताओंका कहीं खण्डन नहीं किया। अपने प्राचीन धर्ममें ही रहकर सब लोग भगवान् बुद्धके आदेशोंका पालन करें—यही उनका ध्येय था। उन्होंने किसीसे लड़ाई नहीं की। सबको प्रेमसे, सद्गुणोंसे जीत लिया। सम्पूर्ण विश्वमें भारतके बौद्धधर्मका डंका बजा दिया।

यहूदियोंकी कुछ मान्यताएँ भिन्न थीं, वे पुनर्जन्मको नहीं मानते थे, और भी कुछ बातें भिन्न थीं। प्रभु ईसापर

बुद्धधर्मका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। कुछ लोगोंका कहना तो यहाँतक है कि वे बारह वर्ष आकर भारतमें बौद्धोंके संघोंमें रहे और पढ़े। कुछ भी हो। वे चाहे यहाँ आये हों, न आये हों, बौद्धोंके साथ रहे हों, न रहे हों, किंतु यह तो ध्रुव सत्य है कि वे बौद्धोंसे अत्यन्त प्रभावित थे। वे भी एशियाके थे, यूरोपमें तबतक धर्मका प्रचार नहीं हुआ था। प्रभु ईसाने, जो स्वयं यहूदी समाजमें उत्पन्न हुए थे, उसमें कुछ सुधार करना चाहा, इसीपर तत्कालीन शासकोंसे उनका मतभेद हुआ और उन्हें शूलीपर चढ़ा दिया गया, वर्तमान समयके धर्म-प्रचारकोंमें प्रभु ईसा ही एक ऐसे विख्यात धर्म-प्रचारक हैं, जो अपने समयमें अपने सम्प्रदायकी उन्नति स्वयं नहीं देख सके। किंतु वे स्वयं बड़े पवित्र थे, धर्माचरण करनेवाले त्यागी थे। उनके शिष्योंने उनके नामको नाना कष्ट सहकर प्रचारित किया। उनके शिष्योंने यहूदी-धर्मसे भिन्न ईसाईधर्मकी स्थापना की। ईसाईधर्ममें पुनर्जन्मको और मान लिया जाय तो उसमें और बौद्धधर्म तथा सनातन वैदिकधर्मके सिद्धान्तोंमें अन्तर ही क्या। यहाँ भारतमें भी बहुत-से चार्वाक आदि नास्तिक हुए हैं, जो वेद, परलोक, पुनर्जन्म—कुछ नहीं मानते थे, फिर भी समाजमें वे 'ऋषि' करके पूजे या माने जाते थे। पीछे जब ईसाइयोंका प्रभुत्व हो गया और पोप धर्म-गुरु ही न रहकर शासक भी माने जाने लगे, तब वे भी अपने सम्प्रदायको बढ़ानेके लोभको संवरण न कर सके। नौकाओं और जहाजोंपर चढ़कर साहसी ईसाई समुद्रमें चक्कर लगाने लगे। उनके साथ दो वस्तुएँ रहती थीं—एक तो तोप, दूसरी पोपकी व्यवस्था। वह यह कि जो ईसाई न हो, उसे समुद्रमें न आने दिया जाय।

भारतीय व्यापारी जो अत्यन्त कष्टसे जलयानोंद्वारा एशिया तथा यूरोपके समस्त देशोंमें बड़े व्यापार करते थे और जिनकी सत्यताकी साख सर्वत्र फैली हुई थी, उनके पास तोपें नहीं थीं, उन्हें इस पोपके फरमानसे बड़ा आश्चर्य हुआ। यदि हम झूठ बोलें, किसीका अनुचित धन अपहरण करें, कोई नैतिक-सामाजिक अपराध करें, तब तो दण्डके भागी हो भी सकते हैं, किंतु 'जो ईसाई न हो, उसे तोपसे उड़ा दो', यह तो विचित्र आज्ञा थी, किंतु जिसके पास शक्ति है उसके सामने सभी सिर झुका देते हैं। भारतीय व्यापारी वैसे ही विदेशके व्यापारसे ऊब रहे थे। हथेलीपर सिर रखकर समुद्रकी यात्रा की जाती। तिसपर भी धर्मान्ध जलीय दस्युओंके इस व्यवहारने उनका उत्साह भङ्ग कर दिया। भारतका व्यापार यूरोपसे और शनैः-शनैः एशियाके देशोंसे भी समाप्त हो गया।

मुसलमानोंने तो धर्मान्धताकी हद ही कर दी। जो भी मुसलमान न हो, उसे लूट लो, या तो बलपूर्वक उसे मुसलमान बना लो या मार डालो—यही खलीफाओंकी नीति रही। इसमें कुछ अपवाद भी हैं, किंतु मुस्लिम-धर्मका प्रचार सभी देशोंमें ऐसे ही हुआ। भारतमें एक सहस्र वर्षपर्यन्त धर्मके नामपर जो कुछ हुआ और जिसकी पुनरावृत्ति पाकिस्तानकी स्थापनाके समय हुई, इसे सुनकर तो रोमाञ्च हो आता है। यह सब हुआ धर्मके नामपर।

धर्मके नामपर अब एक और नया अंधेर चल पड़ा है। जिस सिखधर्मकी स्थापना हिंदूधर्मके रक्षार्थ हुई थी, समस्त वैदिक सनातनधर्मका उद्धार करनेके लिये गुरु गोविन्दसिंह देश-विदेश भटकते रहे, जो दस गुरु गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक कहकर समाजमें पूजे जाते थे, अपनेको उन्हींका अनुयायी बतानेवाले सिख आज अपनेको हिंदूधर्मसे पृथक् सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं और मुसलमानोंका अनुकरण करके हिंदुओंको सिक्ख बना रहे हैं। इससे भी विलक्षण बात यह हो रही है कि जिस बौद्धधर्मका प्रचार करने भारतीय भिक्षु देश-विदेशोंमें भटकते रहे, जो भारत सर्वत्र धर्मगुरुके नामसे जगत्‌में ख्यात था, बौद्धधर्मका प्रचार करने उसी भारतमें तिब्बतसे लोग आ रहे हैं। उसी बौद्धधर्मके सिद्धान्त हिंदूधर्मके सिद्धान्तोंसे भिन्न नहीं, एक ही वस्तु हैं, किंतु वे तो चमार, भंगी आदि निम्न श्रेणीके लोगोंको बौद्ध लिखाकर अपनी जनगणनामें संख्या बढ़ाना चाहते हैं, जिससे बौद्धहितोंकी रक्षाके नामसे चीन, जापान आदि बौद्ध सरकारें हस्तक्षेप कर सकें। जैसे आज मुसलमान और ईसाइयोंके हितके नामसे मुस्लिम और ईसाई देश हमारे राजनीतिक कार्योंपर दृष्टि रखते हैं और हमारी सरकार अपनेको धर्मनिरपेक्ष कहती हुई भी नौकरी आदिमें अपने विधानके विरुद्ध भी भयके कारण ईसाई-मुसलमानोंका अनुपात रखती है, मन्त्रिमण्डलमें, चाहे अयोग्य ही क्यों न हो, ईसाई-मुसलमान आदिको उनके अनुपातसे स्थान देती है, वैसे ही बौद्ध भी चाहते हैं। यह धर्म नहीं, अधर्म है। यह शुभ प्रचार नहीं, दुष्प्रचार है। भला, जिस भारतका

अनपढ़ भी धर्ममें बड़े-बड़े विदेशी विद्वानोंसे बढ़-चढ़कर है, उसे धर्म सिखाने यूरोपके पादरी ईसाई आयें—इससे बढ़कर लज्जा और दुःखकी बात क्या होगी। वे धर्म क्या सिखाते हैं, हिंदू-धर्मकी बुराई बताकर, धन आदिका लोभ देकर जनगणनामें ईसाइयोंकी संख्या बढ़ाकर राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। यह सब धर्मके नामपर अधर्म हो रहा है। इस धर्म-परिवर्तनका अर्थ राजनीतिक दल-बंदी मात्र ही है।

भारतवर्षने धर्मका सम्बन्ध किसी व्यक्तिके नामसे कभी नहीं जोड़ा। तभी तो ईसाई, मुसलमान आदि कहा करते हैं—'हिंदू-धर्म भी कोई धर्म है? इस बातका पता ही नहीं कि इसका प्रवर्तक कौन है। इसकी न कोई एक पुस्तक, न उपासनाकी कोई एक निश्चित पद्धति।' यदि इसका भी कोई एक प्रवर्तक मान लिया जाता, इसकी भी एक ही पुस्तक मान ली जाती, इसकी भी उपासनाकी एक ही पद्धति निश्चित कर दी जाती तो यह मानवधर्म न रहकर एक सम्प्रदाय ही बन जाता। हमारे यहाँ जितने आर्षग्रन्थ हैं, सभी धर्म-ग्रन्थ हैं। उनमें आस्तिक-नास्तिक सभी ग्रन्थोंका समावेश है—जैसे ४ वेद, ४ उपवेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, ज्योतिष, छन्द—ये छः वेदाङ्ग एवं पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव, सौगत (बौद्ध), जैन (अर्हत), लोकायत (चार्वाक)—सभी प्रकारके तर्कप्रधान दर्शन और १८ धर्मशास्त्र, १८ पुराण, १८ उपपुराण, १८ उपोपपुराण—ये सब-के-सब धर्मशास्त्र हैं। फिर शिक्षाके भी असंख्य ग्रन्थ हैं, व्याकरण दस प्रकारके प्रचलित हैं, और भी असंख्य हैं, ज्योतिषके अनेक ग्रन्थ, आयुर्वेदके असंख्य ग्रन्थ। कहनेका अभिप्राय—१८ विद्याएँ हैं, ये सब धर्मको बताती हैं। जितने ऋषि हैं, वे धर्मके प्रवर्तक नहीं, प्रचारक हैं। उनमें बहुतोंका अनुभव एक दूसरेके विरुद्ध है। वह मुनि ही नहीं माना जाता, जिसका कोई मत भिन्न न हो—

नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।

—इतना सब होनेपर भी धर्मका जो रहस्य है, वह सर्वत्र ओतप्रोत है। धर्मका सम्बन्ध सद्गुणोंसे है। हमारे यहाँ ब्राह्मणकी यह व्याख्या कहीं नहीं कि जो बड़ी चोटी रखाये, माथेपर तिलक या भस्म लगाये, जो ऐसा वस्त्र पहिने। सर्वत्र यही बताया है—शम, दम, तितिक्षा, तप आदि सद्गुण जिसमें हों, वही ब्राह्मण है। समाजमें सर्वत्र विभिन्नता रही है, रहेगी। जैसे भोजन अपनी-अपनी रुचिका होता है, वैसे ही उपासना भी अपनी-अपनी रुचिकी की जाती है। समाजमें बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं। उन्होंने उपासनाकी भिन्न-भिन्न विधियाँ बतायी हैं, आपको जो विधि अनुकूल पड़े, उसीका आचरण कीजिये—

रुचीनां वैचित्र्याद‍ृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

परंतु इन सबको धर्म नहीं कहते। धर्म तो मनकी शुद्धि करता है और मन शुद्ध होता है सद्गुणोंसे। इसीलिये महाभारतमें थोड़ेमें ही धर्मकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंपृक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
बहून् यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः॥
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च।

इन श्लोकोंमें धर्मकी पूरी व्याख्या कर दी गयी है। इन श्लोकोंमें बताया है—'धारण करनेसे धर्म कहलाता है, धर्म ही प्रजाको धारण किये हुए है। जो धारणसंयुक्त है, जिससे समाज सधा रहे, समाजमें उच्छृंखलता न आने पाये, वास्तवमें वही धर्म है। धर्म होता है प्रभवके लिये, उन्नतिके लिये। धर्मप्रवचन उन्नतिके निमित्त है। जो सर्वत्र—इस लोकमें तथा परलोकमें—प्रभवसंयुक्त है, उन्नति करनेवाला है वही धर्म है। प्राणियोंमें अहिंसाका प्रचार हो, लोग एक-दूसरेको पीड़ा पहुँचाना छोड़ दें, धर्मका प्रवचन इसी हेतुसे किया गया है। जो अहिंसासम्पृक्त है—परपीड़ासे रहित है, वास्तवमें वही धर्म है। जो धर्म बहुत-से लोगोंको पीड़ा पहुँचाये, बलपूर्वक जिसे माननेको लोगोंको विवश किया जाय, वास्तवमें उसे धर्म नहीं कह सकते, वह तो कुधर्म

है—अधर्म है। हे सत्यविक्रम! जो धर्म अविरोधी है, किसीको हानि नहीं पहुँचाता, किसीकी मान्यतापर आघात नहीं करता, वही धर्म है। संसार एक यात्रियोंका समूह है। सभी यात्री हैं। सभी कहीं जा रहे हैं। यह लोकयात्रा जिस साधनसे सरल-सुगम बने, वही धर्म है। इसीके लिये सभी धार्मिक नियम हैं। तुम्हारी माता-बहिनको कोई बुरी दृष्टिसे देखे तो तुम्हें कष्ट होगा, तुम्हारी लोकयात्रा दुःखद होगी। इसलिये धर्मवेत्ताओंने नियम बना दिया—'**मातृवत् परदारेषु।**' दूसरोंकी स्त्रियोंको माताके समान समझो। इसी प्रकार धर्मके सत्य, अहिंसा, दया, अस्तेय आदि नियम हैं। इनके पालनसे लोकयात्रा सुखद बन जायगी। जिन नियमोंसे इस लोकमें और मरकर परलोकमें भी सुख हो, वही धर्म है।

यह धर्मकी कितनी विशाल, निष्पक्ष, सत्यसंगत सार्वभौम व्याख्या है। जैसे ईसाई-मुसलमान आदि सम्प्रदायोंमें दूसरोंको ईसाई-मुसलमान बनानेके नियम हैं, वैसे सनातन वैदिक आर्य-धर्ममें नहीं हैं। हाँ, कोई दस्युधर्मी म्लेच्छ बलपूर्वक किसीको अभक्ष्यका भक्षण करा दे, अपेयको पिला दे, जिस स्त्रीसे संसर्ग न करना चाहिये, उससे संसर्ग करा दे, गौ आदिका वध करवा दे, किसी स्त्रीको बलपूर्वक पकड़ ले जाय, उसका उसकी इच्छाके विरुद्ध सतीत्व नष्ट कर दे, बलपूर्वक गर्भ-धारण करा दे या सदाचारहीन समाजमें उसे रहना पड़े, इनकी शुद्धिका विधान है। जो बलपूर्वक विधर्मी बना लिये गये हों—आज बनाये गये हों या सौ वर्ष-पूर्व, उन सबका समाजमें सम्मिलित करनेका प्रायश्चित्त है।[१] धर्मके प्रचारके लिये वंशपरम्परागत मान्यताओंको छोड़नेकी बात पहले कभी नहीं कही जाती रही। भारतवर्षसे सर्वत्र विदेशोंमें धर्म-प्रचारके हेतु बौद्ध गये। तबतक ईसाई-धर्म, मुस्लिम-धर्मका तो जन्म भी नहीं हुआ था। यहूदी-धर्मने भी सम्प्रदायका रूप धारण नहीं किया था। लोग अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न भाँतिकी उपासना करते थे। उसी समय बौद्ध भिक्षु तथा ब्राह्मण-संन्यासी यूरोप और एशियाके प्रायः प्रत्येक देशमें सैकड़ों-सहस्रोंकी संख्यामें पहुँच गये थे। उनका जीवन त्यागमय होता था, वे अन्तः-करणकी शुद्धिपर बल देते थे। अफगानिस्तान, ईरान, तुर्किस्तान, सीरिया, चीन, जापान, लंका, जावा, मंगोलिया, सुमात्रा तथा यूरोपके सभी देशोंमें ये त्यागी-विरागी संत पहुँचे थे। ये लोग न तो किसी देवताका विरोध करते थे, न किसीकी परम्परागत मान्यता तथा पैतृकधर्मको ही छुड़वाते थे। ये सब विश्वप्रेम, सत्य, सरलता, सदाचार, सादगी, अन्तःकरणकी शुद्धि तथा योगसाधनापर बल देते थे। जापानमें लोग प्रायः शिंतोधर्मके माननेवाले थे और चीनमें ताओमत प्रचलित था। बौद्ध भिक्षुओंने न तो इनका खण्डन किया और न इसे छोड़नेको कहा—ये अबतक चीन तथा जापानमें विद्यमान हैं।

भारतीय धर्म-प्रचारकोंने सदा आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक उन्नति तथा अन्तःकरणकी पवित्रताको ही धर्मका मुख्य अङ्ग माना है। बाह्य मान्यताएँ आपकी कुछ भी हों—इसपर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। तभी तो भारतवर्षमें भी हम हिंदुओंकी बाह्य मान्यता, उपासना-पद्धति, रीति-रिवाज, सम्प्रदाय—सब भिन्न-भिन्न होते हुए भी मूलमें सब एक ही धर्मके अनुयायी हैं। उसे चाहे आप वैदिक धर्म कहें अथवा सनातन-धर्म, आर्य-धर्म, मानवधर्म या हिंदूधर्म—किसी भी नामसे पुकारें। भागवतमें भगवान् व्यासने सनातनधर्मका निरूपण करते हुए कहा है—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ८—१२)

अर्थात् सत्य व्यवहार, दया करना, तपस्या, बाहर-

१-बलाद् दासीकृता ये च म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः। अशुभं कारितं कर्म गवादिप्राणिहिंसनम्॥
उच्छिष्टमार्जनं चैव तथा तस्यैव भोजनम्। खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम्॥
तत्स्त्रीणां तथा हि सङ्गस्ताभिश्च सह भोजनम्। मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम्॥

भीतरकी पवित्रता रखना, सुख-दुःखको समभावसे सहन करना, युक्त-अयुक्तका विचार करते रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, मनोनिग्रह करना, किसीकी भी हिंसा न करना, ब्रह्मचर्यको धारण करना, त्यागवृत्तिसे रहना, सदा स्वाध्यायमें संलग्न रहना, जीवनमें सरलता लाना, संतोष रखना, जो भी समदर्शी महात्मा हों, उन सबकी समानभावसे सेवा करना, इस बातका सर्वदा अभ्यास बनाये रखना कि संसारी भोग अनित्य हैं, इनसे निवृत्त रहना ही श्रेयस्कर है, इस बातका विचार रखना कि मिलता तो सब प्रारब्धसे ही है, वरं कभी-कभी मानव-प्रयत्नोंका ठीक उलटा ही फल हो जाता है, मौनका अभ्यास करना, आत्मचिन्तनमें समय बिताना, सभी प्राणियोंको यथाशक्ति, यथासामर्थ्य अन्न आदिमें भाग देते रहना, समस्त प्राणियोंमें विशेषकर मानवमात्रमें इष्टदेवकी बुद्धि रखना, जो प्रभु महात्माओंके आश्रयभूत हैं, उनके नाम-गुणोंका श्रवण करना, उनके नाम-गुणोंका कीर्तन करते रहना, उन भगवान्‌का सदा स्मरण करते रहना, भगवान्‌की यथाशक्ति यथासामर्थ्य सेवा करते रहना, भगवान्‌की पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, भगवान्‌के प्रति दासत्वभाव रखना, उनके प्रति सखाभाव रखना और उनपर अपनेको न्यौछावर कर देना—इस प्रकार यह तीस प्रकारका आचरण ही परमधर्म है, यही सनातन वैदिक आर्यधर्म है। यही सर्वोत्कृष्ट, सर्वश्रेष्ठ तथा मानवमात्रके लिये परम धर्म है। इस धर्मका पालन करनेसे सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार आप देखेंगे कि यथार्थ धर्म बाह्य आचरणोंकी विशेष अपेक्षा नहीं रखता, वह देश, काल, सम्प्रदाय, सीमा तथा रंग-रूपमें आबद्ध नहीं। उसका पालन सर्वत्र, सभी स्थानोंपर, सभी मनुष्योंद्वारा सर्वदा किया जा सकता है।

[समाप्त]

महाभारतमें धर्मका स्वरूप

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

[विशेषाङ्क पृ०-सं० १२१ से आगे]

गृहस्थाश्रमकी प्रतिष्ठा

गृहस्थाश्रमकी भूयसी प्रतिष्ठाका हेतु यह तथ्य है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रमके ऊपर ही आश्रित हैं। अर्जुनने गृहस्थाश्रमकी स्तुतिमें अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्योंका उद्घाटन किया है (महा० शान्ति० अध्याय १८)। उनका कथन है कि यदि याचमान भिक्षुकको गृहस्थ राजा दान नहीं देता तो वह अग्निके समान स्वतः उपशान्त हो जायगा। अन्नके दानसे ही भिक्षुओंका जीवननिर्वाह होता है और इसलिये राजाका (तथा सामान्यतः गृहस्थका) अन्नदान देना एक नित्यविहित आचरण है। अन्नसे ही गृहस्थ होता है और गृहस्थसे ही भिक्षुओंका अस्तित्व है। अन्नसे प्राण बनता है और इसीलिये अन्नदाता प्राणदाता कहा जाता है। व्यावहारिक सत्य तो यह है कि भिक्षु गृहस्थसे निर्मुक्त होनेपर भी गृहस्थोंपर ही आश्रित रहता है। फलतः दान्त लोग गृहस्थोंसे ही अपना प्रभव (उदय) तथा प्रतिष्ठा (स्थिति) प्राप्तकर निश्चिन्ततासे अपना जीवनयापन करते हैं। परिणामतः गृहस्थ आश्रम ही भारतीय समाजका मेरुदण्ड है, वही हमारे समाजकी रीढ़ है, जो समाजके शरीरको उन्नत तथा स्वस्थ बनाये रखती है। मनुके भी एतद्विषयक सिद्धान्त महाभारतके इन मौलिक तथ्योंसे नातिभिन्न हैं—

न चेद् राजा भवेद् दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः॥
अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात् प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत्॥
गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते॥

(शान्तिपर्व १८। २७—२९)

महाभारतके अनुसार गृहस्थ जीवनके लिये हिंसाका ऐकान्तिक परित्याग सम्भव नहीं है। शत्रुपर विजय प्राप्त करनेके लिये हिंसाका आश्रय आवश्यक हो जाता है। दूसरोंके—शत्रुओंके मर्मको बिना छेदे, दुष्कर कार्यको बिना किये और शत्रुको बिना मारे मनुष्य कभी महती लक्ष्मीको प्राप्त नहीं कर सकता—

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

(शान्तिपर्व १५। १४)

जिसने अपने शौर्यसे शत्रुका संहार नहीं किया, उसे कीर्ति, धन और प्रजाकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर ही महेन्द्रत्वको प्राप्त किया। शत्रुको मारकर प्रतिष्ठा-प्राप्त देवोंकी ही लोकमें पूजा होती है। रुद्र, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देव असुर-संहारक होनेके कारण ही हमारे उपास्य हैं। निष्कर्षतः इस लोकमें कोई भी जीवित जीव अहिंसासे कभी जीवित नहीं रह सकता—उसे अपने जीवन-निर्वाह तथा सुरक्षाके लिये हिंसाका आश्रय लेना पड़ता है—यह लोकजीवनका ध्रुव सत्य है—

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कञ्चिदहिंसया।

(शान्तिपर्व १५। २०)

यहाँ बौद्ध तथा जैनधर्मके अहिंसावादकी तीव्र आलोचना की गयी है। हिंसाका आश्रय लेकर दण्डका विधिवत् आश्रयण राजाका प्रमुख कर्तव्य होता है। शान्तिपर्वके १५ वें अध्यायमें अर्जुनने दण्डकी महती प्रशंसा की है, जो समाजके मङ्गल-साधनका एक प्रधान अङ्ग है। आज भारतवर्षको इस तत्त्वको समझने तथा मनन करनेकी नितान्त आवश्यकता है। महात्मा गाँधीके 'अहिंसा'-सिद्धान्तका अन्यथा तात्पर्य लगाकर जो शासकवर्ग आज भी अपने प्रबल विरोधी राष्ट्रोंके आक्रमणोंका प्रतिकार करनेसे हिचकते हैं, उन्हें महाभारतके इस अध्याय (शान्तिपर्व, अध्याय १५)-का गम्भीरतासे मनन-अनुशीलन करना चाहिये। उन्हें याद रखना चाहिये कि अपने शत्रुओंसे विरोधभाव रखना प्रत्येक प्राणीका कर्तव्य है, विशेषतः किसी भी देश तथा राष्ट्रके शासकका। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उशना नामक प्राचीन दण्डनीतिके आचार्यके अनुसार यह पृथ्वी उसे उसी प्रकार निगल जायगी जिस प्रकार सर्प बिलशायी चूहोंको निगल जाता है—

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

(शान्तिपर्व, अ० ५७। ३)

महाभारतके अनुसार गृहस्थ-जीवनके लिये विशेषकर राष्ट्रसुरक्षाके लिये शत्रुकी हिंसा आवश्यक मानी गयी है।

महाभारतकी दृष्टिमें धर्म ही मानव-कल्याणका परम साधक तत्त्व है। त्रिवर्गका सार धर्म ही है। इसीलिये व्यासजीने 'भारत-सावित्री' में इस शतसाहस्री-संहिताका सार इस छोटेसे श्लोकमें विशदतासे प्रतिपादित किया है—'मैं भुजा उठाकर उच्चस्वरसे पुकार रहा हूँ। परंतु कोई भी मेरी बात नहीं सुनता। धर्मसे ही अर्थ उत्पन्न होता है और धर्मसे ही काम उत्पन्न होता है। अर्थ तथा कामका मूल धर्म ही है। तब उस धर्मकी उपासना क्यों नहीं करते?'

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

(स्वर्गारोहण ५। ६२)

महाभारतका युद्ध भी धर्म तथा अधर्मके बीच उग्र संघर्षका काल्पनिक प्रतीक न होकर वास्तविकताका स्पष्ट निर्देश ही है। इसे समझनेके लिये महाभारतमें प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है। दुर्योधन तथा उसके सहायक मन्युमय वृक्ष हैं तथा युधिष्ठिर और उनके सहायक धर्ममयवृक्ष हैं। कौरवोंके युद्धमें पाण्डवोंकी विजय अधर्मके ऊपर धर्मकी विजयका भव्य निदर्शन है। महाभारतके दो प्रमुख पात्र युधिष्ठिर और दुर्योधन धर्म और अधर्मके प्रतिनिधिके रूपमें चित्रित हैं। धर्माधर्मवृक्षकी कल्पना ध्यातव्य है—

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥

(आदिपर्व १। ११०-१११)

महाभारतीय कथाका अभिधेयार्थ इसी धर्मविजयकी अभिव्यञ्जनामें है। महाभारत धर्मका केवल शाब्दिक प्रतिपादन नहीं करता, प्रत्युत वह अपने कार्योंसे, नाना घटनाओंसे पाण्डवोंके विषम स्थितिमें निष्पादित कार्यकलापोंसे धर्मका व्यावहारिक प्रतिपादन भी निरन्तर करता है, इसके विषयमें मतद्वैविध्य नहीं हो सकता। इसीलिये यह ग्रन्थरत्न अपनी सुभग शिक्षा धर्मके चयनके निमित्त देता है, क्योंकि धर्म ही

परलोक जानेवाले प्राणीका एकमात्र बन्धु है। अर्थ तथा भार्या बन्धुके रूपमें सामान्यत: प्रतिष्ठित माने जाते हैं, परंतु निपुण व्यक्तियोंके द्वारा सेवित होनेपर भी ये दोनों न तो आप्तभाव—मित्रभावको ही प्राप्त करते हैं और न स्थिरता ही धारण करते हैं। विपरीत इसके, धर्म निश्चयेन हमारा आप्तपुरुष है तथा सर्वदा स्थायी नित्य-तत्त्व है। फलत: धर्मकी उपासना ही कल्याणकारी मानवका एकमात्र कर्तव्य होना चाहिये, महाभारतका यही निर्भ्रान्त और अनिवार्य उपदेश है—

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

(आदिपर्व २। ३९१)

नारी-धर्म

महाभारत पति और पत्नी दोनोंको अपने आदर्शपर दृढ़ रहनेकी शिक्षा देता है। एक पति ही पत्नीका आदर्श है, जिसके जीवित रहने या मर जानेपर वह किसी दूसरे व्यक्तिको प्राप्त नहीं कर सकती—

एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवपरायणम्।
मृते जीवति वा तस्मिन् नापरं प्राप्नुयान्नरम्॥

इसी प्रकार पतिका आदर्श है एक पत्नीव्रत—एक ही पत्नीका धारण। यदि वह उसका परित्याग कर किसी दूसरी स्त्रीको ग्रहण करता है, तो वह संसारमें महापातकी होता है—

भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम्।
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि॥

सच तो यह है कि कुटुम्बरूपी 'वृत्त'को दोनों अर्धवृत्त मिलकर पूरा करते हैं—पतिव्रता नारी और पत्नीव्रती पुरुष। आदर्श परिवार और समाजके लिये दोनों ही पोषक तत्त्व हैं। परंतु खेद है कि हिन्दू समाजने प्रथम अंशपर जितना ध्यान दिया, उतना द्वितीय अंशपर नहीं। धर्मशास्त्रका किसीपर पक्षपात नहीं। उसने तो दोनोंके लिये एक समान मान्य तथा उपयुक्त नियम बनाया है, परंतु बहुतोंको पता नहीं कि स्त्रीके समान पुरुषको भी व्यभिचारका पातक लगता है और समाजके लिये व्यभिचारी पुरुष उतना ही हेय है जितनी व्यभिचारिणी नारी। समाजको उच्छृंखल बनानेका दोष स्वैरी पुरुषपर ही अधिक है। इसीलिये छान्दोग्य उपनिषद्में राजा अश्वपतिकी यह महत्त्वपूर्ण उक्ति है—'**न स्वैरी स्वैरिणी कुतः**'। यदि स्वैरी—स्वेच्छाचारी पुरुष नहीं तो स्वैरिणी—स्वेच्छाचारिणी स्त्री कहाँ? महाभारत भी इसे पूर्णतया मानता है।

महाभारतके द्वारा निर्दिष्ट पतिव्रताओंमें दो पतिव्रता नारियोंकी अमिट छाप भारतीय समाज तथा साहित्यके ऊपर सदाके लिये पड़ी हुई है, जिनमें एक है सावित्री और दूसरी है दमयन्ती। सावित्रीका पवित्र चरित्र इतना पुरातन, प्रामाणिक तथा अनुकरणीय है कि जनकनन्दिनी जानकीने भी अपने लिये अनुसरणीय नारी-चरित्रमें उसका उल्लेख किया है—

लोपामुद्रा यथागस्त्यं सुकन्या च्यवनं यथा।
सावित्री सत्यवन्तं च कपिलं श्रीमती यथा॥
सौदासं मदयन्तीव केशिनी सगरं यथा।
नैषधं दमयन्तीव भैमी पतिमनुव्रता॥

(वा० रा०, सुन्दरकाण्ड २४। ११-१२)

विपत्तिके दिनोंमें भी अपने पतिकी सेवामें दत्तचित्त दमयन्तीका पावन उदात्त चरित्र 'नलोपाख्यान'में बड़ी श्रद्धासे वेदव्यासने अङ्कित किया है। महाभारतने इन दो नारी-चरित्रोंका गौरवपूर्ण रोचक चित्रण कर पातिव्रत-धर्मके आदर्शका, गौरव तथा महत्त्वका जीवन्त चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया है। सतीप्रथाका उदय ऐसे ही पावन युगमें हुआ था, जब पतिके दिवंगत होनेपर भारतीय पतिपरायणा ललना उसकी चितापर अपने जीवनकी आहुति देना ही अपना पवित्र धर्म समझती थी। महाभारतयुगमें सतीके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। पाण्डुके मरनेपर माद्री उनके साथ सती हो गयी थी और श्रीकृष्णके तिरोधानके बाद इन्द्रप्रस्थमें उनकी कितनी ही स्त्रियाँ सती हो गयी थीं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि पातिव्रतधर्मको पूर्ण मान्यता देनेवाले समाजमें ही सती-प्रथाका प्रचार सम्भव है और महाभारतका युग सामाजिक दृष्टिसे ऐसा ही समुन्नत तथा उदात्त युग था। [समाप्त]

हमारे धर्मशास्त्र और सनातनधर्मके मानविन्दु

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी पिलखुवा)

सनातनधर्म तथा हमारे धर्मशास्त्र अकाट्य रहे हैं। धर्मशास्त्रोंसे ही हमें पता चलता है कि हमें क्या कर्म करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये। धर्मशास्त्र ही मानव तथा पशुमें अन्तर बताते हैं। धर्मशास्त्र ही हमें पग-पगपर पतनकी ओर जानेसे रोकते हैं—सन्मार्गपर जानेकी प्रेरणा देते हैं।

सनातनधर्म साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है

सनातनधर्म ही समस्त विश्वमें एकमात्र सत्यधर्म है और कल्याणकारी धर्म है। सनातनधर्मकी शरणमें आये बिना जीवका तीन कालमें भी कभी कल्याण नहीं हो सकता। सनातनधर्म साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है। कहा है—

'रामो विग्रहवान् धर्मः'

भगवान् श्रीराम धर्मके साक्षात् विग्रह हैं। धर्मका पालन किस प्रकार करना चाहिये, यह सबको बतानेके लिये ही मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामभद्रका अवतार हुआ था। जब सनातनधर्म साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है तो जो हमारा सनातनधर्म कहता है, वही कार्य हमें करना चाहिये। सनातनधर्मके विरुद्ध न तो हमें कुछ करना चाहिये और न सनातनधर्मके विरुद्ध हमें कुछ कहना चाहिये। हमारे प्रत्येक कार्य सनातनधर्मके अनुसार होने चाहिये और शास्त्रानुसार होने चाहिये तथा मर्यादानुसार होने चाहिये, तभी हमारा कल्याण हो सकेगा, अन्यथा लाख प्रयत्न करनेपर भी कल्याण नहीं हो सकेगा। धर्म क्या है और अधर्म क्या है? पुण्य क्या है और पाप क्या है? इसमें बस एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अपने श्रीमुखसे यह कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमानी कार्य करता है तो वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है और न परमगतिको प्राप्त होता है और न वह सुखको ही प्राप्त होता है। आगे भगवान् श्रीकृष्ण और भी अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

इसलिये तेरे लिये कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, अतः शास्त्रानुसार कर्म करे—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'

भगवान् एक जगह और भी अपने श्रीमुखसे यह कहते हैं—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञा यस्तामुल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

श्रुति और स्मृति—ये मेरी आज्ञाएँ हैं, जो मनुष्य इन आज्ञाओंका उल्लंघन करके कर्म करता है, वह मुझसे द्वेष रखता है। वह न मेरा भक्त है और न वैष्णव ही है।

सनातनधर्मके अनेक मानविन्दुओंमें धर्मशास्त्र, गोमाता, वर्णाश्रमधर्म आदि प्रमुख हैं।

पूज्या प्रातःस्मरणीया गोमाता इस हमारे धर्मप्राण भारतदेशकी और हमारी महान् हिन्दू-जातिकी मानविन्दु हैं तथा प्राण हैं। यदि इस देशसे गोमाताकी हत्याका यह काला कलंक नहीं मिटा और गोमाताकी हत्या बराबर जारी रही तथा बराबर इसी प्रकार होती रही तो यह याद रखना चाहिये कि फिर इस भारतदेशका और हिन्दू-जातिका बेड़ा गड़क हो जायगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। यदि अपने इस भारतदेशकी रक्षा करना चाहते हो और यदि अपनी इस हिन्दू-जातिको बचाना चाहते हो तो सबसे पहले अविलम्ब पूज्या गोमाताकी हत्या बंद करो। पूज्या गोमाताकी हत्या जारी रहते हुए देशोन्नतिके स्वप्न देखना कोरा पागलपन है और मूर्खताकी पराकाष्ठा है। जिस देशमें पूज्या गोमाताका रक्तविन्दु गिरता हो और गोमाताकी गर्दनपर छुरी चलती हो तथा पूज्या गोमाताओंको तड़फा-तड़फा कर बड़ी बुरी तरहसे मारा जाता हो और उन्हें नाना प्रकारके कष्टों-पर-कष्ट दिये जाते हों, उस देशमें भला फिर सुख-शान्तिका क्या काम? फिर भला उस देशकी उन्नतिका होना कैसा?

हमारे शास्त्रोंमें घोषणा करके कहा गया है कि यह पृथ्वी इन सातोंके ऊपर खड़ी है—

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

गौ, ब्राह्मण, वेद, पतिव्रता, सत्यवादी, निर्लोभी और त्यागी—इन सातके कंधोंपर पृथ्वी खड़ी है। जब इस देशमें ये नहीं रहेंगे तो यह पृथ्वी गड़क हो जायगी। आज पूज्या गोमाता, ब्राह्मण, सती और सत्यवादी आदि इन सभीपर घोर विपत्ति है और सभी इन्हें मिटानेपर तुले हुए हैं। याद रखो, इन्हें मिटानेका प्रयत्न करनेवाले अपने-आप अपने लिये विनाशका मार्ग तैयार कर रहे हैं।

आज वर्णाश्रमधर्मको, वर्णव्यवस्थाको मिटानेकी बात की जा

रही है, पर सबको अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलनेको नहीं कहा जा रहा है, यह कैसा आश्चर्य है? जिस वर्णाश्रमधर्मका और जिस वर्णव्यवस्थाका **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०'** आदिके द्वारा वेदोंमें वर्णन आता है और वेदोंमें वर्णाश्रमधर्मका समर्थन किया गया है, जिस वर्णव्यवस्थाको साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अपने श्रीमुखसे—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'

अर्जुन! मैंने चारों वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनाये हैं, यह घोषणा कर रहे हैं। आज उसी वेदप्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मको और भगवान् श्रीकृष्णकी बनायी वर्णव्यवस्थाको आजके तथाकथित अपनेको सभ्य और सुसंस्कृत समझनेवाले लोग मिटा देनेकी बात कर रहे हैं, क्या यह उचित है? क्या इस वेदप्रतिपादित और भगवान् श्रीकृष्णकी बनायी वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थाको मिटाकर तथा भगवान्से वैर मोल लेकर कोई भी अपने जीवनमें सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है? वर्णाश्रमधर्मको मिटाकर देशमें सुख-शान्तिकी आशा करना नितान्त असम्भव है और मिथ्या कल्पना है। जिस वर्णाश्रमके और जिस वर्णव्यवस्थाके कारण हम अनादिकालसे और करोड़ों वर्षोंसे बड़े सुख-शान्तिसे आजतक रहते हुए चले आये हैं, आज उसी वर्णाश्रमधर्मको और उसी वर्णव्यवस्थाको कुछ पथभ्रष्ट राजनीतिज्ञोंके चक्करमें फँसकर समाप्त करनेकी सोचना यह मूर्खताकी पराकाष्ठा नहीं तो क्या है? जिस वृक्षकी डालीपर बैठे हैं, उसी डालीको काटकर अपने सर्वनाशको निमन्त्रण देना नहीं तो क्या है? देशमें सुख-शान्ति तभी होगी जब कि सभी लोग अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलेंगे और वर्णाश्रमधर्मका पालन करेंगे तथा आपसमें प्रेमसे रहेंगे।

यह वर्णाश्रमधर्म कोई आजसे नहीं चला है यह तो अनादिकालसे चला आ रहा है। भगवान् श्रीरामके राज्यमें भी सबके सुखी होनेका एकमात्र कारण सबके अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलना ही था। तभी तो पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने अपने श्रीरामचरितमानसमें यह बताया है—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

वर्णाश्रमधर्म किसीसे भी वैर-भाव करना, राग-द्वेष करना नहीं सिखाता। वरन् वर्णाश्रमधर्म तो सबको वर्णाश्रमधर्मानुसार चलाकर यह लोक और परलोक बनाना और प्रेमसे रहना तथा मर्यादानुसार चलना सिखाता है। यदि यह वर्णाश्रमधर्म किसीसे वैर-भाव करना और राग-द्वेष करना सिखाता तथा घृणा करना सिखाता तो फिर तो वर्णाश्रमधर्मको माननेके कारण सभी हिन्दू कभीके आपसमें लड़कर समाप्त हो गये होते? हाँ, आज जबसे हमने अदूरदर्शी नेताओंके माया-जालमें फँसकर वर्णाश्रमधर्मको मानना छोड़ा है, तबसे हम अवश्य ही आपसमें लड़ रहे हैं और अवश्य ही समाप्त होते जा रहे हैं। यदि हमने वर्णाश्रमधर्मको मिटा दिया तो याद रखो कि फिर हिन्दू ढूँढ़े भी दृष्टिगोचर नहीं होंगे। इसलिये यदि हिन्दुओंकी रक्षा करना चाहते हो तो सबसे पहले हिन्दू-जातिकी रीढ़ वर्णाश्रमधर्मकी, वर्णव्यवस्थाकी प्राणपणसे रक्षा करो और अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलो तथा वर्णाश्रमधर्मको मिटानेका भूलकर भी प्रयत्न मत करो।

सनातनधर्म ही एकमात्र भगवान्का सत्यधर्म है। सनातनधर्मकी शरणमें आये बिना जीवका तीन कालमें भी कल्याण नहीं होगा। इसलिये अपने सनातनधर्मकी तन-मन-धनसे रक्षा करो। सनातनधर्मकी रक्षा होगी तब जब कि हम सनातनधर्मकी रक्षाके लिये अपने जीवनमें कुछ रचनात्मक, प्रेरणादायी काम करेंगे। सनातनधर्मके बड़े-बड़े विशाल भवन बनवाओ। सनातनधर्मके बड़े-बड़े विशाल भव्य भगवान् श्रीराम-कृष्णके, भगवान् श्रीशंकरके, पराम्बा भगवती श्रीदुर्गाके तथा अन्य पूज्य देवी-देवताओंके मन्दिरोंका निर्माण कराओ, जिनके दर्शन करनेके लिये जनता उमड़ी हुई चली आये और उनमें खूब उत्सव-महोत्सव हुआ करे और खूब धार्मिक जागृति फैला करे। शुद्ध सत्संग और कथा-कीर्तन भी खूब करवाओ और सनातनधर्मके संस्कृत विद्यालय खुलवाओ, जिनमेंसे संस्कृतके विद्यार्थी संस्कृत पढ़-पढ़कर निकलें और सनातनधर्मका चारों ओर डंका बजायें और भारत तथा हिन्दू-जातिका महान् गौरव बढ़ायें। उनके सिरोंपर लम्बी-लम्बी चोटी हो, गलेमें जनेऊ हो और मस्तकपर तिलक हो और अपनी भारतीय हिन्दू वेशभूषामें वे ऋषिसंतान-जैसे प्रतीत होते हों। जगह-जगह गोशालाएँ खुलवाओ और पूज्या गोमाताकी खूब सेवा और रक्षा करो तथा सबको परमपवित्र गोदुग्ध पीना सिखाओ। टूटे-फूटे प्राचीन देवमन्दिरोंके जीर्णोद्धार कराओ, यही सच्चे रूपमें सनातनधर्मकी सेवा है।

धर्मविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध, मर्यादाविरुद्ध मनमानी बातोंसे बिलकुल दूर रहो। शास्त्रानुसार, सनातनधर्मानुसार कथा-कीर्तन अवश्य करो, उसीसे लाभ होगा और कल्याण होगा तथा मनमानी करनेसे पुण्य नहीं, उलटे पाप ही होगा।

बोलो सनातनधर्मकी जय!

संस्कार

[विशेषाङ्क पृ०-सं० ३६७ से आगे]

(१२) केशान्त-संस्कार (गोदान)—वेदारम्भ-संस्कारमें ब्रह्मचारी गुरुकुलमें वेदोंका स्वाध्याय तथा अध्ययन करता है। उस समय वह ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन करता है तथा उसके लिये केश और श्मश्रु (दाढ़ी), मौञ्जी-मेखलादि धारण करनेका विधान है। जब विद्याध्ययन पूर्ण हो जाता है, तब गुरुकुलमें ही केशान्त-संस्कार सम्पन्न होता है। इस संस्कारमें भी आरम्भमें सभी संस्कारोंकी तरह गणेशादि देवोंका पूजन कर तथा यज्ञादिके सभी अङ्गभूत कर्मोंका सम्पादन करना पड़ता है। तदनन्तर श्मश्रु-वपन (दाढ़ी बनाने)-की क्रिया सम्पन्न की जाती है, इसलिये यह 'श्मश्रु-संस्कार' भी कहलाता है।

'केशानाम् अन्तः समीपस्थितः श्मश्रुभाग इति व्युत्पत्त्या केशान्तशब्देन श्मश्रूणामभिधानात् श्मश्रुसंस्कार एव केशान्तशब्देन प्रतिपाद्यते। अत एवाश्वलायनेनापि 'श्मश्रूणीहोन्दति' इति श्मश्रूणां संस्कार एवात्रोपदिष्टः। (संस्कारदीपक भाग २, पृ० ३४२)

पूर्वोक्त विवरणमें यह स्पष्ट किया गया है कि केशान्त शब्दसे श्मश्रु (दाढ़ी)-का ही ग्रहण होता है, अतः मुख्यतः श्मश्रु-संस्कार ही केशान्त-संस्कार है। इसे 'गोदान-संस्कार' भी कहा जाता है, क्योंकि गौ यह नाम केश (बालों)-का भी है और केशोंका अन्तभाग अर्थात् समीपस्थित श्मश्रुभाग ही कहलाता है—

'गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या 'गोदानं' नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते।' (रघु० ३। ३३ पद्यकी मल्लिनाथव्याख्या)

'गौ अर्थात् लोम-केश जिसमें काट दिये जाते हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोदान' पद यहाँ ब्राह्मण आदि वर्णोंके सोलहवें वर्षमें करने योग्य केशान्त नामक कर्मका वाचक है।'

यह संस्कार केवल उत्तरायणमें किया जाता है तथा प्रायः षोडश वर्षमें होता है।

(१३) (वेदस्नान) समावर्तन—समावर्तन विद्याध्ययनका अन्तिम संस्कार है। विद्याध्ययन पूर्ण हो जानेके अनन्तर स्नातक ब्रह्मचारी अपने पूज्य गुरुकी आज्ञा पाकर अपने घरमें समावर्तित होता है—लौटता है। इसीलिये इसे समावर्तन-संस्कार कहा जाता है। गृहस्थ-जीवनमें प्रवेश पानेका अधिकारी हो जाना समावर्तन-संस्कारका फल है। वेद-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जलसे भरे हुए ८ कलशोंसे विशेष विधिपूर्वक ब्रह्मचारीको स्नान कराया जाता है, इसलिये यह 'वेदस्नान-संस्कार' भी कहलाता है।

समावर्तन-संस्कारकी वास्तविक विधिके सम्बन्धमें आश्वलायन-स्मृतिके १४वें अध्यायमें पाँच प्रामाणिक श्लोक मिलते हैं, जिनके अनुसार केशान्त-संस्कारके बाद विधिपूर्वक स्नानके अनन्तर वह ब्रह्मचारी वेदविद्याव्रत 'स्नातक' कहलाता है। उसे अग्निस्थापन, परिसमूहन तथा पर्युक्षण आदि अग्निसंस्कार कर ऋग्वेदके दसवें मण्डलके १२८ वें सूक्तकी सभी ९ वों ऋचाओंसे समिधाका हवन करना चाहिये। फिर गुरुदक्षिणा देकर, गुरुके चरणोंका स्मरण कर, उनकी आज्ञा ले 'स्विष्टकृत्' होमके अनन्तर निम्न मन्त्रद्वारा वरुणदेवसे मौञ्जी-मेखला आदिके त्यागकी कामना करते हुए प्रार्थना करनी चाहिये—

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे॥

(ऋग्वेद १। २५। २१)

इसका भाव है—हे वरुणदेव! आप हमारे कटि एवं ऊर्ध्वभागके मौञ्जी—उपवीत एवं मेखलाको हटाकर सूतकी मेखला तथा उपवीत पहननेकी आज्ञा दें और निर्विघ्न अग्रिम जीवनका विधान करें। इसके बाद गुरुजन घर आते समय उसे लोक-परलोक-हितकारी एवं जीवनोपयोगी शिक्षा देते हैं—'सत्य बोलना। धर्मका आचरण करना। स्वाध्यायमें प्रमाद न करना। आचार्यके लिये प्रिय धन लाकर देना। संतान-परम्पराका उच्छेद न करना। सत्यमें प्रमाद न करना। कुशल-कर्मोंमें प्रमाद न करना। ऐश्वर्य देनेवाले कर्मोंमें प्रमाद न करना। स्वाध्याय और प्रवचनमें प्रमाद न करना। देवकार्यों और पितृकार्योंमें प्रमाद नहीं करना। माता-पिता, आचार्य तथा अतिथिको देवता माननेवाले होओ। जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींकी ओर प्रवृत्ति होनी चाहिये, अन्य

कर्मोंकी ओर नहीं। हमारे जो शुभ आचरण हैं, तुम्हें उन्हींका आचरण करना चाहिये, दूसरोंका नहीं।'

जो हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनका आसनादिके द्वारा तुम्हें आश्वासन (आदर) करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये। अपने ऐश्वर्यके अनुसार देना चाहिये। लज्जापूर्वक देना चाहिये। भय मानते हुए देना चाहिये। मित्रतापूर्वक देना चाहिये। यदि तुम्हें कर्म या आचरणके विषयमें कोई संदेह उत्पन्न हो जाय, तो वहाँ जो विचारशील, कर्ममें स्वेच्छासे भलीभाँति लगे रहनेवाले धर्ममति ब्राह्मण हों, उस विषयमें वे जैसा व्यवहार करते हों, वैसा तुम्हें भी करना चाहिये।

इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोषारोपण किया गया हो, उनके विषयमें भी वहाँ जो विचारशील, स्वेच्छासे कर्मपरायण, सरल-हृदय, धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें, वैसा तुम्हें भी करना चाहिये। यह आदेश है। यह उपदेश है, यह वेदका रहस्य और ईश्वरकी आज्ञा है। इसी प्रकार तुम्हें उपासना करनी चाहिये। ऐसा ही आचरण करना चाहिये।'

इस उपदेश-प्राप्तिके अनन्तर स्नातकको पुनः गुरुको प्रणाम कर मौञ्जी-मेखला आदिका परित्याग करके गुरुसे विवाहकी आज्ञा लेकर अपने माता-पिताके पास आना चाहिये और माता-पिता आदि अभिभावकोंको उस वेद-विद्याव्रत-स्नातकके घर आनेपर माङ्गलिक वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत कर मधुपर्क आदिसे उसका स्वागत-सत्कारपूर्वक अर्चन करना चाहिये।

(१४) विवाह-संस्कार—धर्मशास्त्रोंके अनुसार ब्राह्म आदि उत्तम विवाहोंसे उत्पन्न पुत्र पितरोंको तारनेवाला होता है। विवाहका यही फल बताया गया है। यथा—

ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः।
विवाहस्य फलं त्वेतत् व्याख्यातं परमर्षिभिः॥

(स्मृतिसंग्रह)

विवाह-संस्कारका भारतीय संस्कृतिमें अत्यधिक महत्त्व है। जिस दार्शनिक विज्ञान और सत्यपर वर्णाश्रमी आर्य-जातिके स्त्री-पुरुषोंका विवाह-संस्कार प्रतिष्ठित है, उसकी कल्पना दुर्विज्ञेय है। कन्या और वर दोनोंके स्वेच्छाचारी होकर विवाह करनेकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं प्रदान की है। इसके लिये कुछ नियम और विधान बने हैं, जिससे उनकी स्वेच्छाचारितापर नियन्त्रण होता है।

पाणिग्रहण-संस्कार देवता और अग्निके साक्षित्वमें करनेका विधान है। भारतीय संस्कृतिमें यह दाम्पत्य-सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तरतक माना गया है।

(१५) विवाहाग्निपरिग्रह—विवाह-संस्कारमें लाजाहोम आदि क्रियाएँ जिस अग्निमें सम्पन्न की जाती हैं, वह 'आवसथ्य' नामक अग्नि कहलाती है। इसीको 'विवाहाग्नि' भी कहा जाता है। उस अग्निका आहरण तथा उसकी परिसमूहन आदि क्रियाएँ इस संस्कारमें सम्पन्न होती हैं। शास्त्रोंमें निर्देश है कि किसी बहुत पशुवाले वैश्यके घरसे अग्निको लाकर विवाह-स्थलकी उपलिप्त पवित्र भूमिमें परिसमूहन तथा पर्युक्षणपूर्वक उस अग्निकी मन्त्रोंसे स्थापना करनी चाहिये और उसी स्थापित अग्निमें विवाह-सम्बन्धी लाजाहोम तथा औपासन-होम करना चाहिये। तदनन्तर अग्निकी प्रदक्षिणा कर 'स्विष्टकृत् होम' तथा पूर्णाहुति करनेका विधान है। कुछ विद्वानोंका मत है कि अग्नि कहीं बाहरसे न लाकर अरणि-मन्थनद्वारा उत्पन्न करनी चाहिये।

विवाहके अनन्तर जब वर-वधू अपने घर आने लगते हैं, तब उस स्थापित अग्निको घर लाकर किसी पवित्र स्थानमें प्रतिष्ठित कर उसमें प्रतिदिन अपने कुलपरम्परानुसार सायं-प्रातः हवन करना चाहिये। यह नित्य-हवन-विधि द्विजातिके लिये आवश्यक बतायी गयी है और नित्य-कर्मोंमें परिगणित है। सभी वैश्वदेवादि स्मार्त-कर्म तथा पाक-यज्ञ इसी अग्निमें अनुष्ठित किये जाते हैं। जैसा कि याज्ञवल्क्यने भी लिखा है—

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।

(या० स्मृति, आचाराध्याय ५। ९७)

—इस अग्निको आनाय्याग्नि, गृह्याग्नि, आवसथ्याग्नि तथा विवाहाग्नि भी कहा जाता है। गृह्यसूत्रोंमें पठित सभी कर्म इसी स्थापित अग्निमें किये जाते हैं। सनातन संस्कृतिमें इस संस्कारका अत्यन्त महत्त्व है।

(१६) त्रेताग्निसंग्रह-संस्कार—

'स्मार्तं वैवाहिके वह्नौ श्रौतं वैतानिकाग्निषु'

(व्यासस्मृति २। १७)

स्मार्त या पाकयज्ञ-संस्थाके सभी कर्म वैवाहिक अग्निमें तथा हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ-संस्थाके सभी श्रौत-कर्मानुष्ठानादि कर्म वैतानाग्नि (श्रौताग्नि-त्रेतादि)-में सम्पादित होते हैं।

इससे पूर्व 'विवाहाग्निपरिग्रह-संस्कारके' परिचयमें यह स्पष्ट किया गया है कि विवाहमें घरमें लायी गयी आवसथ्य अग्नि प्रतिष्ठित की जाती है और उसीमें स्मार्त कर्म आदि अनुष्ठान किये जाते हैं। उस स्थापित अग्निसे अतिरिक्त तीन अग्नियों (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य तथा आहवनीय)-की स्थापना तथा उनकी रक्षा आदिका विधान भी शास्त्रोंमें निर्दिष्ट है। ये तीन अग्नियाँ त्रेताग्नि कहलाती हैं, जिसमें श्रौतकर्म सम्पादित होते हैं। जैसे वेदाध्ययन आवश्यक बताया गया है और वेदाध्ययनका प्रयोजन यज्ञकर्मोंमें पर्यवसित है, जिससे पुण्य और सद्गति प्राप्त होती है, वैसे ही इस त्रेताग्नि-क्रियाको आवश्यक तथा महत्त्वका संस्कार बताया गया है। इसी दृष्टिसे इसे अन्तिम संस्कार भी माना जाता है। शास्त्रोंमें यह निर्देश है कि गृहस्थ एक स्वतन्त्र यज्ञशालामें जिसे त्रेताग्निशाला भी कहा गया है, पूर्वोक्त तीन अग्नियोंकी विधिवत् स्थापना करे और उसमें हवनादि कार्य करे। वेदोंमें कर्म एवं उपासनासे सम्बन्धित ८४,००० मन्त्र केवल त्रेताग्निशालामें सम्पादन करने योग्य यज्ञोंके अनुष्ठानविधानमें ही विनियुक्त हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों, ऋक्परिशिष्ट, अथर्वणपरिशिष्ट, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा जैमिनि आदिके मीमांसा आदि दर्शनोंमें विस्तारसे इनकी प्रयोगविधि तथा विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह संस्कार कितने महत्त्वका है। गृहस्थके लिये नित्य हवनके साथ ही श्रौतकर्मोंका विधान शास्त्रोंमें स्पष्ट बताया गया है। इन कर्मोंसे कर्ता सुसंस्कृत होता है और उसे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है।

भगवान् श्रीराम जब लंका-विजय कर सीताके साथ पुष्पक विमानसे वापस लौट रहे थे, तब उन्होंने मलयाचलके ऊपरसे आते समय सीताको अगस्त्यजीके आश्रमका परिचय देते हुए बताया कि यह अगस्त्य मुनिका आश्रम है, जहाँके त्रेताग्निमें सम्पादित यज्ञोंके सुगन्धित पूर्ण धुएँको सूँघकर मैं अपनेको सभी पाप-तापोंसे मुक्त अनुभव कर रहा हूँ।

अन्त्येष्टिक्रिया—कुछ आचार्योंने मृत-शरीरकी अन्त्येष्टिक्रियाको भी एक संस्कार माना है, जिसे पितृमेध, अन्त्यकर्म, अन्त्येष्टि अथवा श्मशानकर्म आदि नामोंसे भी कहा गया है। पुराणोंमें इस क्रियासे सम्बद्ध सभी विषयोंका वर्णन है तथा यह क्रिया अत्यन्त महत्त्वकी है। यहाँ इसका संक्षेपमें विवरण दिया जा रहा है—

इस संस्कारमें मुख्यतः संस्कृत अग्निसे, दाहक्रियासे लेकर द्वादशाहतकके कर्म सम्पन्न किये जाते हैं। मृत व्यक्तिके शरीरको स्नान कराकर, वस्त्रोंसे आच्छादित कर, तुलसी-स्वर्ण आदि पवित्र पदार्थोंको अर्पित कर, शिखासूत्र-सहित उत्तरकी ओर सिर करके चितामें स्थापित करना चाहिये और फिर औरस पुत्र या सपिण्डी या सगोत्री व्यक्ति सुसंस्कृत अग्निसे मन्त्रसहित चितामें अग्नि दे। अग्नि देनेवाले व्यक्तिको बारहवें दिनतक सपिण्डन-पर्यन्त सारे कर्म करने चाहिये। तीसरे दिन अस्थिसंचयन करके दसवें दिन दशाह कर तिलाञ्जलि देनी चाहिये। दस दिनतक आशौच रहता है, उसमें कोई नैमित्तिक कार्य नहीं करने चाहिये। बौधायनीय पितृमेधसूत्रोंमें इस क्रियाकी विशिष्ट विधि दी गयी है।

अन्त्येष्टि-क्रियाके रहस्यपर कुछ संक्षिप्त विचार इस प्रकार है—मृत्युके अनन्तर मृत शरीरको अग्नि प्रदान करके वैदिक मन्त्रोंद्वारा दाहक्रिया सम्पन्न की जाती है। वर्ण और आश्रमके अनुसार दशगात्र-विधान, षोडश-श्राद्ध, सपिण्डीकरण आदि क्रियाएँ भी इसी संस्कारके अन्तर्गत हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राणवायु, मन और बुद्धि इन सत्रह वस्तुओंका सूक्ष्मशरीर लेकर जीव स्वकर्मानुसार षाट्कौशिक स्थूलशरीरमें प्रवेश करता है। वहीं प्रारब्धको समाप्त कर जब उपर्युक्त सत्रह वस्तुओंको लेकर स्थूल शरीरसे वह निकलता है, उस समय जीवको सूक्ष्मशरीरके रक्षार्थ एक वायवीय शरीर मिलता है। इसीसे वह अपने कर्मानुसार कृष्ण या शुक्ल गतिको प्राप्त होता है। षाट्कौशिक स्थूलशरीरसे निकलते ही तत्काल वह वायवीय शरीरको ग्रहण करता है। इसी समय जीवकी प्रेत-संज्ञा पड़ती है अर्थात् वह अधिक चलनेवाला और हलका जीव बन जाता

है। स्थूलशरीरमें अधिक समयतक निवास होनेके कारण शरीरके साथ उसका विशेष अभिनिवेश हो जाता है। अतएव जीव बारम्बार वायुप्रधान शरीरके द्वारा पूर्वशरीरके सूक्ष्मावयवों (परमाणुओं)-की तरफ रहनेकी चेष्टा करता रहता है। इसलिये इसी प्रेतत्वसे मुक्तिके लिये दशगात्रादि श्राद्धक्रियाएँ शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं। मूर्ख, विद्वान् सभीके लिये '**प्रेतत्व-विमुक्तिकामः**' ऐसा श्राद्ध-प्रकरणमें पढ़ा जाता है। मृतककी वासना जमीनमें गड़े हुए तथा कहीं गन्धयुक्त पड़े हुए पूर्व शरीरपर न जाय और उससे जीवकी मुक्ति हो जाय, इसलिये हिंदुओंमें मृत शरीरको जलानेकी प्रथा प्रचलित हुई है। अग्निसंस्कारसे मृत शरीरका पार्थिव तत्त्व कण-कण जलकर रूपान्तर ग्रहण करता है। फिर भस्मरूप (फूल) पार्थिव तत्त्व भगवती भागीरथीकी पावन वारिधारामें प्रवाहित कर दिया जाता है। वह परम पवित्र जल उन भस्मकणोंको स्वस्वरूपमें परिवर्तित कर लेता है। फिर मृतका सम्बन्ध पूर्व-शरीरसे विच्छिन्न हो जाता है और शास्त्रविहित श्राद्धादिक क्रियाके द्वारा प्रदत्त जलादि सामग्रीसे तृप्त होकर वह प्रेत-शरीरको छोड़ देता है। संन्यासियोंके मृत शरीरके लिये अग्निसंस्कार शास्त्रमें नहीं बतलाया गया है, क्योंकि कामनानुबन्धी कर्मोंको तथा कृतकर्म-फलोंको त्यागनेसे और श्रीभगवच्चरणारविन्दोंमें गाढ अनुराग होनेसे शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादिकी वासना जीवनदशामें ही छूट जाती है। अतएव शरीरसे निकली हुई संन्यासियोंकी आत्मा शीघ्रातिशीघ्र शुक्ल गतिसे प्रयाण कर जाती है। मृत शरीरकी ओर आकर्षण करनेवाली सामग्री ही नहीं रह जाती, इसलिये संन्यासियोंके लिये श्राद्धादिकी कल्पनाएँ नहीं की गयी हैं। हिंदुओंमें छोटे बालकोंका शरीर भी नहीं जलाया जाता। उसे भूमिके अंदर गाड़ दिया जाता है। सूक्ष्मशरीरके साथ स्थूल शरीरमें प्रविष्ट आत्माका गाढ सम्बन्ध (अभिनिवेश) स्थूलशरीरमें अल्प दिनोंमें नहीं होता। अतएव बालकोंकी मृत आत्मा पूर्व-शरीरका सम्बन्ध शीघ्रातिशीघ्र त्यागकर संचित कर्मानुसार अपर शरीरको प्राप्त करती है। इसी कारण अल्पवयस्क बालकोंके लिये यह संस्कार नहीं बतलाया गया है। मृत आत्माओंका प्रगाढ़ अन्वय (वासना) पूर्व-शरीरके ऊपर अवश्य रहता है। इसी आधारपर मुसलमान और ईसाई जातियोंमें भी जहाँपर शरीर गाड़ा जाता है, वहींपर उनके धर्मग्रन्थोंमें कुछ क्रियाएँ बतलायी गयी हैं। उन्हीं जातियोंमें यह भी सिद्धान्त बतलाया गया है कि जबतक प्रलय नहीं होता, तबतक जीव मृत शरीरके पास ही सुख-दुःख भोगा करता है।

प्रेतयोनि—प्रसंगतः यहाँपर यह भी कह देना उचित है कि चौरासी लाख योनियोंमें एक प्रेतयोनि भी मानी गयी है। कुछ पापोंका परिणाम भोगनेके लिये प्रेतयोनि मिलती है। जलमें डूबकर, अग्निमें जलकर, वृक्षसे गिरकर, किसीके ऊपर अनशन करके मरनेवाले मनुष्य प्रेतयोनिमें जाते हैं। वहाँपर भी मृत आत्माओंके लिये वायु-प्रधान शरीर मिलता है। प्रेतोंके हृदयमें यह इच्छा सर्वदा बनी रहती है कि जहाँपर उनका धन है, उनके शरीरके पार्थिव परमाणु हैं, उनके शरीर-सम्बन्धी परिवार हैं, वहींपर रहें, अपने सम्बन्धियोंको अपनी तरह बनायें। सभी भौतिक पदार्थोंका संचय करनेकी सामर्थ्य वायुतत्त्वमें रहती है। यही कारण है कि प्रेत वायु-शरीरप्रधान होनेसे जिस योनिकी इच्छा करता है, वही साँप, बैल, भैंस आदि शरीरको ग्रहण कर लेता है, परंतु कुछ ही समयतक वह शरीर ठहर सकता है, पीछे सब पार्थिव परमाणु शीघ्र ही बिखर जाते हैं। जिसका अन्त्येष्टि-संस्कार शास्त्रविहित क्रियाओंसे नहीं किया जाता, वह प्राणी कुछ दिनोंके लिये प्रेतयोनि प्राप्त करता है। शास्त्रोक्त विधिसे जब उसका प्रेतसंस्कार, दशगात्र-विधान, षोडश-श्राद्ध, सपिण्डन-विधान किया जाता है, तब वह प्रेत-शरीरसे छूट जाता है। मनुष्यसे इतर योनियोंमें जीवके ऊपर पञ्चकोशोंका विकास पूर्णरूपसे नहीं रहता है। इसलिये पशु-पक्षियोंकी आत्मा पूर्व-शरीरके साथ गाढ सम्बन्ध (अभिनिवेश) नहीं कर पाती, वहाँपर प्रकृति-माताके सहारेसे शीघ्रातिशीघ्र अन्य योनिको जीव प्राप्त कर लेता है। अतएव तिर्यग्-योनियोंके लिये दाहादि संस्कार नहीं बतलाये गये हैं। [समाप्त]

धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः—

शाण्डिल्यस्मृतिका उपदेशामृत

(शास्त्री श्रीजयन्तीलाल त्रि० जोषी)

स्मृतिग्रन्थोंमें 'शाण्डिल्यस्मृति' नामकी एक स्मृति भी है। परमपावन महाभागवत श्रीशाण्डिल्यमुनिके नामसे शायद ही कोई अपरिचित होगा? श्रीशाण्डिल्यजीरचित 'भक्तिसूत्र' बहुत ही प्रसिद्ध है। भक्तिमार्गके लिये यह परम उन्नत कोटिका ग्रन्थ है, उन्हीं शाण्डिल्यमुनिकी यह 'शाण्डिल्यस्मृति' उत्तम एवं उदात्त कृति है। यह स्मृति वैष्णवोंके लिये परम आदर्श है। महर्षि शाण्डिल्यने दिनचर्याको (१) अभिगमन, (२) उपादान, (३) इज्या, (४) आचार तथा (५) योग—इस प्रकारसे पाँच भागोंमें बाँटा है और इन पाँचोंको 'पञ्चकाल' तथा इस भगवद्भक्तिमयी आचार-साधनाको 'पञ्चकाल-साधना'के नामसे अभिहित किया है[१]। ये पाञ्चकालिक वैष्णव 'सात्वत' भी कहलाते हैं। इस स्मृतिमें कुल पाँच अध्याय हैं और लगभग ७०० श्लोक हैं।

यदि स्थूलरूपसे निरीक्षण करें तो प्रथम अध्यायमें भगवत्पूजाविधि-वर्णन, द्वितीय अध्यायमें प्रातःकृत्य-वर्णन, तृतीय अध्यायमें उपादानविधि-वर्णन, चतुर्थ अध्यायमें व्रतादिविधान-निरूपण एवं पञ्चम अध्यायमें योगकृत्य और शास्त्रप्रशंसा-वर्णन समाविष्ट है। ये तो प्रत्येक अध्यायके प्रमुख विषय हैं, किंतु प्रत्येक अध्यायमें कई अवान्तर-विषयोंका निरूपण भी हुआ है। यहाँ इसीपर कुछ विचार प्रस्तुत है—

श्रीविष्णुके परमायतन शोभासम्पन्न तोदगिरिके शिखरपर बैठे हुए महामुनि शाण्डिल्यजीके समीप आकर सभी ऋषियोंने प्रणामपूर्वक निवेदन किया—'हे महर्षे! हमने वेदोंका सार एवं गुह्य सनातन शास्त्रोंका श्रवण किया है। अब हम सब कुटुम्बनिष्ठ तथा आश्रमनिष्ठ पाञ्चकालिक अनुष्ठान करनेवाले मनुष्योंका आचरण आपके मुखसे श्रवण करना चाहते हैं[२]।

तब महामुनि श्रीशाण्डिल्यजीने परम मङ्गलमय श्रीहरिको प्रणाम करके कहा—'ऋषियो! बहुत कालपूर्व ही मैंने शास्त्रोंमें जो सात प्रकारकी शुद्धि बतायी है, उन्हींको लक्ष्य कर इस आचारके विषयमें बताता हूँ। यद्यपि इसका बहुत ही विस्तार है, किंतु मैं अपनी मति एवं शास्त्रके अनुसार इसे संक्षेपमें कहता हूँ, आप लोग सुनें।'

आचार-शुद्धि क्या है?

महर्षि शाण्डिल्यने आचारकी शुद्धिको विशेष महत्त्व दिया है और बताया है कि आचारके शुद्ध होनेपर पराभक्तिकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है। शाण्डिल्य 'आचार'की व्याख्या बताते हुए कहते हैं कि इन्द्रियोंसमेत देह और बुद्धि, मन, द्रव्य, देश एवं क्रिया—इस प्रकारसे सात प्रकारकी शुद्धिको 'आचार-शुद्धि' कहते हैं—

पञ्चेन्द्रियस्य देहस्य बुद्धेश्च मनसस्तथा।
द्रव्यदेशक्रियाणां च शुद्धिराचार इष्यते॥

(१। ११)

पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंकी शुद्धि

आचारकी व्याख्या करनेके पश्चात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी शुद्धि सूचित करते हुए कहा गया है कि जो निषिद्ध बातोंमें आसक्त नहीं है और पवित्र भगवद्विषयोंमें आसक्त है, ऐसे 'कर्ण' शुद्ध हैं। अस्पृश्य एवं स्पृश्य पदार्थोंके स्पर्शमें जो अलोलुप है, वही 'त्वचा' शुद्ध है। पाखंडी एवं पतितपर जो दृष्टि कदापि नहीं जाती एवं भगवान् और भक्तोंपर सदा स्नेहयुक्त रहती है, ऐसी 'दृष्टि' शुद्ध है। जो जिह्वा उचित समयपर भोज्य-रसोंका तथा मिताहारका आनन्द लेती है, अभोज्य-पदार्थोंसे दूर रहती है, वह 'जिह्वा' पवित्र है। दुर्गन्धोंसे दूर रहती हुई अलोलुपतासे योग्य सुगन्ध लेनेवाली 'नासिका' शुद्ध है। सिर, कण्ठ, नेत्र, नासिका इत्यादि अङ्गोंके साथ देहकी शुद्धि करनेको सत्पुरुष 'सर्वाङ्गीण' शुद्धि कहते हैं—

१-महाविस्तररूपोऽयमाचारः पञ्चकालिनाम्। (शाण्डिल्य० १। ७)

२-श्रीमत्तोदगिरेर्मूर्ध्नि श्रीमत्यायतने हरेः। शाण्डिल्यऋषिमासीनं प्रणम्य मुनयोऽब्रुवन्॥
कुटुम्बाश्रमनिष्ठानां पञ्चकालनिषेविणाम्। आचारं त्वन्मुखाम्भोजाच्छ्रोतुमिच्छामहे वयम्॥ (शाण्डिल्य० १। १, ४)

शिरःकण्ठाक्षिनासादिमलनिर्हरणेऽनया ।
शुद्धिर्देहस्य सा सद्भिः सर्वाङ्गीणेति कीर्त्यते॥

(१ । ३९)

पञ्च कर्मेन्द्रियोंकी शुद्धि कैसे करें?

भगवान्‌के चरणकमलोंकी पूजा, भगवान्‌के अलंकरण आदिकी योजना, देवमन्दिरमें सफाई आदि क्रियाएँ, पूजाके लिये पुष्पावचयन और मालावगुम्फन, याचकोंको दान देना, शुभ आचारका परिपालन, जप इत्यादि क्रिया-व्यापारोंमें हाथोंका संलग्न रहना 'पाणिशुद्धि' है। भगवान्‌की प्रदक्षिणा, तीर्थयात्रा, महात्माओं, संतों एवं भगवद्भक्तोंके दर्शनके लिये जाना इत्यादि भगवन्निमित्तक कर्म 'पादशुद्धि' है। शौचकी शुद्धि 'पायुशुद्धि' तथा धर्माविरुद्ध कामोपभोग 'उपस्थ-शुद्धि' है।

वाणीकी शुद्धि

दूसरेकी निन्दा करना, परुष वचन बोलना, व्यर्थका विवाद करना, असत्य भाषण करना, अनर्गल प्रलाप करना, अपनी प्रतिष्ठाका वर्णन करना, असह्य तथा उद्वेगकारी मर्मान्तक वचन बोलना, आक्षेप करना, अपशब्द बोलना, असत्-शास्त्रोंको पढ़ना, दुर्जनोंके साथ सम्भाषण करना इत्यादि—ये सब वाणीके दोष हैं। इनसे वाणी अशुद्ध हो जाती है। अतः इनका परित्याग करके स्वाध्याय करना, जपमें रत रहना, धर्मग्रन्थोंके पठन-पाठनमें निरत रहना, प्रिय, सत्य तथा हितकर वचन बोलना, अर्थयुक्त, सत्-लक्षणोंसे युक्त वचन बोलना, उपयुक्त अक्षरोंका प्रयोग करना, अत्यधिक न बोलना, आवश्यकता रहनेपर ही वाणीका प्रयोग करना अन्यथा यथासम्भव मौन रहते हुए भगवद्‌गुणोंका चिन्तन करना वाणीकी शुद्धि है।

बुद्धिकी शुद्धि कैसे हो?

जब बुद्धिमें यह बात आ जाय कि 'धर्मकी हानि कभी न करके सर्वदा धर्मका ही संग्रह करना चाहिये; क्योंकि धर्म और अधर्म ही क्रमशः सभी प्राणियोंके लिये सुख और दुःखको प्राप्त करानेवाले हैं' तो उसे बुद्धिकी शुद्धि समझना चाहिये[1]। इसी प्रकार 'यह हेय (त्याज्य) है' और 'यह परम उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है'—ऐसी बातें जब बुद्धि ठीकसे समझ ले तो यह बुद्धिकी शुद्धता है।

'देवकीके पुत्र वासुदेव श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्म, परमधाम, सभी कारणोंके भी मूल कारण, अव्यय तथा सनातन हैं और देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु जितनी भी यह चराचर-सृष्टि है, वह सब भगवान् वासुदेवका ही विस्तार है, सभीमें वे व्याप्त हैं, उनसे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, अतः सभीके द्वारा वे ही एकमात्र आराध्य हैं, वे ही सर्वथा उपास्य हैं, इसके अतिरिक्त और कोई भी संसारसे पार करनेवाला नहीं है, ज्ञान तथा कर्म—सभी प्रकारसे भगवान् वासुदेव ही आराध्य हैं'—

साक्षाद्ब्रह्म परं धाम सर्वकारणमव्ययम्॥
देवकीपुत्र एवान्ये सर्वे तत्कार्यकारिणः।
देवा मनुष्याः पशवो मृगपक्षिसरीसृपाः॥
सर्वमेतज्जगद्धातुर्वासुदेवस्य विस्तृतिः।
× × ×
स एव सर्वथोपास्यो नान्ये संसारतारणाः॥

(१ । ४४—४७)

—इस प्रकारके सात्त्विक ज्ञानको बुद्धि जब निश्चित कर लेती है तो वह अभेद्य-बुद्धि शुद्ध-बुद्धि कहलाती है।

मनःशुद्धि

परायी स्त्री, पराया धन, हिंसा इत्यादिका मनसे चिन्तन, वैर-भाव रखना, ईर्ष्याभाव, अलभ्य अर्थका चिन्तन, भोजनकी चिन्ता, असत्कथाका श्रवण, असत्कार्यका निरूपण इत्यादि—ये सब मनके दोष हैं, इनसे मन मलिन एवं अशुद्ध हो जाता है। अतः ऐसे दोषरूप कर्मोंमें मनके व्यापारको संलग्न न करके भगवन्निमित्तक कर्मोंमें मनको लगाये रखना, इन्द्रियोंके विषयोंसे मनको सर्वथा रोककर भगवान्‌के ध्यानमें लगाना इत्यादि शुभ-गुणोंसे मन निर्मल हो जाता है और यही मनकी शुद्धि है[2]।

द्रव्यशुद्धि

सात्त्विक, राजस तथा तामस—इस प्रकारसे तीन प्रकारके द्रव्योंमेंसे शास्त्रोक्त सात्त्विक द्रव्योंका प्रयोग ही 'द्रव्य-

१-धर्महानिर्न कर्तव्या कर्तव्यो धर्मसंग्रहः। धर्माधर्मौ हि सर्वेषां सुखदुःखोपपादकौ॥ (१ । ४०)

२-भगवत्कर्मसिद्ध्यर्थं व्यापृतं भगवत्परम्। × × × सर्वदा भगवद्ध्यानं संसर्गविगतज्वरम्।
एवमादिगुणोपेतं निर्मलं मन इष्यते। (१ । ५५—५९)

शुद्धि' है। जैसे द्रव्यका उपयोग होता है, स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है। सात्त्विक द्रव्योंके उपभोगसे निर्मल ज्ञानकी प्राप्ति होती है—

सात्त्विकस्य विशुद्ध्यैव ज्ञानं भवति निर्मलम्।

(१।७०)

देशशुद्धि

धार्मिकोंद्वारा सेवित, हिंसक व्याघ्र, सिंह आदि जानवरों तथा दस्युओंसे रहित, सारंग एवं मयूरोंसे युक्त पवित्र तीर्थस्थान आदि देश मोक्षभूमि कहलाते हैं। पक्षियोंके कलरवसे युक्त सुन्दर उद्यान, नदी-सरोवरों तथा वृक्षोंसे सुशोभित स्थान, समिधा और कुश आदिकी सुलभतायुक्त स्थान, तुलसी-उद्यान और गौओंसे सुशोभित किसी पवित्र स्थानमें प्रासाद एवं पर्णशाला आदिका निर्माण करके भगवान्‌का भजन करना चाहिये। यह देश अथवा स्थानकी शुद्धि है।

इस प्रकार सात प्रकारकी शुद्धिसे जो भी क्रिया होगी, वह भगवत्प्रीतिकारक ही होगी।

भगवत्प्रीतिका अन्यतम उपाय

प्रथम शरीरको तपस्यासे शुद्ध करे, यदि तप करनेमें अशक्त हो, असमर्थ हो तो दान करे और यदि इन दोनों—तप-दानमें असमर्थ हो तो भगवन्नाम-संकीर्तन करना चाहिये। उपवाससे, दानसे, सज्जनों तथा भगवद्भक्तोंकी सेवासे, भगवन्नाम-संकीर्तनसे, भगवन्नाम-जपसे तथा अनुताप (पश्चात्ताप)-से और श्रद्धासे सब प्रकारकी शुद्धि हो जाती है और भगवान्‌की प्रीति प्राप्त करके साधक उनकी पराभक्तिको प्राप्त कर लेता है—

उपवासात् तथा दानात् सद्भक्तानां च सेवनात्।
संकीर्तनाज्जपात् तापाच्छ्रद्धया शुद्धिमृच्छति॥

(१।९७)

इस प्रकार शाण्डिल्यस्मृतिके प्रथम अध्यायमें सात प्रकारकी शुद्धियोंका वर्णन करके द्वितीय अध्यायमें प्रातः-कृत्योंका वर्णन किया गया है। मुख्यरूपसे प्रातःजागरण, प्रातःस्मरणीय श्लोकोंका पाठ, वासुदेवादि भगवन्नाम-ग्रहण, शौच, स्नान, संध्या, देवस्थानमें गमन, प्रातः-पूजा तथा प्रणाम आदिकी विधि बतलायी गयी है। ये सभी प्रातः-कृत्य पाञ्चरात्र वैष्णवोंकी प्रथम उपासना है, जो 'अभिगमन' नामसे कही गयी है। महर्षि शाण्डिल्यजीका निर्देश है कि स्नान-संध्या-वन्दन तथा जप, स्तोत्र-पाठ, देवार्चन और स्तुति आदि क्रियाओंसे प्रातःकालका समय व्यतीत करना चाहिये— **'स्नानार्चनजपस्तोत्रपाठैः कालं विनोदयात्'** (२।९१)। इनमें कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

नामसंकीर्तन अवश्य करे

प्रातःजागरणके पश्चात् भगवान् वासुदेवके दिव्य नामोंका भक्तिपूर्वक संकीर्तन अवश्य करना चाहिये। जीवोंके कल्याणके लिये भगवान्‌द्वारा अवतार धारण करनेके उनके अनुग्रहका भी स्मरण करना चाहिये, इससे सभी सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जाती है और भगवान्‌के चरणकमलोंमें प्रीति भी होती है, दिन ठीकसे बीतता है—

वासुदेवादिदिव्यानां नाम्नां संकीर्तनं चरेत्॥
प्रादुर्भावगुणं चापि संस्मरेत् सर्वसिद्धये।

(२।३-४)

तीर्थजलको कभी दूषित न करे

महर्षि शाण्डिल्यने प्रातःकृत्योंका परिगणन करते हुए स्नानके प्रकरणमें बतलाया है कि तीर्थके जलको शरीरके अङ्गोंद्वारा क्षोभित न करे और न पाँवसे जलको उछाले, तैरने आदिकी जलक्रीडा न करे, गण्डूष (कुल्ले)-का जल तीर्थजलमें न छोड़े, परस्पर जल उछालनेकी क्रीडा न करे और न शरीरके मलको जलमें छोड़े। किसी भी प्रकारकी ऐसी कोई भी क्रिया वहाँ न करे, जिससे जल दूषित हो—

अम्बु न क्षोभयेदङ्गैः पादेनोत्सादयेन्न च॥
नाचरेत् प्लवनक्रीडां न गण्डूषं जले क्षिपेत्।
अन्योऽन्यं न क्षिपेत् तोयं न देहमलमुत्सृजेत्॥
न कुत्सयेदम्बुतीर्थमन्यत् तत्र न कीर्तयेत्।

(२।२२—२४)

अष्टाङ्ग-प्रणाम

इस प्रकार स्नानादि क्रियाओंसे पवित्र होकर तिलक धारण करना चाहिये और संध्याकर्म करके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजाके लिये देवमन्दिरमें जाना चाहिये। वहाँ भगवान्‌को दण्डवत्-प्रणाम करना चाहिये। देवताको कभी पीठ न दिखलाये। देवप्रतिमाके सामने उच्चस्वरमें बातचीत न करे। दण्डके समान शरीरको फैलाकर अधखिले कमलके समान अञ्जलि बनाकर अष्टाङ्ग-प्रणाम करे। दोनों पाँव, दोनों हाथ, सिर, मन, बुद्धि तथा अहंतत्त्वद्वारा सर्वतोभावसे अत्यन्त प्रणतिपूर्वक श्रद्धा-भक्तिसहित किया गया प्रणाम अष्टाङ्ग-

प्रणाम कहलाता है—

पादौ शिरस्तथा हस्तौ निकुञ्च्य मुकुलाकृतिः।
मनोबुद्ध्यभिमानैश्च प्रणामोऽष्टाङ्गसंज्ञितः॥

(२ । ७४)

सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखकर '**जितं ते०**'[1] इस स्तोत्रका अथवा अन्य स्तोत्रोंका पाठ करे, द्वादशाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**)-का जप करे। इस प्रकार सब समयोंमें भगवन्निमित्तक कर्म ही करे। यही जीवनकी महदुपलब्धि है।

दिनके दूसरे भागकी क्रियाएँ पाञ्चरात्र वैष्णवोंमें 'उपादान' नामसे कही गयी हैं। इनमें जीविका-सम्बन्धी उत्तम वस्तुओं एवं धनका संग्रह तथा भगवत्प्रीति-निमित्तक बाह्य कर्मोंका समावेश किया गया है। इसे द्वितीय कालकी क्रियाएँ भी कहा जाता है। शास्त्रोंमें जिन-जिन वस्तुओंसे आजीविका चलानेकी बात कही गयी है, उनका यथोचित संग्रह करके निःस्पृह होकर उपयोग करे और ध्यान रहे कि सभी क्रियाएँ भगवान्‌के उद्देश्यसे ही हों। जीवनका कोई भी क्षेत्र ऐसा न रहे, कोई भी कर्म ऐसा न बने, जिससे भगवान्‌का सम्बन्ध न होता हो। ऐसी भगवद्विरहित क्रियाएँ सर्वथा त्याज्य हैं।

असत्-मार्गसे धनोपार्जन न करे

असत्-मार्गसे लोभवश धनका अर्जन करके सुखभोग करना पतनका मार्ग है, इससे सिद्धि प्राप्त नहीं होती, अतः शुद्ध द्रव्यका ही अर्जन करना चाहिये, उसीसे भगवान्‌को भोग भी लगाये और स्वयं भी प्रसाद ग्रहण करे—

अमार्गेण धनं लोभात् सम्पाद्य सुखमावसन्॥
न संसिद्धो भवेत् तस्मात् शुद्धद्रव्यपरो भवेत्।

(३। ४९। ५०)

भगवान्‌की पूजामें भाव-भक्तिकी प्रधानता है, उपचारोंकी नहीं

महर्षि शाण्डिल्यजीका यह स्पष्ट निर्देश है कि यदि व्यक्तिके पास न्यायोपार्जित द्रव्य उपलब्ध हो तो उसीसे देवपूजन करना चाहिये और यदि कुछ भी उपचार पूजाके लिये उपलब्ध न हो सके तो अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिपूर्वक केवल जलमात्रसे भी की गयी अर्चना पूर्ण फलदायिनी होती है। यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् उपचार अथवा साधनोंकी अपेक्षा रखते हैं। भगवान् तो भक्तके भाव-भक्ति एवं प्रेमके भूखे हैं। उपचारोंके अभावमें क्रियाका लोप नहीं करना चाहिये। अपने पास जो कुछ हो, वही भगवान्‌को निवेदित करे अथवा शुद्ध भावसे ही मानसी पूजा करे। भगवान् भाव ही देखते हैं। सहस्रों उपचार रहें, किंतु भाव शुद्ध न हो तो ऐसी पूजा-उपासना व्यर्थ ही है—

अलाभे सर्वभोगानामुदकेनापि पूजितम्॥
प्रयच्छत्यमलं लोकं भक्तिपूतान्तरात्मनाम्।

(३ । ५१-५२)

उत्तम महाभागवतोंके लक्षण

भगवन्निमित्तक कर्मोंसे अन्य कर्मोंमें अनासक्ति, कर्मफलकी आकांक्षाका परित्याग, भक्तिद्वारा चित्तकी रसमयता, सांसारिक वस्तुओंके सुखोपभोगमें अत्यन्त विरक्ति, सब प्रकारसे सत्कर्मोंके सतत-अनुष्ठानका अभ्यास, आलस्यका सर्वथा परित्याग, परम श्रद्धा, दम्भराहित्य, अकार्पण्य तथा लोभ, क्रोध, मोह आदिपर विजय, कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियोंसहित देह तथा द्रव्य एवं देशकी पूर्ण विशुद्धि, असमयमें निद्राका त्याग, सुखोपभोग तथा भोगोंका ग्रहण न करना, सर्वथा शास्त्राध्ययन, शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान, शास्त्रोंको प्रमाण मानना और शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास, निषिद्ध कर्मोंका परित्याग, पवित्र अन्नादिका परिग्रहण, मृदुता, लज्जा, दया, क्षान्ति तथा सभी प्राणियोंसे अद्रोह—ये सभी सात्त्विक गुण हैं, जो उत्तम महाभागवत वैष्णवोंके लक्षण बतलाये गये हैं[2]।

इस प्रकार भगवत्प्रीत्यर्थ उपादानोंका प्रयोग करके गृहस्थ सुखी होता है। महर्षि शाण्डिल्यजीने दिनके प्रथम भागमें अभिगमन तथा दूसरे भागमें उपादान-सम्बन्धी कर्मोंका वर्णन करके दिनके तृतीय तथा चतुर्थ भागमें इज्या

१-'जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन'—इस प्रकारसे 'जितं ते०' स्तोत्रका प्रारम्भ होता है। यह पाञ्चरात्र आगमोंमें आया है तथा वैष्णव, विशेषकर रामानुज-सम्प्रदायमें इसका विशेष पाठ किया जाता है। इस स्तोत्रका नाम 'महापुरुषविद्या' भी है।

२-कर्मान्तरेष्वसंसक्तिः फलाकांक्षाविवर्जनम्। भक्तिद्रवीकृतं चित्तं विरक्तिः सर्ववस्तुषु॥
अभ्यासः सततं सर्वप्रकारैः सत्क्रियाविधौ। आलस्यवर्जनं श्रद्धा परमं दम्भवर्जनम्॥

एवं आचारका वर्णन किया है। साधकको चाहिये कि भक्तिकी दृढ़ताके लिये वेदी आदिकी रचना करके यज्ञादि कर्म करे। जो विवेकसिद्ध हैं, संत हैं, जिनका योग सिद्ध हो गया है, जो केवल भगवद्विषयक ज्ञानसे संतृप्त हो गये हैं, वे अपने हृदयकमलमें ही भगवद्यजनकी दृढ़ भावना करें।

भगवत्पूजामें कैसा भाव रहे

महर्षि शाण्डिल्यजी भक्तिके महान् आचार्य हैं, इसलिये भक्तिके सूक्ष्मतम तत्त्वको वे अच्छी तरह जाननेवाले हैं। भक्त या साधक किस प्रकारका भाव रखकर इष्टका पूजन करे, इसे बताते हुए वे कहते हैं कि 'भगवान् साक्षात् अपने सामने उपस्थित हैं', ऐसी भावनासे जितेन्द्रिय होकर यह समझना चाहिये कि 'मेरे परम प्रेमी भगवान्के मुखकमलसे अमृतसागर झर-झरकर प्रवाहित हो रहा है और मैं उस अमृतका पान कर परम आह्लाद-सागरमें निमज्जित हो रहा हूँ। भगवान्का मुझपर दृष्टिपात हो रहा है, जिससे मैं परम पवित्र हो गया हूँ'—

साक्षादभिमुखं देवं भावयित्वार्चयेद्वशी।
भगवद्वदनाम्भोजस्यन्दमानामृतोदधिः ॥
पिबन्निव महाह्लादमध्यस्थः पूजयेत् प्रभुम्।

(४। २४-२५)

इस प्रकार शुद्ध भावना करके भगवान्को स्नान कराये, दिव्यालंकारोंसे मण्डित करे, दिव्य मालाएँ अर्पित करे, चन्दन आदि सुगन्धित अङ्गराग लेपित करे, शुद्ध पवित्र व्यञ्जनों, फलोंका भोग लगाये और भक्तिपूर्वक प्रार्थना करे।

जैसे पतिव्रता स्त्री अपने प्रियतम पतिकी सर्वतोभावेन सेवा करती है, जैसे माता अपने लाडले दुधमुँहे बच्चेका पालन करती है, जैसे सत्-शिष्य अपने आचार्यके प्रति श्रद्धा एवं आदरभाव रखता है और जैसे एक अच्छा मित्र अपने अच्छे मित्रका सब प्रकार ख्याल रखता है, उसी प्रकार भक्तको भी भगवान्की शुद्ध, निःस्वार्थ, निश्छल और प्रेममयी भक्ति करनी चाहिये। भगवान्को ही अपना स्वामी, मित्र, गुरु तथा माता-पिता सब कुछ समझकर उनकी सेवा करनी चाहिये—

सतीव प्रियभर्तारं जननीव स्तनन्धयम्।
आचार्यं शिष्यवन्मित्रं मित्रवत् लालयेद्धरिम्॥
स्वामित्वेन सुहृत्त्वेन गुरुत्वेन च सर्वदा।
पितृत्वेन समाभाव्यो मातृभावेन माधवः॥

(४। ३५-३६)

दो प्रकारका पोष्य वर्ग

गृहस्थको चाहिये कि अपने आश्रित रहनेवाले सभी प्राणियोंका यथोचित यथाशक्ति भरण-पोषण करे। इस प्रकारसे दो प्रकारका आश्रित वर्ग है—(१) मृत पितृगण तथा (२) जीवित पोष्य वर्ग। घरमें जो भी पिता-माता, पुत्र, पत्नी, दासी-दास, सेवक आदि आश्रित हों, वे जीवित भृत्य कहलाते हैं। इनका सब प्रकारसे रक्षण तथा पालन-पोषण करना चाहिये। इसी प्रकार जो पितरगण हैं वे भी अपने आश्रित हैं, उनको तर्पण, श्राद्ध आदि क्रियाओंसे संतृप्त करना चाहिये—

भृत्याश्च द्विविधा ज्ञेया प्रेता जीवास्तथैव च।
प्रेता मृताः स्ववंशेषु जीवा जीवन्ति वै गृहे॥
पितृपुत्रकलत्राद्या दासीदाससमाश्रिताः।
रक्षणीया गृहे ये स्युर्भृत्या जीवा इमे स्मृताः॥

(४। ९६-९७)

अन्नकी शुद्धि परम शुद्धि है

शुद्ध अन्नके भोजनसे मनुष्य कल्मषरहित होकर परम पवित्र हो जाता है। इन्द्रियाँ परम प्रसन्न रहती हैं और शरीरमें शीघ्र ही सात्त्विकताकी वृद्धि हो जाती है। अन्नकी शुद्धिसे ही सभी प्राणियोंके शरीरमें सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और सात्त्विक गुणोंके प्राधान्यसे सत्कर्मोंमें ही प्रीति उत्पन्न होती है, असत्कर्मोंमें नहीं। शुद्ध अन्नके सेवनसे आरोग्य प्राप्त होता है, रूप सुन्दर हो जाता है, वाणीको शक्ति प्राप्त होती है, साथ ही कीर्ति, श्री, ज्ञान तथा शान्ति

अकार्पण्यमलोभश्च क्रोधमोहजयो भयम्। देहस्य सेन्द्रियस्यापि विशुद्धिर्द्रव्यदेशयोः॥
अकाले वर्जनं निद्रामैथुनाशनकर्मणि। सर्वदा शास्त्रशिक्षा च शास्त्रदृष्टेषु कर्मसु॥
पारवश्यप्रमाणं च नित्यं शास्त्रे दृढं परे। निषिद्धवर्जने यत्नः संसिद्धान्ननिषेवणम्॥
मार्दवं ह्रीर्दया क्षान्तिरद्रोहः सर्वजन्तुषु।
× × ×
एवं सद्गुणसम्पन्ना महाभागवतप्रियाः॥
(३। ६२—७०)

प्राप्त हो जाती है और अच्छे कार्योंमें ही मन लगता है। अमेध्य (अपवित्र) अन्नके सेवनसे काम, क्रोध, लोभकी वृद्धि होती है। परहिंसाकी बुद्धि हो जाती है और निद्रा तथा आलस्य आदि दोष घेर लेते हैं। अनेक प्रकारके बाह्य तथा आभ्यन्तर रोग हो जाते हैं, शत्रुओंकी वृद्धि हो जाती है, द्रोह उत्पन्न होता है और तामसी गति प्राप्त होती है। विषयोंमें बुद्धि जाती है और आयु बीचमें ही क्षीण हो जाती है[1]।

भोजनके अनन्तर भगवान्को निवेदित तुलसी ग्रहण करे

भोजन आदिसे निवृत्त होकर पुन: आचमन आदि करके पवित्र हो जाय। इसके बाद देवमन्दिरमें प्रवेश कर भगवान्के चरणकमलोंमें निवेदित तुलसीदलको ग्रहण करना चाहिये और भगवान्का चरणोदक लेकर देहको शुद्ध करना चाहिये। इससे आरोग्यता प्राप्त होती है, भगवद्भक्तिमें वृद्धि होती है और सभी प्रकारके पापोंसे छुटकारा मिल जाता है—

आदाय तुलसीं त्यक्तां भगवत्पादमण्डिताम्।
भक्षयेच्छोधयेद्देहं भगवत्पादवारिणा॥
भक्षितं भगवत्पादसंस्पृष्टं तुलसीदलम्।
आरोग्यं भक्तिवृद्धिं च पापहानिं करोत्यपि॥

(४। १६४-१६५)

योगचर्यामय उपदेश

महर्षि शाण्डिल्यने पाञ्चकालिक वैष्णवोंकी अन्तिम धर्मचर्याको 'योग' नाम दिया है। योगचर्याके लिये आचार्यने रात्रिका काल विशेष उपयुक्त माना है, क्योंकि दिनमें अभिगमन, उपादान, इज्या तथा आचार आदि भगवदुपासनाविषयक मुख्य धर्म सम्पादित होते हैं, जो भगवान्के कैङ्कर्य या वरिवस्यामें पर्यवसित हो जाते हैं।

योगविधानका प्रारम्भ करते हुए कहा गया है कि साधक जब एक घड़ी दिन शेष बचे तो शौच-स्नान आदिसे निवृत्त होकर पवित्र वस्त्र धारण करे और भगवान् सूर्यको अर्घ्य देकर गायत्रीका जप करे और एकाग्र मनसे ब्रह्मतत्त्वका ध्यान करता रहे। साधकको चाहिये कि आसन लगाकर बैठ जाय, गन्ध-पुष्पादि उपचारोंद्वारा भगवान्का अर्चन कर इस भक्तियोगचर्याका बड़ी श्रद्धा एवं एकाग्रतासे नित्य पालन करता जाय। इस प्रकार अष्टयामपर्यन्त योगचर्यापूर्वक भगवद्-ध्यान करते रहना चाहिये और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिमें भी भगवान्की विस्मृति नहीं होने देनी चाहिये। इनके अनुसार आत्मसमर्पण, शरणागति या प्रपत्ति और श्रद्धापूर्वक ध्यान तथा भगवत्सेवापरायणता एवं भगवन्निमित्तक कर्मोंको करना ही मुख्य योग है। भगवान्को उद्देश्यमें रखकर जो कर्म नहीं किये जाते, वे शरीरको क्लेश पहुँचानेवाले हैं, व्याधियुक्त दु:खरूप ही हैं—

योगोऽयमेव यागश्च बाह्या ये व्याधयोऽभवन्॥
सर्वं शरीरक्लेशाय येषु कृष्णो न चिन्त्यते।

(५। ३२-३३)

साधकको चाहिये कि वह सबसे मैत्री करे, वैर किसीसे भी न करे। तनिक भी विवाद न करे, गन्ध एवं रसकी स्पृहासे सर्वथा दूर रहे, अन्य इन्द्रियोंके विषयोंसे भी दूर रहे। असत्य भाषण न करे, गुरु और भगवान्के चरणोंकी शपथ न करे, मन-वाणी तथा कर्मसे सर्वथा शुद्ध रहे। ऐसे ही साधकको योगसिद्धि होती है। यदि रात्रिमें नींद खुल जाय तो उस समय भगवन्नाम-गुणोंका कीर्तन करे। दु:स्वप्न होनेपर आचमनादिसे पवित्र होकर स्तुति-पाठ करे, द्वादशाक्षर-मन्त्रका जप करे, क्योंकि यह द्वादशाक्षर-मन्त्र मन्त्रोंका स्वामी कहा गया है। इस प्रकार प्रत्येक कालमें भगवान्का ही चिन्तन करते रहना चाहिये। यही महर्षि शाण्डिल्य और उनकी शाण्डिल्यस्मृतिके अभिगमन, उपादान, इज्या, आचार तथा योगचर्यारूप पञ्चकर्मात्मक दिनचर्याका निष्कर्ष है। मुख्यत: इस स्मृतिमें भक्तियोगकी ही बातें निरूपित हैं।
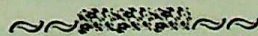
१-निष्कल्मषो भवेन्मर्त्य एवं शुद्धान्नभोजनात्। प्रसीदन्तीन्द्रियाण्याशु सत्त्वं च परिवर्धते॥
अन्नशुद्ध्यैव सत्त्वस्य विवृद्धि: सर्वदेहिनाम्।
× × ×
आरोग्यं रूपवत्ता च कीर्ति: श्रीर्ज्ञानमेव च। शान्ति: सत्कर्मणि श्रद्धा शुद्धान्नेन भवन्ति हि॥
काम: क्रोधस्तथा लोभ: परहिंसारुचिस्तथा। निद्रालस्यादयो दोषा अमेध्यान्ननिषेवणात्॥
× × ×
विषयेष्वभिषक्तानामायु: प्रक्षीयतेऽन्तरा॥ (४। १३५—१४२)

आख्यान—

'शास्त्र'—भगवान्‌के अवतार हैं

[भीष्मपितामहकी शास्त्रनिष्ठा]

'शाण्डिल्यस्मृति' का आदेश है कि राम-कृष्ण आदिमें हम जितनी दृढ़ निष्ठा रखते हैं, उतनी ही दृढ़ निष्ठा श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रमें भी करें—

तस्माच्छास्त्रे दृढा कार्या भक्तिर्मोक्षपरायणैः।

(शाण्डिल्यस्मृ० ४। १९४)

—क्योंकि जैसे राम-कृष्ण भगवान्‌के अवतार हैं, वैसे ही शास्त्र भी भगवान्‌के ही अवतार हैं—

अवतीर्णो जगन्नाथः शास्त्ररूपेण वै प्रभुः॥

(शाण्डिल्यस्मृ० ४। १९३)

प्रत्यक्ष-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण—ये दोनों ही प्रमाण जिन तथ्योंका ज्ञान हमें नहीं करा सकते, उनका ज्ञान केवल शास्त्र ही करा पाते हैं। भगवान् ज्ञानरूप हैं और शास्त्र उनकी शब्दाकार मूर्ति। इसलिये हमारे पूर्वज शास्त्रोंपर बहुत ही गहरी निष्ठा रखते आये हैं। जहाँ प्रत्यक्ष और शास्त्र दोनों टकराते थे, वहाँ वे प्रत्यक्षकी बात ठुकराकर शास्त्रके अनुसार ही काम करते थे। इसलिये वे सदा ही सफल होते थे। यहाँ भीष्मपितामहकी शास्त्रनिष्ठा-सम्बन्धी एक झलक दी जा रही है—

'एक बार भीष्मपितामह श्राद्ध कर रहे थे। जब वे अपने पिता शन्तनुजीके लिये कुशपर पिण्ड रखने लगे, तब इनकी शास्त्रनिष्ठाकी परीक्षा लेनेके लिये शन्तनुजीने पृथ्वीको फाड़कर पिण्ड लेनेके लिये अपना हाथ फैला दिया और माँग की कि 'पिण्ड इसी हाथपर रख दो।'[१]

भीष्मके पिता शन्तनु कोई साधारण पुरुष तो थे नहीं। वे सागरके अवतार थे। जन्मसे ही उनमें यह सिद्धि थी कि किसी वृद्धको छू दें तो वह जवान हो जाय। इस तरह वे जिस किसीको छू देते, उसमें शक्तिकी लहरें लहराने लगतीं। इस तरह महामानव पिताने अपने महामानव पुत्र भीष्मकी शास्त्र-भक्तिकी परीक्षा लेनी चाही।

भीष्मजी पितृभक्त थे। पिताजीके हाथको पहचाननेमें उन्हें थोड़ी भी देर न लगी। जीवित-अवस्थामें उनके पिताका जैसा लाल-लाल और सुन्दर हाथ था, ठीक वही हाथ प्रत्यक्ष दीख रहा था। उनके पिता अपने इसी सुन्दर हाथपर अपना पिण्ड माँग रहे थे। इस घटनाने थोड़ी देरके लिये धर्मके महान् मर्मज्ञ भीष्मको सोचनेके लिये बाध्य कर दिया। वे सोचने लगे कि पिताकी आज्ञा मानकर पिण्ड इनके हाथपर रख दूँ या शास्त्रकी आज्ञा मानकर कुशपर रखूँ?

शास्त्रके प्रेमने उन्हें बाध्य किया कि 'मुझे कुशपर ही पिण्डको रखना चाहिये,' क्योंकि शास्त्र भगवत्स्वरूप है और भगवान्‌की ही आज्ञा है। यदि मैं कुशपर पिण्ड रख देता हूँ तो यह पिताजीको अवश्य मिल जायगा। यदि प्रत्यक्षको प्रमाण मानकर पिण्डको पिताजीके हाथपर रख देता हूँ, तो बहुत सम्भव है कि यह पिण्ड पिताजीको न मिले, क्योंकि शास्त्रका यही आदेश है।

इस प्रकार विचार कर प्रत्यक्ष-प्रमाणको ठुकराकर भीष्मजीने शास्त्रकी आज्ञाका ही पालन किया। उन्होंने हाथकी उपेक्षा कर दी और पिण्डको कुशके ऊपर ही रख दिया।

भीष्मकी यह शास्त्रनिष्ठा देखकर शन्तनु बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—'पुत्र! शास्त्रपर तुम्हारा अडिग विश्वास देखकर मुझे पुत्रवान् होनेका फल मिल गया। मैं लोक और परलोक दोनोंमें कृतार्थ हो गया'—

त्वया दायादवानस्मि कृतार्थोऽमुत्र चेह च।
सत्पुत्रेण त्वया पुत्र धर्मज्ञेन विपश्चिता॥

(हरिवंश १। १६। २३)

शन्तनुने कहा कि 'पुत्र! मैंने तुम्हारी यह परीक्षा इसलिये ली है कि लोगोंमें शास्त्रके प्रति निष्ठा दृढ़ हो। लोग जान जायँ कि प्रत्यक्ष और अनुमानसे बढ़कर शास्त्र प्रमाण है। तुमने शास्त्रको प्रमाण मानकर मेरी प्रसन्नताको सीमातक पहुँचा दिया है, इसलिये तुझे एक दुर्लभ वर देता हूँ, उसे स्वीकार करो। तुम जब चाहोगे, तभी मृत्यु तुम्हारे पास पहुँचेगी। नहीं तो वह तुझे छू भी न सकेगी'—

न ते प्रभविता मृत्युर्यावज्जीवितुमिच्छसि।
त्वत्तोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य मृत्युः प्रभविता तव॥

(हरिवंश १। १६। २९)

१-श्राद्धकाले मम पितुर्मया पिण्डः समुद्यतः। तं पिता मम हस्तेन भित्त्वा भूमिमयाचत॥ (हरिवंश १। १६। १९)

वाधूलस्मृति

महर्षि वाधूलविरचित 'वाधूलस्मृति' नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके निदर्शकके रूपमें एक प्रमुख आचारसंहिता है। इसमें प्रातः-जागरणसे लेकर शयनपर्यन्त किये जानेवाले कर्मोंके विधि-विधान बड़े ही सुन्दर ढंगसे वर्णित किये गये हैं[1]। इसके साथ ही तर्पण-श्राद्ध आदि पैतृक कर्मों और प्रायश्चित्तादि कर्मोंकी भी अनिवार्यता बतलायी गयी है। शौचाचार, स्नान, संध्या, गायत्रीजप, प्राणायाम, पञ्च महायज्ञ तथा तीर्थस्नान आदिकी विशेष महिमा बतलायी गयी है। इस स्मृतिमें २२४ श्लोक हैं। इसकी यह एक बड़ी विशेषता है कि इसमें जिन नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विधि-विधान दिया गया है, उनके लिये वैदिक मन्त्रोंके संकेत भी साथमें दे दिये गये हैं।

इस स्मृतिमें बतलाया गया है कि मनुष्यको स्नान, संध्या, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण, देवपूजन तथा वैश्वदेव—ये कर्म प्रतिदिन करने चाहिये। जो मोहवश इन आवश्यक कर्मोंको नहीं करता, उसे चण्डाल ही समझना चाहिये—

स्नानं संध्यां जपं होमं स्वाध्यायं पितृतर्पणम्।
देवताराधनं चैव वैश्वदेवं यथाविधि।
न कुर्याद्यदि मोहेन स चण्डालो न संशयः॥

(वाधूल० २२४)

श्रुति-स्मृतियोंकी ईश्वरमूलकता और प्रामाणिकता

महर्षि वाधूल अपनी स्मृतिमें बतलाते हैं कि वेद आदि शास्त्रों तथा स्मृतियोंमें निर्दिष्ट बातें साक्षात् ईश्वरके वचन हैं, उनमें जो भी बातें कही गयी हैं, वे ईश्वरकी आज्ञारूप ही हैं, अतः उनका पालन अवश्य करना चाहिये। जो उनका उल्लंघन करता है अर्थात् शास्त्रमर्यादाका पालन नहीं करके विपरीत आचरण करता है, वह मेरी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला है, मेरा द्रोही है, वह न मेरा भक्त हो सकता है न वैष्णव। श्रुति और स्मृति—इन्हें ब्राह्मणोंकी दो आँखें समझना चाहिये। इनमेंसे यदि एकके ज्ञानसे रहित हो तो काना कहलाता है और जो दोनोंके ज्ञानसे शून्य हो, वह अन्धा कहलाता है[2]।

ब्राह्ममुहूर्तमें जागरण

सूर्योदयसे चार घड़ी (लगभग डेढ़ घंटे पूर्व)-का समय ब्राह्ममुहूर्त कहलाता है। इस समय सोना शास्त्रमें निषिद्ध है। ब्राह्ममुहूर्तकी निद्रा पुण्यका नाश करनेवाली है। इस समय जो सोता रहता है, उसे अपवित्र समझना चाहिये और वह आगे किये जानेवाले सभी धर्म-कर्मोंके अनुष्ठानका अधिकारी नहीं रहता। इसलिये ब्राह्ममुहूर्तमें ही जग जाना चाहिये और निद्राका परित्याग कर प्रसन्न-मन रहना चाहिये। हाथ-पाँव धोकर आचमनसे पवित्र होकर प्रातः-कालीन मङ्गल-श्लोकों तथा पुण्यश्लोकोंका पाठ करना चाहिये और भगवन्नामोंका कीर्तन करना चाहिये। ऐसा करनेसे सब प्रकारका कल्याण होता है[3]।

दो प्रकारका शौचाचार

प्रातःकाल जागरणके कृत्योंको करनेके अनन्तर शौच आदिसे निवृत्त होना चाहिये। इस स्मृतिमें विस्तारसे शौचकी विधि बतलायी गयी है और (१) बाह्य तथा (२) आभ्यन्तर-भेदसे दो प्रकारका शौचाचार बतलाया गया है।

१-ब्राह्ममुहूर्तादारभ्य त्रिकाले विहितं तथा। नित्यं नैमित्तिकं चैव प्रवक्ष्यामि यथामति॥ (श्लोक ३)

२-श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञा यस्तामुलंघ्य वर्तते। आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥
× × × श्रुतिस्मृती तु विप्राणां चक्षुषी द्वे विनिर्मिते॥
काणस्तत्रैकया हीनो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः। (वाधूल० १८९—१९१)

३-ब्राह्मे मुहूर्ते सम्प्राप्ते त्यक्तनिद्रः प्रसन्नधीः। प्रक्षाल्य पादावाचम्य हरिसंकीर्तनं चरेत्॥
ब्राह्मे मुहूर्ते निद्रां च कुरुते सर्वदा तु यः। अशुचिं तं विजानीयादनर्हः सर्वकर्मसु॥
(वाधूल० ४-५)

मिट्टी और जलसे किया जानेवाला शौच-कार्य बाह्य शौच और मनोभावकी शुद्धि आभ्यन्तर शौच कहलाता है। किसीके भी प्रति ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह तथा घृणा आदिके भाव न रखकर सबके प्रति प्रेमका एवं सेवा-आदरका भाव रखना आभ्यन्तर शौच है। बाह्य शौच स्थूल शौच है, किंतु आभ्यन्तर शौच अन्तःकरणकी पवित्रता है, अतः सूक्ष्म शौच है। आभ्यन्तर शौच ही मुख्य शौच है। यदि कोई मनुष्य जल एवं मिट्टीसे शरीरको कितना ही शुद्ध करे, यदि वह अंदरसे शुद्ध नहीं है तो ऐसी बाह्य शुद्धि सर्वथा निष्प्रयोजन ही है, ऐसी शुद्धि किस कामकी? इसलिये बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धिके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। जो शौचाचारसे विहीन है, उसकी समस्त क्रियाएँ निष्फल ही होती हैं—

शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥

(वाधूल० २०)

दन्तधावन

शौच आदिके अनन्तर हाथ-पाँव धोकर मुख-शुद्धिके लिये दन्तधावन करनेका विधान है। दातौनको धोकर निम्न मन्त्रसे उसे अभिमन्त्रित करना चाहिये और वनस्पति-रूप उस दातौनसे आयु, बल, यश, तेज, प्रजा, पशु, धन, ब्रह्मज्ञान, मेधा आदि प्राप्तिकी प्रार्थना करनी चाहिये—

आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशुवसूनि च।
ब्रह्मप्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते॥

(वाधूल० ३५)

स्नान

मुखशुद्धिके बाद आचमन करके देहशुद्धिके लिये स्नान करना चाहिये। निद्रासे जगे हुए शरीरमें लार-स्वेद आदि मल व्याप्त रहते हैं। नौ छिद्रोंवाले अत्यन्त मलिन शरीरसे दिन-रात मल निकलता रहता है, उसे अपवित्र समझना चाहिये। अतः प्रातःकाल स्नान करनेसे शरीरकी शुद्धि हो जाती है। प्रातःकाल स्नानके पश्चात् मनुष्य शुद्ध होकर जप, पूजा-पाठ आदि समस्त कर्मोंके योग्य बनता है। वेदादि शास्त्रोंमें कहे गये समस्त कर्म तथा संध्योपासनादि कर्म स्नानमूलक ही हैं। स्नान आदि आचारांसे जो रहित है, उसके समस्त कर्म निष्फल ही होते हैं।[1]

स्नान-विधि

स्नानका संकल्प करके जलसे मार्जन[2]—अभिषेक करे, अघमर्षण करे और शुद्ध स्थानकी मिट्टी ग्रहण कर उसे शरीरमें लगाये और फिर जलको नमस्कार करके हाथसे तीन बार जलको आलोडितकर जलमें हाथसे एक चौकोर पीठ अङ्कित करे जो तीर्थपीठ कहलाता है। इसके पश्चात् गङ्गाजीकी उन उक्तियोंको हाथ जोड़कर बोले, जिनमें उन्होंने कह रखा है कि स्नानके समय मेरा जहाँ कहीं कोई स्मरण करेगा, वहाँके जलमें मैं आ जाऊँगी—

नन्दिनी नलिनी सीता मालती च महापगा।
विष्णुपादाब्जसम्भूता गङ्गा त्रिपथगामिनी॥
भागीरथी भोगवती जाह्नवी त्रिदशेश्वरी।
द्वादशैतानि नामानि यत्र यत्र जलाशये॥
स्नानोद्यतः स्मरेन्नित्यं तत्र तत्र वसाम्यहम्॥[3]

जलमें गङ्गा आदि तीर्थोंका आवाहन

साधारण कूप, बावली आदिके जलमें गङ्गाजीका आवाहन तो आवश्यक है ही, अन्य पवित्र नदियोंके जलमें भी यह आवाहन आवश्यक माना गया है। निम्न मन्त्रसे आवाहन करना चाहिये—

आवाहयामि त्वां देवि स्नानार्थमिह सुन्दरि।
एहि गङ्गे नमस्तुभ्यं सर्वतीर्थसमन्विते॥

(वाधूल० ८३)

इसी प्रकार '**इमं मे गङ्गे०**'[4] इस मन्त्रका उच्चारण कर पुण्य तीर्थजलोंका भी स्नानके जलमें आवाहन करना

१-लालास्वेदसमाकीर्णः शयनादुत्थितः पुमान्। अशुचिं तं विजानीयादनर्हः सर्वकर्मसु॥
स्नानमूलाः क्रियाः सर्वाः संध्योपासनमेव च। स्नानाचारविहीनस्य सर्वाः स्युर्निष्फलाः क्रियाः॥ (वाधूल० ६८-६९)

२-आपो अस्मानिति ऋचामुक्त्वा मज्जनमाचरेत्॥ (वाधूल० ८४)
आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि॥
(ऋग्वेद १०। १७। १०, यजु० ४। २)

३-नन्दिनीत्यादिनामानि बद्धाञ्जलिपुटो भवेत्। (वाधूल० ८२)

४-इमं मे गङ्ग इत्युक्त्वा पुण्यतीर्थानि च स्मरेत् (वाधूल० ८४), इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ (ऋग्वेद १०। ७५। ५)

चाहिये। तदनन्तर '**तद्विष्णो०**'[१] इस मन्त्रका पाठ करते हुए जलमें बार-बार गोता लगाये। यह मन्त्र वैष्णव-गायत्री-मन्त्र कहलाता है।

स्नानाङ्गतर्पण

स्नानके अनन्तर जलमें स्नानाङ्ग देवर्षि-पितृ-तर्पण करना चाहिये। पूर्व दिशाकी ओर मुख करके देवताओंको, उत्तरकी ओर मुख करके ऋषियोंको तथा दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके पितरोंको तर्पणसे संतृप्त करना चाहिये—

पूर्वाशाभिमुखो देवानुत्तराभिमुखस्त्वृषीन्॥
पितॄंस्तु दक्षिणास्यस्तु जलमध्ये तु तर्पयेत्।

(वाधूल० ५७-५८)

स्नान करनेके लिये जाते हुए व्यक्तिको देखकर देवगण पितरोंके साथ वायुरूप होकर प्याससे व्याकुल हो जलकी इच्छासे उसके पीछे-पीछे जाते हैं, इसलिये पितृतर्पणसे पूर्व शरीरको पोंछना नहीं चाहिये और स्नानके वस्त्र भी निचोड़ने नहीं चाहिये, क्योंकि उसीसे टपकनेवाले जलको देवता तथा पितर ग्रहण करते हैं। वस्त्र-निष्पीडन कर लेनेपर वे निराश होकर लौट जाते हैं।[२]

तर्पणके बाद जलसे बाहर आकर उतारे वस्त्रको चौगुना (चौपत) कर निचोड़ना चाहिये। वस्त्रको बायीं ओर रखकर दो बार आचमन कर शुद्ध हो जाना चाहिये—

वस्त्रं चतुर्गुणीकृत्य निष्पीड्य च जलाद्बहिः।
वामप्रकोष्ठे निक्षिप्य द्विराचम्य शुचिर्भवेत्॥

(वाधूल० ६१)

अपने कटिप्रदेशतक जलमें स्नान कर भीगे कपड़ोंसे तर्पण, आचमन तथा जप जलमें ही करे और यदि सूखे कपड़े पहनकर करना हो तो ये क्रियाएँ स्थलमें करे—

आर्द्रवासा जले कुर्यात् तर्पणाचमनं जपम्।
शुष्कवासाः स्थले कुर्यात् तर्पणाचमनं जपम्॥

(वाधूल० ३०)

संध्योपासन

सभी प्रकारसे शुद्ध एवं पवित्र होकर त्रिकाल गायत्रीकी उपासना करनी चाहिये। संध्योपासन द्विजमात्रके लिये बहुत ही आवश्यक कर्म है। इस पृथ्वीमें विकर्ममें लगा हुआ जो भी द्विजाति वर्ग है, उसे पवित्र करनेके लिये कृपा करके ब्रह्माजीने संध्याकी सृष्टि की। संध्याके पूर्वाह्णमें गायत्री, मध्याह्नमें सावित्री और सायाह्नमें सरस्वती—ये तीन नाम हैं। प्रतिग्रह-दोष, अन्नदोष तथा पातक और उपपातकों आदि दोष-पापोंमें जपादि उच्चारणद्वारा ये रक्षा करती हैं, इसलिये इनका नाम 'गायत्री' है। इससे भगवान् सूर्यदेवका द्योतन होता है, इसलिये यह 'सावित्री' कहलाती है और जगत्‌की प्रसवित्री (उत्पन्न करनेवाली) होनेसे यह वाग्रूपा संध्या 'सरस्वती' कहलाती है। इस प्रकार ब्रह्माजीद्वारा सृष्ट संध्याके गायत्री, सावित्री तथा सरस्वती—ये तीन रूप हैं।[३]

संध्योपासनका समय

प्रातः, मध्याह्न तथा सायं तीनों कालोंमें संध्या की जाती है। प्रातःकाल तारोंके रहते सूर्योदयपर्यन्त जो काल है, वह श्रेष्ठ वेदज्ञ महर्षियोंद्वारा 'प्रातः-संध्या'का काल कहा गया है। (मध्याह्न-कालमें जब सूर्य आकाशके मध्यमें हों तो मध्याह्न-संध्या) और सायंकालमें जब सूर्य लगभग डूब रहे हों, वह काल 'सायं-संध्या'का काल कहा गया है—

नक्षत्रज्योतिरारभ्य सूर्यस्योदयनं प्रति।

१-तद्विष्णोरिति मन्त्रेण मज्जेदप्सु पुनः पुनः। गायत्री वैष्णवी ह्येषा विष्णोः संस्मरणाय वै॥ (वाधूल० ८९)
तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ (यजु० ६। ५)

२-स्नानार्थमभिगच्छन्तं देवाः पितृगणैः सह॥
वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्ताः सलिलार्थिनः। तस्मान्न पीडयेद्वस्त्रमकृत्वा पितृतर्पणम्॥
निराशास्ते निवर्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते। तस्मान्न पीडयेद्वस्त्रं ये के च इति मन्त्रतः॥ (वाधूल० ५८—६०)

३-यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां तु विकर्मस्था द्विजातयः। तेषां हि पावनार्थाय संध्या सृष्टा स्वयम्भुवा॥
गायत्री नाम पूर्वाह्णे सावित्री मध्यमे दिने। सरस्वती च सायाह्ने सैव संध्या त्रिधा स्मृता॥
प्रतिग्रहादन्नदोषात् पातकादुपपातकात्। गायत्री प्रोच्यते यस्माद् गायन्तं त्रायते यतः॥
सवितृद्योतनाच्चैव सावित्री परिकीर्तिता। जगतः प्रसवित्री सा वाग्रूपत्वात् सरस्वती॥ (वाधूल० ११३—११६)

प्रातःसंध्येति तां प्राहुः श्रुतयो मुनिसत्तमाः॥
प्रातःसंध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि।
सादित्यां पश्चिमां संध्यामर्धास्तमितभास्कराम्॥

(वाधूल० ६-७)

आशौचमें भी संध्योपासनकी अनिवार्यता

महर्षि वाधूल जननाशौच तथा मरणाशौचमें भी संध्योपासनकी अबाधित आवश्यकता बतलाते हुए कहते हैं कि इन दोनों प्रकारके आशौचोंमें संध्याकर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये। इस संध्यामें प्राणायामको छोड़कर अन्य कर्मोंके मन्त्रोंका उच्चारण केवल मनसे करे। प्रणवपूर्वक सप्तव्याहृतियोंसहित गायत्री-मन्त्रको मनमें तीन बार पढ़े। यह संध्या मानसी-संध्या कहलाती है[१]।

भावीकी प्रबलता एवं अवश्यम्भाविता

महर्षि वाधूल भावी घटनाओंकी अवश्यम्भाविताको निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस देशमें, जिस समय, जिस मुहूर्तमें, जिस दिन हानि, वृद्धि, यश एवं लाभ-सम्बन्धी जो बात होनेवाली होती है, वह अवश्यमेव होकर ही रहती है। उसे कोई किसी प्रकार टाल नहीं सकता, अतः ऐसा निश्चय समझ करके निश्चिन्त होकर जितनी जल्दी बन सके आत्मकल्याणमें लग जाना चाहिये। प्रयत्न करना अपने हाथमें है और फल जो भी होगा वह तो होगा ही, फलकी आशा एवं चिन्ता न कर अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिये—

यस्मिन् देशे यदा काले यन्मुहूर्ते च यद्दिने।
हानिर्वृद्धिर्यशो लाभस्तत् तथा न तदन्यथा॥

(वाधूल० १७५)

बिना जाने धर्मशास्त्रीय निर्णय देनेसे पाप लगता है

महर्षि वाधूल सावधान करते हुए कहते हैं कि धर्मके सूक्ष्मतत्त्वको जाने बिना जो कोई मनमाना निर्णय देता है और अन्यथा ही प्रायश्चित्त बतलाता है तो पापी व्यक्तिका वह पाप सौगुना होकर निर्णय देनेवाले व्यक्तिके मुखमें प्रविष्ट हो जाता है। वेद-शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् जो निर्णय देते हैं, जो बात बतलाते हैं, वह धर्मका ही रूप होता है, वही मान्य होता है, इसके विपरीत यदि हजारों मनुष्य भी किसी बातको कहें तो वह बात किसी भी प्रकार प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। धर्मतत्त्वज्ञोंका शास्त्रप्रतिपादित धर्म ही मुख्य धर्म है, उसके विपरीत सब अधर्म है—

अज्ञात्वा धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं वदन्ति ये।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्त्रमधिगच्छति॥
चत्वारो वा त्रयो वापि यद्ब्रूयुर्वेदपारगाः।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरस्तु सहस्रशः॥

(वाधूल० १७६-१७७)

दीर्घ समयतक क्या करे

चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत्। चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम्॥
चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान् निषेव्य च। चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम्॥

(महाभा०, शा० प० २६६। ७५-७६)

दीर्घकालतक बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करे। दीर्घकालतक उनका संग करके उनकी पूजा (आदर-सत्कार) करे। चिरकालतक धर्मका सेवन और दीर्घकालतक उसका अनुसंधान करे। अधिक समयतक विद्वानोंका संग करके चिरकालतक शिष्ट पुरुषोंकी सेवामें रहे तथा चिरकालतक अपने मनको वशमें रखे। इससे मनुष्य चिरकालतक अवज्ञाका नहीं किंतु सम्मानका भागी होता है।

१-सूतके मृतके वापि संध्याकर्म न संत्यजेत्। मनसोच्चारयेन्मन्त्रान् प्राणायाममृते द्विजः॥
प्रणवेन तु संयुक्ता व्याहृतीः सप्त नित्यशः। सावित्रीं शिरसा सार्धं मनसा त्रिः पठेद् द्विजः॥ (वाधूल० १३२-१३३)

लोहितस्मृति

स्मृतियोंमें 'लोहितस्मृति'का मुख्य स्थान है। यह महर्षि लोहितप्रणीत है। महर्षि लोहितका विशेष विवरण उपलब्ध नहीं हो पाता, किंतु उनकी स्मृति आदिके अध्ययनसे स्पष्ट होता है कि महर्षि लोहित व्यवहारशास्त्रके महान् ज्ञाता और महान् धर्मशास्त्री थे। अन्य स्मृतियोंमें तो आचार-विचार, सदाचार, दैनन्दिनचर्या, श्राद्ध, पातक-उपपातक, कर्मविपाक, प्रायश्चित्त, शुद्धि, संस्कार, तीर्थ तथा इष्टापूर्त आदिपर विशेष विवरण मिलता है, किंतु इस लोहितस्मृतिमें ये सब विषय विवेचित नहीं हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है दत्तक-पुत्रकी मीमांसा। इस स्मृतिमें ७२१ श्लोक हैं, जिनमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष-रूपसे दत्तक-पुत्रके सम्बन्धकी सारी बातें लिखी हैं, इस प्रकार यह पूरी स्मृति दत्तक-पुत्रके सम्बन्धमें ही विचार करती है और यही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। अन्य मनु आदि स्मृतियोंमें दत्तक-पुत्रके सम्बन्धमें थोड़ा विवरण तो अवश्य आया है, किंतु इतने विस्तार एवं सूक्ष्म विवेचनसे नहीं। इस दृष्टिसे लोहितस्मृतिका विशेष महत्त्व ठहरता है। वैसे तो दत्तकके विषयमें नन्दपण्डितकृत 'दत्तकमीमांसा', रामचन्द्रकृत 'दत्तकचन्द्रिका', शूलपाणिकृत 'दत्तकपुत्रविधि' तथा अनन्तदेवकृत 'दत्तकौस्तुभ' आदि अनेक स्वतन्त्र निबन्धग्रन्थ हैं। कालिकापुराणमें भी यह विषय विवेचित है, तथापि इन सबमें लोहितस्मृतिका विशेष गौरव प्रतीत होता है। दत्तक-पुत्रकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें यह स्मृति अवश्य अवलोकनीय है। इसमें मनु तथा पुलह आदिके स्मृतिवचनोंका भी कहीं-कहीं उल्लेख हुआ है।

सामान्यरूपसे पुत्ररूपमें गोद लिया हुआ या दिया हुआ दत्त या दत्तक-पुत्र कहलाता है। कौन गोद देनेका अधिकारी है तथा कौन गोद लेनेका अधिकारी है, किसे गोद लिया जा सकता है और किसे गोद नहीं लिया जा सकता, गोद लेनेपर उसका किस प्रकार कितनी सम्पत्तिमें अधिकार बनता है, गोद लेनेपर यदि औरस पुत्र उत्पन्न हो जाता है तो औरस पुत्र तथा दत्तक-पुत्रमें परस्पर क्या व्यवस्था होगी, कौन कितने धनका अधिकारी बनेगा तथा पिताके और्ध्वदैहिक श्राद्धादिकर्मका किसे अधिकार होगा, आदि विषय इसमें विस्तारसे विवेचित हैं। दत्तक-व्यवस्थाके साथ ही इसमें संक्षिप्त रूपसे बारह प्रकारके पुत्रोंका वर्णन तथा एकसे अधिक पत्नियोंमेंसे प्रथम धर्मपत्नीकी मुख्यता तथा उसके प्रथम पुत्रकी मुख्यताका वर्णन है और विधवा एवं पतिव्रता स्त्रीके कर्तव्य, श्राद्धके अधिकारी पुत्र, श्राद्धकी अवश्यकर्तव्यता एवं व्यवहार-मर्यादाका उल्लंघन करनेपर राजाद्वारा दण्डकी व्यवस्थाका भी संक्षेपमें विवेचन है। संक्षेपमें लोहितस्मृतिमें स्त्री-विचार, दत्तकपुत्र-मीमांसा तथा दाय-भाग (सम्पत्ति-विभाजन एवं अधिकार)-का वर्णन हुआ है। इसमें बतलाया गया है कि दत्त या दत्तक-पुत्रकी जातपुत्र (औरस)-के समान ही स्नेहभाजनता होती है और औरस पुत्रके समान ही उसका पिताकी सम्पत्तिमें अधिकार होता है। अपुत्रक माता-पिताके दैव, पैत्र्य सभी कार्योंके लिये वह मान्य है। दौहित्र (पुत्रिका-पुत्र—लड़कीका पुत्र)-की महिमामें बतलाया गया है कि दौहित्रके होनेपर दत्तक पुत्रके गोद लेनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वह पुत्रतुल्य किंवा उससे भी अधिक महत्त्ववाला होता है—

दौहित्रे सति पुत्रस्य ग्रहणं न समाचरेत्॥

(श्लोक २२४)

दौहित्रे सति सोऽयं स्यात् पुत्रतुल्यस्ततोऽधिकः।

(श्लोक २१४)

श्राद्धमें भाव-शुद्धि, विधि-शुद्धि तथा द्रव्यशुद्धिको महर्षि लोहितने विशेष महत्त्व दिया है। द्रव्यशुद्धिके विषयमें कहा गया है कि असत्-द्रव्य या असमीचीन द्रव्यसे किया गया श्राद्ध पितरोंको नरक पहुँचानेवाला होता है—

असदद्रव्यकृतं श्राद्धं पितृणां निरयप्रदम्॥

(श्लोक ४०४)

अन्यायके मार्गसे, चोरीसे, महर्घतासे, धरोहरके धनसे, बेईमानीसे प्राप्त हुआ धन, असमीचीन द्रव्य कहलाता है—

तदेतदखिलं द्रव्यमसमीचीनमुच्यते॥

(श्लोक ३९८)

अतः थोड़े भी सद्द्रव्य—समीचीन द्रव्यसे श्राद्धीय पदार्थोंका संग्रह करके अपनी धर्मपत्नीद्वारा निर्मित पवित्र श्राद्ध-पाकद्वारा विशुद्ध मनसे श्रद्धापूर्वक पितरोंका श्राद्ध करना चाहिये, ऐसा श्राद्ध पितरोंके लिये अक्षय तृप्तिकारक और कर्ताके लिये अभ्युदय एवं निःश्रेयसका मार्ग प्रशस्त करनेवाला होता है।

राजधर्म एवं राजाके कर्तव्यका निर्देश करते हुए बताया गया है कि राजाको चाहिये कि वह साम, दाम, दण्ड, भेद आदि नीतियोंका आश्रय लेकर जैसे भी बन पड़े उचित विधान एवं दण्ड-व्यवस्थाके आधारपर अपने राज्यमें शान्ति कायम रखे। दुष्टों, अविनीतों, चोर-लुटेरों तथा हिंसा करनेवालोंको दण्डनीतिसे उचित मार्गपर लगाये। अच्छे लोगोंकी सब प्रकारसे रक्षा करे। दुष्ट लोगोंके न रहनेसे प्रजाको अत्यन्त सुख प्राप्त होता है, अतः राजाको अपने सुखका ध्यान न रखकर प्रजाके सुख-दुःखका ही खयाल रखना चाहिये। जब सारी प्रजा सुखी रहेगी तो राजाके भी सम्पूर्ण मनोरथ स्वयमेव निःसंदेह पूर्ण हो जायँगे—

अनयानामभावे तु लोकोऽयं सुखमश्नुते॥
लोको यदा सुखी राजा तदा सर्वान् मनोरथान्।
अवशादेव लभते नात्र कार्या विचारणा॥

(श्लोक ७१९-७२०)

आख्यान—

पत्नीके लिये पति ही देवता है

[शैव्याके पतिधर्मकी कथा]

लोहितस्मृतिने नारीके आचार बताये हैं। नारीको पतिव्रता होना चाहिये और प्रयत्नपूर्वक धर्मका ही आचरण करना चाहिये। उसे पतिसे कभी ऊँची आवाजमें नहीं बोलना चाहिये। वह सदा पतिकी प्रिय होकर ही रहे। यदि पति क्रुद्ध भी हो जाय तो पत्नीको क्रोध नहीं करना चाहिये। पति यदि कठोर हो, दयारहित हो, क्रूर हो, सदयता न दिखाता हो, असहनशील हो, पीट रहा हो, दिन-रात गाली-गलौज करता हो, दुष्ट हृदयवाला हो—इस तरह उसमें कुछ भी दुर्गुण हो उसे नारीको पतिका दोष नहीं कहना चाहिये, न उसपर क्रोध करना चाहिये, न उसे शाप ही देना चाहिये, अपितु छायाकी तरह पतिका अनुसरण करना चाहिये। पति यदि दुःखी हो तो पत्नीको दुःखका अनुभव करना चाहिये। पति यदि सुखी हो तो पत्नीको सुखका अनुभव करना चाहिये। पति यदि आनन्दसे विह्वल हो तो पत्नीको भी आनन्दका अनुभव करना चाहिये। पत्नीका अपना कोई सुख-दुःख न होकर पतिका सुख-दुःख ही उसका अपना सुख-दुःख होता है। पति यदि खड़ा हो तो पत्नीको भी खड़ा हो जाना चाहिये। पतिके सो जानेपर उसे सोना चाहिये और यदि पति बुलाये तो सब काम छोड़कर शीघ्रतासे उसके पास जाना चाहिये[१]।

लोहितस्मृतिने यह स्पष्टरूपसे बता दिया है कि पतिकी सेवा करना नारीका सबसे बड़ा धर्म है—

भर्तृशुश्रूषणं नार्याः परमो धर्म उच्यते।

(लोहित० ६५३)

१-धर्मं चरेत् प्रयत्नेन साध्वी नारी पतिव्रता। नैनमुच्चैः प्रभाषेत प्रियमेवास्य यच्चरेत्॥
अप्येनं कुपितं रोषात् प्रतिकुप्येत् कथंचन। कठोरं निर्दयं क्रूरं निरनुक्रोशमक्षमम्॥
ताडयन्तमहोरात्रं शपन्तमपि दुर्हृदम्। न दूषयेन्न चाक्रोशेन्न क्रुध्येत् प्रशपेदपि॥
छायानुवर्तिनी नित्यं दुःखिते दुःखिता भवेत्। सुखिते सुखिता तस्मिन् हृष्टे हृष्टा स्थिते स्थिता॥
शयिते शयिता सुप्ते पश्चात् सुप्ता स्वयं भवेत्। आहूतातित्वरा गच्छेदपि कार्यं विहाय च॥

(लोहितस्मृति ६५६—६६०)

नारीके लिये पतिकी सेवासे बढ़कर न कोई धर्म है, न जप है, न दान है, न तप है, न तीर्थ है और न कोई व्रत है[१]।

भारतकी अधिकांश नारियाँ धर्मशास्त्रके आदेशके अनुरूप ही चलती रही हैं। उनका दृढ़ विश्वास रहा है कि मनुष्यको अपने ही कर्मके अनुसार सुख या दुःखकी प्राप्ति होती है। पति यदि पत्नीपर नृशंसता, क्रूरता और कठोरताका व्यवहार करता है तो भारतीय नारियाँ इसे अपने ही कर्मका परिणाम मान लेती हैं। ऐसेमें वे पतिका दोष नहीं देखतीं। पत्नीकी यह तपस्या दुष्ट-से-दुष्ट पतिको भी सत्पथपर लाकर ही छोड़ती है। इसपर एक पौराणिक कथा दी जा रही है—

प्रतिष्ठानपुरमें कौशिक नामका एक ब्राह्मण था। उसमें कोई शील न था। कटुभाषी था और कोई गुण भी उसमें नहीं था। युवावस्थामें उसे गलित कुष्ठ भी हो गया। अङ्ग-अङ्गमें मवाद भर गया था और उनसे घिनौना रस रिसता रहता था। चलना-फिरना उसके लिये मुश्किल हो गया था। उसकी पत्नी शैव्या (माण्डवी) धर्मशास्त्रके अनुकूल ही चलनेवाली थी। वह उस स्थितिमें भी अपने पतिको देवता ही समझती थी और अपना सारा प्रेम उसपर न्यौछावर करती थी। वह जी-जानसे पतिकी सेवामें जुटी रहती थी। मवाद, मल-मूत्रके प्रवाहको धो-पोंछकर पतिको स्वच्छ बनाये रखती थी। तेल मलती, स्नान कराती और धुले वस्त्र पहनाकर उसे साफ-सुथरा बनाये रखती। मीठी-मीठी वाणी बोलकर और सहानुभूतिकी पराकाष्ठा दिखाकर पतिके हर कष्टको दूर करनेकी चेष्टा करती।

किंतु कौशिक गुणहीन और क्रूर था। वह बात-बातमें पत्नीको कोसता रहता था और कठोर वचनोंसे उसे फटकारता भी रहता था—

अपि तीव्रप्रणोदत्वान्निर्भर्त्सयति दारुणः॥

(मार्कण्डेय० १६। १८)

किंतु उसकी पत्नीने उस स्थितिमें भी उस घिनौने ब्राह्मणको देवता ही समझा और तन-मन-धन सब उसको अर्पण कर दिया। संयोगकी बात वह कौशिक एक वेश्यामें आसक्त हो गया। उसने अपनी पत्नीको आज्ञा दी कि 'तुम मुझे उस वेश्याके पास पहुँचा दो। यदि तुम ऐसा नहीं करोगी तो कल मुझे जीवित नहीं पाओगी।' पत्नी सब सह सकती है, किंतु पतिका वियोग वह सह नहीं सकती। कल होनेवाले पति-वियोगकी बात सुनकर वह काँप उठी। अधिक-से-अधिक पैसा लेकर पतिको कंधेपर बैठाकर वह वेश्याके घरकी ओर बढ़ चली।

अँधियारी रात थी, मेघोंने घेर-घारकर उसे और घना बना दिया था। बिजलीके सहारे पत्नी किसी तरह पतिका बोझ ढोते हुए आगे बढ़ी। इसी बीच कौशिकका घिनौना अङ्ग अणिमाण्डव्य मुनिसे जा टकराया। माण्डव्य मुनि शूलीपर बैठे हुए थे। राजपुरुषोंने गलतीसे चोर समझकर उन्हें शूलीपर बैठा दिया था। शूलीकी चुभनसे वे बहुत पीड़ित थे। कौशिकके टकरानेसे वह पीड़ा असह्य हो गयी थी। उन्होंने शाप दे दिया—'जिसने शूली हिलाकर मुझे यह असह्य यन्त्रणा प्रदान की है, वह सूर्योदय होते ही मर जायगा।'

इस शापका गहरा प्रभाव साध्वीपर पड़ा। वह काँप गयी कि सूर्य निकला नहीं कि वह अपने पतिसे वियुक्त हो जायगी। बेचारी घबरा गयी और बोल उठी—'जाओ अब सूर्य निकलेगा ही नहीं।'

समय आनेपर सचमुच भगवान् सूर्य नहीं निकले। ऐसे ही दस दिन बीत गये। तीनों लोकोंमें हाहाकार मच गया। देवताओंकी दशा सबसे दयनीय हो गयी। क्योंकि होम बंद होनेसे देवता अतृप्त रहने लगे थे। देवताओंने ब्रह्माकी शरण ली। ब्रह्माने बताया कि पतिव्रताका तेज असह्य होता है, उसको शान्त करना सबके वशकी बात नहीं है। एक पतिव्रताके तेजको दूसरी पतिव्रता ही शान्त कर सकती है। अतः तुमलोग सती अनसूयाको प्रसन्न करो। देवताओंने वैसा ही किया। इसपर महासती अनसूया शैव्याके घर गयीं

१-नैतस्मादधिको धर्मो नैतस्मादधिको जपः॥
नैतस्मादधिकं दानं नैतस्मादधिकं तपः। नैतस्मादधिकं तीर्थं नैतस्मादधिको दमः॥
(लोहित० ६५३-६५४)

और कहा—देवी! तुम्हारे शापसे आज सारा विश्व ध्वंसके कगारपर आ पहुँचा है। अतः तुम प्रसन्न हो जाओ और कह दो कि सूर्य देवता पहलेकी तरह उदित हों। साध्वी बोली—'किंतु महादेवि! जब सूर्य उदय होंगे तो मेरे पतिदेव मर जायँगे।' महासती अनसूयाने कहा—'मैं अपने पातिव्रत्यके बलसे तुम्हारे पतिको जीवित कर दूँगी। तुम मत घबराओ।'

साध्वी मान गयी। तब महासती अनसूयाने अर्घ्य देकर सूर्यका आवाहन किया। लाल-लाल किरणोंको बिखेरते हुए सूर्य निकल आये। सारे विश्वमें हर्षकी लहरें लहराने लगीं, किंतु साध्वीके शोकका कोई ठिकाना न रहा। सूर्यके निकलते ही उसके पतिदेव निर्जीव होकर गिर पड़े। तब महासती अनसूयाने गम्भीर शब्दोंमें कहा—'यदि मैं अपने पतिको देवताओंसे भी बढ़कर मानती आयी हूँ, तो इस व्रतके प्रभावसे यह निर्जीव ब्राह्मण-शरीर शुभ गुणोंसे सम्पन्न और युवा बनकर जीवित हो उठे।' महासती अनसूयाके कहनेके साथ-साथ ही कौशिक जी उठा। उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग देवताओंकी तरह सुभग और सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हो चुका था। पतिव्रताके प्रभावको देखकर देवता आकाशसे पुष्पवृष्टि करने लगे। [मार्कण्डेयपुराण]

महर्षि कश्यप और उनका धर्मशास्त्र (कश्यपस्मृति)

सृष्टिकी इच्छासे पितामह ब्रह्माजीने छः मानसपुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु । इनमेंसे महर्षि मरीचिके पुत्र कश्यप हुए। दक्ष प्रजापतिने अपनी तेरह कन्याओं—अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मनु तथा कद्रूका विवाह महर्षि कश्यपके साथ कर दिया।

इन सबकी इतनी संतानें हुईं कि उनसे यह सम्पूर्ण सृष्टि भर गयी। अदितिसे समस्त देवता तथा बारह आदित्य हुए। सभी दैत्य दितिके पुत्र हैं। दनुके दानव हुए। इसी प्रकार विनताके गरुड, अरुण आदि और कद्रूके सर्प, नाग आदि पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार समस्त स्थावर-जंगम, पशु-पक्षी, देवता, दैत्य, मनुष्य—सारी सृष्टि महर्षि कश्यपकी ही संतान है—'**कश्यपात्तु इमाः प्रजाः**' (महा॰, आदि॰ ६५।११)। इन्द्र आदि देवता महर्षि कश्यप एवं अदितिके ही पुत्र हैं। भगवान् वामनने भी इन्हींके यहाँ अवतार लिया और कश्यप-अदिति ही दशरथ-कौसल्या तथा फिर वसुदेव-देवकीके रूपमें अवतरित होकर भगवान् राम तथा भगवान् कृष्णके माता-पिता बने। अतः महर्षि कश्यपजीकी महिमा अपार है। भगवान् जिनके पुत्र बनें, उनके विषयमें क्या कहा जा सकता है? महर्षि कश्यपकी सृष्टिका वर्णन तथा उनका दिव्य चरित्र पुराणों एवं महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थोंमें विस्तारसे भरा पड़ा है। उनकी सृष्टि काश्यपीय प्रजासर्गके नामसे पुराणोंमें विख्यात है। महात्मा कश्यपजीने अपनी प्रजाओंके कल्याणके लिये उन्हें सत्-मार्ग दिखलानेके लिये अनेक उपयोगी उपदेश दिये हैं, जो पुराणों तथा महाभारतमें अनेक स्थलोंपर उपनिबद्ध हैं। यहाँ दो-एक कल्याणकारी उपदेशोंका भाव दिया जा रहा है—

धनका मोह अनर्थकारी है

महर्षि कश्यपजी कहते हैं—धन-सम्पत्ति मोहमें डालनेवाली होती है। मोह नरकमें गिराता है, इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषको अनर्थके साधनभूत अर्थका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये। जिसको धर्मके लिये धन-संग्रहकी इच्छा होती है, उसके लिये उस इच्छाका त्याग ही श्रेष्ठ है, क्योंकि कीचड़को लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका दूरसे स्पर्श न करना ही उत्तम है। धनके द्वारा जिस धर्मका साधन किया जाता है, वह क्षयशील माना गया है। दूसरेके लिये जो धनका परित्याग है, वही अक्षय धर्म है, वही मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है[१]।

पापियोंका संग कभी न करे

जैसे सूखी लकड़ियोंके साथ मिली होनेसे गीली लकड़ी भी जल जाती है, उसी तरह पापियोंके सम्पर्कमें

१-अर्थसम्पद्विमोहाय विमोहो नरकाय च। तस्मादर्थमनर्थाय श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥
योऽर्थेन साध्यते धर्मः क्षयिष्णुः स प्रकीर्तितः। यः परार्थे परित्यागः सोऽक्षयो मुक्तिलक्षणम्॥ (पद्म॰, सृष्टि॰ १९। २५१—२५३)

रहनेसे धर्मात्माओंको भी उनके समान दण्ड भोगना पड़ता है, इसलिये पापियोंका संग कभी नहीं करना चाहिये—

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा-
न्न मिश्रः स्यात् पापकृद्भिः कथंचित्॥

महर्षि कश्यपप्रोक्त एक धर्मसंहिता भी प्राप्त होती है, जो 'कश्यपस्मृति' या 'काश्यपधर्मशास्त्र'के नामसे जानी जाती है। वर्तमानमें जो 'कश्यपस्मृति' उपलब्ध है वह अति संक्षेपमें है। इसके प्रारम्भमें कुछ गद्य-भाग तथा फिर बादमें लगभग २० अनुष्टुप् श्लोक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'कश्यपस्मृति'का एक संक्षिप्त भाग है। हेमाद्रि, विज्ञानेश्वर, वीरमिश्र, माधवाचार्य आदि प्राचीन निबन्धकारोंने महर्षि कश्यपके वचनोंको उद्धृत किया है, वे सभी वचन उपलब्ध स्मृतिमें नहीं मिलते हैं। उन वचनोंको देखनेसे यह प्रतीत होता है कि 'कश्यपस्मृति' में आचार, श्राद्ध, संस्कार तथा प्रायश्चित्तपर बड़े-बड़े प्रकरण रहे होंगे, किंतु समयके प्रवाहमें आज वे कुछ वचनोंके रूपमें ही अवशिष्ट हैं। यहाँ संक्षेपमें उपलब्ध 'कश्यपस्मृति'के कतिपय वचनोंको दिया जा रहा है—

उपलब्ध कश्यपस्मृतिके आरम्भमें गृहस्थधर्मका वर्णन है और गृहस्थधर्ममें प्रमादवश जो पाप बन जाते हैं, उनका प्रायश्चित्त बतलाया गया है। गृहस्थके लिये निर्देश है कि वह देव, पितृ, मनुष्य, भूत तथा ब्रह्म—नामक पाँच महायज्ञोंका नित्य अनुष्ठान करे—'**देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मयज्ञानुपसेवमानः**'। व्रत, नियम, होम तथा जप-तपमें तत्पर रहे—'**व्रतनियमहोमजाप्यपरः**'। माता-पिताकी भक्ति करे, सेवा करे—'**मातृपितृभक्तः**'। अपनी स्त्री तथा संतानका पालन-पोषण करे—'**दारापत्यपोषकः**'। सबको भोजन करानेके बाद जो शेष भोजन बचे, उसे ही यज्ञशेष—पवित्र प्रसादके रूपमें ग्रहण करे—'**शेषानुभोजी**'। व्यक्तिको चाहिये कि वह कुआँ, पुल, तडाग, देवमन्दिर आदिको तोड़े नहीं, ब्राह्मणकी अवमानना न करे—ऐसा करनेसे पाप लगता है, कदाचित् ऐसा हो जाय तो उसके लिये प्रायश्चित्त करे—'**कूपसेतुतडागविप्रदेवतायतनभेदने प्रायश्चित्तम्**'।

इसी प्रकार आगे निर्देश है कि गाय, बैल, महिष, मृग, वराह, व्याघ्र, मत्स्य, काक, बलाक, हंस, सारस, गृध्र, श्येन, जम्बूक, विडाल, सर्प, नकुल आदि पशु-पक्षियोंकी हिंसासे महान् पाप लगता है। इस प्रकार महर्षि कश्यपजीने किसी भी जीवकी हिंसाको महान् पाप बतलाया है। उनका कहना है कि किसी भी प्राणीकी किसी भी प्रकार हिंसा न करे और न हिंसा करनेवालेका साथ दे, सब प्राणियोंकी—जीवमात्रकी सेवा करे, सबपर दया करे। यदि उससे हिंसा आदि हो जाय तो उसके लिये शास्त्रोंमें निर्दिष्ट प्रायश्चित्तोंको करे, अनुताप करे, पश्चात्ताप करे, मनमें ग्लानि प्रकट करे और फिर आगे ऐसा कुकर्म न करनेका संकल्प ले। अलग-अलग पाप-कर्मोंके लिये उन्होंने अलग-अलग प्रायश्चित्त-विधान भी बतलाये हैं और प्रायश्चित्तकर्मके अन्तमें गोदान, हिरण्यदान, तिलदान करनेका निर्देश किया है यथा—**चीर्णान्ते गां दद्यात्, चीर्णान्ते हिरण्यं दद्यात्, चीर्णान्ते तिलान् दद्यात्** आदि।

'कश्यपस्मृति'में आगे मरणाशौचकी शुद्धिका संक्षेपमें विवरण आया है और अभक्ष्य-भक्षण, अपेयपान तथा सावित्रीपतनका प्रायश्चित्त भी बतलाया गया है। तदनन्तर दैव, भौम और आन्तरिक्ष उत्पातोंका भी प्रायश्चित्त बतलाया गया है। महर्षि कश्यपने पातकों, उपपातकों तथा महापातकोंसे सर्वथा दूर रहनेका परामर्श दिया है और अत्यन्त शुद्ध आचार-विचारसे रहनेपर विशेष बल दिया है।

महर्षि कश्यपजीने विवाह-संस्कारके प्रकरणमें द्रव्यसे क्रीत की गयी कन्याको—'दासी' नाम दिया है और उसकी 'पत्नी' संज्ञाका निषेध किया है तथा उसे दैव, पित्र्य आदि सभी कार्योंमें अयोग्य बतलाया है—

क्रयक्रीता तु सा दासी न सा पत्नी विधीयते॥

(श्लोक १४)

इस वचनको प्रायः सभी निबन्धकारों तथा धर्मशास्त्रकारोंने महर्षि कश्यपका महत्त्वपूर्ण वचन कहकर उद्धृत किया है। धर्मशास्त्रकार महर्षि बौधायनने अपने धर्मसूत्रमें कश्यपके इस मतको उद्धृत किया है—

क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते।
सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां काश्यपोऽब्रवीत्॥

(बौधा० ११। २०)

आख्यान—

पत्नीतीर्थ

[कृकल वैश्य और देवी सुकलाकी कथा]

'पत्नीके लिये पति तीर्थ है'—स्मृतिके इस सिद्धान्तसे प्रायः सभी लोग परिचित हैं, परंतु शास्त्रने पत्नीको भी तीर्थ माना है, जिस तीर्थकी तुलना कोई तीर्थ नहीं कर सकता—'**नास्ति भार्यासमं तीर्थम्**'। (पद्म० पु०, भूमि० ६१। २२)

कश्यपस्मृतिने स्पष्ट कर दिया है कि तीर्थ, दान, श्राद्ध आदि जितने सत्कर्म हैं, वे सब-के-सब पत्नीके अधीन हैं, अतः पत्नी स्वर्गका साधन है—

दाराधीनाः क्रियाः सर्वा दाराः स्वर्गस्य साधनम्।

(कश्यपस्मृति ४)

यदि कोई गृहस्थ पुरुष पत्नीको बिना साथ लिये अकेले ही धर्मका अर्जन करता है तो उसकी वे सब क्रियाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। उन क्रियाओंका कोई फल उसे नहीं प्राप्त होता, क्योंकि वे क्रियाएँ पत्नीके न रहनेसे और उसके सहयोगके बिना निष्फल हो जाती हैं। धर्मशास्त्रका यह तथ्य प्रस्तुत आख्यानसे सुस्पष्ट हो जाता है। इसमें दिखाया गया है कि एक धार्मिक सज्जन पत्नीको छोड़कर तीर्थयात्रा कर आये। उसका फल तो उन्हें मिला नहीं और उनकी वह तीर्थयात्रा अपराध मान ली गयी तथा उनके पितर बाँध लिये गये।

काशीमें कृकल नामके एक धर्मनिष्ठ वैश्य थे। उनकी स्त्रीका नाम सुकला था। वह पतिपरायणा थी, सदा धर्माचरणमें निरत रहती थी। एक बार कुछ ब्राह्मणों और व्यापारियोंने मिलकर तीर्थयात्राका कार्यक्रम बनाया। अच्छा अवसर समझकर कृकल भी तीर्थयात्राके लिये तैयार हो गये। उन्होंने पत्नीको तीर्थयात्राकी बात बतायी। पत्नीने कहा—'मैं भी आपके साथ चलूँगी; क्योंकि पत्नीके साथ ही सत्कर्म करनेका विधान है।' कृकलने स्वीकार कर लिया, परंतु अपनी पत्नीको वे बहुत प्यार करते थे। यात्राकी कठिनाई उन्हें ज्ञात थी। वे सोचने लगे कि यात्रामें कहीं मेरी पत्नी मर गयी तो मेरा जीवन ही भार बन जायगा। इसलिये वे रात्रिमें चुपकेसे उठे और उन्होंने यात्रियोंका साथ पकड़ लिया। सुकला जब सोकर उठी तो उसने अपने पुराने नियमके अनुसार पहला दर्शन पतिका करना चाहा, किंतु पति वहाँ नहीं थे, शय्या सूनी पड़ी थी। वह समझ गयी कि उसके पतिदेव उसे छोड़कर तीर्थयात्रा करने चले गये। इस विरहने उसमें असह्य वेदना पैदा कर दी और वह जोर-जोरसे रोने लगी। सब लोग इकट्ठे हुए और उन्होंने उससे रोनेका कारण पूछा। जब सखी-सहेलियोंने सुना कि वह पतिके लिये रो रही है तो वे कहने लगीं—'तुम्हारे पतिदेव तीर्थयात्रा-जैसे पुण्यकार्यके लिये गये हैं, फिर तुम हाय-हाय क्यों मचाती हो। यात्रा पूरी होनेपर वे आ ही जायँगे, तुम व्यर्थ शोक कर रही हो, वृथा ही अपने शरीरको सुखा रही हो। अरी! मौजसे खाओ-पीओ, क्यों कष्ट उठाती हो।' किंतु सुकलाको सहेलियोंकी बात अच्छी नहीं लगी, उसके लिये तो पतिदेव ही सब कुछ थे। तबसे बेचारी सुकला खुलकर रो भी नहीं पाती थी। विरहकी अन्तर्ज्वालासे धीरे-धीरे काली पड़ने लगी। दिन बीते, पक्ष बीते, मास भी बीतने लगे।

उधर कृकल तीर्थयात्रा समाप्त कर साथियोंके साथ घर लौट रहे थे। इस यात्रासे उनके मनोभाव पहलेसे अधिक उज्ज्वल, पवित्र और उदात्त बन गये थे। वे यह सोचकर प्रसन्न हो रहे थे कि इस तीर्थयात्रासे मेरे पितर लोग अब निश्चित स्वर्ग चले गये होंगे। कृकल इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि एक दिव्य पुरुष उनके पिता, पितामह आदि पितरोंको बाँधकर उनके सामने प्रकट हो गये। वे बोले—'कृकल! तुम्हारी तीर्थयात्रा व्यर्थ हो गयी है।'

कृकलने अपने माता-पिता आदिको जब बँधा हुआ देखा तो बेचारेको रोना आ गया। बोले—'भगवन्! आप कौन हैं, आपने मेरे पितरोंको किस अपराधसे बाँध रखा है?' उस दिव्य पुरुषने अपना परिचय दिया, बताया कि 'मैं धर्म हूँ' और यह भी बताया कि 'तुम्हारे पितर तुम्हारे ही अपराधसे बाँधे गये हैं।' बेचारे कृकलकी घिग्घी बँध गयी। उन्हें बड़ा कष्ट हुआ कि मेरे ही अपराधसे मेरे सारे पितरोंको कष्ट हो रहा है। वे खूब रोये। अन्तमें उन्होंने हकलाते हुए पूछा—'भगवन्! मैंने वह कौन-सा अपराध

किया है, जिससे मेरे पितर बाँधे गये हैं?'

धर्मने कहा—'तुम्हारा अपराध यह है कि तुमने अपनी पत्नीको साथ लिये बिना ही तीर्थयात्रा, श्राद्ध एवं दान आदि क्रियाएँ की हैं। धर्मकी सारी क्रियाएँ पत्नीके अधीन रहती हैं, गार्हस्थ्यकी वही स्वामिनी है, तुमने उस पत्नीकी उपेक्षा की है, इसलिये तुम चोर हो। तुम्हीं नहीं, ये तुम्हारे पितर भी चोर सिद्ध हुए हैं, क्योंकि इन लोगोंने तुम्हारे श्राद्धका अन्न खाया है, चोरका अन्न खानेवाला भी चोर होता है, इसलिये तुम्हारे पितर बाँधे गये हैं। जो अपनी साध्वी भार्याको छोड़कर कोई धर्मकार्य करता है तो उसका कोई फल उसे नहीं मिलता, उसका सब किया-कराया चौपट हो जाता है'—

पूतां पुण्यतमां स्वीयां भार्यां त्यक्त्वा प्रयाति यः।
तस्य पुण्यफलं सर्वं वृथा भवति नान्यथा॥

(पद्मपु०, भूमि० ५९। ८)

कृकल हाथ जोड़कर धर्मदेवसे बोले—'भगवन्! मैं आपकी शरणमें हूँ। मुझे वह उपाय बताइये, जिससे मेरे पितर बन्धनसे छूट जायँ।' धर्मदेवने कहा—'कृकल! तुम घर जाओ। तुम्हारी पत्नी तुम्हारे बिना बहुत कष्ट पा रही है। पहले उसे सान्त्वना दो और फिर उसके हाथसे श्राद्ध करो, दान करो—

श्राद्धं दानं गृहं गत्वा तस्या हस्तेन वै कुरु।

(पद्मपु०, भूमि० ६०। ३)

उसके बाद तुम्हारी तीर्थयात्रा सफल हो जायगी।' कृकलकी आँखें खुल गयी थीं, उन्होंने पत्नीके साथ श्राद्ध, दान आदि कार्य किये। इस कृत्यसे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि देवता, पितर और मुनिगण कृकलके घरमें प्रकट हो गये और उन दोनोंकी सराहना कर उन्होंने वर माँगनेको कहा। कृकल अपना यह सौभाग्य देखकर विस्मित हो गया। उसने नम्रतासे पूछा—'मेरे किस तप और पुण्यसे वर देनेके लिये आप सब पधारे हैं!' देवराज इन्द्रने कहा—'तुम्हारी महाभागा सती सुकलाके सत्यसे संतुष्ट होकर हम तुम्हें वर देने आये हैं।' पत्नीके साथ कृकलने बार-बार उन लोगोंको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और वरदानमें माँगा कि 'भगवान्में और धर्ममें हमारा अनुराग बना रहे और मरनेपर अपने पितरोंके साथ हमें विष्णुलोककी प्राप्ति हो।'

देवताओंने उन्हें वर दिया और प्रसन्नतासे उन दोनोंपर फूलोंकी वृष्टि हुई—इस तरह कृकलको पत्नीके कारण ही विष्णुलोककी प्राप्ति हुई। (ला० मि०)
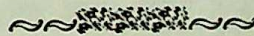
गुजरातके धर्ममय उदात्त चरित्र

(१)

अहिंसा-धर्मके उत्प्रेरक—श्रीसीताराम बापू

श्रीसीताराम बापू ख़ाकी-सम्प्रदायमें दीक्षित सौराष्ट्रके प्रसिद्ध संत पुरुष थे। वे जूनागढ़के केशोद नामक क़सबेसे कुछ दूर झाड़ियोंमें झोंपड़ी बनाकर रहते थे और आते-जाते लोगोंको अहिंसा-धर्मकी ओर प्रेरित करते थे। उनकी झोंपड़ीके आँगन तथा आस-पासकी झाड़ियोंमें पशु-पक्षी निर्भय होकर विचरण करते थे। उनके प्रभाव-क्षेत्रमें प्रवेश करते ही हिंसक पशु अपनी हिंसा-वृत्ति भूल जाते थे।

उन दिनों जूनागढ़ राज्यमें नवाब महोबतखान तृतीयका शासन चलता था। नवाब महोबतखान शिकारके बड़े शौकीन थे। जाड़ेके मौसममें अपने मित्रोंके साथ वे गिरके जंगलमें शिकार खेलने निकल जाते थे और कई दिन बाद जूनागढ़ वापस आते थे। किसी गाँवके निकट नवाबका रिसाला (अश्वारोही सेना) डेरा-तंबू डालकर रातको विश्राम करता था और सबेरा होते ही शिकारकी खोजमें निकल पड़ता था।

एक बार केशोदके निकट नवाबका रिसाला डेरा-तंबू डालकर ठहरा था। शामका समय था। नवाब और उनके शिकारी मित्र जंगलसे लौट रहे थे कि पासकी झाड़ियोंसे हिरनोंका एक झुंड निकला और चौकड़ी भरते हुए अँधेरेमें कहीं अदृश्य हो गया। शिकारियोंकी बंदूकोंसे 'धाँय-धाँय' करती गोलियाँ छूटीं, किंतु एक भी हिरन घायल न हुआ। हिरनोंका पीछा करते-करते शिकारी सीताराम बापूकी झोंपड़ीके पास आ पहुँचे।

घोड़ोंकी टाप सुनकर सीताराम बापू बाहर आये। नवाब और उनके साथियोंका उन्होंने स्नेहपूर्वक स्वागत किया। धूनीमें नयी लकड़ियाँ डालकर उन्होंने उजाला किया। फिर सबको भगवान्का प्रसाद देकर ठंडा पानी पिलाया। शिकारी आश्वस्त होकर झोंपड़ीका निरीक्षण करने लगे। औपचारिक प्रश्नसे बापूने वार्तालापका आरम्भ किया—

'शिकार खेलने निकले हो?'

'हाँ, निकले हैं तो शिकार खेलने, मगर आज एक विचित्र अनुभव हुआ।'

'कैसा अनुभव हुआ?'

'हिरनोंपर हमने गोलियाँ बरसायीं, फिर भी शिकार हाथसे निकल गया। एक भी हिरन घायल न हुआ।'

'जानते हो, ऐसा क्यों हुआ?'

'नहीं तो।'

'हिरनोंपर छोड़ी गयी गोलियाँ हमने यहाँ मँगवा ली हैं!'

'क्यों?'

'क्योंकि यहाँ कोई किसीपर वार नहीं करता। फिर तुम तो राजा हो। राजाका धर्म निर्दोष प्राणियोंकी रक्षा करना है। यदि राजा ही निर्दोष प्राणियोंकी हत्या करेगा तो प्रजाको भी हिंसाकी प्रेरणा मिलेगी। हम आपको रक्षकके रूपमें देखना चाहते हैं, भक्षकके रूपमें नहीं,' कहते हुए बापूने अपना चिमटा उठाया और वे धूनीमेंसे एक-एक करके गोलियोंको निकालने लगे।

नवाब और उनके साथी लज्जित होकर संतके चरणोंमें गिर पड़े। उस दिनसे उन्होंने शिकार खेलना बंद कर दिया।

(२)

सेवा-धर्मके संरक्षक—संत महीदास

सौराष्ट्रके सेवा-धर्मी संतोंमें महीदासजीका नाम विशेष आदरके साथ लिया जाता है। मोरबी जिलेके बगथला गाँवमें वे एक छोटा-सा आश्रम बनाकर रहते थे और दीन-दुखियोंकी सेवा करते थे। उनकी उत्कृष्ट सेवा-भावनाके कारण उनका आश्रम 'मानव-सेवाका पवित्र मन्दिर' बन गया था। सबेरे हाथमें काँवर लेकर वे बगथला और आस-पासके गाँवोंमें रोटी माँगने निकल पड़ते, दोपहरको अपने हाथोंसे भूखोंको रोटी खिलाते तथा शामको रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा करते थे। दीन-दुखियोंकी सेवाके कारण उनके मुख-मण्डलपर अपूर्व तेज झलकता था और उनके शब्द अत्यन्त प्रभावशाली बन गये थे। मोरबीके ठाकुर पृथ्वीराज उनका बड़ा आदर करते थे और समय-समयपर उनके दर्शनार्थ बगथला आया करते थे।

एक बार सम्पूर्ण सौराष्ट्रपर अकालका आतंक छा गया। ठाकुर पृथ्वीराज चिन्तित हो गये। उन्होंने दुष्कालसे उत्पन्न समस्याओंका हल ढूँढ़नेके लिये मन्त्रियोंसे विचार-विमर्श किया। एक मन्त्रीने सुझाव दिया—'महाराज! संत महीदासजी बड़े प्रभावी पुरुष हैं। उनके शब्दोंमें अद्भुत सामर्थ्य है। यदि वे एक बार कह दें कि बारिश होगी तो बारिश होकर ही रहेगी।'

'ऐसा है? तब तो हमें महीदासजीके पास ही चलना चाहिये। आज शाम ही निकल पड़ेंगे।'

ठाकुर और मन्त्रीगण निर्धारित समयपर बगथला पहुँच गये। महीदास उस समय रक्त-पित्तके रोगियोंका उपचार कर रहे थे। सेवकसे सूचना पाकर वे बाहर आये। ठाकुर और मन्त्रियोंने भेंट-सौगात अर्पण करके उन्हें प्रणाम किया। महीदासजीने जब ठाकुरसे आगमनका प्रयोजन पूछा, तब ठाकुरने निवेदन किया—

'यह तो आप जानते हैं कि आजकल चारों ओर दुर्भिक्षका आतंक छा गया है। बारिश न होनेसे हमारी चिन्ता बढ़ गयी है।'

'ठाकुर साहब, बारिशका होना, न होना तो भगवान्के हाथकी बात है।'

'हमारे लिये तो आप ही भगवान् हैं।'

'नहीं महाराज! मैं तो उनका भक्त हूँ, एक सामान्य भिक्षुक हूँ। दीन-दुखियोंके लिये रोटी माँगता हूँ और रोगियोंकी मरहम-पट्टी करता हूँ। भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं।'

'हम तो बारिशकी आशासे यहाँ आये हैं। जबतक आप हमें बारिश होनेका आश्वासन न देंगे, हम यहाँसे न जायँगे।'

'महाराज! ऐसा हठ मत कीजिये। रोगी मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप मोरबी पधारिये। बारिश हो जायगी।'

ठाकुर और मन्त्री संतको नमस्कार करके मोरबीकी ओर रवाना हो गये। रास्तेमें काले-काले बादलोंको देखकर वे हर्षित हो गये।

बारिश तो हो गयी, परंतु महीदासजी बेचैन हो गये। उन्होंने सोचा कि भगवद्भक्त और जनसेवकको चमत्कार-प्रदर्शनसे दूर रहना चाहिये। सेवा-धर्मकी रक्षाके लिये उन्होंने दूसरे दिन जीवित समाधि ले ली। आज भी बगथलामें उनकी समाधि विद्यमान है और हमें सेवा-धर्मका संदेश दे रही है।

(डॉ० श्रीकमलजी पुंजाणी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)
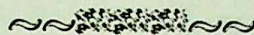
शौच-धर्मके आदर्श बाबा मोकलपुर

वाराणसीसे गङ्गाजीके प्रवाहके साथ चलें तो कुछ मील दूर गङ्गाजीसे एक छोटी धारा पृथक् होकर एक छोटा द्वीप बनाकर फिर गङ्गामें मिल जाती है। इस द्वीपमें मोकलपुर नामका ग्राम है। उस ग्राममें बहुत दिनोंतक रहनेके कारण ही उनका नाम 'मोकलपुरके बाबा' पड़ा था। उनका वास्तविक नाम तो किसीको ज्ञात नहीं था।

गाँवसे बाहर खेतमें एक फूसकी बड़ी-सी खुली झोंपड़ी थी। खूब लिपी-पुती, स्वच्छ रहती थी वह झोंपड़ी और उसमें एक तख्ता पड़ा था। पासमें एक छोटी कुटिया थी। उसमें भोजन बनाते थे वे और थोड़ा-सा आटा, दाल, नमक आदि मिट्टीकी हँड़ियोंमें रहता था।

गोरा रंग, दुहरा शरीर, खूब ऊँचा चमकता भाल और श्वेत केशराशि। वार्धक्यके कारण शरीरमें कुछ झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। वस्त्रके नामपर केवल एक कटिवस्त्र घुटनों-तकका और शीतकालमें दो कम्बल रखते थे। एक ही कौपीन थी उनके पास।

वे प्रायः सबको 'गुरु' कहते थे और ग्रामोंकी भोजपुरी भाषामें ही बोलते थे। उनकी पवित्रता अद्भुत थी। शौच जाते तो बड़ा भारी लोटा तथा भूमि खोदनेकी खंती ले जाते। गड्ढा खोदकर शौच जाते और उसे ढक आया करते थे। यदि कोई ऐसे स्थानमें बैठता कि उसके शरीरसे लगकर वायु उनकी ओर आती तो उसे दूसरी ओर बैठनेको कह देते थे।

ग्रामीण भाषामें अत्यन्त सरल ढंगसे तत्त्वज्ञानकी कठिन बातें वे जैसे समझा देते थे, उतने सरल, सूक्ष्म विवेचनका दर्शन बड़े-बड़े विद्वानोंमें भी मैंने नहीं पाया।

प्रायः लोग फल या उनके उपयोगकी वस्तु ले आते थे। उन वस्तुओंको वे रख तो लेते थे, किंतु पीछे किसी-न-किसीको बाँट देते थे। एक बार उन्होंने कहा था—पवित्र कमाई है किसानोंकी, किंतु इनके मनमें कामना है। निष्काम भावसे कोई ही आता है।

अन्न पवित्र हो, पवित्र धनसे आया हो और निष्काम भावसे दिया गया हो, तब पवित्र है—यह बात उनकी पीछे समझमें आयी। हाथका पिसा आटा, देशी खाँड़ उनके उपयोगमें आती थी। उनके शौचाचारमें एक विशेष बात थी—किसीका तिरस्कार नहीं, किसीकी अवमानना नहीं; किसीको उनसे कोई असुविधा न हो, इसका पूरा ध्यान रखते थे।

'यह मल-मूत्रका थैला है। यह कहीं शुद्ध हुआ करता है!' यह बात वे बार-बार कहते थे। 'शौचाचार' इसलिये कि इससे घृणा हो जाय।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (योगदर्शन)
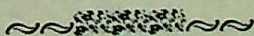
निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता। सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम्॥

पापकर्मसे दूर रहना, निरन्तर पुण्यकर्मोंमें लगे रहना और सत्पुरुषोंके साथ रहकर सदाचारका ठीक-ठीक पालन करना—यह संशयरहित कल्याणका मार्ग है।

घटना—

ग्रामीणोंको दुर्व्यसनोंसे मुक्त हो शास्त्रानुसार चलनेकी प्रेरणा मिली

सन् १९३० के आस-पासकी बात है।

प्राचीन तीर्थ गढ़मुक्तेश्वर (गाजियाबाद)-के गङ्गातटपर स्थित एक गाँवमें एक विरक्त दण्डी संन्यासी आये। गाँवके बाहर स्थित शिवमन्दिरमें उन्होंने साधना शुरू कर दी।

गाँववाले रातके समय चौपालपर इकट्ठा हुए तो एकने बताया कि दो दिनसे कोई महात्मा मन्दिरमें ठहरे हुए हैं। लगता है, किसीने उन्हें भोजन नहीं पहुँचाया। दस-बारह ग्रामीण उठे और मन्दिरकी ओर चल दिये।

मन्दिर पहुँचकर उन्होंने दण्डी संन्यासीका चरण स्पर्श करके प्रणाम किया और बैठ गये। एक वृद्ध ब्राह्मणने कहा—'बाबा! आप गाँवमें कब पधारे?'

'हम कल यहाँ पहुँचे थे'—स्वामीजीने बतलाया।

'मालूम हुआ कि आपने कलसे भोजन नहीं किया है'—वृद्धने जिज्ञासावश पूछा।

'कल और आज हमारा एकादशी-व्रत था। इसलिये भोजन तो क्या हमने जल भी ग्रहण नहीं किया'—बोले।

'महाराज! कल हमारे यहाँ आप भोजन ग्रहण करनेकी कृपा करें।'—वृद्ध ब्राह्मणने प्रार्थना की।

'भोजन हम कुछ शर्तोंके साथ करते हैं'—स्वामीजीने कहा।

'क्या शर्त है, बताइये'—वृद्धने पूछा।

'क्या आपके घर शराब या तंबाकू तो नहीं पी जाती?'—संन्यासीने पूछा।

'महाराज! हुक्का तो हम पीते हैं, किंतु शराब हमारे घर नहीं पी जाती'—उन्होंने उत्तर दिया।

'तब तो मैं लाचार हूँ।'—संन्यासीने कहा।

दूसरा ग्रामीण सामने आया, बोला—'महाराज! मैं ब्राह्मण हूँ, मेरे घर न हुक्का पीया जाता है न शराब। कृपा कर मेरे घर तो भोजन कर लेंगे।'

'क्या तुम संध्या करते हो तथा यज्ञोपवीत पहनते हो?'—स्वामीजीने पूछा।

'नहीं महाराज! यज्ञोपवीत तो नहीं है'—उत्तर मिला।

'तो हम तुम्हारे यहाँ भी भोजन नहीं कर सकते।'

इस प्रकार कोई भी ग्रामीण संन्यासीकी शर्त पूरी नहीं कर पाया। अगले दिन गाँवमें पंचायत हुई। वृद्धने गाँववालोंसे कहा—'भाई, गाँवमें एक तेजस्वी संन्यासी आये हुए हैं और बड़े दुःखका विषय है कि गाँवमें एक भी घर ऐसा नहीं निकला जो शराब-तंबाकू न पीता हो तथा पूर्णरूपसे धर्मशास्त्रोंके अनुसार जीवन जीता हो और जिसके घर स्वामीजी भोजन कर सकें। सभी मिलकर हुक्के उठाकर बाहर फेंक दो। यज्ञोपवीत धारण करके संध्या-वन्दन करनेका नियम बनाओ। कम-से-कम अपने परिवारको इतना पवित्र तो बना लो कि कोई सच्चा साधु-संन्यासी गाँवमें आये तो वह भूखा तो न रहे, हमारे घर भोजन तो कर सके।'

देखते-ही-देखते हुक्के और शराबकी बोतलें घरोंसे बाहर फेंक दी गयीं। सभी मिलकर मन्दिर गये—स्वामीजीके सामने संकल्प लिया कि भविष्यमें इस गाँवमें शराब-तंबाकू पीनेवाला नहीं मिलेगा। आज आप हमें यज्ञोपवीत धारण करायें। हम संकल्प लेते हैं—'नित्य संध्या करेंगे, गायत्री-मन्त्रका जप करेंगे। धर्मशास्त्रानुसार जीवन जीयेंगे।'

ये तेजस्वी संन्यासी थे—स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज, जो आगे चलकर ज्योतिर्मठके शंकराचार्य बने। उन्होंने मेरठ-मण्डलके गाँव-गाँवमें पहुँचकर हजारों ग्रामीणोंको मांस-मदिरा तथा तंबाकू आदिके दुर्व्यसनोंसे मुक्त कराया तथा धर्मशास्त्रानुसार सादा जीवन जीनेकी प्रेरणा दी।

[प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः। एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

(महाभा०, अनु० प० ११३। ८)

जो बात अपनेको अच्छी न लगे, वह दूसरोंके प्रति भी नहीं करनी चाहिये। यही धर्मका संक्षिप्त लक्षण है। इससे भिन्न जो बर्ताव होता है, वह कामनामूलक है।

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *
कल्याण
(परिशिष्टाङ्क २)
वर्ष ७०
संख्या ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)
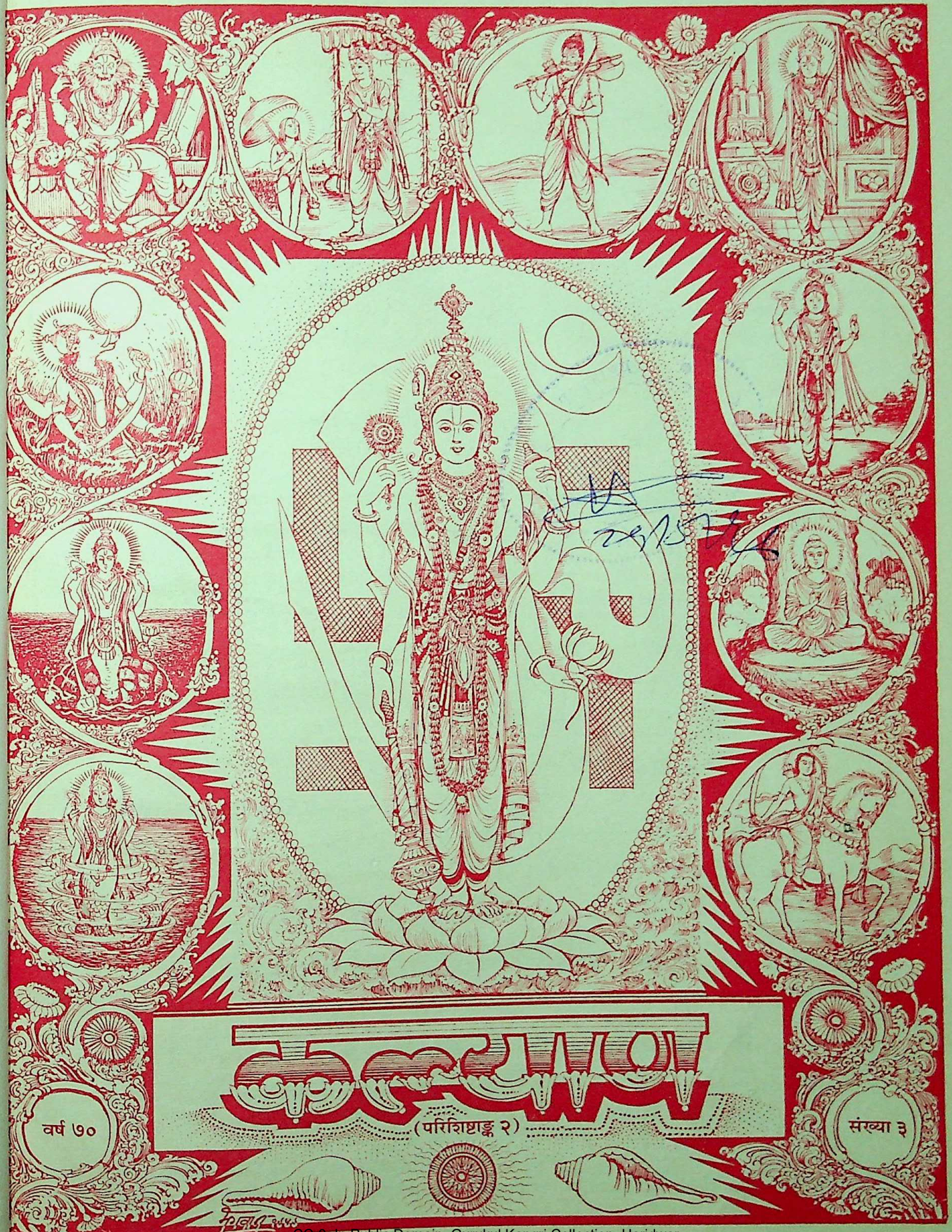
विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, वि० सं० २०५२, श्रीकृष्ण-सं० ५२२१, मार्च १९९६ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

वर्ष ७० | गोरखपुर, सौर चैत्र, वि० सं० २०५२, श्रीकृष्ण-सं० ५२२१, मार्च १९९६ ई० | संख्या ३ | पूर्ण संख्या ८३२

परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

'जिनके हाथोंमें वंशी सुशोभित है, जिनकी कान्ति नवीन मेघके समान श्यामल है, जो पीताम्बर धारण किये हैं, जिनके होठ बिम्बाफलके समान अरुणिम वर्णके हैं, जिनका मुखमण्डल पूर्णचन्द्रके सदृश और जिनके नेत्र कमलके समान हैं, उन श्रीकृष्णसे भिन्न किसी अन्य तत्त्वको मैं नहीं जानता।'

भागवत-धर्म

श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धमें राजा निमिके साथ नौ योगीश्वरोंके संवादमें 'भागवत-धर्म' तथा उसका आचरण करनेवाले भागवतोंके लक्षणोंका सुन्दर वर्णन है। उसीमेंसे कुछ यहाँ दिया जाता है। राजा निमिने पूछा—

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ३१)

'यदि हम सुननेके अधिकारी हों तो आप कृपापूर्वक भागवत-धर्मोंका वर्णन कीजिये। भागवत-धर्मसे अजन्मा एकरस भगवान् प्रसन्न होते हैं और उन धर्मोंका पालन करनेवाले शरणागत भक्तको वे अपने-आपतकको दे डालते हैं।'

इस प्रश्नको सुनकर नौ योगीश्वर प्रसन्न हो गये और उनमेंसे 'कवि' नामक योगीश्वरने कहा—'राजन्! अपनी महिमामें नित्य प्रतिष्ठित भगवान्के चरणकमलोंकी नित्य-निरन्तर उपासना करना ही सर्वथा भयशून्य मार्ग है। शरीर,घर, सम्पत्ति आदि असत्, तुच्छ तथा विनाशी पदार्थोंमें अहंता-ममता हो जानेके कारण जिनकी चित्तवृत्ति व्यग्र हो रही है, उनका भय भी भगवान्की उपासना करनेसे पूर्णतया निवृत्त हो जाता है। सरल हृदयके अज्ञानी पुरुषोंको भी सुगमतासे साक्षात् अपनी प्राप्तिके लिये जो उपाय भगवान्ने बतलाये हैं, उन्हें 'भागवत-धर्म' समझो। इन भागवत-धर्मोंपर दृढ़ आस्थाके साथ इनका अवलम्बन करनेपर फिर मनुष्यको किसी भी विघ्नका भय नहीं रह जाता और आँखें बंद करके दौड़नेपर अर्थात् विधि-विधानकी परवा न करके केवल भगवान्पर दृढ़ विश्वास करके उनकी कृपाके बलपर ही उनके प्रीत्यर्थ जीवन बितानेपर भी, फिर न तो वह कभी मार्गसे स्खलित ही होता है और न गिरता ही है। इस भागवत-धर्मका पालन करनेवालेको चाहिये कि वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे तथा अहंकारसे अनेकों जन्मोंके तथा इस जन्मके अभ्यासवश स्वभावसे जो कुछ भी करे, सब परम पुरुषोत्तम भगवान् नारायणको समर्पण कर दे। यही सर्वसुलभ भागवत-धर्म है।

आगे चलकर फिर कहते हैं—

'उस पुरुषको चाहिये कि वह संसारमें चक्रपाणि भगवान्के लोक-प्रसिद्ध जन्मोंकी, कर्मोंकी, गुणोंकी लीलाओंको सुनता रहे और उन गुणों तथा लीलाओंके अनुसार रखे गये, उन लीलाओंका स्मरण करानेवाले भगवान्के नामोंका लाज-संकोच छोड़कर गान करे एवं कहीं भी आसक्ति न रखते हुए संसारमें विचरे। इस प्रकार विशुद्ध व्रत धारण करनेवाले भक्तके हृदयमें अपने परम प्रियतम भगवान्के नाम-कीर्तनमें अनुराग—प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसका चित्त द्रवित हो जाता है, वह बड़भागी पुरुष लौकिक स्तरसे ऊपर उठकर सहज ही प्रेममत्त हो कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, कभी फूट-फूटकर रोने लगता है, कभी उच्चस्वरसे पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वरसे प्रियतम प्रभुके गुणोंका गान करने लगता है और कभी-कभी उन्मत्तकी तरह नाचने लगता है। उसे दीखता है—प्रियतम मेरे सामने खड़े हैं। राजन्! ऐसा वह भक्त केवल चेतन जीवोंमें ही अपने प्रभुको नहीं देखता—वह ऐसा अनुभव करता है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, सब दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र, जो कुछ भी हैं, सभी भगवान्के शरीर हैं—इन सब रूपोंमें भगवान् ही प्रकट हैं और वह जड-चेतन सभीको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करता है। सबके सामने नत रहकर वह सहज ही सबका अर्चन—हित-साधन करता है। जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति—तीनों प्राप्त होती जाती हैं, वैसे ही भगवान्के शरण होकर उनका भजन करनेवालेको प्रतिक्षण प्रेमास्पद भगवान्के प्रति प्रेम, उनके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुमात्रमें वैराग्य—तीनों प्राप्त हो जाते हैं। राजन्! इस प्रकार प्रत्येक वृत्तिसे भगवान् अच्युतके चरणकमलोंका भजन करते-करते उसे भगवान्में प्रेममयी भक्ति, संसारके विषयोंमें वैराग्य और प्रियतम भगवान्के स्वरूपका भलीभाँति बोध—ये सब अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। फिर वह परम शान्तिका साक्षात् अनुभव करने लगता है।

योगीश्वर कविके इस प्रकार कहनेपर राजा निमिने ऐसे भगवद्भक्तके लक्षण, धर्म, स्वभाव, आचरण तथा बोल-चालके सम्बन्धमें पूछा। तब योगीश्वर हरिने कहा—

आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे स्थित हैं, सर्वत्र समानरूपसे परिपूर्ण भगवत्-सत्ता है और समस्त प्राणी-पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्में ही (अध्यस्तरूपसे) स्थित हैं—इस प्रकार जो भगवत्स्वरूपका अनुभव करता है, वह श्रेष्ठ—'उत्तम' भागवत (प्रेमी भक्त) है। जो भगवान्से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुःखी और अज्ञानियोंपर कृपा तथा भगवान्से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह 'मध्यम' भागवत (भक्त) है और जो भगवत्प्रतिमाकी पूजा आदिमें ही श्रद्धा करता है, परंतु भगवान्के भक्तों तथा अन्य लोगोंकी श्रद्धासे सेवा नहीं करता, वह 'साधारण' भगवद्भक्त है। जो इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण तो करता है, पर अनुकूल विषयकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता और प्रतिकूलकी प्राप्तिमें द्वेष नहीं करता, यही मानता है कि यह सब हमारे भगवान्की माया—लीला या कृपा है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा—ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके सांसारिक धर्म हैं, यों मानकर जो इनसे मोहित नहीं होता और भजनमें तन्मय रहता है, वह उत्तम भागवत—भगवद्भक्त है। जिसके मनमें विषय-भोगकी कामना, तज्जन्य कर्ममें प्रवृत्ति और उनके बीजरूप वासनाओंकी उत्पत्ति नहीं होती और जो एकमात्र वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। जिसका इस शरीरमें जन्म, कर्म तथा वर्ण, आश्रम और जातिको लेकर कोई अहंभाव (अभिमान) नहीं होता, वह निश्चय ही भगवान् हरिका प्रिय भक्त है। जिसका धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें अपना-पराया—ऐसा भेदभाव नहीं होता, जो सब प्राणी-पदार्थोंमें समरूप परमात्माको देखता है, समदृष्टि होता है और किसी प्रकार भी क्षुब्ध न होकर प्रत्येक स्थितिमें शान्त रहता है, वह निश्चय ही उत्तम भगवद्भक्त है। बड़े-बड़े देवता तथा ऋषि-मुनि आदि अपने अन्तःकरणमें ध्यान करते हुए जिन भगवान्को खोजते रहते हैं, उन भगवान्के चरणकमलोंसे, त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी देनेपर भी आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जिसकी स्मृतिका तार नहीं टूटता, वह भगवद्भक्तों—वैष्णवोंमें अग्रगण्य—परम श्रेष्ठ है। असीम अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यके समुद्र भगवान्के श्रीचरणोंकी अङ्गुलि-नख-मणिकी शीतल चन्द्रिकासे जिन भक्तोंके हृदयका विरह-संताप एक बार शान्त हो चुका है, उनके हृदयमें क्या वह फिर कभी आ सकता है? चन्द्रमाके उदय होनेपर क्या सूर्यका ताप ठहर सकता है? विवश होकर जिनके नामका उच्चारण कर लेनेपर जो समस्त पापराशिका नाश कर देते हैं, उन भगवान्के चरणकमलोंको उस भक्तने प्रेम-रज्जुसे बाँध रखा है। अतएव वे स्वयं भगवान् हरि क्षणभरके लिये भी उसके हृदयको नहीं छोड़ते। ऐसा पुरुष भगवान्के भक्तोंमें प्रधान—सर्वश्रेष्ठ है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ५५)

धनके पंद्रह दोष

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये। नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः। भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्। तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥

धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें—जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थके विरोधी अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे। (श्रीमद्भा० ११। २३। १७—१९)

वैदिक धर्ममें अद्वयवाद

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

संसारभरके धर्मग्रन्थोंमें ऋग्वेद सबसे पुराना है, यह मत विश्वके मूर्धन्य विद्वानोंका है। ऋग्वेदमें प्रतिपादित सिद्धान्त भी अति प्राचीनतम है, इसमें भी दो मत नहीं हो सकता। ऋग्वेदका सनातन सिद्धान्त अद्वयवाद या अद्वैतवाद है। अद्वैतवादका विकास यद्यपि उपनिषद्कालमें हुआ है, फिर भी इसका बीज मूल-संहिताओंमें ही स्पष्टरूपमें दृष्टिगोचर होता है।

ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १८७ वें सूक्तमें इसका स्पष्ट प्रमाण देखा जा सकता है। यथा—'**अद्वयाः**' (ऋ० १। १८७। ३) इस मन्त्रांशका तात्पर्य यह है कि 'इस सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डमें द्वैतसे रहित एकमात्र अद्वैत-तत्त्व (ब्रह्म)ही विद्यमान है, अन्य कुछ नहीं है।' इसी प्रकारसे ईशावास्य उपनिषद्में भी कहा है—'**ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**' अर्थात् 'इस जगतीतलपर जो पदार्थ या वस्तु हैं, उन सबको वह ईश—परमेश्वर आच्छादित करता हुआ—व्याप्त करता हुआ स्थित है।' गीतामें भी कहा है—'**सूत्रे मणिगणा इव**' (गीता ७। ७) 'मैं (ईश्वर) मणियोंके दानोंमें पिरोया हुआ सूत्रके समान सभी तत्त्वोंमें ओतप्रोत होकर स्थित हूँ।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म ही सबके अधिष्ठानके रूपमें सर्वत्र अखण्डरूपमें विद्यमान है। सिद्धान्ततः अधिष्ठानकी ही सत्ता मानी गयी है, अध्यस्त वस्तुओंकी नहीं। अतः ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु है, शेष सब असत्य वस्तु है।.

ऋषि प्रजापति परमेष्ठीने ऋग्वेदमें जगत्के मूलतत्त्वकी व्याख्या करते हुए कहा है कि—'**आनीदवातं स्वधया तदेकम्**' (ऋ० १०। १२९। २) 'सृष्टिके पूर्व एक ही वस्तु (ब्रह्म) वायुके बिना अपनी शक्तिसे श्वास ले रही थी।' वस्तुतः वह तो ब्रह्मकी ही व्याख्या है, अन्य किसी वस्तुकी नहीं; क्योंकि सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें एकमात्र ब्रह्मकी ही सत्ता विद्यमान रहती है, अन्य किसीकी नहीं। जगत् तो उत्पत्ति और नाशवान् होनेसे अनित्य है, अलीक है। अतः मन्त्रमें सृष्टिकर्ता ब्रह्मतत्त्वको लक्ष्य करके ही ऐसा कहा है और जो श्वास लेनेकी बात कही गयी है, वह वस्तुतः चेतनत्वका ही द्योतक है।

अद्वयवादका समुज्ज्वल रूप हमें 'पुरुषसूक्त' में दिखायी देता है। उसमें कहा गया है कि—'**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्**' (ऋ० १०। ९०। २) 'यह जो वर्तमानकालिक जगत् है तथा जो जगत् व्यतीत हुआ है और आगे होनेवाला है—वे सब पुरुष (ब्रह्म)-रूप ही हैं।' इस ऋचाका भाव और औपनिषद वेदान्तका अद्वयवाद पूर्णतः साम्य रखनेके कारण अद्वयवाद वेदवाद है, यह सुनिश्चित है। ऋग्वेदकी एक ऋचामें कहा गया है कि—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १। १६४। ४६)

उस एक ही सद्वस्तु (ब्रह्म)-को ज्ञानी—मनीषीजन अनेक रूपोंमें कहते हैं, अर्थात् वर्णन करते हैं। उसी एक तत्त्वको ही मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम तथा मातरिश्वा आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। क्या वे सब एक ही हैं? नहीं, किंतु एक ही सद्वस्तु (ब्रह्म)-के ही वे अनेक नाम और रूप हैं।

उक्त मन्त्रसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि ब्रह्म एक ही है, अनेक नहीं—'**एकमेवाद्वितीयम्**'। परंतु मन्त्रमें अनेक देवताओंका नामोल्लेख भी किया गया है और फिर यह भी कहा गया है कि वह सब एक देवके ही वे अनेक नाम और रूप हैं। अतः कहा जा सकता है कि ऋग्वेदी ऋषि बहुदेवतावादी हैं और एक देवतावादी यानी एकेश्वरवादी भी हैं। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियोंने एकत्वमें बहुत्व और बहुत्वमें एकत्वका दर्शन किया था। बृहदारण्यक उपनिषद् (३। ९। १)-के एक प्रसंगमें इस देव-संकोचका भी संकेत मिलता है। जैसे कि जनक-सभामें शाकल्यने ब्रह्मविद्वरिष्ठ याज्ञवल्क्यसे पूछा कि कितने देव हैं? याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा कि तीन हजार तीन सौ छः। शाकल्यने पुनः पूछा कि कितने देव हैं? याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा कि तैंतीस। शाकल्यने पुनः पूछा कि देव कितने हैं? याज्ञवल्क्यने कहा छः हैं। शाकल्यने पुनः पूछा कि कितने

देव हैं? याज्ञवल्क्यने कहा कि तीन हैं। फिर शाकल्यने जब पूछा कि देव कितने हैं तो याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा कि डेढ़। शाकल्यने जब पुनः पूछा कि देव कितने हैं? तो याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा कि देव एक ही है। यह वस्तुतः ऋग्वेदके उक्त बहुदेवतावादका ही संकोच एकेश्वरवाद या अद्वयवादकी स्पष्ट व्याख्या है। इसलिये अन्य श्रुतिमें कहा भी है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेता० ६। ११)

'समस्त प्राणियोंमें एक ही देव है। वह सर्वव्यापक, सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें अवस्थित, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है।'

उस ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** (मुण्डक० ३। २। ९)। और वह आत्मज्ञानी शोक-सागरसे तर जाता है **'तरति शोकमात्मवित्'** (छा० ७। १। ३) तथा अक्षय परमपद (मोक्ष)-को प्राप्तकर महिमान्वित हो जाता है। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती **'तेषां न पुनरावृत्तिः'** (बृह० ६। २। १५)। वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है। यही वेदके अद्वयवादका सनातन सिद्धान्त है।

सृष्टिका प्रथम धर्मोपदेश—तप

सृष्टि हुई नहीं थी। अनन्त अपार कारणाब्धि—कारण-द्रव्य और उसमें सृष्टिके मूल अधिदेवताका उद्भवमात्र। इसीको पौराणिक भाषामें कहते हैं कि कारणार्णवशायी श्रीनारायणकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उस कमलपर सृष्टिकर्ता चतुर्मुख अरुणवर्ण ब्रह्माजी प्रकट हुए। सर्जनोन्मुख प्रकृतिकी साम्यावस्था भङ्ग हुई थी। सत्त्वके अधिदेवताकी योगनिद्रा टूटी और उन्होंने ही रजोगुणको स्वीकार करके ब्रह्माका रूप लिया। भगवान् नारायणकी ही दूसरी मूर्ति हैं—ब्रह्माजी।

रजोगुण क्रियोन्मुख है। रजस्के अधिदेवताको कुछ करना चाहिये। किंतु करें क्या? कैसे करें? असीम कारणवारि तथा आसनभूत ज्योतिर्मय लोकपद्म—न कोई उपकरण और न क्रियाका बोध। सृष्टि करना है, किंतु कैसी सृष्टि? किन उपकरणोंसे? किस प्रकार? कुछ ज्ञान नहीं था।

स आदिदेवो जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।
तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत्॥ (श्रीमद्भागवत २। ९। ५)

'जगत्के परम गुरु आदिदेव ब्रह्मा अपने जन्मस्थान कमलपर बैठे सृष्टि करनेकी इच्छासे विचार करने लगे, किंतु सृष्टिके निर्माणके लिये वाञ्छित ज्ञानदृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई।'

स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भस्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः॥ (श्रीमद्भागवत २। ९। ६)

'प्रलयसमुद्रमें एकाकी बैठे सृष्टिकी चिन्ता करते हुए अव्यक्त परमात्माके द्वारा उच्चरित वाणीका वह उपदेश दो बार सुना। व्यञ्जनोंमें सोलहवें 'त' तथा इक्कीसवें 'प' से बना वह उपदेश 'तप' वही है, जो निष्किञ्चन त्यागियोंका परम धन कहा गया है।'

ज्ञान अन्तरमें है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप परमात्मा तो अपने भीतर ही है। अन्तःकरणकी शुद्धता एवं एकाग्रता अपेक्षित है, उस ज्ञानस्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिये और वह सृष्टिकर्ताको भी अपेक्षित थी। उसकी प्राप्तिका साधन है—तप।

सृष्टिमें धर्मोपदेशके नामपर जो प्रथमोपदेश है, वह है—तप। सम्भवतः इसीलिये देवर्षि नारदने पार्वतीजीसे कहा था—

तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जियँ जानी॥

धर्मका क्षेत्र

(आचार्य श्रीगंगारामजी शास्त्री)

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रारम्भमें कहा गया है—'**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**।' कर्मका क्षेत्र तो पूरा संसार है, पर धर्मके क्षेत्रके अन्तर्गत क्या कुछ आता है, आ सकता है और आना चाहिये? इसपर विचार करनेकी वर्तमान समयमें आवश्यकता है। धर्मको चतुर्विध पुरुषार्थमें प्रथम गिना गया है, और धर्मको सर्वोपरि मानकर कहा गया है—

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

(महा०, स्वर्गा० ५। ६२)

अर्थात् धर्मके सेवनसे ही अर्थ-धन-समृद्धि और समस्त अभीप्सित पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, धर्मसे ही कामनाओंकी पूर्ति होती है, फिर उस एक ही धर्मका सेवन क्यों न किया जाय?

इस प्रकार संसारयात्राके लिये पुरुषार्थत्रयकी आवश्यकता होती है। चौथेका सम्बन्ध तो अध्यात्मस्तरके लिये है। कहा भी गया है—'**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**।' शास्त्रानुमोदित कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी कामना करनी चाहिये।

धारणार्थक '**धृञ्**' धातुसे '**धर्म**' शब्द बनता है। धर्मकी अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं, जिनमें यहाँ केवल दोका उल्लेख किया जा रहा है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।

(महा०, शा० १०९। ११)

जो प्रजाको धारण करे, वह धर्म है। इसका आशय यह हुआ कि व्यक्ति, परिवार, परिजन, पुरजन, समाज और सम्पूर्ण प्रजा—मानवमात्रको जो धारण करे तथा जिन नियमोंके द्वारा परिवार, गाँव, नगर और देश एवं विश्वकी व्यवस्था सुचारुरूपसे चलती रहे और समाजके वे नियम जिनसे व्यक्तिके जीवनमें सामंजस्य बना रहे, समष्टिसे उसके सम्बन्ध मधुर रह सकें, उन्हींको 'धर्म' कहा गया है।

दूसरी परिभाषा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् मनुष्य जिन कार्योंके द्वारा जिस आचरणसे जीवनमें प्रगति करते हुए—उन्नति करते हुए कल्याण प्राप्त करे, वही धर्म है।

उक्त परिभाषाओंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजको व्यवस्थित और संचालित करनेवाले वे सभी नियम, जिनसे व्यक्ति बिना किसी रुकावटके अपनी उन्नति करते हुए समाजका, परिवारका और विश्वका कल्याण सम्पादन करनेके साथ कल्याणमार्गका पथिक बनता है, जिन नियमोंके अपनानेसे समाजमें, देशमें और विश्वमें संघर्षके स्थानपर सामंजस्यकी स्थापना होकर सुख-शान्तिका मार्ग प्रशस्त होता है, उसीको 'धर्म' नामसे अभिहित किया गया है। यही कारण है कि इस सार्वदेशिक और सार्वकालिक स्वीकार्य धर्मको 'सनातनधर्म' का नाम दिया गया। इस धर्मका उद्देश्य ही है प्राणिमात्रके परम हितके लिये सचेष्ट रहना, तभी तो इसमें कितनी उदात्त भावनाएँ प्रकट की गयी हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥

अर्थात् 'सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सबका कल्याण हो। इस पृथ्वीपर कोई भी दुःखी न रहे।'

वेदके उपदेश और प्रार्थनाएँ केवल हिन्दुओंके लिये ही नहीं हैं, अपितु वे तो मानवमात्रके लिये हैं—प्राणिमात्रके लिये हैं—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।

(यजुर्वेद २६। २)

'इस कल्याणकारिणी वाक्‌का उपदेश सभीके लिये है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रके साथ ही यह उपदेश अपने और पराये सभीके लिये है। उनके लिये भी है जिनके साथ भाषाका आदान-प्रदान नहीं है, जिनकी भाषा भिन्न है, जो हमसे अलग रहते हैं, जो वन, पर्वत और गुफाओंमें रहते हैं। यह वाणी सबका कल्याण करनेवाली है।'

इस सनातनधर्मकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसे आचरणसे जोड़ा गया है। कहा गया है—'**आचारः परमो धर्मः**।' व्यक्तिका आचरण, उसका व्यवहार ही धर्मकी

कसौटी है। आचार देश-कालके अनुसार भिन्न हो सकते हैं, इसीलिये मनुस्मृतिमें कहा गया है—

देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान्।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः॥

मनु महाराजने इस शास्त्रमें देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, पाषण्डधर्म और गणवर्गविशेषके धर्मोंका वर्णन किया है।

महाभारतकारने इसीलिये कहा है—

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(महा०, वन० ३१३। ११७)

तैत्तिरीयोपनिषद्में भी अन्तेवासीको यही उपदेश दिया गया है कि जो आचरण और व्यवहार सदाचारी, विद्वान् और समाजके आदर्श व्यक्ति करें, वही तुम्हें करना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतमें धर्मकी जो अवधारणा प्राचीन कालसे रही है और उसका क्षेत्र जितना व्यापक रहा है, वैसा संसारके परवर्ती धर्मोंके सम्बन्धमें नहीं है। अंग्रेजीके 'रेलीजन' और उर्दूके 'मज़हब'को धर्मका पर्याय मान लेनेसे समाजमें बहुत भ्रम फैला है। भारतमें धर्मकी अवधारणा इससे कहीं व्यापक है। यहाँ व्यक्तिके आचरणको धर्म कहा गया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ६। ९२)

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं। इन दसों लक्षणोंका सम्बन्ध व्यक्तिके आचरणसे है। ये नियम सामान्य और किसी भी व्यक्तिके लिये इतने अनुकरणीय हैं कि विश्वके किसी भी कोनेमें रहनेवाला मानव यदि इनके अनुसार आचरण करता है तो वह धर्मका पालन करनेवाला है, धर्मात्मा है, भले ही उसकी उपासना-पद्धति कोई भी क्यों न हो। मनुस्मृतिमें कहा गया है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

(२। १)

'नित्य ही राग-द्वेषसे रहित रहनेवाले सदाचारी विद्वान् जैसा आचरण करते हैं और जो हृदयसे ग्राह्य प्रतीत हो, वही धर्म है।'

धर्मके क्षेत्रमें शील एवं सदाचारको ही प्रमुख कहा गया है। शीलके विषयमें बताया गया है कि ब्रह्मण्यता, देव-पितृभक्ति, सौम्यता, दूसरोंका ध्यान रखते हुए उन्हें कष्ट न देना, ईर्ष्या न करना, मृदुता, कठोरतारहित होना तथा मन, वचन एवं कर्मसे किसीके प्रति कठोर न होना, मैत्री-भाव, प्रिय बोलना, कृतज्ञता, शरण्यता—दूसरोंको सहायता देकर आश्रय देना, करुणा और प्रशान्ति—ये सब शीलके अन्तर्गत आते हैं।

मनुस्मृतिमें एक नहीं अनेक बार इस बातको दुहराया गया है कि धर्म वही है जो स्वयंको अच्छा लगे। '**स्वस्य च प्रियमात्मनः**' जो अपनेको प्रिय हो। सनातनधर्मके इतने अधिक उदारवादी होनेके कारण ही यहाँ सगुणोपासक, निर्गुणोपासक, शैव, शाक्त, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, बौद्ध, जैन, नानकपंथी, कबीरपंथी, सहजिया-सम्प्रदाय आदि सभीको समानभावसे देखा गया और कह दिया गया—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

'जिस प्रकार सभी नदियाँ चाहे वे पूर्वकी ओर बहती हों अथवा उत्तर, पश्चिम और दक्षिणकी ओर—सभीका गन्तव्य समुद्र ही है, उसी प्रकार अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जो जिस प्रकार भी आराधना—उपासना करता है, उन सबका आराध्य वह ईश्वर एक ही है।'

यूरोपके इतिहासपर दृष्टि डालनेपर हम पाते हैं कि वहाँ कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटके झगड़े चलते रहे और धर्मके क्षेत्रमें असहिष्णुताका वह नग्न नृत्य होता रहा कि उस सत्यके बड़े-से-बड़े अनुयायी और अनुसंधान-कर्ताको भी धर्माचार्योंने दण्डित केवल इसलिये किया कि उनकी मान्यता बाइबिलसे मेल नहीं खाती। काफिरोंके विरुद्ध जिहाद छेड़नेके स्थानपर भारतने प्राचीन कालसे लेकर अबतक प्रेम और करुणाके संदेशके साथ ही देश-विदेशमें धर्मका प्रचार किया है। संसारका कौन-सा धर्म है जो यह घोषणा करता हो—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

जो तर्कके द्वारा धर्मका अनुसंधान करता है, वही धर्मको जानता है, दूसरा नहीं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही तो कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

धर्मका रहस्य जानना हो, ज्ञानको समझना हो तो तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाओ। उन्हें प्रणाम करो, उनकी सेवा करो और जबतक संशय दूर न हो प्रश्नोंकी झड़ी लगा दो, बार-बार प्रश्न-पर-प्रश्न करो। संसारके कितने धर्म-प्रचारक हैं जो तर्ककी कसौटीपर कसे जाने और प्रश्न-पर-प्रश्न करनेकी इजाजत देते हैं।

दर्शन और उपासनाके क्षेत्रमें जितने भी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने ज्ञानके सम्बन्धमें अथवा उपासना-पद्धतिके सम्बन्धमें कुछ नवीन योगदान दिया है, उनके नामपर अथवा उनके द्वारा निर्देशित प्रणालीके नामपर उनके अनुयायियोंने अपने अलग सम्प्रदाय बनाये। इस प्रकार उपासनाकी विधियोंके अनुसार शैव, शाक्त और वैष्णवोंके अनेक सम्प्रदाय हो गये। सम्प्रदायका अर्थ भी 'भलीभाँति देना' होता है। पर न जाने कैसे और किस प्रकार सम्प्रदायका अर्थ मज़हबी तअस्सुब ले लिया गया और साम्प्रदायिकताको धर्मके क्षेत्रमें अपशब्दके रूपमें प्रयुक्त किया जाने लगा। इसी प्रकार धार्मिक कट्टरपन और धर्मान्धता—जैसे शब्द धर्मके क्षेत्रमें खर-पतवारकी भाँति उगा दिये गये। अंग्रेजोंके आनेके पहलेतक भारतमें कभी भी देशी-विदेशी और अल्पसंख्यक, बहुसंख्यककी विभाजन-रेखाकी कल्पना भी नहीं रही। मुसलमानोंके पहिले जितने भी विदेशी इस भूमिपर आये, वे इस देशकी मिट्टीमें उसी प्रकार एकरस हो गये जैसे कि पानीमें नमक। भारतीयोंकी ओरसे कभी भी 'स्व' और 'पर' का भेदभाव नहीं किया गया।

राजनीतिके क्षेत्रमें जबसे अंग्रेजोंके अनुकरणपर हमारे देशी राजनेताओंने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी, तभीसे यहाँ धर्मके नामपर खींची जानेवाली विभाजक-रेखा अधिक गहरी और प्रगतिके पथपर एक बाधाके रूपमें स्पष्ट होती जा रही है।

एक समय था जब मनुने घोषणा की थी कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् 'इस देशमें उत्पन्न हुए अग्रजन्मा मनीषियोंसे पृथ्वीभरके सभी मानव अपने-अपने चरित्रकी सीख लें।' ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ सीखनेके लिये चरित्रका प्रयोग किया गया है, धर्मका नहीं, उपासनाका नहीं और ज्ञानका भी नहीं, क्योंकि ये सभी तो चरित्रके निर्माणसे ही बनते हैं।

देशका दुर्भाग्य यह है कि कुरान और बाइबिलके समान ही हमारे वेदोंको 'मज़हब' का ग्रन्थ मान लिया गया है। हमारे राम और कृष्णको मानवमात्रके लिये अनुकरणीय चरित्रके स्थानपर 'मज़हबी' देवता करार दे दिया गया है, पुराणों और महाभारतके आदर्श चरितोंको धर्म-प्रचारकी कहानियाँ मान लिया गया है, जबकि इन सबका उद्देश्य मानवके आदर्श चरित्रका निर्माण करना है। आज जब पाठ्यपुस्तकोंमें प्रार्थनाके किसी अंशको सम्मिलित करनेका प्रश्न उठता है तो देखा जाता है कि उसमें कहीं ईश्वरका समावेश तो नहीं हो गया है। यह नहीं देखा जाता कि सर्वोत्तम अंश कौन-सा है, सामूहिक प्रार्थनाके भाव किसमें श्रेष्ठ है। '**आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः**'—हममें सभी ओरसे सद्विचारोंका समावेश हो। अथवा—

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳश‍ृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्। (यजुर्वेद ३६। २४)

'हम सौ वर्षतक देखें, हमारी दृष्टि सौ वर्षपर्यन्त मन्द न हो, हम शतायु हों, हमारे कानोंमें सौ वर्षतक सुननेकी शक्ति रहे, सौ वर्षतक हमारी वाणी प्रकर्षसहित काम दे, हम पराधीन न हों, किसीके आश्रयकी आशा न करते हुए दैन्यरहित होकर सौ वर्षसे भी अधिक जीवित रहें।' इत्यादि उदात्त आदर्श और समष्टिकी कल्याणकामनाका शुभसंकल्प सनातन भारतीय परम्पराके अतिरिक्त क्या अन्य कहीं है? अतः हम क्यों न साथ मिलकर कहें—

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय।

सनातनधर्म सार्वभौम धर्म है

(डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०, डी०एस्-सी०)

अखिल विश्वमें प्राणीमात्रका कल्याणकारक, अनादि, अनन्त, सदा एकरस तथा ईश्वरीय धर्म एक ही है, जिसे सनातनधर्मके नामसे जाना जाता है। सनातनधर्मसे हटकर अन्य जितने भी 'धर्म' नामसे व्यवहृत होनेवाले मत-मतान्तर हैं, उन्हें धर्म न कहकर धर्माभास मात्र कहना अधिक समीचीन है; क्योंकि ये सब न अनादि हैं न अनन्त। ये जिस प्रकार एक दिन अस्तित्वमें आये, उसी प्रकार एक दिन सतत परिवर्तित होते हुए कब, कहाँ विलीन हो जायँगे, कोई नहीं जानता। यह भी ज्ञातव्य है कि विश्वमें प्रचलित तथाकथित सभी धर्मोंके संस्थापकोंका विवरण आज समुपलब्ध हो जाता है, परंतु एकमात्र सनातनधर्म ही ऐसा धर्म है, जिसके न आदिका पता है, न अन्तका और न ही प्रवर्तकका। यह साक्षात् भगवद्धर्म ही है।

सनातनधर्म कबसे चला आ रहा है, यह कोई नहीं बता सकता। भगवान् श्रीकृष्णके समयमें भी यह विद्यमान था और उससे पूर्व त्रेतायुगमें भगवान् श्रीरामके समय भी यह विद्यमान था। यही नहीं, इससे भी बहुत वर्ष-पूर्व महाराज हरिश्चन्द्र, स्वायम्भुव मनु, महर्षि कश्यपादिके समय भी यह उसी प्रकार प्रचलित था, जैसे आज है। इस प्रकार संसारका इतिहास जहाँतक साक्षी देता है, वहाँतक सनातनधर्मकी विद्यमानता यह सिद्ध करती है कि सनातनधर्म अनादि है। वेदोंको विश्वका आदि ग्रन्थ माना जाता है, उनमें सनातनधर्मका उल्लेख उसकी सृष्टिके आदिम क्षणोंमें विद्यमानता सिद्ध कर देती है कि यह अनादि है।

पुराणोंमें सनातनधर्मका उल्लेख उसकी प्राचीनताका परिचायक है। श्रीमद्भागवतमें राजा युधिष्ठिरने देवर्षि नारदसे सनातनधर्मके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनेके लिये पूछा था—

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। २)

अर्थात् 'हे भगवन्! मैं वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र), आश्रम—(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) तथा आचारयुक्त मनुष्योंका सनातनधर्म सुनना चाहता हूँ। जिसके पालन करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

यह सुनकर नारदजीने कहा था—

वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ५)

अर्थात् 'हे राजन्! मैं तुम्हें साक्षात् श्रीमन्नारायणके मुखसे सुना हुआ सनातनधर्म कहता हूँ' और इसके पश्चात् उन्होंने सनातनधर्मका दिग्दर्शन इस प्रकार कराया—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ८—१२)

अर्थात् धर्मके तीस लक्षण शास्त्रोंमें कहे गये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम (निरोध), इन्द्रिय-निग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शिता, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंसे उपरति, मानवके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल उलटा ही होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंको अन्नादिका यथोचित विभाजन, सभी प्राणियों तथा विशेषतः मनुष्योंमें अपने आत्मा तथा इष्टदेवका भाव, भगवान् श्रीकृष्णके नाम, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—ये तीस प्रकारके आचरण सभी मनुष्योंके परम धर्म हैं। इसके पालनसे सर्वात्मा प्रभु प्रसन्न होते हैं।

इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्रोंमें धर्मके प्रमुख दस लक्षण गिनाये गये हैं, जिनमें उपर्युक्त सभीका अन्तर्भाव हो जाता है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

मनुस्मृतिमें धर्मके सम्बन्धमें लिखा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २। १२)

अर्थात् वेदमें जिन-जिन आचार-विचारोंके पालन अथवा त्यागकी आज्ञा हो, धर्मशास्त्र विधि-निषेधरूपेण जिनका समर्थक हो तथा पुराण एवं इतिहासद्वारा जिन कर्मोंके सदाचरित होनेका साक्ष्य मिलता हो तथा अपनी अन्तरात्मा भी जिनके अनुष्ठानमें कल्याणकी अनुभूति करती हो, वही धर्म अथवा सनातनधर्म है।

सनातनधर्म न केवल अनादि है, अपितु अनन्त भी है। विश्वके इतिहासके अध्ययनसे विदित होता है कि समय-समयपर कई मानव-कल्पित मत-मतान्तर संसारमें जन्म तो लेते हैं, परंतु उनका अस्तित्व कालके प्रवाहमें विलीन हो जाता है।

सनातनधर्मको न हिरण्याक्ष मिटा सका न हिरण्यकशिपु। न रावण इसका बाल बाँका कर सका, न कंस या कालयवन। नादिरशाह, तैमूरलंग तथा औरंगजेब आदिकी तलवारें वर्षोंतक इसे मिटानेके लिये चलती रहीं, परंतु आज भी संसारमें सनातनधर्मकी अन्तरंग धारा अजस्र-रूपसे प्रवाहित है।

सनातनधर्म शब्दके साथ किसी ऋषि, मुनि, देवता या अवतारका नाम जुड़ा हुआ नहीं है, अतः निर्विवादरूपसे कहा जा सकता है कि सनातनधर्म ईश्वरीय धर्म है। विश्वके सभी तथाकथित धर्मोंमें समय-समयपर परिवर्तन, परिवर्धन एवं संशोधन होते रहे हैं, होते रहेंगे, परंतु सनातनधर्म सदा एकरस रहता है।

सनातनधर्म प्राणिमात्रको शान्तिका उपदेश देता है। विभिन्न प्रकृतिवाले सभी मनुष्योंको उनकी योग्यताके अनुसार एवं परिस्थितिके अनुकूल धर्माचरणका विधान कर सबके लिये मोक्ष-प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त करता है।

सनातनधर्मके सर्वमान्य ग्रन्थ हैं—वेद। ये अनादि, अनन्त, अपौरुषेय, सदा एकरस एवं प्राणिमात्रके कल्याणकारक हैं। वेदोंके गूढार्थको सरल रीतिसे समझानेके लिये त्रिकालज्ञ महर्षियोंने जो धर्मशास्त्र तथा पुराणादि ग्रन्थ रचे, वे भी वेदानुसारी होनेके कारण सनातनधर्मके मान्य ग्रन्थ हैं।

सनातनधर्मके मुख्य-रूपसे दो विभाग हैं—(१) आचार-विभाग, (२) वर्णाश्रम-विभाग। आचार-विभागका दूसरा नाम है—साधारण धर्म। यह विभाग सनातनधर्मका मुख्य विभाग है। महाभारत, अनुशासनपर्वके अनुसार आचार ही मुख्य धर्म है—'**आचारः प्रथमो धर्मः।**'

जो मनुष्य सनातनधर्मकी शरणमें रहकर इस लोकको सुखमय और परलोकको कल्याणमय बनाना चाहता है, उसे इन निर्दिष्ट नियमोंका पालन अनिवार्यतः करना चाहिये—'**सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। श्रद्धया देयम्।**

अर्थात् सत्य बोलो। धर्मका आचरण करो। प्रमाद (आलस्य तथा लापरवाही)-रहित होकर यथाधिकार धर्म-ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो। धर्मसे नहीं डिगना चाहिये। देव-कार्य तथा पितृ-कार्यसे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। माता, पिता, आचार्य तथा अतिथिकी सेवा करनेवाले बनो। श्रद्धापूर्वक दान दो। तथा—

अक्षैर्मा दीव्यः। (ऋक्० १०। ३४। १३), **न परस्त्रियमुपेयात्** (तैत्तिरीय० १। १। ८। ९), **मा गामनागामदितिं वधिष्ट** (ऋ० ६। ८७। ४), **न माꣳसमश्नीयात्** (तैत्तिरीय० १। १। ९। ७), **न सुरां पिबेत्** (तैत्तिरीय० १। १। ९। ७), **मा गृधः कस्य स्विद्धनम्** (यजु० ४०। १), **क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳस्मर** (यजु० ४०। १५), **दमस्तपः। शमस्तपः। दानं तपः। यज्ञस्तपः। ब्रह्म भूर्भुवः स्वर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।** (तै० १०। ८)

अर्थात् जुआ न खेलो। परस्त्री-संग न करो। निरपराध, उपकारी गौकी हत्या न करो। मद्य-मांसका सेवन न करो। पराये धनका लालच न करो। यज्ञादि कर्मोंको याद रखो। अपनी सामर्थ्य और दूसरेके उपकारको याद रखो। इन्द्रियोंको वशमें रखना तप है। सुपात्रको दान देना तथा यज्ञ करना तप है। **भूः भुवः स्वः**—ये तीनों लोक ब्रह्ममय हैं, यह समझकर सब जीवोंका हित करना सबसे बड़ा तप है।

महर्षि याज्ञवल्क्य सर्वसामान्यके लिये धर्मका निर्देश करते हुए कहते हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

(याज्ञवल्क्य० १। १२२)

अर्थात् अहिंसा (मन, कर्म, वाणीसे किसी प्राणीको कष्ट न देना), सत्य (सच्चा व्यवहार रखना), अस्तेय (दूसरोंकी वस्तुएँ न चुराना), शौच (पवित्र रहना), इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियोंको वशमें रखना), दान (सुपात्रको सात्त्विक दान देना), दया (प्राणिमात्रपर कृपा-भाव रखना), दम (मनको वशमें रखना), शान्ति (सहनशीलता)—ये नौ गुण सर्वसाधारणके लिये धर्मके साधन हैं।

सनातनधर्म एक अद्वितीय, त्रिकालाबाधित, सर्वशक्तिमान् सर्वगुणसम्पन्न परमात्माकी उपासनामें विश्वास रखता है और उसके साथ ही उस परमात्मासे उद्भूत देवताओंकी भी उपासना करता है।

सनातनधर्ममें देश, काल, व्यक्ति एवं परिस्थितिके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको योग्यताके अनुरूप ही उपासनाकी विधि बतायी जाती है। सनातनधर्मके मान्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवतमें उपासनाकी नौ विधियाँ इस प्रकार बतायी गयी हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

अर्थात् (१) भगवान्की लीलाओंका श्रवण करना, (२) भगवन्नाम तथा लीलाओंका कीर्तन करना, (३) भगवान् श्रीमन्नारायणके विभिन्न नामोंका जाप अथवा स्मरण करना, (४) भगवच्चरणोंकी सेवा करना, (५) अर्चन अर्थात् प्रतिमाका पञ्चोपचार, षोडशोपचार पूजन करना, (६) वन्दन-स्तुति करना, (७) दास्य—सेवककी भाँति सारे कार्य प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही करना, (८) सख्य—प्रभुको अपना सखा मानकर उनसे तद्वत् व्यवहार करते हुए उन्हें रिझानेकी चेष्टा करना और (९) सर्वात्मना स्वयंको प्रभुके समर्पित कर देना।

सनातनधर्म शुचितामें पूर्ण आस्था रखता है, अतः सभी पावन कार्योंके पूर्व पवित्र हो जानेका विधान करते हुए यह स्पष्ट रूपमें निर्देश करता है कि प्रतिदिन स्नानद्वारा पवित्र होकर तदनन्तर देव-ऋषि-पितृ-तर्पण करना चाहिये तथा देवविग्रहका अर्चन और अग्निहोत्रादि कर्म करने चाहिये—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

(मनु० २। १७६)

—इसके साथ ही सनातनधर्म ऋषियों, देवताओं, पितरों, मनुष्यों तथा अन्य कीट-पतंगादिकी तृप्तिके लिये यथाविधि पञ्चमहायज्ञ करनेका निर्देश अपने सभी अनुयायियोंको देता है। प्रत्येक व्यक्तिको नित्य नियमपूर्वक ये यज्ञ इस प्रकार करने चाहिये—

स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥

१-ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंके स्वाध्यायद्वारा ऋषियज्ञ, २-सविधि विभिन्न हवनोंद्वारा देवयज्ञ, ३-मृत पितरोंके श्राद्ध-तर्पणादिद्वारा पितृयज्ञ, ४-आगत—अभ्यागतोंका भोजनादिद्वारा सम्मान कर नृयज्ञ तथा ५-वैश्वदेवविधिसे पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि जीवोंके निमित्त यथोचित बलि-प्रदान-द्वारा भूतयज्ञ करके मानव निज जीवनको सार्थक बना सकता है।

सनातनधर्मने तीर्थयात्रा, तीर्थसेवनका विधान समग्र भारतको एक सूत्रमें पिरोने, मानवके पाप धोने तथा उसे संसार-सागरसे पार होनेके लिये किया है। जहाँ सनातनधर्म शारीरिक शुद्धिके लिये स्नानादिका विधान करता है, वहीं शरीर-मन और इन्द्रियोंकी शुद्धिके लिये व्रतोपवासका महत्त्व प्रतिपादित करता है।

वेदानुयायी होनेके कारण सनातनधर्म जन्म-प्रधान वर्ण-व्यवस्थामें पूर्ण आस्था रखता है। वर्णव्यवस्थाके साथ-साथ सनातनधर्म ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रम-व्यवस्थाको भी अधिमान देता है।

इस प्रकार सनातनधर्म अपने हृदयके द्वार प्राणिमात्रके लिये अनावृत कर सतत उनके मङ्गल-विधानके लिये संनद्ध है। सनातनधर्म सार्वभौम धर्म है और आगे भी रहेगा; क्योंकि सच्ची शान्ति इसीकी शरणमें है।

धर्मशास्त्रीय धर्मका स्वरूप एवं उसमें विभिन्न स्मृतियोंका योगदान

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि)

भगवान् वेदव्यासने अपनी व्यासस्मृतिमें धर्मका प्रवर्तन करते हुए कहा है—

अशाश्वतानि गात्राणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

अर्थात् शरीर स्थायी नहीं है। धन आदि ऐश्वर्य सर्वदा एक-भावसे रहनेवाले नहीं हैं और मृत्यु नित्य निकटवर्ती है, ऐसी स्थितिमें संसारकी अनित्यताको जानकर धर्मका नित्य संग्रह करना चाहिये। भगवान् मनुने तो यहाँतक कहा है—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥

आशय यह है कि जीवके परलोकगमनके समय पिता, माता, पुत्र, भार्या और जातिके लोग—इनमेंसे कोई भी सहायताके लिये उपस्थित नहीं रहता है, केवल धर्म ही सहायक होता है।

सृष्टिक्रममें मानव-शरीर पूर्णताका बोधक है। मनुस्मृतिके अनुसार भगवान्ने अपने शरीरके विभिन्न अङ्गोंसे विभिन्न वर्णोंकी सृष्टि की—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥

अर्थात् सृष्टिकर्ताने संसारके सर्वाङ्गीण विकासके लिये अपने मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य और पादसे शूद्रको उत्पन्न किया; उनमें भी सृष्टिकी समस्त प्रक्रियाके संचालनके लिये स्त्री-पुरुषकी संरचना कर मन्वादि प्रजापतियोंके द्वारा संतान-परम्परामें वृद्धि की गयी। इन सबके जीवनका नियमन करनेके लिये धर्मशास्त्रकी परम्परा चली, उसमें भी प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग अपनाये गये।

यतः धर्मशास्त्रका मुख्य अधिकारी मानव-शरीर ही है, अतएव जगद्गुरु आद्यशंकराचार्यजीने ब्रह्मसूत्रीय भाष्यमें कहा है कि—'**मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य, शास्त्रमधिकरोति हि मनुष्यः**' अतएव विधिनिषेधात्मक वाक्य मानवमात्रके लिये ही होता है। शास्त्रके '**अहरहः संध्यामुपासीत**' तथा '**न कलञ्जं भक्षयेत**' ये विधि-निषेध-रूप वचन केवल मनुष्यमात्रके लिये हैं, पशु-पक्षियोंके लिये नहीं। अतः नीतिका यह उपदेश हमें सदा ध्यानमें रखना चाहिये, जिसमें कहा गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये सब पशु और मानवमें सामान्यरूपसे पाये जाते हैं। केवल धर्म ही दोनोंको पृथक् करनेवाला तत्त्व है। धर्मसे हीन मनुष्य तो पशुके समान ही है।

धर्म किसे कहते हैं?

मूलरूपसे वेदानुशासनका पालन करना ही धर्म है, मनुने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २। १२)

अर्थात् वेद, धर्मशास्त्र, सज्जनोंका आचार और आत्म-संतुष्टि—ये चार साक्षात् धर्मके लक्षण हैं। श्रुति भी कहती है—

'**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**', '**धर्मिष्ठं वै प्रजा उपसर्पन्ति लोके**'।

आशय यह है कि सम्पूर्ण संसारकी प्रतिष्ठा धर्म ही है। धर्मिष्ठ राजाका ही प्रजा अनुगमन करती है, अतः धर्म शाश्वत है, नियामक है। इसी श्रुतिका स्पष्ट अर्थ वसिष्ठस्मृतिमें इस प्रकार किया गया है—

'ज्ञात्वा चानुतिष्ठन् धार्मिकः प्रशस्यतमो भवति'

अर्थात् जो मनुष्य धर्मतत्त्वको जानकर उसका सेवन करता है, वह इहलोकमें धार्मिक कहलाता है।

इस विलक्षण धर्मका प्रचार-प्रसार करनेके लिये, वर्णों और आश्रमोंके अनुकूल संचालनके लिये श्रौतधर्मकी प्रतिष्ठा की गयी। उस श्रौतधर्मके सम्यक् पोषणार्थ श्रुतिविहित अनेक श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और स्मृतियोंकी महर्षियोंने रचना की। यथा—मानव-गृह्यसूत्र, मनुस्मृति, कात्यायन-श्रौतसूत्र, कात्यायन-गृह्यसूत्र, कात्यायनस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, आश्वलायन-

श्रौतसूत्र, आश्वलायन-गृह्यसूत्र, आश्वलायनस्मृति तथा आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र और आपस्तम्बस्मृति। ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं जो कालक्रमकी परिधिसे भिन्न हैं। अतः उनकी स्मृतियोंमें भिन्नता प्रतीत होती है। किंतु मूल तत्त्व एक ही उपन्यस्त रहता है। आचार्य ऋषिगण श्रुतियोंका मन्थन करके धर्मशास्त्रके तत्त्वका संकलन करते थे। वे स्वयं अपने जीवनमें उस सदाचारको उतारते थे, इसीलिये उन्हें 'आचार्य' कहा जाता था—

आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यश्च आचार्यः स निगद्यते॥

—इन गुणोंसे सम्पन्न आचार्य ही मार्गनिर्देशनके अधिकारी होते थे। जिन आचार्योंने धर्मशास्त्रके विभिन्न अङ्गोंका परिवर्धन किया, उस विषयमें याज्ञवल्क्यस्मृतिमें दो श्लोक उपनिबद्ध हैं—

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती॥
पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

(१। ४-५)

अर्थात् मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ—ये आचार्य धर्मके प्रयोजक हैं।

पराशरस्मृतिमें कश्यप, गर्ग तथा प्राचेतस—ये तीन नाम अधिक पाये जाते हैं। किंतु उपर्युक्त संख्या ही इयत्ताकी बोधक नहीं है। इनके साथ ही और भी बहुतसे आचार्य हुए हैं, जिनके नामसे स्मृतियाँ प्रसिद्ध हुई हैं। यहाँ कुछका उल्लेख किया जाता है—

(१) मनुस्मृति, (२) वृद्धमनुस्मृति, (३) याज्ञवल्क्यस्मृति, (४) वृद्धयाज्ञवल्क्यस्मृति, (५) अत्रिस्मृति, (६) विष्णुस्मृति, (७) बृहद् विष्णुस्मृति, (८) हारीतस्मृति, (९) लघुहारीतस्मृति, (१०) औशनसस्मृति, (११) [क] औशनसस्मृति, [ख] औशनसस्मृति, (१२) आंगिरसस्मृति, दूसरी आंगिरसस्मृति, (१३) यमस्मृति, (१४) बृहद् यमस्मृति, (१५) आपस्तम्बस्मृति, (१६) संवर्तस्मृति, (१७) कात्यायनस्मृति, (१८) बृहस्पतिस्मृति, (१९) पराशरस्मृति, (२०) बृहत् पाराशरीय धर्मशास्त्र, (२१) व्यासस्मृति, (२२) शंखस्मृति, (२३) लघुशंखस्मृति, (२४) लिखितस्मृति, (२५) शंख-लिखितस्मृति, (२६) दक्षस्मृति, (२७) गौतमस्मृति, (२८) शातातपस्मृति, (२९) दूसरी शातातपस्मृति, (३०) वृद्धशातातपस्मृति, (३१) वसिष्ठस्मृति, (३२) वृद्धवसिष्ठस्मृति, (३३) प्रजापतिस्मृति, (३४) देवलस्मृति, (३५) दूसरी देवलस्मृति, (३६) गोभिलस्मृति, (३७) लघु आश्वलायनस्मृति, (३८) नारदस्मृति, (३९) सुमन्तुस्मृति, (४०) मार्कण्डेयस्मृति, (४१) प्राचेतसस्मृति, (४२) पितामहस्मृति, (४३) मरीचिस्मृति, (४४) जावालस्मृति, (४५) पैठीनसस्मृति, (४६) शौनकस्मृति, (४७) कण्वस्मृति, (४८) षट्त्रिंशन्मुनिस्मृति, (४९) चतुर्विंशतिमुनिस्मृति, (५०) उपमन्युस्मृति, (५१) कश्यपस्मृति, (५२) लौगाक्षिस्मृति, (५३) क्रतुस्मृति, (५४) पुलस्त्यस्मृति, (५५) शाण्डिल्यस्मृति और (५६) मानव-गृह्यसूत्र।

उपर्युक्त अनेक ग्रन्थोंमें मुख्यरूपसे इन प्रकरणोंपर विचार किया गया है—

(१) धर्मप्रकरण, (२) सृष्टिप्रकरण, (३) देश-प्रकरण, (४) ब्राह्मण-प्रकरण, (५) क्षत्रिय-प्रकरण, (६) राज-प्रकरण, (७) व्यवहार तथा राजदण्ड-प्रकरण, (८) वैश्य-प्रकरण, (९) शूद्र-प्रकरण, (१०) ब्रह्मचारिप्रकरण, (११) गृहस्थ-प्रकरण, (१२) विवाह-प्रकरण, (१३) स्त्री-प्रकरण, (१४) पुत्र-प्रकरण, (१५) जाति-प्रकरण, (१६) धन-विभाग-प्रकरण, (१७) दान-प्रकरण, (१८) श्राद्ध-प्रकरण, (१९) अशौच-प्रकरण, (२०) शुद्धाशुद्ध-प्रकरण, (२१) प्रायश्चित्त-प्रकरण, (२२) व्रत-प्रकरण, (२३) पाप-फल-प्रकरण, (२४) वानप्रस्थ-प्रकरण, (२५) संन्यासिप्रकरण और (२६) अध्यात्मज्ञान-प्रकरण।

—इन प्रकरणोंमें आचार, व्यवहार, धर्मनीति, राजनीति, राजधर्म, अनुशासन, धर्मानुसार दिनचर्या, स्त्री-पुरुषोंके सामान्य धर्म और विशेष धर्म, गर्भाधानादि संस्कार, पुत्रादिकोंके धर्म, सब पापोंके प्रायश्चित्त, कर्म-विपाक, वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि अनेक लोकमङ्गलकारी विषय प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार धर्मशास्त्रसे जन-जीवनका व्यावहारिक पक्ष पुष्ट होता है और सामाजिक दर्शन प्रभावित होता है। अतः देशके सांस्कृतिक पतनोन्मुख इस वातावरणमें धर्मशास्त्रकी आवश्यकता और उसका पालन अनिवार्य होना चाहिये।

धर्मशास्त्र और भारतीय मुद्राएँ

(डॉ० मेजर श्रीमहेशकुमारजी गुप्ता)

अनादि कालसे ही मनुष्य धर्मसे जुड़ा है। जीवनको सही मार्गपर चलानेके लिये वह धर्मशास्त्रको अपना मार्गप्रदर्शक समझता रहा है। प्राचीन कालसे ही राज्य एवं समाजपर धर्मका पूर्ण नियन्त्रण रहा है। राज्यकी अर्थव्यवस्थाके संचालनके लिये अनेक प्रकारकी धातु-मुद्राएँ प्रचलित हुईं, जिसपर उन-उन राजाओंका समय तथा राज्यका कोई प्रतीक चिह्न रहता रहा। धार्मिक राजाओंने अपनी मुद्राओं और सिक्कोंपर माङ्गलिक-प्रतीक—चिह्नोंको अंकित करवाया। जैसे एक बीजमें पूरा वृक्ष छिपा रहता है, वैसे ही इन प्रतीक—चिह्नोंमें धर्मका स्वरूप प्रतिबिम्बित हुआ है। हमारे धार्मिक उत्सवों, रीति-रिवाजोंमें धार्मिक चिह्नोंका उपयोग हुआ है। मुद्राओंपर प्राचीन कालसे ही धार्मिक चिह्नोंका अंकन होने लगा। ये प्रतीक (चिह्न) उस कालकी धार्मिक एवं सामाजिक स्थितिको भी बताते हैं।

भारतीय मुद्राओंपर भी कुछ विशेष धार्मिक प्रतीक प्राचीन कालसे ही अंकित होने लगे। ये धार्मिक प्रतीक हैं—स्वस्तिक, श्रीवत्स, शंख, ध्वज, चक्र, सूर्य, चन्द्र, तुलसी, पीपल-वृक्ष, कमल एवं कलश आदि।

यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण भारतीय सिक्कोंका विवरण दिया गया है, जिनपर इन धार्मिक प्रतीकोंका अंकन हुआ है—

[१] पञ्चमार्क (६०० ई०पू० से २०० ईसवीतक)—पञ्चमार्क सिक्के सबसे प्राचीन सिक्के माने जाते हैं, जिनपर अलग-अलग पाँच चिह्न अंकित रहते हैं। अभीतक मुद्राशास्त्रियोंद्वारा लगभग पाँच सौसे ज्यादा चिह्न खोजे जा चुके हैं, जो इन सिक्कोंपर मिलते हैं। पहले सारे भारतवर्षमें इनका प्रचलन था। एक सिक्केका विवरण इस प्रकार है—

धातु—चाँदी, वजन ३.२ ग्राम, आकार गोल २ से०मी०।

अग्रभाग—अग्रभागमें सूर्य, वृक्ष, स्वस्तिक, मकार एवं ध्वज-चिह्न अंकित है।

पृष्ठभाग—पृष्ठभागमें तीन गोलाकार चिह्न आपसमें एक सीधी रेखासे जुड़े हुए हैं।

[२] तक्षशिला—(३५० ई०पू० से १५० ई० तक)—प्राचीन भारतका प्रमुख नगर तक्षशिला जो इस समय पाकिस्तानमें स्थित है, अपने प्राचीन सिक्कोंके लिये एक विशेष स्थान रखता है। भारतवर्षमें सर्वप्रथम ठप्पेसे सिक्के यहीं तैयार किये गये। यहाँ लिपिवाले एवं बिना लिपिवाले दो प्रकारके सिक्के मिलते हैं—

धातु—ताँबा, वजन ११.२ ग्राम, आकार चौकोर १.८ से०मी०।

अग्रभाग—मेरुपर्वत, वृक्ष, मकार और स्वस्तिक।

पृष्ठभाग—कोई चिह्न नहीं है।

[३] एरण—(३०० ई०पू० से १५० ईसवीतक) बीना म०प्र० के पास स्थित एक प्राचीन वैभवशाली नगर था, जिसके सिक्के भारतीय मुद्राशास्त्रमें बेजोड़ माने गये हैं। गुप्तकालमें इसका बहुत विकास हुआ।

धातु—ताँबा, वजन ७.५ ग्राम, आकार चौकोर १.६ से०मी०।

अग्रभाग—एक बड़ा-सा सुन्दर बनावटवाला स्वस्तिक, जिसके छोरपर मकार बने हैं।

पृष्ठभाग—खड़ी हुई स्त्री, ध्वज एवं षट्चक्र।

[४] कौशाम्बी (३०० ई०पू०) आधुनिक इलाहाबादसे ३७ कि०मी० दक्षिण-पश्चिम यमुनाके समीप वत्स नामक जनपद था, वर्तमान कोसाम (कौशाम्बी) उस राज्यकी राजधानी थी। यहाँ बृहस्पति मित्रके सिक्के अधिक मिलते हैं। एक विवरण इस प्रकार है—

धातु—ताँबा, वजन ६.५ ग्राम, आकार गोल २.५ से०मी०।

अग्रभाग—घेरेमें वृक्ष, स्वस्तिक, चक्र, मेरुपर्वत एवं उज्जयिनी-चिह्न।

पृष्ठभाग—बायीं ओर मुँह किये खड़ा वृषभ तथा सामने ध्वज, दण्ड एवं अन्य चिह्न हैं।

[५] अयोध्या (२०० ई०पू०)—प्राचीन कोसल राज्य वर्तमानमें अवध नामसे जाना जाता है। सरयू-किनारे स्थित राजधानी अयोध्याको साकेत भी कहते हैं। अयोध्याके सिक्के सर्वथा भारतीय शैलीके हैं। यह सिक्का 'धनदेवता' का है—

धातु—ताँबा, वजन ६.६ ग्राम, आकार चौकोर १.७ से०मी०।

अग्रभाग—स्वस्तिक, उज्जयिनी-चिह्न, घेरेमें वृक्ष।

पृष्ठभाग—बायें मुँह किये वृषभ, ऊपर ब्राह्मीमें अंकित धनदेवता।

[६] कुनिन्द (१५० ईसवी-पूर्व)—१५० ई०पू० से २०० ईसवीतक कुनिन्द नामकी जाति सतलज नदीके प्रदेश शिमला रियासतमें निवास करती थी, इन राजाओंके सिक्कोंपर ब्राह्मी, खरोष्ठी दोनों लिपियोंमें लेख पाये जाते हैं। यह मृगवाला सिक्का ई०पू० दूसरी शतीका अमोघमूर्तिका है—

धातु—ताँबा, वजन ३.७ ग्राम, आकार गोल २ से०मी०।

अग्रभाग—स्वस्तिक, मेरुपर्वत वृक्ष, नदी एवं अन्य चिह्न।

पृष्ठभाग—हिरणके सामने खड़ी हुई लक्ष्मी, श्रीवत्स, ब्राह्मीमें 'राजना कुनिन्दसा अमोघमूर्तिसा महाराजसा' गोल घेरेमें अंकित है।

[७] उज्जयिनी (२०० ई०पू०)—आधुनिक उज्जैन, जिसे अवन्तिका या उज्जयिनी भी कहते हैं। यह नगर मौर्यकालसे ही अपना महत्त्व रखता है। यहाँके सिक्कोंपर एक विशेष चिह्न मिलता है, जिस चिह्नका नाम ही उज्जयिनी-चिह्न पड़ गया है। एक सिक्केका स्वरूप इस प्रकार है—

धातु—ताँबा, वजन ४.५ ग्राम, आकार चौकोर १.५ से०मी०।

अग्रभाग—स्त्री-पुरुषकी आकृति, ऊपर स्वस्तिक-चिह्न।

पृष्ठभाग—उज्जयिनी-चिह्न एवं मकार।

[८] सीबी जनपद (२०० ई०पू०) मगध-राज्यके उदय होनेके पूर्व कई जातियाँ पंजाबमें रहती थीं। मगध-साम्राज्यमें वे अपनी स्वतन्त्रंता खो चुकी थीं, परंतु मगध-साम्राज्यके पतनके बाद इन्होंने अपने सिक्के निकाले। इन जातियोंमें प्रमुख थीं अग्रेय, राजनया, सीबी, यौधेय। यहाँके एक सिक्केका विवरण इस प्रकार है—

धातु—ताँबा, वजन ६.० ग्राम, आकार गोल २ से०मी०।

अग्रभाग—स्वस्तिक, वृक्ष, ब्राह्मी लिपिमें 'मजामिकाया सीबी जनपद सा' अंकित है।

पृष्ठभाग—मेरुपर्वतका चिह्न बना है।

[९] सातवाहन (१६० ई०पू०)—मौर्य साम्राज्यके पतनके बाद दक्षिण भारतमें मौर्योंके उत्तराधिकारी सातवाहन नरेश माने जाते हैं। इनका नाम पुराणोंमें आन्ध्रजातीयके रूपमें मिलता है। इस वंशको अभिलेखोंमें सातवाहन-कुलके नामसे वर्णित किया गया है—

धातु—ताँबा, वजन ४ ग्राम, आकार चौकोर १.७ से०मी०।

अग्रभाग—बायें मुँह किये चलता हुआ शेर, दुम पीछे लहराती हुई ऊपर उठी, ऊपर स्वस्तिक, बायीं ओर ब्राह्मीमें 'राजनो श्री सा' अंकित है।

पृष्ठभाग—वृक्ष तथा उज्जयिनी-चिह्न है।

[१०] अकबर बादशाह—मुगल बादशाह अकबर सभी धर्मोंमें विश्वास रखता था। उसने अपने सिक्कोंपर राम-सीता अंकित कराये एवं स्वस्तिक चिह्नको भी सिक्कोंपर अंकित किया। जिससे उसका हिंदूधर्मके प्रति आदर मालूम पड़ता है।

धातु—ताँबा, वजन २०.० ग्राम, आकार गोल २ से०मी०।

अग्रभाग—अग्रभागमें 'जलालउद्दिन मुहम्मद अकबर बादशाह गाजी' अंकित है तथा मध्यमें स्वस्तिक बना है।

पृष्ठभाग—पृष्ठभागमें 'फी अहमद अल हमी उद्दीन वा अलदिया ९७१ हिजरी' अंकित है।

[११] पांचाल (२०० ईसा-पूर्व)—प्राचीन समयमें पांचाल देश रुहेलखण्डके प्रान्तका बोधक था। पांचाल जनपद गङ्गा नदीके कारण उत्तरी तथा दक्षिणी भागोंमें बँटा था। उत्तरी भागकी राजधानी 'अहिछत्तर' एवं दक्षिण भागकी 'काम्पिल्य' थी। पांचालके सिक्के उत्तरी भागसे सम्बन्ध रखते हैं। यहाँपर सभी सिक्के ठप्पेद्वारा बनाये जाते थे। यहाँके राजाओंके नामके अन्तमें 'मित्र' शब्द जुड़ा है। यह सिक्का फागुन मित्रका है—

धातु—ताँबा, वजन १७.३ ग्राम, आकार चौकोर २.५ से०मी०।

अग्रभाग—घेरेमें वृक्ष, शिवलिंग सर्पके साथ तथा अन्य

चिह्न हैं। नीचे ब्राह्मीमें 'फागुन मितासा' अंकित है।
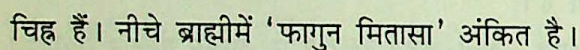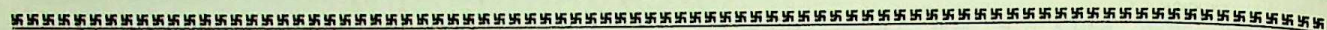
पृष्ठभाग—सामने मुँह किये खड़ी लक्ष्मी और नीचे कमलका फूल अंकित है।

[१२] मथुरा (२०० ई०पू०)—प्राचीन कालसे मथुरा हिंदुओंका एक प्रधान तीर्थ-स्थान रहा है। २०० ई०पू० के मथुराके शासकोंने सिक्के चलाये। इन राजाओंका शासन क्षत्रपोंसे पहले था। इन राजाओंमें बलभूति, पुरुषदत्त, भवदत्त, रामदत्त, गौमित्र, विष्णुमित्र एवं ब्रह्ममित्र शासकोंके सिक्के मिले हैं। यह सिक्का (गोमित्र) गोमितासाका है।

धातु—ताँबा, वजन ५.७ ग्राम, आकार चौकोर १.७ से०मी०।

अग्रभाग—ऊपर 'गोमितासा' एवं नीचे 'या रानायम' ब्राह्मीमें अंकित है। बीचमें मकार, वृक्ष एवं अन्य चिह्न हैं।

पृष्ठभाग—घेरेमें वृक्ष तथा चारों तरफ बिन्दु अंकित हैं।

[१३] यौधेय (२०० ई०पू०)—प्राचीन कालसे यौधेय जाति व्यास नदीके पार भारतके उत्तर पश्चिमी प्रान्तमें रहती थी। इस जातिका प्रधान कार्य युद्ध करना था। दूसरी शतीमें यौधेय जाति उन्नतिके शिखरपर थी। मौर्य शासनकी समाप्तिके बाद इन्होंने अपने सिक्के निकाले। आठ सौ वर्षोंतक यौधेय शासकोंका राज्य रहा। एक सिक्केका विवरण इस प्रकार है—

धातु—ताँबा, वजन १०.७ ग्राम, आकार गोल २ से०मी०।

अग्रभाग—कार्तिकेयकी स्त्री बायीं ओर चलती हुई, दाहिना हाथ ऊपर, बायाँ हाथ कमरपर, नीचे शंख अंकित है।

पृष्ठभाग—कार्तिकेय माला लिये सामने मुँह किये खड़े हैं, बायीं ओर नीचे मोर बना है तथा ब्राह्मीमें चारों ओर 'यौधेय गनाशय जय' अंकित है।

शास्त्र-सम्मत धर्मका मर्म

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी)

यदि हम असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे मुक्त होकर अमरत्वकी ओर उन्मुख होना चाहते हैं तो '**धर्मान्न प्रमदितव्यम्**' के इस वैदिक उद्घोषसे लेकर '**धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते**'-के इस ऐतिहासिक-पौराणिक धर्मके मर्मको हमें गहराईसे समझना और अपनाना होगा।

धर्मशास्त्रोंका समन्वित स्वर मानवको पूर्ण मानव बनानेका सदैवसे पक्षधर रहा है। इसीलिये ज्ञानके चारों स्रोत—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति—ये सभी धर्मशास्त्रोंपर ही आधारित हैं।

भारतीय जीवनमें धर्म और धर्मशास्त्रोंका इतना अधिक महत्त्व है कि जगन्नियन्ता जगदाधार भगवान् श्रीकृष्णने इसे '**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**' माना है और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीरामने तो '**रामो विग्रहवान् धर्मः**' को चरितार्थ करनेके लिये लोकशिक्षणहेतु स्वयं धर्मावतार ही धारण किया।

केवल भक्ति और मुक्तिके मार्गपर चलनेवालोंके लिये ही धर्मशास्त्रोंका महत्त्व नहीं है, बल्कि सामान्य दैनिक व्यवहारमें भी इनकी बड़ी उपयोगिता और आवश्यकता है।

महान् वीतरागी, विरागी, त्यागी महात्मासे लेकर एक सामान्य कुटुम्बी गृहस्थतक व्यवहार-जगत्में इस धर्मशास्त्रपर आधारित रीति-नीतिका पालन करके ही मानव-जीवनके प्रमुख लक्ष्यको, मानव-जीवनके इष्ट-अभीष्टको और मानव-जीवनके श्रेय-प्रेयको सरलता और सुगमतासे प्राप्त कर सकता है।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके अनुसार जीवनके अन्य क्षेत्रोंकी कौन कहे, छोटे-छोटे बच्चोंको भी पढ़ाने-लिखाने और उन्हें विनीत तथा साक्षर बनानेमें भी धर्मशास्त्रसम्मत नीतिका—साम, दान, भेद और दण्ड—इन चारों उपायोंका प्रयोग करना लाभकारी माना गया है।

तभी तो एक पिता अपने पुत्रको पढ़ाता हुआ कहता है—

अधीष्व पुत्रकाधीष्व दास्यामि तव मोदकम्।
यद्वान्यस्मै प्रदास्यामि कर्णमुत्पाटयामि ते॥

(मिताक्षरा, याज्ञ० स्मृति १ । ३४६)

अर्थात् हे पुत्र! पढ़ो-पढ़ो!! (प्रिय वचन—साम), पढ़ोगे तो तुमको मैं यह लड्डू दूँगा (दान), यदि तुम नहीं पढ़ोगे तो इस लड्डूको किसी दूसरेको दे दूँगा (भेद)। फिर भी यदि तुम नहीं पढ़ोगे तो मैं तुम्हारा कान उखाड़ लूँगा (दण्ड)। इसमें साम, दान, भेद और दण्ड चारों उपाय दिखलाये गये हैं।

कार्य-सम्पादन करानेका धर्मशास्त्रसम्मत यह कैसा सुन्दर, सरल और सरस ढंग वर्णित किया गया है।

धर्मशास्त्रोंमें पितासे माताको दस गुना पूज्य कहा गया है और मातासे विमाताको और अधिक श्रेष्ठ माना गया है—

पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।
मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा॥

रामचरितमानसमें भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि की गयी है। धर्मशास्त्रोंका अनुसरण करती हुई माता कौसल्या अपने प्रिय पुत्र रामसे कहती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

(मानस २ । ५५ । १-२)

इसमें मातासे अधिक महत्त्व विमाताकी आज्ञापालनको बताया गया है।

पारिवारिक एकता, अखण्डता और प्रेमका इतना उच्च, उदात्त सिद्धान्त अन्य देशोंकी सभ्यता और संस्कृतियोंमें देखनेको नहीं मिलता।

शास्त्रसम्मत धर्मके मर्मका एक बेजोड़ उदाहरण हमें महाभारतके यक्ष-युधिष्ठिर-संवादमें देखनेको मिलता है।

यक्षके द्वारा पूछे गये प्रश्नोंका युधिष्ठिरने जब सटीक उत्तर दे दिया, तब यक्ष अपने द्वारा मूर्च्छित किये गये चारों पाण्डवोंमेंसे किसी एकको जीवित करानेका वरदान माँगनेके लिये युधिष्ठिरसे कहता है।

ऐसे धर्मसंकटके समय धर्मराज युधिष्ठिर बहुत सोच-विचारकर धर्मशास्त्रानुकूल बात यक्षसे कहते हैं—

'हे धर्मदेव ! यह जो महाबाहु नकुल है यह जीवित हो जाय। इसपर यक्ष कहते हैं कि धर्मराज! आपने महाबली भीमसेन तथा अर्जुनको जिलानेकी बात न कहकर

विमातापुत्र नकुलको जिलानेकी बात क्यों की?' तब युधिष्ठिर कहते हैं—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

(महा०, वन० ३१३ । १२८)

अर्थात् यदि धर्मका नाश किया जाय तो वह नष्ट हुआ धर्म ही कर्ताको भी नष्ट कर देता है और यदि उसकी रक्षा की जाय तो वही कर्ताकी भी रक्षा कर लेता है। इसीसे मैं धर्मका त्याग नहीं करता कि कहीं नष्ट होकर यह धर्म मेरा ही नाश न कर दे।

हे धर्मदेव ! मेरे पिताके कुन्ती और माद्री नामकी दो भार्याएँ रहीं। वे दोनों ही पुत्रवती बनी रहें ऐसा मेरा विचार है। मेरे लिये जैसे कुन्ती हैं वैसे ही माद्री। उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। मैं दोनों माताओंके प्रति समान भाव ही रखना चाहता हूँ। इसलिये माद्रीपुत्र नकुल जीवित हो जाय।

यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु॥

(महा०, वन० ३१३। १३२)

युधिष्ठिरके द्वारा विमाता माद्रीके प्रति प्रकट की गयी श्रद्धाने यक्षको इतना प्रभावित कर दिया कि वह '**धर्मो रक्षति रक्षितः**'के सिद्धान्तके आधारपर युधिष्ठिरके सभी मारे गये भाइयोंको पुनर्जीवित करनेकी घोषणा कर देता है—

तस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्।
तस्मात् ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ॥

(महा०, वन० ३१३।१३३)

भरतश्रेष्ठ! तुमने अर्थ और कामसे भी अधिक दया और समताका आदर किया है, इसलिये तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ।

वे यक्ष और कोई नहीं साक्षात् धर्म थे और युधिष्ठिरकी धर्म-परीक्षा ले रहे थे। उस परीक्षामें युधिष्ठिर पूर्ण सफल हुए। यह आदर्श भारतीय संस्कृतिमें ही मिल सकता है।

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इस चतुर्वर्गको ही चार पुरुषार्थ कहा गया है। इसमेंसे त्रिवर्गका विधिवत् उपार्जन होनेपर पुरुष अन्तिम पुरुषार्थ—मोक्षको अनायास ही प्राप्त कर लेता है।

महाभारतके अनुसार विषयोंमें रागात्मक प्रवृत्ति होनेसे इस त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काममें एक-एक मल, एक-एक दोष घुस जाता है। यथा—

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः॥

(महा०, शान्ति० १२३ । १०)

अर्थात् धर्ममें फलकी अभिलाषासे सकामताका दोष आ जाता है।

अर्थको दान और भोगमें व्यय न करनेसे निगूहन (छिपाना) दोष उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार काममें अधिकाधिक उत्कट मोह बढ़ जानेसे सम्प्रमोह दोष आ जाता है। ये ही तीन मल मोक्षकी सिद्धिमें बाधक बनते हैं।

इसलिये सूक्ष्मदर्शी पुरुष धर्मका अनुष्ठान सकाम भावसे न करके '**मा फलेषु कदाचन**' की निष्कामभावनासे करते हैं। अर्थका उपार्जन—'**त्यागाय सम्भृतार्थानाम्**' के अनुसार त्यागके लिये करते हैं और कामका सेवन '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' के अनुसार शरीर-रक्षणके लिये करते हैं।

इस प्रकार निर्मल, निर्दोष त्रिवर्गके अनुष्ठानसे जीवनके परम लक्ष्य चतुर्थ पुरुषार्थ भगवत्प्राप्तिरूप मोक्षकी सिद्धि अनायास ही हो जाती है। इससे सिद्ध है कि सबसे उत्कृष्ट अक्षय पुरुषार्थ मोक्ष ही है और उसकी सिद्धि शास्त्रसम्मत स्वधर्मपालनसे अवश्य होती है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा '**श्रेयान् स्वधर्मः**' का डिण्डिम घोष किया गया है। इस शास्त्रसम्मत धर्मके मर्मको जानने, मानने और अपनानेसे देश, राष्ट्र तथा समाज और व्यक्ति—सबका सर्वतोमुखी त्राण और कल्याण अवश्य होता है।

~~~

भगवान्‌की दयाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके संगसे मनुष्यको भगवान्‌की नित्य दयाका पता लगता है, दयाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है और भजनके नित्य-निरन्तर अभ्याससे उसके समस्त संचित पाप समूल नष्ट हो जाते हैं तथा उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है।

~~~

धर्मशास्त्रविद्या और शिष्टाचार

(चक्रवर्ती श्रीरामाधीनजी चतुर्वेदी)

चौदह विद्या-स्थानोंमें धर्मशास्त्र मुख्य विद्या-स्थान है। ऋग्, यजुः, साम, अथर्व—ये चार वेद एवं शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, व्याकरण और ज्योतिष—ये छः वेदाङ्ग तथा पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र—ये चार उपाङ्ग—इस प्रकार चौदह विद्याएँ हैं। इनके द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है तथा अपने कर्तव्यका निर्णय करता है। धार्मिक व्यवस्था तथा आचारके परिज्ञानके लिये 'धर्मशास्त्र' मुख्य विद्या है, जिसमें धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, स्मृतिग्रन्थ तथा पुरुषार्थ-चिन्तामणि, धर्मसिन्धु आदि निबन्धग्रन्थ हैं। मनुस्मृतिमें वेद, स्मृति, सदाचार तथा पवित्र मन—इनको धर्म और अधर्मके निर्णयमें साक्षात् प्रमाण माना गया है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनुस्मृति २। १२)

यहाँ धर्मके लक्षणसे तात्पर्य है कि धर्ममें ये प्रमाण हैं। इनके द्वारा ही अपने धर्मका निश्चय करना चाहिये। वेद और स्मृति-ग्रन्थोंके साथ ही महापुरुषोंके आचरण भी कर्तव्यके लिये साक्षात् प्रमाण हैं। महापुरुषोंकी परख शिष्टकी परिभाषासे होती है। शिष्ट पुरुषका लक्षण करते हुए महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

'**निवासतश्चाचारतश्च। स चाचार आर्यावर्ते एव॥ कः पुनरार्यावर्तः?॥ प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्। एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किं चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगतास्तत्रभवन्तः शिष्टाः॥**'

(महाभाष्य, सू० ६। ३। १०९)

इसका तात्पर्य है कि जो आर्यावर्त अर्थात् पूर्व और पश्चिम समुद्रके मध्य तथा विन्ध्य और हिमालयके बीच भागमें निवास करनेवाले हैं तथा घड़ेभर धानसे संतुष्ट एवं बिना प्रयोजन किसी एक विद्याके पारंगत ब्राह्मण विद्वान् हैं, वे शिष्ट हैं। यहाँ 'आदर्श' शब्दसे 'कुरुक्षेत्र'का पर्वत तथा 'कालक' वनसे प्रयाग एवं पारियात्रसे विन्ध्य पर्वतका संकेत है, जिससे आर्यावर्तके अन्तर्गत विद्यमान प्रदेश—मध्यदेशका भी बोध होता है। जैसा कि मनुने भी मध्यदेशका लक्षण करते हुए कहा है—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥

(मनु० २। २१)

अस्तु, आर्यावर्तके निवासी निर्लोभी, विद्वान् ही शिष्ट होते हैं, जिनका आचरण अनुकरणीय माना गया है।

आपस्तम्बधर्मसूत्रमें भी कहा गया है कि '**यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः, यं गर्हन्ते सोऽधर्मः**' अर्थात् शिष्ट लोग जिस कार्यकी प्रशंसा करते हैं, वह धर्म है और जिसकी वे निन्दा करते हैं, वह अधर्म है। साथ ही यह भी कहा गया है कि—'**सर्वजनपदेष्वेकान्तसमाहितमार्याणां वृत्तं सम्यग् विनीतानामात्मवतामलोलुपानामदाम्भिकानां वृत्तं सादृश्यं भजेत्**' (आपस्तम्ब० ७। १। ७-८) अर्थात् विनीत, आत्मनिष्ठ, निर्लोभी तथा अभिमानशून्य आर्योंके आचरणके समान ही सभी देशोंके लोगोंको आचरण करना चाहिये।

वसिष्ठधर्मसूत्रमें शिष्टाचारको परम धर्म कहा गया है तथा आचारहीनकी निन्दा की गयी है—

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति॥

(वसिष्ठधर्मसूत्र ६। १)

निष्कर्ष यह है कि शिष्टाचार धर्मशास्त्रविद्याकी एक संहिता है। इसीलिये भगवान् श्रीरामके आचरणको देखकर महर्षि वाल्मीकिको कहना पड़ा—'**रामो विग्रहवान् धर्मः**' राम तो साक्षात् धर्मकी मूर्ति हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भी शिष्टाचारपर बल देते हुए अर्जुनसे कहा था—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

भाव यह है कि शिष्ट पुरुष, श्रेष्ठ पुरुष, सदाचारी पुरुष जैसा व्यवहार या आचरण करते हैं, सामान्य लोगोंको भी वैसा ही आचरण या व्यवहार करना चाहिये। उनसे आचरणकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये; क्योंकि उनका

व्यवहार धर्मकी मर्यादामें प्रतिष्ठित रहता है और वे जिस बातको प्रमाणित कर देते हैं कि 'यह ठीक है, यह ठीक नहीं है, ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं करना चाहिये, यह करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है'—सारे लोग भी उन्हींका—उन्हींकी बातोंका अनुवर्तन करते हैं।

विश्वमें भारतभूमिकी यह विशेषता है कि जब कभी धर्मपर धक्का लगता है तो कोई विशिष्ट पुरुष आविर्भूत होकर अपने आचार-विचारसे धर्मकी रक्षा करता रहता है। अतः शिष्टाचार-प्रधान धर्मशास्त्रकी मान्यता आज भी सुरक्षित है।

धर्मशास्त्रोंमें अतिथि-सत्कारकी महिमा

(श्रीसुनीलकुमारजी तिवारी)

भारतीय संस्कृति सदियोंसे चिरन्तन मानव-मूल्योंको महत्त्व देती आयी है। हमारे आगम-ग्रन्थ—वेद-पुराण, स्मृति तथा उपनिषद् आदि जीवनके अभ्युदयके दिशा-निर्देशक हैं। ऋषि-मनीषियोंने परोपकार, सहानुभूति, सहयोग, सेवा, सत्य, प्रेम, त्याग, सहिष्णुता, करुणा, क्षमा, दया और मनुष्यता आदि दिव्य गुणोंको जीवनका आधारबिन्दु स्वीकारा है और इन्हीं महनीय गुणोंके धरातलपर अतिथि-सत्कारकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

सनातनधर्ममें अतिथिको सर्वाधिक पूज्य, वरेण्य एवं महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आतिथ्यपर जोर देते हुए तैत्तिरीय उपनिषद्—**'अतिथिदेवो भव'** (अतिथिको देवता मानो)-की घोषणा करता है। अथर्ववेदके एक मन्त्रमें आतिथ्यके गुणोंको समाहित करते हुए स्पष्ट वर्णन आया है—'अतिथिको आदरपूर्वक भोजन करानेके बाद ही स्वयं भोजन करना चाहिये, अतिथिकी सेवामें कोई त्रुटि न रहे, इसका ध्यान रखना चाहिये; क्योंकि अकस्मात् आये अतिथिके सेवा-सांनिध्यका सुयोग पुनः मिले या न मिले कुछ कहा नहीं जा सकता।' अतिथिका तो लक्षण ही है—जिसका नाम, गोत्र, स्थिति ज्ञात न हो और जो अकस्मात् घरमें आ जाय—

यस्य न ज्ञायते नाम न च गोत्रं न च स्थितिः।
अकस्माद् गृहमायाति सोऽतिथिः प्रोच्यते बुधैः॥

अतिथि-यज्ञ दैनिक गृहस्थ-जीवनका नियमित अङ्ग है। इसकी गणना पञ्चमहायज्ञोंमें की जाती है। पञ्चमहायज्ञका प्रमुख लक्ष्य है विश्वजीवनके साथ एकता स्थापित कर आत्मोन्नति करना। मनुके अनुसार अतिथियोंकी निष्काम सेवा ही नृयज्ञ (अतिथि-यज्ञ) है। अतिथि-यज्ञ या नृ-यज्ञका यथाशक्ति विधिवत् अनुष्ठान करनेवाला गृहस्थ समस्त दोषोंसे विमुक्त हो जाता है। आगमोंका उपदेशरूप स्पष्ट आदेश है कि मनुष्यको ऋषि, देवता, पितर, भूत और अतिथि—इन सभीके प्रति पूर्ण निष्ठावान् होना चाहिये, क्योंकि ये सब गृहस्थसे कुछ-न-कुछ चाहते हैं। जिस गृहस्थके द्वारसे अतिथि विमुख लौट जाय, उसे पातक लगता है। वह अतिथि उस गृहस्थको पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥

(महा०, शा० १९१। १२)

श्रुतियोंमें वर्णन आया है कि अतिथि चाहे मूर्ख हो अथवा विद्वान् इसपर विचार नहीं करना चाहिये।

अतिथिके साथ नम्रता, विनीतता तथा उदारतापूर्ण सच्चा व्यवहार करना चाहिये। शास्त्र कहते हैं कि अतिथि-सेवामें कभी 'अहं'का रोग न लगे—ऐसी सावधानी सबके लिये अपेक्षित है। अतिथिके समक्ष अपने ज्ञानका, अपनी श्रेष्ठताका कदापि प्रदर्शन नहीं करना चाहिये।

प्रत्येक व्यक्तिको अतिथिके प्रति उदार होना चाहिये। उनके विषयमें वह मृदुभाषी हो तथा यथासम्भव उनके हितका आचरण करे। उन्हें अपने समान समझे तथा अपने वचनका पालन करे। अतिथिको शक्तिके अनुसार देना चाहिये।

धर्मशास्त्रोंमें स्पष्ट वर्णित है कि व्रत-उपवासोंके उपरान्त या तीर्थ-यात्रादि शुभ कार्योंके सम्पादनके पश्चात् यदि अतिथिको सर्वप्रथम भोजन कराया जाय तो उससे समस्त पुण्य द्विगुणित हो जाते हैं।

अतिथि-सेवाके विषयमें ऐसा भी कहा गया है कि जिस घरमें नित्य अतिथि-पूजा होती है, वहीं सौभाग्य, श्री, सम्पत्ति और सद्वृत्तियोंका सच्चा वास होता है। इसीलिये हमारे पूर्वज जो कुछ सेवा करते थे, वह अतिथिरूपी प्रेमास्पदकी प्रसन्नताके लिये, उसकी रुचि और प्रेरणानुसार करते थे।

इस प्रकार 'अतिथि-सत्कार' भारतीय आदर्शका सर्वोज्ज्वल पक्ष है। एक युग था, जब मानव सचमुच बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय समर्पित होता था। पर आज अपना जीवन और अपना स्वार्थ ही इतना महत्त्वपूर्ण बन गया है कि दूसरेके हितकी बात, दूसरेकी सहायताकी बात, अतिथि-सत्कारकी बात गौण-सी लगती है। ऐसी दशामें हमें अपनी सोयी हुई श्रद्धाको जगाना होगा। भौतिकवादी परानुकरणके अंधमोहको तजकर धर्मशास्त्रोंका नित्य स्वाध्याय करते हुए अतिथि-सत्कारकी महिमाका मनन करना होगा, क्योंकि जबतक हम नित्य स्वाध्याय-चिन्तन-मननद्वारा सद्वृत्तियोंसे पूरी तरह आपूरित नहीं होंगे, तबतक दूसरेको समान समझनेका भाव, परोपकारका आचरण, अतिथिको देवता मानकर निष्काम सेवाका अभ्यास हो ही नहीं सकता।

असत्य, अन्याय, स्वार्थ, रुक्षता, मलिनता, कृपणता, आवेश, क्रूरता और प्रतिहिंसा आदि भावनाएँ अतिथि-सेवाके मार्गमें सर्वाधिक बाधक हैं। अतिथि-सेवा तभी सुफल हो सकती है, जबकि आतिथेयमें मनुष्यता, सत्य, त्याग, प्रेम, पवित्रता, उदारता, सहिष्णुता, करुणा, क्षमा, धैर्य-जैसे दिव्य गुणोंका सतत सामंजस्य हो।

भारतीय संस्कृतिके इतिहासका पन्ना-पन्ना अतिथि-सेवियोंके गुणगानसे भरा पड़ा है, जहाँ अतिथिको दिये वचनका पालन करनेके लिये राजमहलकी सुख-सुविधाओंको तत्क्षण त्याग दिया गया। कर्णकी उदारता तथा अतिथि-भक्ति प्रसिद्ध है कि उनके द्वारसे कोई व्यक्ति खाली हाथ नहीं लौटता था। इतना ही नहीं, धर्मग्रन्थोंमें अनेक आख्याएँ मिलती हैं जब कि अतिथिके लिये सहर्ष प्राणतक न्योछावर कर दिये गये। सम्राट् अशोकने अपने शिलालेखमें लिखवाया है कि 'यदि रात्रि दिनकी एक चौथाई रहती तो अच्छा था ताकि अधिक लोगोंका दुःख, दर्द दूर कर पाता और द्वारपर आये अतिथिकी सेवामें हरदम लगा रहता।'

अतिथि-सत्कारका निष्काम कर्मरूप औदार्यसे अत्यधिक सम्बन्ध है। जबतक भीतरकी उदारता-श्रद्धा प्रस्फुटित नहीं होगी, समर्पित अतिथि-भक्ति सम्भव नहीं। धर्मशास्त्रोंमें ऐसा आया है कि अतिथि-भक्ति निष्काम होती है और साधकके लिये भुक्ति-मुक्तिदायक होती है।

निःसंदेह अतिथि-सत्कार भारतीय सनातन हिन्दू-जीवन परम्पराका सबसे बड़ा धर्म है। नित्य अतिथि-सेवा सम्पादित करनेवाला गृहस्थ अपने सभी धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कर्तव्योंको पूर्ण करता है एवं समस्त विश्वसे अपनी एकात्मताका अनुभव करता है। अतिथि-सेवीपर सदा-सर्वदा देवगण, पितर एवं कुलदेवता प्रसन्न रहते हैं तथा उसके घरमें अन्न-धन, ऐश्वर्य, सुख-श्रीकी कभी कोई कमी नहीं होती।

यथार्थतः अतिथि-सत्कार, अतिथि-पूजा हमारी वास्तविक सांस्कृतिक-आध्यात्मिक धरोहर है। सभी धर्मशास्त्रोंमें हमारे ऋषि-मनीषियोंने अतिथि-सेवाका स्पष्ट आदेश दिया है और ऋषि-परम्पराकी संतान होकर यह हमारे लिये नितान्त अशोभनीय है कि उनके निर्देशों तथा अतिथि-सत्कारके आदर्शोंके साथ प्रवञ्चना करें; क्योंकि आदर्शोंकी प्रवञ्चना अपने-आपको छलनेके सिवा और कुछ नहीं एवं स्वयंको धोखा देनेसे बड़ा पाप ही क्या है ?

अन्तःकरणकी स्वच्छतासे श्रद्धा होती है, श्रद्धासे साधनमें तत्परता होती है, तत्परतासे मन और इन्द्रियोंका निरोध होकर परमात्माके स्वरूपमें निरन्तर ध्यान होता है, उस ध्यानसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता है और ज्ञानसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसीको भगवत्प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतामें बतलाया गया है।

धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः—

नारायणस्मृति

पुण्यतीर्थ नैमिषारण्यमें ब्रह्मवादी ऋषि-महर्षियोंका स्वाध्याय, सत्संग, कथा-वार्ता तथा यजन-पूजन चलता आया है, जो 'ज्ञानसत्र'के नामसे प्रसिद्ध है। शौनक आदि अट्ठासी हजार ऋषि-महर्षियोंद्वारा पुराणोंका प्रवचन यहींपर हुआ। ऐसे ही एक बार जब स्वाध्याय-सत्संग चल रहा था, तब महायोगी नारायणने धर्मतत्त्वके ज्ञाता महान् तपस्वी दुर्वासासे धर्मोपदेश प्रदान करनेकी प्रार्थना की, इसपर महर्षि दुर्वासाने जो उन्हें उपदेश दिया, वह 'नारायणस्मृति'का प्रतिपाद्य विषय बना। इस प्रकार 'नारायणस्मृति' महर्षि दुर्वासा तथा महायोगी नारायणके संवादमें उपनिबद्ध है। इसके मुख्य श्रोता नारायणमुनि हैं, इसलिये यह 'नारायणस्मृति' कहलाती है। इसमें ९ अध्याय तथा लगभग २०० श्लोक हैं और इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—पातक, उपपातक, महापातक तथा उनका प्रायश्चित्त-विधान।

स्मृतिके प्रारम्भमें ही महामुनि नारायणने महर्षि दुर्वासासे जिज्ञासा की—'हे धर्मज्ञोंमें सर्वश्रेष्ठ महर्षे! कलियुगमें जब पृथ्वीपर धर्म एवं पुण्यका लोप हो जाता है और पाप बढ़ जाता है तो ऐसी स्थितिमें मनुष्य किस प्रकार पापोंसे छुटकारा पा सकता है, आप उन प्रायश्चित्त-विधानोंको बतलानेकी कृपा करें।' इसपर महर्षि दुर्वासाने कहा—

हे महायोगी! सत्ययुगमें पुण्य एवं चतुष्पाद् धर्मकी नित्य स्थिति रहती है और धर्म निरन्तर वर्धमान रहता है। वृषरूप धर्म अपने चारों चरणों (सत्य, शौच, तप तथा दान)-से सत्ययुगमें प्रतिष्ठित रहता है और सब ओर सुख-शान्ति रहती है, धर्मका ही अनुष्ठान होता है, सब लोग सदाचारी, धर्मात्मा एवं पुण्यात्मा होते हैं। त्रेतायुगमें चार चरणोंवाला धर्मरूपी वृषभ एक पादसे हीन हो जाता है। तीन चरण धर्मके होते हैं और एक चरण पापका होता है। द्वापर-युगमें वही चतुष्पाद् धर्म दो चरणोंसे धर्मरूप और दो चरणोंसे अधर्मरूप हो जाता है, किंतु कलियुगमें तो केवल एक ही चरण धर्मका रहता है, तीन चरण अधर्मके होते हैं—'**ततः कलियुगे प्राप्ते पादेनैकेन तिष्ठति।**' (नारा० १। ६)। अतः वह धर्मरूप वृष लँगड़ा-लँगड़ाकर चलता है। घोर कलिमें जब पापाचार अत्यन्त बढ़ जाता है, तब युगान्तमें प्रलय होता है और पुनः कृतयुगकी प्रवृत्ति होती है।

'नारायणस्मृति'में पापोंकी नौ कोटियाँ बतलायी गयी हैं और एक-एक कोटिमें अनेक पातकोंकी गणना है। नवविध पातकोंमें महापातक (ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णस्तेय, गुरुतल्पगमन तथा इनके साथ संसर्ग), गोवध आदि उपपातक, संकरीकरण, मलिनीकरण, अपात्रीकरण, जातिभ्रंशकरण तथा प्रकीर्ण पाप आदिको परिगणित किया है (नारा० १। १०—१५), अनन्तर प्रत्येक पापका विस्तारसे प्रायश्चित्त-विधान बतलाया गया है और पाप-कर्मोंसे सर्वदा दूर रहनेका परामर्श दिया गया है। बतलाया गया है कि पापोंसे नरक-यातना भुगतनी पड़ती है, अतः नरक-यातनासे बचनेके लिये पापकर्म कभी नहीं करने चाहिये, सदा धर्माचरण ही करना चाहिये—

तस्मात् पापं न कर्तव्यं नरैर्नरकभीरुभिः।

(नारा० २। ६)

महामुनि नारायण महर्षि दुर्वासासे पूछते हैं—'हे भगवन्! जिसका पापकर्म करनेका दीर्घकालीन अभ्यास बन गया हो, उससे पापकर्मका छूटना नहीं बन रहा हो, ऐसे सब प्रकारसे दूषित व्यक्तिकी निष्कृति किस प्रकार होगी? इसे बतलानेकी कृपा करें।' इसपर महर्षि दुर्वासाने बतलाया कि जन्मान्तरीय तामसी गुणके प्रभावसे ही प्रायः ऐसा होता है। ऐसी स्थितिमें 'अघमर्षण सूक्त'के जप, सहस्रकलशाभिषेक तथा पञ्चगव्यके पानसे सभी प्रकारके पापोंकी निष्कृति हो जाती है—

पञ्चगव्यप्राशनं च सर्वं कृत्वा विशुद्ध्यति।

(नारा० ५। २९)

स्मृतिके अन्तमें कलिवर्ज्य-प्रकरण है तथा वर्जित कर्मोंको करनेका प्रायश्चित्त भी बतलाया गया है और कहा गया है कि इन वर्जित कर्मोंको करनेवालेकी वर्षभरतक विधिपूर्वक नियमित गङ्गास्नान तथा एक माहतक सेतुबन्ध रामेश्वरमें स्नान करनेसे शुद्धि हो जाती है और वह पुनः व्यवहारके योग्य हो जाता है—

गङ्गास्नानं वर्षमात्रं मासं सेतुनिमज्जनम्।
साङ्गं च विधिवत् कृत्वा व्यवहार्यो भवेदिह॥

(नारा० ८। ५)

जो समर्थ है, धनवान् है उसे कलिवर्जित कर्मोंके करनेपर दो चान्द्रायण व्रत, सहस्रकलशस्नान, पञ्चवारुणहोम, कुष्माण्डहोम, विरजाहोम, गायत्रीहोम, द्वादश गोदान तथा सहस्र ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये। (नारा० ८। १०—१४)

व्याघ्रपादस्मृति

'व्याघ्रपादस्मृति' के प्रणेता महर्षि व्याघ्रपाद उपमन्युके पिता थे, उपमन्यु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दीक्षागुरु थे। महर्षि व्याघ्रपाद ऋग्वेदके कई मन्त्रों तथा सूक्तोंके द्रष्टा हैं। इनके नामसे गोत्रप्रवर्तन भी हुआ है। ये वेदज्ञोंमें सर्वश्रेष्ठ और परम बुद्धिमान् कहे गये हैं। तपस्या, भगवत्सेवा-पूजा, सदाचार-पालन तथा ब्रह्मचिन्तन—यह इनकी मुख्य योगचर्या रही है। ये नित्य अग्निहोत्रका सम्पादन किया करते थे। भगवान् शिवमें इनकी अनन्य निष्ठा रही है, इसलिये शिवभक्तोंमें ये विशेष माने गये हैं। उपमन्युको इन्हींसे शिव-दीक्षा प्राप्त हुई।

शिवभक्तोंकी परम्परामें यह अनुश्रुति प्राप्त होती है कि महर्षि व्याघ्रपाद अर्धरात्रिके बादसे ही भगवान् शिवकी पूजाके लिये पुष्प, बिल्वपत्र आदिके चयनमें संलग्न हो जाते थे। इसके लिये उन्हें एक वनसे दूसरे वन—इस प्रकारसे अँधेरेमें दूर-दूरतक जाना पड़ता था। इसलिये इनके पैरोंमें काँटे चुभ जाते थे, पत्थरोंसे पाँव छिल जाते थे। जिससे पैर लहूलुहान हो जाते थे, पर इनकी शिवमें इतनी निष्ठा थी कि वे इसकी परवाह नहीं करते थे। यह उनका प्रतिदिनका क्रम था। इस प्रकार पुष्प-बिल्वपत्र आदि सामग्री जुटाकर फिर देरतक बड़े ही भावसे भगवान् शिवको रिझाया करते थे। बाबा भोलेनाथ तो दयालु ही ठहरे, कुछ समय अपने भक्तकी लीला देखते रहे, किंतु फिर उनसे रहा नहीं गया। भला भक्त कष्ट पाये, यह भगवान्‌को कहाँ सह्य होगा! एक दिन वे सहसा प्रकट हो गये और बड़े ही प्रेमसे उन्होंने वर माँगनेको कहा। महर्षिको तो कुछ माँगना था नहीं, वे तो भक्त थे, भक्तको क्या चाहिये—अपने आराध्य, अपने प्रियतमके दर्शन। सो तो उन्हें हो ही चुके थे। जब बाबा भोलेनाथने बार-बार आग्रह किया तो वे बोल पड़े—'भगवन्! मुझे आपकी सेवा-पूजामें बड़ा ही आनन्द आता है। अतः आप वर देना ही चाहते हैं तो कृपा करके मेरे पाँव व्याघ्र (बाघ)-के समान कठोर बना दीजिये, ताकि पुष्प आदिके चयन करते समय जंगली काँटे आदि मेरे पाँवमें चुभने न पायें।' अपने भक्तके निर्मल प्रेमको देखकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। फिर क्या था वरके प्रभावसे उनके पाँव व्याघ्रके समान हो गये। इसीलिये उनका नाम 'व्याघ्रपाद' या 'व्याघ्रपद' हो गया। इस आख्यानसे इनकी ज्ञानशक्ति, मन्त्रशक्ति, विद्वत्ता, धर्मप्रियता, न्यायप्रियता और भक्तिमत्ता आदिका अनुमान किया जा सकता है।

महर्षि व्याघ्रपादके नामसे एक स्मृति प्राप्त होती है, जो 'व्याघ्रपादस्मृति' कहलाती है। यह स्मृति सभी लोगोंद्वारा आदरणीय रही है। इस स्मृतिमें लगभग ४०० श्लोक हैं। ऋषि-महर्षियोंने धर्म-जिज्ञासापूर्वक महर्षि व्याघ्रपादजीसे अपने प्रश्नोंके उत्तरमें जो उपदेश प्राप्त किये, वे 'व्याघ्रपादस्मृति' के नामसे प्रसिद्ध हुए—

ऋषिमेकान्तमासीनं व्याघ्रं मतिमतां वरम्।
पप्रच्छुर्मुनयः सर्वे धर्मशास्त्रकथानकम्॥

(श्लोक १)

इस धर्मशास्त्रकी महिमा बतलाते हुए स्वयं महर्षि व्याघ्रपाद कहते हैं कि चारों वर्णोंकी धर्म-व्यवस्था तथा सदाचार-संहिताके रूपमें मैंने इस धर्मशास्त्रका प्रणयन किया है। इस दिव्य धर्मशास्त्रके पठन-पाठन एवं अनुपालनसे सब प्रकारके पापोंका समूल नाश हो जाता है और सभी संशयों-संदेहोंका आमूल निराकरण हो जाता है तथा हृदयप्रदेशमें उज्ज्वल प्रकाश प्रस्फुटित हो उठता है। जो पापी हैं, धर्मदूषक हैं, वे भी इस शास्त्रका श्रवण कर सभी पापोंसे मुक्त हो जाते हैं[1]।

मुख्यरूपसे इस स्मृतिमें युगधर्म, वर्णधर्म, वेदाध्ययनकी महिमा, पिण्डदान और पितृतर्पणका महत्त्व, तीर्थ और 'गया-श्राद्ध' की महिमा, पत्नीके वाम एवं दक्षिण-भागमें बैठनेकी व्यवस्था, श्राद्ध एवं तर्पण न करनेका फल तथा विस्तारसे श्राद्ध-सम्बन्धी विविध बातें निरूपित हैं और

१-सर्वपापहरं दिव्यं सर्वसंशयनाशनम्। चतुर्णामपि वर्णानां व्याघ्रः शास्त्रमकल्पयत्॥
ये च पापकृतो लोके ये चान्ये धर्मदूषकाः। सर्वपापैः प्रमुच्यन्ते श्रुत्वेदं शास्त्रमुत्तमम्॥ (व्याघ्रपा० ६-७)

अभिवादनके योग्य तथा अयोग्य व्यक्तियोंका परिगणन किया गया है। जिस बातको महर्षि व्याघ्रपादने विशेष जोर देकर कहना चाहा है, वहाँ—'**व्याघ्रेण यथा प्रोक्तम्**', '**व्याघ्रस्य वचनं यथा**' इत्यादि कहकर अपना स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है। यहाँ इस स्मृतिकी दो-एक बातोंको संक्षेपमें दिया जाता है—

स्वधर्मकी अवमाननासे प्रत्यवाय

महर्षि व्याघ्रपादका स्पष्ट निर्देश है कि शास्त्रोंमें चारों वर्णोंके लिये जो धर्माचार प्रतिपादित किये गये हैं, उनका अपने-अपने वर्ण-मर्यादाकी रक्षा करते हुए अवश्य प्रतिपालन करना चाहिये; क्योंकि वही उसका शास्त्र-प्रतिपादित धर्म है। इसके विपरीत जो आचरण करता है, वह पापका भागी बनता है, अतः स्वधर्म-पालन ही परम श्रेयस्कर है—

यो यस्य विहितो धर्मस्तेन धर्मेण कारयेत्।
विपरीतं चरेद्यस्तु किल्बिषी स निगद्यते॥

(व्याघ्रपा० ३०)

देशधर्म (देशाचार)-की भी मान्यता है

जिस देश या जिस कुलमें परम्परासे जो आचार-विचार चलता चला आया है, वह भी मान्य है। अतः शास्त्र-मर्यादाके साथ ही देश एवं कुल-परम्पराकी मर्यादाकी रक्षा भी आवश्यक है। इन्हें 'देशाचार' या 'लोकाचार'की संज्ञा दी गयी है—

अन्ये च बहवो धर्मा देशे देशे व्यवस्थिताः।
ते ते धर्माः सदा कार्या व्याघ्रस्य वचनं यथा॥

(व्याघ्र० ३३)

वार्षिक श्राद्धमें अशौचकी व्यवस्था

वार्षिक श्राद्धमें यदि कोई आशौच हो जाय, तो आशौचमें श्राद्ध न करे। जब आशौच पूरा होकर शुद्धि हो जाय, तब वार्षिक श्राद्ध करे—

आब्दिके समनुप्राप्ते आशौचं यदि जायते।
आशौचे तु व्यतिक्रान्ते तत्र श्राद्धं प्रदीयते॥

(व्याघ्र० ५९)

स्त्रीके सपिण्डनका विचार

जिस स्त्रीका पति मर गया हो और उसके कोई संतान (पुत्र) न हो तो उस स्त्रीके मर जानेपर पतिके पिण्डमें उस स्त्रीका पिण्ड मिला देना चाहिये और यदि पति जीवित हो तो सास, उसकी सास और उसकी सास आदिके साथ उत्तरोत्तर सपिण्डीकरण करना चाहिये। (व्याघ्र० ६०)

स्त्रीके वाम एवं दक्षिण-भागमें बैठनेकी व्यवस्था

'व्याघ्रपादस्मृति'में बतलाया गया है कि कन्यादान, विवाह, देवमन्दिर तथा गृह आदिकी प्रतिष्ठा, यज्ञ-यागादि, हवन, देवपूजा, जातकर्म आदि संस्कारों, नान्दीश्राद्ध, सोमयज्ञमें तथा मधुपर्क-ग्रहण आदि समस्त धार्मिक शुभ कर्मोंमें धर्मपत्नीको पतिके दाहिने बैठना चाहिये और सेवाकार्यमें, शयनकालमें, वरके साथ तथा ब्राह्मणोंद्वारा आशीर्वाद-ग्रहण करनेमें, श्राद्धमें, ब्राह्मणोंके पाद-प्रक्षालनमें, रथ आदि यानमें स्त्रीको पतिके बायें भागमें बैठना चाहिये।[१]

छः कर्मोंमें आचमन अवश्य करे

श्राद्धकर्मके आरम्भमें, श्राद्धकी समाप्तिमें, ब्राह्मणोंके पाद-प्रक्षालनमें, ब्राह्मणोंके पूजनमें, श्राद्धमें विकिर-दानके समय तथा पिण्डदानमें—इन छः कर्मोंके समय आचमन अवश्य करे[२]।

अखण्ड जलधारासे ये कर्म न करे

मार्जन, तर्पण तथा श्राद्धकर्म अखण्ड जलकी धार

१-कन्यादाने विवाहे च प्रतिष्ठायज्ञकर्मणि। सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः स्मृता॥
दक्षिणे वसति पत्नी हवने देवतार्चने। शुश्रूषारतिकाले च वामभागे प्रशस्यते॥
जातकर्मादिकर्मणां कर्मकर्तुश्च दक्षिणे। तिष्ठेद्वरस्य वामे च विप्राशीर्वचनं तथा॥
त्रिषु स्थानेषु सा पत्नी वामभागे प्रशस्यते। पादशौचे पितृणां च रथारोहे ऋतौ तथा॥
श्राद्धे पत्नी च वामाङ्गे पादप्रक्षालने तथा। नान्दीश्राद्धे च सोमे च मधुपर्के च दक्षिणे॥ (व्याघ्र० ८४—८८)

२-श्राद्धारम्भेऽवसाने च पादशौचे तथार्चने। विकिरे पिण्डदाने च षट्सु आचमनं स्मृतम्॥ (व्याघ्र० १०८)

गिराते हुए नहीं करने चाहिये, अज्ञानवश जो ऐसा करता है, उसे नरकको प्राप्ति होती है—

मार्जनं तर्पणं श्राद्धं न कुर्याद्वारिधारया।
मोहाद्वा कुरुते यस्तु स विप्रो नरकं व्रजेत्॥

(व्याघ्र० १५२)

श्राद्धमें उत्तरोत्तर प्रशस्त सम्बन्धी

श्राद्धके भोजनमें दस ब्राह्मणोंसे एक भागिनेय (भांजा) श्रेष्ठ है, सौ ब्राह्मणोंसे दौहित्र (लड़कीका लड़का—नाती) श्रेष्ठ है, हजार ब्राह्मणोंसे बहिनका पति श्रेष्ठ है और दामाद तो अनन्तगुना श्रेष्ठ है—

भागिनेयो दशविप्रेषु दौहित्रः शतमुच्यते।
भगिनीभर्ता सहस्त्रेषु अनन्तं दुहितापतिः॥

(व्याघ्र० १६०)

नियत समयपर कर्म करनेका फल

'व्याघ्रस्मृति'में बतलाया गया है कि प्रत्येक कार्य उसके नियत समयपर करनेसे ही वह पूर्ण सिद्ध होता है। असमयमें की गयी कोई भी क्रिया निष्प्रयोजन ही होती है, सफल नहीं होती। अतः समयपर ही सब कार्योंको करना चाहिये। सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी देवता समयकी मर्यादामें ही प्रतिष्ठित हैं। यदि सूर्य समयपर उदय होना छोड़ दें तो संसारकी क्या स्थिति हो जायगी? इस प्रकार कालकी मर्यादामें स्थिर रहना ही देवोंका देवत्व है। समयपर दी गयी मात्र एक आहुति भी पूर्ण फलदायी होती है, किंतु असमयमें करोड़ोंकी संख्यामें भी आहुति दी जाय तो वह फलीभूत नहीं होती। जो बिना समयके कार्य करता है, समयपर कार्य नहीं करता और समय बीत जानेपर कार्य करनेकी चेष्टा करता है, उसका वह प्रयत्न निष्फल एवं निष्प्रयोजन ही समझना चाहिये—

कालातीतं तु यत्कर्म अकृतं तं विनिर्दिशेत्॥

(व्याघ्र० १६५)

श्राद्धमें स्वयंपाकका विधान

महर्षि व्याघ्रपाद बताते हैं कि श्राद्धमें पितरोंके निमित्त जो भोजन बनाया जाता है, उसे या तो स्वयं श्राद्धकर्ता बनाये या श्राद्धकर्ताकी पत्नी बनाये या पुत्र बनाये—ये तीनों ही स्वयंपाक (श्राद्धकर्ताके द्वारा स्वयं बनाये हुए) माने जाते हैं। माताके द्वारा बनाया गया पाक भी स्वयंपाक ही कहलाता है। इन सबमें श्राद्धकर्ताके द्वारा बनाया गया पाक (भोजन) 'आत्मपाक' कहलाता है, वह परम पवित्र कहा गया है। (व्याघ्र० २२२-२३)

इन वस्तुओंमें कोई दोष नहीं आता

अग्नि, भेड़के ऊनसे बने कम्बल या वस्त्र, ब्राह्मण, तिल, कुश तथा जौ—इनमें स्पर्शास्पर्श इत्यादिका कोई दोष नहीं आता—ऐसा महर्षि व्याघ्रपादका कथन है—

अग्निराविकवस्त्रं हि विप्रास्तिलाः कुशा यवाः।
एतेषां न कृतो दोषो व्याघ्रस्य वचनं यथा॥

(व्याघ्र० ३०५)

मार्जनकी व्यवस्था

गङ्गा आदि पवित्र नदियों तथा छोटे-बड़े पवित्र जलाशयोंमें बायें हाथमें उस स्थानका जल लेकर दाहिने हाथसे मार्जन (पवित्रताके उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारपूर्वक अपने ऊपर जल छिड़कना) नहीं करना चाहिये, बल्कि सीधे जलसे ही मार्जन करे, किंतु संध्या-कर्ममें पात्र-स्थित जलसे अथवा बायें हाथमें जल लेकर मार्जन किया जा सकता है[१]—

अभिवादन किसे न करे, किसे करे, निष्फल अभिवादन

यों तो भगवद्बुद्धिसे सारा संसार ही भगवन्मय है, सभी प्राणी भगवान्‌के ही रूप हैं, सभी प्रणम्य हैं, वन्दनीय हैं, नमस्कार्य हैं तथापि धर्मशास्त्रोंकी सदाचारमय मर्यादा है कि पवित्र, शुद्ध एवं सद्‌गुणी व्यक्ति ही प्रणामके योग्य हैं। 'व्याघ्रपादस्मृति'में बतलाया गया है कि रजस्वला, आशौचयुक्त सूतिका स्त्री, पतिकी प्राणघातिनी तथा गर्भपात करनेवाली स्त्री अभिवादन करनेके योग्य नहीं है। इसी प्रकार पाखंडी, पतित, व्रात्य (यज्ञोपवीतके नियत कालका उल्लंघन करनेवाला), महापातकी, दुष्ट स्वभाववाला, जूता पहने हुए व्यक्तिको तथा कृतघ्न (उपकारके बदले अपकार करनेवाला), मन्त्रोच्चारण करते हुए द्विज, शत्रु तथा भोजन करते हुए या भोजन करनेवाले व्यक्तिको और अपवित्र, दौड़ते हुए या दौड़नेवाले

१-गङ्गायां वापिकायां च तडागे च तथैव च। वामहस्ते जलं गृह्णन् न कुर्यान्मार्जनं द्विजः॥
पात्रस्थितोदकेनैव वामहस्तोदकेन वा। संध्यायां मार्जनं कुर्यात् नान्ययोस्तु कदाचन॥ (व्याघ्र० ३३५-३३६)

तथा नास्तिक व्यक्तिको, वमन करते समय, जम्हाई लेते समय, दन्तधावन करते समय जो द्विज प्रमादसे अभिवादन करता है, वह स्वयं अशुद्ध हो जाता है और अहोरात्र उपवास करनेपर शुद्ध होता है।

जो व्यक्ति देवालय या देवप्रतिमाको, संन्यासीको, त्रिदण्डी स्वामीको देखकर उन्हें प्रणाम नहीं करता है, वह प्रायश्चित्तका भागी होता है—

देवप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा त्रिदण्डिनम्।
नमस्कारं न कुर्वीत प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥

(व्याघ्र० ३६६)

महर्षि व्याघ्रपाद बतलाते हैं कि एक हाथसे अभिवादन कभी नहीं करना चाहिये, जो ऐसा करता है, उसका यावज्जीवन जो कुछ भी पुण्यार्जन किया रहता है, वह सब निष्फल हो जाता है। अर्थात् एक हाथसे प्रणाम आदि करनेपर जीवनभरका सारा पुण्य समाप्त हो जाता है। अतः दोनों हाथोंसे बड़ी ही नम्रता एवं श्रद्धा-भक्तिसे अभिवादन करना चाहिये—

जन्मप्रभृति यत्किंचित् सुकृतं समुपार्जितम्।
तत्सर्वं निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात्॥

(व्याघ्र० ३६७)

आख्यान—

असंतोष विद्वान्‌को भी तुच्छ बना देता है

[सुव्रत ब्राह्मणकी कथा]

शास्त्रोंमें बताया गया है कि संतोषमें ही सुख है, असंतुष्ट रहनेपर कभी सुख मिल ही नहीं सकता। असंतुष्ट-मनसे धर्म भी नहीं होता—

'असंतुष्टे सुखं नास्ति न धर्मः क्षुद्रमानसे।

(व्याघ्रपाद० ३७१)

सुव्रत नामके एक ब्राह्मण नर्मदाके तटवर्ती एक गाँवमें रहते थे। अर्थसहित वेद उन्हें कण्ठस्थ था। धर्मशास्त्रके भी वे परिनिष्ठित विद्वान् थे। पुराणोंकी व्याख्या वे जैसी करते थे, वैसी व्याख्या कोई कर नहीं पाता था। इस तरह सुव्रतमें बहुत गुण थे, किंतु उनमें एक बहुत बड़ा अवगुण था—पैसा जोड़ना। पैसा जोड़नेवाला कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। सुव्रत भी रोज हिसाब लगाया करते थे कि आज कितना आया और मूल पूँजी बढ़कर कितनी हो गयी। यह एक चक्कर था, जिससे वे दिन-रात परेशान रहते थे। न खाते थे और न दान ही करते थे। रोज गिना करते थे कि अब कितना जमा करूँगा। धनके पीछे उनके नित्य-नैमित्तिक कर्म भी छूट गये थे, वे सदा बेचैन दिखायी देते थे। किसीने कभी उनको सुखी नहीं देखा। संतोष नहीं तो सुख कहाँसे मिले।

उनमें प्रतिभा तो थी ही। पैसा जोड़नेके लिये देश-विदेशकी भाषाएँ सीख लीं। लोभ बढ़ता गया और बढ़ता ही गया। फिर वे अन्यायसे भी धन जोड़ने लगे। इस तरह शास्त्र पढ़कर भी वे घिनौना जीवन जी रहे थे। इसी उधेड़बुनमें उनके जीवनकी सांध्य-वेला आ पहुँची। असंतुष्ट रहनेसे उनकी सभी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगीं। धीरे-धीरे उनका चलना-फिरना भी बंद हो गया। एक लाखकी स्वर्णमुद्राएँ उन्होंने जोड़ रखी थीं। अब उसमें एक संख्याका भी बढ़ाना कठिन हो गया था। चिन्ताके मारे रात-दिन तड़पने लगे।

असंतोषने एक चोटीके विद्वान्‌की यह दुर्दशा कर डाली। इसी बीच कुछ चोर उनके घरमें घुस आये, उन्होंने उनके मुँहमें कपड़ा ठूँसकर एवं रस्सीसे उन्हें कसकर बाँध दिया और सारी पूँजी लेकर एक-दो तीन हो गये। बूढ़े ब्राह्मण रो-रोकर अधीर हो गये। धीरे-धीरे शास्त्रोंके अध्ययनने उनमें विवेक जगाया। अब उनको दीखने लगा कि पैसा जोड़नेके पीछे मैंने अपनी आत्माका हनन कर दिया। न मैंने कभी भगवान्‌को याद किया, न दान दिया, न पुण्य किया। परलोकमें मेरी क्या दशा होगी!

विद्वान् तो थे ही, शास्त्रोंके अध्ययनने उन्हें एक सरल साधन सुझाया। वह साधन है—माघ-स्नान। उन्हें पता था

कि माघ-स्नान करनेसे सारे पाप-ताप धुल जाते हैं और स्वर्गकी भी प्राप्ति हो जाती है। उनके भाग्यसे उस समय माघका ही महीना चल रहा था, पासमें नर्मदा-जैसी पुण्य नदी बह रही थी। अब प्रश्न था शारीरिक क्षमताका। चल-फिर तो सकते नहीं थे। उन्होंने सोचा कि जैसे भी हो माघ-स्नान तो करना ही है। वे धीरे-धीरे उठते-बैठते नर्मदाजी जाने लगे। भक्तिभावसे वे नर्मदामें स्नान करते। शास्त्र-विश्वासने उनके हृदयमें संतोषका प्रकाश कर दिया। उन्हें अब विश्वास होने लगा कि माघ-स्नानसे मेरा पाप-ताप धुल गया है और अब मैं स्वर्गका अधिकारी हो गया हूँ। अब उनके चौबीस घंटे भगवान्‌के साथ गुजरते और वे आनन्दकी लहरोंमें डूबते-उतराते रहते। किसी तरह नौ दिनोंतक माघ-स्नान कर सके। दसवें दिन उनकी शारीरिक शक्तिने उनका साथ छोड़ दिया, फिर भी किसी तरह गिरते-पड़ते वे स्नान करने पहुँच ही गये। शरीरपर ध्यान देना उन्होंने छोड़ दिया था। विधिके साथ वे स्नान करते थे। एक दिन तटपर निकलते ही शीतसे उनका शरीर जकड़ गया और उनके प्राण-पखेरू उड़ गये, किंतु उनके मृत मुखमण्डलपर संतोषके सुखने अपनी अमिट छाप छोड़ रखी थी।

आकाशसे एक तेजस्वी विमान उतरा और सुव्रतको चढ़ाकर स्वर्ग ले गया। एक मन्वन्तरतक वे सुख-ही-सुख भोगते रहे। पापका कोई कण तो बचा नहीं था कि उन्हें किसी तरहका दुःख हो। [पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २३८]

षट्पदी-स्तोत्रम्

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्। भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥
दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे। श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥
उद्धृतनग नगभिदनुज दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे। दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः॥
मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवतावता सदा वसुधाम्। परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम्॥
दामोदर गुणमन्दिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द। भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे॥
नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ। इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु॥

हे विष्णो! [मेरे] अविनयको दूर करो, मनको दमन करो, विषयरूपी मृगतृष्णा-[के मोह] को शमन करो। भूतों (प्राणियों)-के प्रति दयाके भावका विस्तार करो, [और मेरा] संसारसागरसे उद्धार करो। सुरधुनी (गङ्गा)-रूपी मकरन्द या मधुसे युक्त [जिन युगल चरण-कमलोंके]-परिमलका सम्भोग ही सच्चिदानन्दरूप है, जो संसारभयसे उत्पन्न खेदके नाशक हैं, श्रीपति भगवान् विष्णुके उन चरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ, हे नाथ! मुझमें और तुममें भेद न होनेपर भी मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो, क्योंकि [समुद्र और तरंगमें भेद न होनेपर भी] समुद्रका अंश तरंग होता है, तरंगका अंश समुद्र कदापि नहीं होता। जिन्होंने गोवर्धन पर्वतको उठा लिया, जो पर्वतोंका छेदन करनेवाले इन्द्रके अनुज [अर्थात् उपेन्द्र] हैं, जो दनुजकुलके शत्रु हैं; सूर्य-चन्द्र जिनके चक्षु हैं, हे प्रभो! आपका साक्षात्कार होनेपर क्या भव (जन्म-मरण)-का तिरस्कार नहीं होता ? हे परमेश्वर! मत्स्यादि अवतारोंके द्वारा [तुमने] सदा ही वसुधाका पालन किया है, भवतापसे भयभीत मैं तुम्हारे द्वारा परिपालन-योग्य हूँ। हे दामोदर! हे गुणोंके मन्दिर, हे सुन्दरमुखकमलविशिष्ट गोविन्द! संसारसमुद्रके मन्थनमें मन्दराचल-स्वरूप! तुम मेरे परम भयको दूर करो। हे नारायण! करुणामय! मैं तुम्हारे उभय चरणोंकी शरण लेता हूँ। यह छः पदोंकी समष्टिरूप भ्रमरी सदा मेरे मुखकमलमें वास करे।

'भरद्वाजस्मृति'के प्रणेता महर्षि भरद्वाज और उनका धर्मशास्त्र

महर्षि भरद्वाज प्राचीनतम वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ये ऋग्वेदके छठे मण्डलके द्रष्टा हैं, इसलिये ऋग्वेदका छठा मण्डल 'भरद्वाज-मण्डल' कहलाता है। वैदिक मन्त्रों एवं सूक्तोंके द्रष्टा होनेके साथ ही इनके 'भरद्वाज-श्रौतसूत्र' तथा 'भरद्वाजगृह्यसूत्र' आदि ग्रन्थ भी हैं। ये कृष्ण-यजुर्वेदशाखाके श्रौत एवं गृह्यसूत्रकार हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्यमें इनका उल्लेख एक आचार्यके रूपमें तथा अष्टाध्यायीमें '**ऋतो भारद्वाजस्य**' (७। २। ६३) वैयाकरणके रूपमें हुआ है। सबसे बड़ी बात यह है कि महर्षि भरद्वाज आजके समस्त श्रेष्ठ वैज्ञानिक अनुसंधानोंके मूल द्रष्टा हैं। उनका 'यन्त्रसर्वस्व' नामक ग्रन्थ सारे वैमानिक कलाओं और समस्त यान्त्रिक विधाओंका मूल स्रोत है। विमानकलापर उनके 'अंशुमत्तन्त्र' और 'आकाशशास्त्र'—ये दो प्रमुख ग्रन्थ हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें महर्षि भरद्वाजके वेदाध्ययनके लिये एक-एक हजार वर्ष—इस प्रकार तीन हजार वर्षोंतक लगातार तपस्या करके आयु बढ़ानेका उल्लेख प्राप्त होता है। इससे उनके विद्याध्ययनके व्यसनका अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने अध्यात्मविद्या तथा ब्रह्मविद्याका सूक्ष्मतम ज्ञान प्राप्त किया, जिसका निर्देश ब्राह्मण, आरण्यक तथा मुण्डक आदि उपनिषदोंमें हुआ है। ये सप्तर्षियोंमें परिगणित होते हैं।

गोत्र-प्रवर्तक ऋषियोंमें इनका नाम प्रथम श्रेणीमें प्राप्त होता है और आज भी अधिकांश लोग 'भरद्वाज' गोत्रके ही प्राप्त होते हैं। वाल्मीकिरामायण तथा योगवासिष्ठ आदि विशिष्ट भक्ति-ज्ञानके ग्रन्थोंका आरम्भ भी भरद्वाज-वाल्मीकि-संवादके रूपमें ही प्राप्त होता है। इससे महर्षि भरद्वाजजीकी अध्ययनप्रियता एवं तपस्या आदिका भान होता है।

पुराणों तथा श्रीरामचरितमानस आदिसे ज्ञात होता है कि महर्षि भरद्वाज देवगुरु बृहस्पतिजीके भाई उतथ्यके पुत्र थे और श्रीरामकथा-श्रवणके अनन्य रसिक थे। ये ब्रह्मनिष्ठ, श्रोत्रिय, तपस्वी और भगवान्‌के परम भक्त थे। तीर्थराज प्रयागमें गङ्गा-यमुनाके सङ्गमसे थोड़ी ही दूरपर भरद्वाजजीका आश्रम था। सहस्रों ब्रह्मचारी इनसे विद्याध्ययन करने आते और बहुतसे विरक्त साधक इनके समीप रहकर अपने अधिकारके अनुसार योग, उपासना, तत्त्वानुसंधान आदि पारमार्थिक साधन करते हुए आत्मकल्याणकी प्राप्तिमें लगे रहते। भरद्वाजजीकी दो पुत्रियाँ थीं, जिनमें एकका महर्षि याज्ञवल्क्यजीसे विवाह हुआ था और दूसरी विश्रवा मुनिकी पत्नी हुई, जिसके पुत्र लोकपाल कुबेरजी हुए।

भगवान् श्रीराममें भरद्वाजजीका अनन्य अनुराग था। जब श्रीराम वन जाने लगे, तब प्रयागराजमें भरद्वाज मुनिके आश्रममें उन्होंने एक रात्रि निवास किया। मुनिने भगवान्‌से उस समय अपने हृदयकी निश्चित धारणा बतायी थी—

करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किएँ कोटि उपचार॥

जब श्रीभरतलालजी प्रभुको लौटानेके उद्देश्यसे चित्रकूट जा रहे थे, तब वे भी एक रात्रि मुनिके आश्रममें रहे। भरद्वाज मुनिने अपने तपोबलसे तथा सिद्धियोंके प्रभावसे अयोध्याके पूरे समाजका ऐसा अद्भुत आतिथ्य किया कि सभी लोग चकित रह गये। जो भगवान्‌के सच्चे भक्त हैं, उन्हें भगवान्‌के भक्त भगवान्‌से भी अधिक प्रिय लगते हैं। ऐसे भगवद्भक्तका मिलन उन्हें प्रभुके मिलनसे भी अधिक सुखदायी होता है। भरद्वाजजीको भरतजीसे मिलकर ऐसा ही असीम आनन्द हुआ, उन्होंने कहा भी—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

जब श्रीरघुनाथजी लंकाविजय करके लौटे, तब भी वे पुष्पक विमानसे उतरकर प्रयागमें भरद्वाजजीके पास गये। श्रीरामके साकेत पधारनेपर भरद्वाजजी उनके भुवनसुन्दर-रूपके ध्यानमें तथा उनके गुणोंके चिन्तनमें ही लगे रहते थे। माघ महीनेमें प्रतिवर्ष प्रयागराजमें ऋषि-मुनिगण मकरस्नानके लिये एकत्र होते थे। एक बार जब माघभर रहकर सब मुनिगण जाने लगे, तब बड़ी श्रद्धासे प्रार्थना करके भरद्वाजने महर्षि याज्ञवल्क्यको रोक लिया और उनसे श्रीरामकथा सुनानेकी प्रार्थना की। याज्ञवल्क्यजीने प्रसन्न होकर श्रीरामचरितका वर्णन किया। इस प्रकार भरद्वाजजीकी कृपासे लोकमें

श्रीरामचरितका मङ्गल-प्रवाह प्रवाहित हुआ। तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्रिकाल-संध्या-वन्दन, सदाचार-पालन, धर्माचरण तथा अतिथि-सेवा एवं देवपूजन—ये उनके नित्य दैनिकचर्याके प्रमुख कर्म रहे हैं। इन्होंने त्रिकाल-संध्या करनेका विशेष निर्देश दिया है और संध्योपासनाकी महती शक्तिका वर्णन किया है। नित्य त्रिकाल-संध्या-वन्दन एवं गायत्री-उपासनाके प्रभावसे ये समस्त संसार तथा देवलोक एवं पितृलोकके भी अत्यन्त प्रीतिभाजन बने। इन्होंने संध्याकी महिमापर एक विशाल संहिता लिखी, जो 'भरद्वाजस्मृति', 'भरद्वाजधर्मशास्त्र' तथा 'भरद्वाजसंहिता'के नामसे विख्यात है, जिसमें गायत्रीकी महिमा, त्रिकाल-संध्या-वन्दनकी विधि तथा वेदमाता भगवती गायत्रीकी आराधना-पद्धतिका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है।

पुराणोंमें भी इनके अनेक भक्ति-ज्ञान एवं वैराग्यमय उपदेश प्राप्त होते हैं, इन्होंने धर्माचरणपर विशेष बल दिया है और त्याग-तपस्या तथा भक्ति एवं साधनामय जीवनको सर्वोत्तम माना है। तृष्णा मनुष्यके लिये कितनी घातक है, इस विषयमें उनका एक उपदेश अत्यन्त हितकारी, ग्राह्य एवं अनुपालनीय है। वे कहते हैं—

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति॥
चक्षुःश्रोत्राणि जीर्यन्ति तृष्णैका तरुणायते।
सूच्या सूत्रं यथा वस्त्रे संसूचयति सूचिकः॥
तद्वत् संसारसूत्रं हि तृष्णासूच्योपनीयते।
यथा शृङ्गं रुरोः काये वर्धमाने च वर्धते॥
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते।
अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दोषशतावहा॥
अधर्मबहुला चैव तस्मात् तां परिवर्जयेत्॥

(पद्म०, सृष्टि० १९। २५४—२५८)

जब मनुष्यका शरीर जीर्ण हो जाता है, तब उसके बाल पक जाते हैं और दाँत भी टूट जाते हैं, किंतु धन और जीवनकी आशा बूढ़े होनेपर भी जीर्ण नहीं होती, वह सदा नयी ही बनी रहती है। आँख और कान जीर्ण हो जाते हैं, पर एक तृष्णा ऐसी है, जो तरुणी ही होती रहती है। जैसे दरजी सूईसे वस्त्रमें सूतको प्रवेश कराता रहता है, उसी प्रकार तृष्णारूपी सूईसे संसाररूपी सूत्रका अपने अन्तःकरणमें प्रवेश होता है, जैसे बारहसिंगेके सींग शरीर बढ़नेके साथ बढ़ते हैं, वैसे ही धनकी वृद्धिके साथ-साथ तृष्णा बढ़ती रहती है। तृष्णाका कहीं ओर-छोर नहीं है, उसका पेट भरना कठिन होता है, वह सैकड़ों दोषोंको ढोये फिरती है, उसके द्वारा बहुत-से अधर्म होते हैं। अतः तृष्णाका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

भरद्वाजस्मृति

महर्षि भरद्वाजजीका ज्ञान-सत्र एवं स्वाध्याय, सत्संग नित्य चला करता था। अनेक ऋषि-महर्षि, संत-महात्मा भक्त आपके आध्यात्मिक उपदेशों एवं नित्य-नैमित्तिक सदाचारमय धर्मचर्यासे प्रेरणा प्राप्त करते रहते थे।

एक बारकी बात है, हेमाद्रिके पुण्य, पवित्र एवं रमणीय शिखरपर महर्षि भरद्वाज ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न थे। उसी समय भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, शाण्डिल्य, गौतम, गर्ग, कपिल, नारद, शुकदेव, जमदग्नि, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र तथा पराशर आदि धर्मज्ञ ऋषि-मुनि महर्षि भरद्वाजका दर्शन करने वहाँ आये और उन्होंने महर्षिका विशेष पूजन एवं अभिनन्दन किया और फिर उनसे कहा—

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्ववेदार्थपारग।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ सर्वसत्कर्मकोविद॥
संध्यादिप्रमुखाः सर्वा नित्यनैमित्तिकाः क्रियाः।
यास्ता द्विजातिभिः कार्या कथं नो वक्तुमर्हसि॥

(भरद्वाजस्मृति १। ६-७)

'हे भगवन्! आप सभी धर्मोंको जाननेवाले हैं। आपको सभी वेदोंके अर्थोंका पूर्ण परिज्ञान है। आप सभी शास्त्रोंके अर्थोंके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वको जाननेवाले हैं और आप सभी सत्कर्मों—धर्माचरणोंको भलीभाँति जानते हैं, इसलिये द्विजातियोंके संध्या-वन्दन आदि नित्य-नैमित्तिक जो कर्म कहे गये हैं, आप उन्हें हमें बतलानेकी कृपा करें।'

—इसपर महर्षि भरद्वाजजीने जो भी उन्हें बतलाया, वही 'भरद्वाजस्मृति'का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रारम्भमें ही महर्षि भरद्वाजका कथन है कि नित्य, नैमित्तिक अथवा काम्य जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसके कर्ताको सर्वप्रथम पवित्र होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये शास्त्रोंमें बाह्य तथा आभ्यन्तर शौचकी जो भी

विधियाँ बतलायी गयी हैं, उनका प्रतिपालन अवश्य करना चाहिये; क्योंकि बिना बाह्याभ्यन्तर-शुद्धिके कोई भी कर्म सफल नहीं होता।

महर्षि भरद्वाजजीने अपने धर्मशास्त्र (भरद्वाजस्मृति)-को २५ अध्यायोंवाला बतलाया है और प्रत्येक अध्यायमें वर्णित विषयोंका परिगणन भी किया है, किंतु वर्तमानमें जो उपलब्ध 'भरद्वाजस्मृति' है, उसमें १९ अध्याय और लगभग चौदह सौ श्लोक हैं।

मुख्यरूपसे यह स्मृति गायत्री-उपासनामें ही पर्यवसित है और इसमें भगवती गायत्रीकी आराधनाविधि तथा त्रिकाल-संध्या-विधान और वेदमाता गायत्रीके विराट् स्वरूपका एवं उनके महाध्यानका वर्णन है। वास्तवमें संध्या तथा गायत्रीका जितना विस्तारसे भक्ति, उपासना एवं ज्ञानमय वर्णन इसमें हुआ है वैसा एक स्थलपर वर्णन अन्यत्र नहीं दीखता। संध्या एवं गायत्री-उपासकों तथा जिज्ञासुओंको चाहिये कि वे इस स्मृतिका अध्ययन अवश्य करें, इससे उन्हें बड़ा लाभ होगा।

आगे इस स्मृतिकी कुछ सारभूत बातोंको संक्षेपमें दिया जा रहा है—

संध्याकी कुछ ज्ञातव्य बातें

संध्याके विषयमें बतलाया गया है, वह अव्यक्त, निराकार परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न है, इसलिये ब्रह्मस्वरूपिणी भी कहलाती है और उसी एक ब्रह्मसे त्रिधा होकर तीन रूप भी धारण करती है। समस्त व्यक्त-अव्यक्त, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, स्थूल-सूक्ष्म, प्रकट एवं अप्रकट (निगूढ़)—सभी कर्मोंकी साक्षी है, प्रत्यक्षद्रष्टा है अर्थात् जिससे त्रैकालिक किसीका कोई भी कर्म छिपा हुआ नहीं है, जो दीप्तिमती (उज्ज्वल प्रकाशसे प्रकाशित) तथा ईश्वरीय शक्ति है, उसे ही ज्ञानसम्पन्न मनीषियोंने 'संध्या' इस नामसे अभिहित किया है—

ब्रह्मव्याकारभेदेन याभिन्ना कर्मसाक्षिणी।
भास्वतीश्वरशक्तिः सा संध्येत्यभिहिता बुधैः॥

(भरद्वाज० ६। २)

प्राक्-संध्या, मध्य-संध्या तथा सायं-संध्या—इस प्रकारसे जन्म, स्थिति तथा लयरूप तीन संध्या होती है। प्राक्-संध्या (पूर्व-संध्या)-को ब्राह्मी, मध्य-संध्याको वैष्णवी और सायं या पश्चिम-संध्याको रौद्री संध्या कहा गया है। ये एक ही संध्याके तीन रूप हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद—ये भी एक संध्याके तीन स्वरूप हैं।

सप्त महाव्याहृतियाँ

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा **सत्यम्**—ये सात महाव्याहृतियाँ हैं। प्रणव (ॐकार) तथा व्याहृतियोंके साथ गायत्रीमन्त्रका जप किया जाता है। विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, भृगु तथा कश्यप—ये सप्त ऋषि सात व्याहृतियोंके क्रमशः ऋषि कहे गये हैं। ऐसे ही अग्नि आदि सात देवता इनके देवता हैं।

भरद्वाजस्मृतिके छठे अध्यायमें गायत्री-मन्त्रका विस्तृत अर्थ देते हुए गायत्री-मन्त्रके २४ अक्षरोंके ऋषि, छन्द, देवता, तत्त्व, शक्तियाँ, मुद्राएँ (सुमुख, सम्पुट इत्यादि), वर्ण, २४ मन्त्राक्षरोंसे न्यास, २४ अक्षरोंके उच्चारणका फल इत्यादि विस्तारसे बतलाया गया है।

जपकी गणना अवश्य करे

भरद्वाजस्मृतिमें यह बतलाया गया है कि जपकर्ताको अपने जपकी गणना अवश्य करनी चाहिये और एक निश्चित संख्यामें नित्य श्रद्धापूर्वक जप करना चाहिये। यथासम्भव जप अधिक-से-अधिक करना चाहिये। यदि जपकी संख्या निश्चित न की जाय तो प्रमादसे कभी कम-बाकी भी हो सकता है, कभी आजका छूटा कल कर लेंगे या आज समय नहीं है, आजका जप कल पूरा कर लेंगे, इस प्रकारसे अनियमितता आ जायगी और ऐसे ही प्रमाद या आलस्यवश जप करना छूट भी सकता है। इसलिये जपकी गणना अवश्य करे। बिना गणनाके किया जप निष्फल ही होता है—

वृथा भवेत् कृतो विप्रैः संख्याज्ञानं विना जपः।
तस्मात् संख्यापरिज्ञानमवश्यं जपकर्मणि॥

(भरद्वाजस्मृति ६। १०२)

सातवें अध्यायमें जपमाला गूँथनेकी विधि तथा उसमें लगायी जानेवाली ग्रन्थियोंके तत्त्व-रहस्यकी बात बतलायी गयी है।

बिना प्रतिष्ठित मालासे जप न करे

माला तुलसी-रुद्राक्ष इस प्रकारसे कई प्रकारकी होती है, किंतु उनके द्वारा जप करनेसे पूर्व मालाकी प्राण-प्रतिष्ठा करनी आवश्यक होती है। जैसे मन्दिरमें देवता आदिकी जो प्रतिमा होती है, वह काष्ठ, धातु तथा पत्थर आदिकी होती है। विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारण एवं प्रतिष्ठा-विधानके द्वारा ही उनमें देवत्वका आधान होता है अन्यथा वह सामान्य पत्थर ही रहता है। मन्त्रोंमें इतनी शक्ति रहती है कि विद्वान् ब्राह्मणके द्वारा उच्चरित होनेपर वे मन्त्र पत्थरको भी देवता बना देते हैं और अचेतन पत्थर भी सजीव हो उठते हैं। तदनन्तर ही उनकी पूजा फलवती होती है, इसी प्रकार गायत्री आदि मन्त्रोंको मालामें जपनेसे पूर्व उसकी यथाविधि प्राण-प्रतिष्ठा अवश्य करा लेनी चाहिये और ऐसी प्रतिष्ठित तथा सिद्ध मालाको देवस्वरूप ही समझकर उसका खूब आदर करना चाहिये। तभी मन्त्र-साधना सफल होगी अन्यथा निष्फल ही रह जाती है[१]। आगे इस स्मृतिमें विस्तारसे मालाकी प्राणप्रतिष्ठा-विधि बतलायी गयी है।

जपके समय निषिद्ध कर्म

मन्त्रका जप अत्यन्त शुद्ध एवं पवित्र होकर भक्तिभावपूर्वक मन्त्रके अर्थोंको समझते हुए करना चाहिये। जप करते समय निषिद्ध कर्मोंका आचरण कदापि न करे। यथा—पाँव फैलाकर न बैठे, एक आसनसे स्थिर होकर रहे, किसीसे कुछ भी बात न करे। इधर-उधर न देखे, दृष्टि स्थिर रखे, जँभाई न ले। सोये नहीं, आलस्य न करे। नखच्छेदन न करे। हाथोंको फैलाये या रगड़े नहीं। अँगुलीमें रस्सी आदि न लपेटे, कोई तिनका आदि मुँहमें लेकर चबाये नहीं। न थूके न खखारे, दाँत न किटकिटाये, शरीरमें कम्पन न करे। हँसे नहीं, क्रोध न करे तथा कुत्सित बातें ध्यानमें न लाये आदि। ऐसा आचरण करनेसे किया हुआ जप नष्ट (निष्फल) हो जाता है—

भवन्ति कर्माण्येतानि जपनाशकराणि च॥

(भरद्वाज० ८। ८)

यदि प्रमादवश ये कर्म हो जायँ तो हाथ-पाँव धोकर यथाविधि आचमन करके तीन प्राणायाम करे और भगवान् सूर्यका ध्यान करके उन्हें प्रणाम करे, पुनः शेष जप करे[२]।

गायत्री-पूजन

भरद्वाजस्मृतिके ९वें अध्यायमें गायत्री-मन्त्रका साधन-क्रम तथा १०वें अध्यायमें गायत्री-मन्त्रका अर्थ बतलाया गया है और ११वें अध्यायमें विस्तारसे गायत्रीदेवीकी षोडशोपचार पूजा-विधि दी गयी है। उसमें कहा गया है कि स्नानादिसे पवित्र होकर शुक्ल पवित्र वस्त्र धारण करके पूजाके सभी उपचारोंको यथास्थान उपकल्पित करे, तदनन्तर गायत्री-पीठ या यन्त्रपर पूजा करे या भगवती गायत्रीदेवीके ध्यानमें बतलाये गये स्वरूपके अनुसार प्रतिमा बनाकर उसकी प्रतिष्ठा करके पीठमें स्थापित कर आवाहन करे, इसके बाद गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि सभी यथोपलब्ध उपचारोंसे भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक पूजा करे, अभिषेक करे, मूलमन्त्रका जप करे और पूजनके अन्तमें वेदमाता भगवती गायत्रीसे इस प्रकार क्षमा-प्रार्थना करे—

अज्ञानेन प्रमादेन द्रव्यालाभेन वा यदि।
यन्न्यूनमतिरिक्तं वा तत् क्षमस्व ममेश्वरि।
जगन्मये जगन्मातः जगज्जननकारिणी॥
यदलीकं कृतं सर्वं तन्मया क्षन्तुमर्हसि।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं महेश्वरि॥
यत्पूजितं मया देवि परिपूर्णं तदस्तु मे।

(भरद्वाज० ११। १११—११४)

अर्थात् हे देवि! मैंने अज्ञानवश, प्रमादवश अथवा द्रव्य आदि उपचारोंके अभावमें जो कुछ भी कम या अधिक किया, हे परमेश्वरि! आप वह सब मेरा अपराध क्षमा कर दें। हे जगन्मातः! यह सारा संसार आपका ही रूप है, आपसे ही व्याप्त है, आप ही इस संसारकी उत्पत्ति (स्थिति

१-अप्रतिष्ठितमाला या सा जपे विफला स्मृता। तस्मात् प्रतिष्ठा कर्तव्या जपस्य फलमिच्छता॥ (भरद्वाज० ७। ५३)

२-भवन्ति कर्माण्येतानि यदि चेत्तु प्रमादतः। प्रक्षाल्य चरणौ हस्तौ चाचम्य च यथाविधि॥
प्राणायामत्रयं कृत्वा सवितारं विलोक्य च। नमस्कृत्य ततो धीमान् जपशेषं समाचरेत्॥ (भरद्वाज० ८। १०-११)

एवं प्रलय)-की मूलभूता हैं। मुझसे जो भी मिथ्या कर्म हो गया है, उसे आप क्षमा करें। हे महेश्वरि! मन्त्रोंके ज्ञानसे अथवा विधि-विधानसे अथवा श्रद्धा-भक्तिभावसे रहित जो भी जैसी भी मुझसे आपकी पूजा हो सकी है, उसे आप पूर्ण कर दें। अर्थात् मेरी की गयी पूजाको आप स्वीकार कर लें।

तदनन्तर प्रदक्षिणा एवं पुष्पाञ्जलि प्रदान कर प्रणवका उच्चारण करके आद्यविद्या भगवती गायत्रीको सूर्यबिम्बमें प्रवेश करनेकी भावनासे विसर्जित करे—

प्रणवेनाथ देवेशीं सूर्यविम्बे प्रवेशयेत्॥

(भरद्वाज० ११। ११७)

गायत्रीका त्रिकाल-ध्यान

बिना देवीका ध्यान किये प्रयत्नपूर्वक किया गया सारा जप भी निष्फल ही होता है—

ध्यानं विना जपं सर्वं यत्नेनापि कृतं वृथा॥

(भरद्वाज० १२। ३)

—इसलिये ध्यानके साथ ही जप करना चाहिये। अध्याय १२में प्रातः-मध्याह्न तथा सायं त्रैकालिक ध्यानके स्वरूप बतलाये गये हैं। प्रातःकालकी संध्यामें हंसपर पद्मासनमें आरूढ, चतुर्मुखी, चतुर्हस्ता, अष्टनेत्रवाली, प्रसन्नमुखी एवं अनेक दिव्य गन्ध तथा माल्याम्बरोंसे सुशोभित, अक्षमाला, कूर्च, स्रुवा तथा कमण्डलु धारण की हुई ब्रह्माणी भगवती गायत्रीका ध्यान करना चाहिये (भरद्वाज० १२। ४—७)। मध्याह्न-संध्यामें श्वेत वस्त्रालंकारोंसे सुशोभित कमल, शंख, चक्र तथा गदा धारण की हुई चतुर्हस्ता, वैष्णवी भगवती सावित्रीका ध्यान करना चाहिये (भरद्वाज० १२। ९—१२) तथा सायंकालमें कृष्णवर्णा, वृषारूढा, त्रिनेत्रा, चतुर्भुजा, व्याघ्रचर्माम्बरधारिणी एवं अपने चारों हाथोंमें अक्षमाला, त्रिशूल, डमरू तथा कपाल धारण की हुई रुद्राणीस्वरूपा भगवती सरस्वतीका ध्यान करना चाहिये।

गायत्रीका महाध्यान (विराट्स्वरूपका वर्णन)

अध्याय १३ (श्लोक ११—२४)-में भगवती गायत्री माताके विराट्स्वरूपका वर्णन किया गया है और उनकी दिव्य मानसी पूजा एवं गायत्रीमहिमाका प्रतिपादन किया गया है। भगवती गायत्रीके विराट्स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा गया है कि समस्त वेदादिशास्त्र, समस्त विद्याएँ, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी देवता विराट्स्वरूपा भगवती गायत्रीके मुख आदि विभिन्न अवयव हैं। देवीके पंद्रह मुख तथा तीन पैर हैं। वेदत्रयी ही तीन चरण हैं। मलय, महेन्द्र आदि महान् कुल पर्वत इनके ऊरु हैं। सभी सागर वस्त्र-रूप हैं। पूर्व आदि आठों दिशाएँ आठ कुक्षियाँ, इतिहास-पुराण नाभि, सभी छन्द स्तनरूप हैं। धर्मशास्त्र भगवती गायत्रीके हृदयरूप हैं। न्यायशास्त्र बाहु हैं। वेदान्तशास्त्र विशुद्ध निर्मल मन हैं। वायु निःश्वास हैं। चन्द्रमा-मण्डल मुख है। बादलोंकी काली घटाएँ देवी भगवती गायत्रीके काले घने बाल हैं। देवीके मुखमें ब्रह्मा, शिखामें (शीर्षमें) रुद्र और आत्मामें विष्णु प्रतिष्ठित हैं। इनका सांख्यायन गोत्र है। सारा विश्व इन्हींका स्वरूप है। ऐसी देवी भगवतीका अपने हृत्कमल अथवा दिव्य आकाश-मण्डल अथवा सूर्यमण्डल अथवा दिव्य हेममय सिंहासनमें ध्यान करके मनसा कल्पित विविध दिव्य उपचारोंसे उनकी मानसी पूजा करनी चाहिये।

इस स्मृतिके १४वें अध्यायमें गायत्रीके पूजनमें विहित तथा निषिद्ध गन्ध, पुष्प, धूप आदि उपचारों, वस्तुओं, पदार्थोंको बतलाया गया है।

चढ़ाने योग्य तथा न चढ़ाने योग्य पुष्पोंके लक्षण

अच्छे एवं चढ़ाने योग्य पुष्पोंके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि पुष्प दल (पत्ते)-युक्त हों, उनका थोड़ा नाल (डंठल) भी साथमें हो, लंबा नाल न हो, अच्छी तरह खिल गये हों, ताजे हों तथा आँखोंको प्रिय लगनेवाले एवं सुगन्धित हों। ज्यादे खिलकर मुरझानेवाले, बिना खिले हुए सूखे, पत्तोंसे रहित, नाल (डंठल)-रहित, बासी, बाल, कीड़े-मकोड़ोंवाले, जमीनपर टूटकर गिरे हुए, चोट खाये हुए तथा खींचकर तोड़े गये फूल चढ़ाने योग्य नहीं होते[1]।

---

[1]-अतिपक्वान्यपक्वानि तप्तानि विदलानि च। निर्नालानि प्राक्तनानि केशकीटयुतानि च॥
विशीर्णानि सरंध्राणि कृष्टोपहतानि च। एतान्यलक्षणादीनि पुष्पाणि कथितानि तु॥ (भरद्वाज० १४। १५-१६)

पुष्पोंके अभावमें पूजा-विधान

विहित एवं प्रशस्त पुष्पोंके अभावमें पत्ते या पल्लवोंसे, पल्लवोंके अभावमें अक्षतोंसे या तिलसे भगवती गायत्रीकी पूजा करे। गायत्रीकी पूजामें बिल्व, अपामार्ग, तुलसी, दमनक (दौना), भृङ्गराज, खदिर, हरिताल तथा कुश आदिके कोमल पत्तों या पल्लवोंसे पूजा करनेका विधान है।

उत्तम, मध्यम तथा सामान्य पुष्पोंद्वारा की गयी अर्चाके तीन भेद

पुष्प यदि स्वयंद्वारा अपने बाग-बगीचे आदिमें उपजाये गये हों तो उनसे की गयी पूजा श्रेष्ठ या उत्तम पूजा है—ये पुष्प श्रेष्ठ हैं, वन्य पुष्पोंसे की गयी पूजा मध्यम कोटिकी तथा खरीदे गये पुष्पोंसे की गयी पूजा सामान्य अथवा तृतीय कोटिकी पूजा है[१]।

इस प्रकार इस अध्यायमें भगवतीको अर्पित किये जानेवाले पदार्थोंकी शुद्धता-अशुद्धता, पवित्रता-अपवित्रता, वैधता एवं निषेधता बतलाते हुए कहा गया है कि पूजक या साधकको इस विषयमें पूरी सावधानी रखनी चाहिये, जिस किसी भी प्रकारका पदार्थ भगवान्‌को अर्पित न करे। जो शुद्ध पवित्र एवं निर्मल हो तथा सद्भावपूर्वक निवेदित किया गया हो भगवान् उसे अवश्य ग्रहण करते हैं।

यज्ञोपवीतकी ज्ञातव्य बातें

अध्याय १५में बतलाया गया है कि यज्ञोपवीत-संस्कार होनेपर ही द्विजत्व प्राप्त होता है और तभी वह धार्मिक कर्मों तथा वेदादि पाठका, श्रौत-स्मार्त कर्मोंका अधिकारी बनता है। यज्ञोपवीत-संस्कारमें जो यज्ञोपवीत (जनेऊ) ब्राह्मणोंद्वारा पहनाया जाता है, वह विधि-विधानसे बड़ी पवित्रतासे बना हो और उसमें उत्तम ग्रन्थि लगी हो। यदि विधिपूर्वक यज्ञोपवीत-संस्कार न हुआ और विधानसे यज्ञोपवीत (जनेऊ) न बना हो, उसकी प्रतिष्ठा न हुई हो तो उसे धारण करना वैसा ही है, जैसे गायके गलेमें रस्सी लटकनेका कोई फल नहीं होता[२]।

फिर विस्तारसे यज्ञोपवीत तैयार करनेकी विधिमें बतलाया गया है कि ब्रह्माने सर्वप्रथम ब्राह्मणों तथा वेदोंकी प्रतिष्ठाके लिये कपासकी ही सृष्टि की, अतः कपास अत्यन्त पवित्र है। इसी कपाससे यज्ञोपवीत बनता है। कपास प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम अपने स्वयंकी पवित्र भूमिमें कपास बोये। प्रणवसे अभिमन्त्रित जलद्वारा उसे सींचे। पवित्र जलद्वारा सींच-सींचकर उसे अंकुरित करे और उस फसलको बढ़ाता रहे। फिर उस वृक्षसे कपास चुनकर पवित्र पात्रमें स्थापित कर उसका शोधन करे और दोनों हाथोंसे उससे कपासके बीजोंको अलग करे और फिर सूत बनाये। यह ध्यान रहे कि पुंश्चली, रजस्वला, विधवा आदि स्त्रियाँ उस यज्ञोपवीतके लिये संगृहीत कपाससे सूत न बनायें। सुमङ्गली स्त्री यह कार्य कर सकती है। चूँकि कपास चुनना और उससे सूत बनाना अत्यन्त मृदु कर्म है, अतः इस कार्यको स्मृतिकारने स्त्रियोंद्वारा करानेको प्रशस्त कहा है, क्योंकि स्त्रियाँ ऐसे कोमल कार्योंको करनेमें कुशल होती हैं।

सूत तैयार होनेपर पूरी विधिके अनुसार यज्ञोपवीत बनाना चाहिये। विधिपूर्वक बना तथा सम्यक् प्रतिष्ठित यज्ञोपवीत ही ब्रह्मसूत्र, यज्ञसूत्र और देवरक्ष कहलाता है। इस यज्ञोपवीतमें तीनों काल, तीनों लोक, तीनों संध्या, तीनों गुण, तीनों अग्नि, तीनों वर्ण, तीनों वेद, तीनों स्वर, तीनों व्याहृतियाँ (भूः, भुवः, स्वः) और तैंतीसों देवता अपनी-अपनी शक्तियोंके साथ प्रतिष्ठित रहते हैं। इसलिये अधिकारी द्विजातिको सभी कर्मोंकी फलाप्तिके लिये यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये। यज्ञोपवीत नाभिमात्रतक लम्बा होना चाहिये।

उपवीत, निवीत एवं प्राचीनावीत

बायें कंधेपर स्थित यज्ञोपवीत सव्य उपवीत कहलाता है। गलेमें मालाकी तरह पहननेपर निवीत या कंठी और दाहिने कंधेपर स्थित रहनेपर प्राचीनावीत या अपसव्य कहलाता है।

कुश-विधान

भरद्वाजस्मृतिके अठारहवें अध्यायमें विस्तारसे ग्राह्य एवं अग्राह्य कुश, कुशोत्पाटन-विधि और कुशकी महिमाका वर्णन हुआ है। कहा गया है कि द्विजातियोंके लिये श्रुति तथा स्मृतिमें बतायी गयी जो भी नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ

१-स्वारामोद्भूतकुसुमैरर्चा श्रेष्ठेत्युदीरिता। मध्यमा वनजैः पुष्पैः क्रीतपुष्पैः कनीयसी॥ (भरद्वाज० १४। २२)

२-तस्माद्यत्नेन कर्तव्यमुपवीतं विधानतः। विधानेन विना जातं भवेद्गोकण्ठरज्जुवत्॥ (भरद्वाज० १५। ४)

हैं, वे सब बिना कुशके प्रयोगके निष्फल होती हैं। इसलिये इन कार्योंमें हाथोंमें कुश (कुशसे बनी पवित्री) अवश्य धारण करना चाहिये। 'कुश' नामकी व्युत्पत्तिमें कहा गया है कि 'कु' शब्द समस्त पापोंका वाचक है और 'श' शब्द सभी प्रकारके दोष-पापोंका नाशक है, इसलिये शीघ्र ही पापोंका नाश करनेके कारण इसे 'कुश' कहा गया है[1]।

कुशके मूलमें ब्रह्मा, मध्यमें विष्णु तथा अग्रभागमें महेश्वर (शिव) सदा निवास करते हैं, इसलिये समस्त कर्मोंमें कुश अत्यन्त श्रेष्ठ है—

कुशस्य मूले मध्येऽग्रे ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
सदा वसन्त्यतः श्रेष्ठः कुशः सकलकर्मसु॥

(भरद्वाज० १८। ६)

नदियोंके किनारे, समुद्र-प्रदेश, तीर्थ अथवा वनमें उगा हुआ कुश श्रेष्ठ माना गया है। वल्मीकमें, श्मशानमें, ऊसरभूमि, किसी वृक्षकी छायामें उगा हुआ कुश निषिद्ध है—'**वल्मीकस्थः श्मशानस्थः ऊषरस्थः तरूद्भवः.....कुशः कर्मस्वशोभनः॥**' (भरद्वाज० १८। १६)। किंतु पलाश, अश्वत्थ, खदिर, वट, बिल्व आदि शुभ वृक्षोंकी छायामें उगा कुश प्रशस्त है (भरद्वाज० १८। २०)। ब्राह्मणके हाथमें स्थित कुशकी महिमा बतलायी गयी है तथा ब्राह्मणको नित्य कुश धारण करनेका निर्देश देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार देवराज इन्द्रके हाथमें स्थित वज्र, शंकरजीका त्रिशूल, विष्णुका सुदर्शनचक्र, वरुणदेवका पाश, यमराजका दण्ड अमोघ होता है, वैसे ही ब्राह्मणके हाथमें स्थित कुश भी अमोघ एवं फलदायी होता है—

यथेन्द्रस्याशनिर्हस्ते यथा शूलं कपर्दिनः।
यथा सुदर्शनं विष्णोर्विप्रहस्तकुशस्तथा॥
वरुणस्य करे पाशो यथा दण्डो यमस्य तु।
तथा ब्राह्मणहस्तस्थः सकलं साधयेत् कुशः॥

(भरद्वाज० १८। १२३-१२४)

मनुष्यरूपमें देवता

द्विजदेवातिथीनां च गुरुसाधुतपस्विनाम्॥
पूजातपोरतो नित्यं धर्मशास्त्रेषु नीतिषु। क्षमाशीलो जितक्रोधः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥
अलुब्धः प्रियवाक् शान्तो धर्मशास्त्रार्थसम्प्रियः। दयालुर्दयितो लोके रूपवान् मधुरस्वरः॥
वागीशः सर्वकार्येषु गुणी दक्षो महाबलः। साक्षरश्चापि विद्वांश्च गीतनृत्यार्थतत्त्ववित्॥
आत्मविद्यादिकार्येषु सर्वतन्त्रीस्वरेषु च। हविष्येषु च सर्वेषु गव्येषु च निरामिषे॥
सम्प्रीतश्चातिथौ दाने पर्वनीतिषु कर्मसु। स्नानदानादिभिः कार्यैर्व्रतैर्यज्ञैः सुरार्चनैः॥
कालो गच्छति पाठैश्च न क्लीबं वासरं भवेत्। अयमेव मनुष्याणां सदाचारो निरन्तरम्॥

(पद्म०, सृष्टि०)

जो द्विज, देवता, अतिथि, गुरु, साधु और तपस्वियोंके पूजनमें संलग्न रहनेवाला, नित्य तपस्यापरायण, धर्म एवं नीतिमें स्थित, क्षमाशील, क्रोधजयी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, लोभहीन, प्रिय बोलनेवाला, शान्त, धर्मशास्त्रप्रेमी, दयालु, लोकप्रिय, मिष्टभाषी, वाणीपर अधिकार रखनेवाला, सब कार्योंमें दक्ष, गुणवान्, महाबली, साक्षर, विद्वान्, आत्मविद्या आदिके लिये उपयोगी कार्योंमें संलग्न, घी और गायके दूध-दही आदिमें तथा निरामिष भोजनमें रुचि रखनेवाला, अतिथिको दान देने और पार्वण आदि कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेवाला है, जिसका समय स्नान-दान आदि शुभ कर्म, व्रत, यज्ञ, देवपूजन तथा स्वाध्याय आदिमें ही व्यतीत होता है, कोई भी दिन व्यर्थ नहीं जाने पाता, वही मनुष्य देवता है।

१-पापाह्वयः 'कु'शब्दः स्यात् 'श'शब्दः शमनाह्वयः। तूर्णेन पापशमनं येनैतत्कुश उच्यते॥ (भरद्वाज० १८। ४)

दाल्भ्यस्मृति

'दाल्भ्यस्मृति'के प्रणेता परम वैष्णव महर्षि दाल्भ्य अत्यन्त प्राचीन वैदिक ऋषि हैं। वैदिक ऋषियों, धर्मात्मा-संत-महात्माओं एवं परम भक्तोंमें भी इनकी गणना है। इन्हें द्वादश महाभागवतोंकी प्रथम पंक्तिमें परिगणित किया गया है[1]। प्रातःकालीन पुण्यश्लोकोंमें परम भागवत महर्षि दाल्भ्यका भी नाम बड़े ही आदरसे लिया जाता है, इसीसे इनकी महत्ता, उदात्त चारित्र्य तथा सदाचारमय धर्माचरणका अवबोध होता है। ये महान् तपस्वी, ज्ञानी एवं दिव्य योगशक्तिसे सम्पन्न थे। इनका पूरा नाम बकदाल्भ्य है। ये दल्भ गोत्रके हैं। पाणिनिके कण्वादि-गण (४। २। १११)-में तथा गणपाठोंमें इनका सादर उल्लेख हुआ है। दल्भसे दाल्भ्य तथा फिर दाल्भ्यसे दाल्भ्यायन आदि शब्द भी निष्पन्न हुए हैं। पुराणों तथा महाभारत आदिमें अनेक स्थलोंपर इनके दिव्य ज्ञान तथा उज्ज्वल चरित्रका वर्णन हुआ है, पर वामनपुराणमें तो इनका एक अद्भुत वृत्तान्त आया है, जहाँ यह दिखाया गया है कि इन्होंने अपनी दिव्य योगशक्ति, तपःशक्ति और धर्ममर्यादाके बलपर मरे हुए लोगोंको ही नहीं जीवित कर दिया बल्कि पूरे राष्ट्रको पुनर्जीवित कर दिया। (वामनपुराण, अ० ३९)। वहाँ महर्षि दाल्भ्यने यह संदेश दिया कि राजाको चाहिये कि वह ब्राह्मणोंकी अवमानना कदापि न करे; क्योंकि ऐसा करनेसे न केवल राजाका अपितु समूचे राष्ट्र तकका विनाश हो जाता है और अन्य जो कोई भी ऐसा करता है, उसकी तीन पीढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं—

ब्राह्मणा नावमन्तव्याः पुरुषेण विजानता।
अवज्ञातो ब्राह्मणस्तु हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम्॥

(वामन० ३९। ३४)

महर्षि दाल्भ्यजीका एक आश्रम नैमिषारण्यमें भी बतलाया गया है (वामन० ३९। २८)। इसी प्रकार उत्तराखण्डमें भी एक दाल्भ्यतीर्थ तथा दाल्भ्य-आश्रमकी बात महाभारत (वनपर्व ९०। १२)-में आयी है। महाभारत आदि ग्रन्थोंमें अनेक स्थलोंपर महर्षि दाल्भ्यजीका भूत-भविष्य तथा आगे-पीछे होनेवाली प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष घटनाओंके द्रष्टाके रूपमें वर्णन आया है। पतिव्रताओंमें अग्रगण्य महासती देवी सावित्रीने जब अपने पातिव्रतधर्मके बलपर अपने पति सत्यवान्‌को यमपाशसे मुक्त करा लिया था, उस समय सत्यवान्‌के पिता राजा द्युमत्सेन तथा माता शैव्या सत्यवान्‌के लिये बहुत चिन्तित थे, वे दोनों वनों, आश्रमोंमें भटक-भटककर पुत्रको खोज रहे थे, उन्हें यह ज्ञान नहीं था कि सत्यवान् दीर्घायु हो गया है, तब उन्होंने ऋषि-महर्षियोंसे सत्यवान्‌के विषयमें पूछा। इसपर महर्षि दाल्भ्यने अपनी दिव्य तपःशक्तिके बलपर उन्हें विश्वास दिलाया कि सत्यवान् जीवित है (महा०, वन० २९८। १७)।

महर्षि दाल्भ्यप्रणीत दो ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं—दाल्भ्यस्मृति (दाल्भ्यसंहिता) तथा दाल्भ्यसूत्र। दाल्भ्यस्मृति धर्मशास्त्र ग्रन्थ है और दाल्भ्यसूत्र आयुर्वेद एवं चिकित्साशास्त्रसे सम्बद्ध है।

वर्तमानमें उपलब्ध दाल्भ्यस्मृतिमें लगभग १६७ श्लोक हैं। अपनी स्मृतिके प्रारम्भमें ही महर्षि दाल्भ्यने ऋषियोंके धर्मविषयक प्रश्न करनेपर स्पष्टरूपसे कहा है कि मैं महर्षि शंखके कहे हुए धर्मशास्त्रको संक्षेपमें बताता हूँ—

स्मृतिसारं प्रवक्ष्यामि यथा शङ्खेन भाषितम्।

(दाल्भ्य० ४)

इस प्रकार इस स्मृतिमें शंखस्मृतिकी बातें तो आयी ही हैं, मानव-धर्मशास्त्रके प्रणेता राजर्षि मनुके अभिमतोंको भी सादर उल्लिखित किया गया है और इन महर्षियोंके वचनोंको दाल्भ्यने '**शंखस्य वचनं यथा**' (श्लोक ८६), '**मनुराह प्रजापतिः**' (श्लोक ८९), '**मनुरब्रवीत्**' (श्लोक ६६, १३१, १३२, १६२) इस प्रकारसे उद्धृत किया है। आगे इस स्मृतिकी कुछ बातोंको दिया जा रहा है—

इष्टापूर्तधर्मकी महिमा

अग्निहोत्र, तपस्या, सत्यपालन, देवपूजा, आतिथ्य, वैश्वदेव इत्यादि यज्ञ-यागादि कर्म इष्ट कहलाते हैं और बाग लगाना, छायादार एवं फलदार वृक्ष लगाना, वापी, तालाब

१-प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन् पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि॥

बनवाना, कुआँ खोदवाना, देवालय, धर्मशाला, स्कूल, औषधालय एवं अनाथालय आदि बनवाना तथा उनका जीर्णोद्धार कराना, प्याऊ लगाना, गोचरभूमिकी व्यवस्था करना आदि परोपकारके कार्य पूर्तधर्म कहलाते हैं। इस प्रकार इष्टापूर्तधर्मका पालन अनन्त फलदायी होता है। इष्टधर्मके पालनसे मोक्ष प्राप्त होता है और पूर्तकर्मोंके सम्पादनसे स्वर्गादि पुण्यलोक प्राप्त होते हैं—

इष्टेन लभते मोक्षं पूर्ते स्वर्गोऽभिधीयते॥

(दाल्भ्य० ५)

श्राद्धमें देय-द्रव्य उचित स्थानपर दें

दाल्भ्यस्मृतिके श्राद्ध-प्रकरणमें यह धर्ममर्यादा स्थिर की गयी है कि अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिपूर्वक द्रव्य-शुद्धिके साथ किया गया श्राद्ध भी पितरोंको तबतक नहीं पहुँचता, जबतक कि श्राद्धकी विधिका पालन न किया गया हो। भावशुद्धि और द्रव्यशुद्धिके साथ ही विधि-शुद्धिकी भी अत्यन्त आवश्यकता है। बतलाया गया है कि श्राद्धमें पितरोंके निमित्त जो भी पिण्ड आदि वस्तु दी जाय और ब्राह्मणोंको भी जो व्यञ्जन-पदार्थ दिये जायँ, वे उचित स्थल, उचित समय और उचित स्थानमें देने चाहिये। यदि कोई इस विधिका पालन नहीं करता है, तो इससे दाताको कोई फल प्राप्त नहीं होता और श्राद्धमें भोजन करनेवालेके लिये तो वह पदार्थ पापरूप ही होता है—

हस्तदत्तं तु यत् स्नेहलवणव्यंजनादिकम्॥
दातुश्च नोपतिष्ठेत भोक्ता भुंजीत किल्बिषम्।

(दाल्भ्य० ४०-४१)

इसलिये श्राद्धकर्ताको चाहिये कि पितरोंके निमित्त दिये गये पिण्ड आदि पदार्थ उसके लिये निर्दिष्ट कुशरूपी पात्रपर ही दे। अन्यथा करनेपर वह पितरोंको प्राप्त नहीं होता। विधिका पालन करनेसे पितरोंको भी अक्षय तृप्ति एवं प्रीति प्राप्त होती है। गया-माहात्म्य आदि ग्रन्थोंमें वर्णन आया है कि जब महाराज भीष्म गयामें अपने पिता शन्तनुका श्राद्ध कर रहे थे तो पिण्डदानके समय ज्यों ही भीष्मजीने पिण्ड देना चाहा, उसी समय पिण्ड ग्रहण करनेके लिये उनके पिता शन्तनुने प्रकट हो अपना हाथ बढ़ाया। यह देखकर भीष्म बड़े आश्चर्यमें पड़ गये कि जिन पिताके निमित्त वे पिण्ड दे रहे हैं, वे स्वयं ही अपना हाथ बढ़ा रहे हैं, अतः इन्हें ही पिण्ड दे देना चाहिये; किंतु श्राद्ध करानेवाले ब्राह्मणोंने निषेध करते हुए उनसे कहा—'महाराज! धर्मका रहस्य बड़ा ही सूक्ष्म है, कर्तव्याकर्तव्यमें शास्त्र ही परम प्रमाण हैं, अतः शास्त्र जो कहते हैं, वही आपको इस समय करना चाहिये। शास्त्रकी आज्ञा है कि पिण्ड ग्रहण करनेके लिये पितर चाहे स्वयं उपस्थित हों, किंतु पिण्डदान उन्हें न देकर उसके लिये निर्दिष्ट पिण्डवेदीपर स्थित कुश आदिपर ही दे। अतः आप भी इनके हाथमें पिण्ड न देकर वेदीपर ही पिण्ड-दान करें। महाराज भीष्मने ब्राह्मणोंके वचनोंका परिपालन किया। उसी समय हाथ अन्तर्धान हो गया और आकाशवाणी हुई कि महाराज भीष्म! आप धन्य हैं, जो आपने शास्त्रकी आज्ञाका पालन किया। इससे आपका परम कल्याण होगा और आपके पिता-पितामहादि सभी पितृगणोंको अक्षय तृप्ति प्राप्त होगी।

श्राद्धके समय मौन रहे

श्राद्धदेशमें श्राद्ध करते समय न तो अनावश्यक बोलना चाहिये और न हँसना ही चाहिये। सावधान-मनस्क होकर पितरोंका ध्यान करते हुए श्राद्ध-विधि सम्पन्न करनी चाहिये। यदि इसके विपरीत होता है तो पितर निराश होकर वापस लौट जाते हैं—

हसते वदते चैव निराशाः पितरो गताः।

(दाल्भ्य० ५०)

गोवधके समान पाप

जो हलमें या बैलगाड़ीमें अथवा बैलोंद्वारा होनेवाले किसी कार्य—जैसे रहट-चालन इत्यादिमें दुर्बल, कमजोर या रोगी बैल अथवा निर्दिष्ट संख्यासे कम संख्यामें बैलोंको जोतता है, वह पापका भागी होता है और उसे गोहत्याके समान पाप लगता है—

हले वा शकटे चैव दुर्बलं यो नियोजयेत्।
प्रत्यवाये समुत्पन्ने ततः प्राप्नोति गोवधम्॥

(दाल्भ्य० १०१)

गोदोहनका नियम

महर्षि दाल्भ्य अत्यन्त दयालु थे। वैसे तो जीवमात्रपर उनकी अपार करुणा थी, किंतु देवमयी गोमातासे वे विशेष स्नेह रखते थे। उनकी स्मृतिमें स्थल-स्थलपर गोरक्षा एवं गोसंवर्धनकी ध्वनि स्पष्ट परिलक्षित होती है, वे महान् गोभक्त थे। गोहत्याको उन्होंने महान् पाप बतलाया है। गोवंशकी कैसे वृद्धि होगी और गोवत्स कैसे पुष्ट एवं बल-

वीर्यसे सम्पन्न हो सकेगा और कैसे गोमाता अपने वत्सको ठीकसे दूध पिला पायगी तथा गोपालकको किस प्रकार कितनी मात्रामें दूध दूहना चाहिये, इसकी व्यवस्था स्थिर करते हुए वे कहते हैं—

द्वौ मासौ पालयेद्वत्सं द्वौ मासौ द्वौ स्तनौ दुहेत्।
द्वौ मासौ चैकवेलायां शेषं कालं यथेच्छया॥

(दाल्भ्य० १११)

इसका भाव यह है कि गायके ब्यानेसे दो माहतक चारों थनोंका दूध बछड़ेको ही पिलाना चाहिये। तदनन्तर जब बछड़ा दो माहका हो जाय तो अगले दो माहतक दो थनोंका दूध दुहना चाहिये और दो थन बछड़ेके लिये छोड़ना चाहिये। फिर अगले दो माहतक सुबह या शाम एक समय दुहना चाहिये और एक समयका पूरा दूध बछड़ेके लिये छोड़ना चाहिये। इसके आगे अर्थात् बछड़ा जब ६ माहका हो जाय तो स्वेच्छासे दूध दुहा जा सकता है, क्योंकि तबतक बछड़ा कुछ बड़ा होकर पुष्ट हो जाता है और वह घास आदिका भी सेवन करने लग जाता है।

मृताशौचकी सामान्य व्यवस्था

दाल्भ्यस्मृतिमें जननाशौच एवं मरणाशौचपर भी विचार किया गया है। महर्षि दाल्भ्यका अभिमत महर्षि याज्ञवल्क्य आदिके समान ही है। मरणाशौचके विषयमें कहा गया है कि दाँत निकलनेतकके छोटे बच्चेकी मृत्यु हो जानेपर सद्यःशुद्धि हो जाती है, कोई आशौच नहीं लगता। चूडाकरण होनेके समयतक यदि बच्चेकी मृत्यु होती है तो एक अहोरात्रका आशौच लगता है। उपनयनसे पूर्वतक मृत्यु होनेपर तीन अहोरात्रका और उपनयन हो जानेके बाद यदि मृत्यु होती है तो दस अहोरात्र (रात-दिन)-का सूतक लगता है। इसी प्रकार बालिकाके चूडाकरण होनेतक सद्यः शुद्धि हो जाती है। कन्याका वाग्दान होनेपर मृत्यु होनेसे अहोरात्रका सूतक लगता है। विवाहसे पूर्वतक तीन दिनका और विवाहके बाद कन्याकी मृत्युपर दस दिनका आशौच लगता है—

आदन्तजन्मनः सद्य आचूडान्नैशिकी स्मृता।
आव्रतात्तु त्रिरात्रं स्याद्दशरात्रमतः परम्॥
आचूडाकरणात् सद्यः प्रदानान्नैशिकी स्मृता।
आविवाहात् त्रिरात्रं स्याद्दशरात्रमतः परम्॥

(दाल्भ्य० ११६-११७)

दो अशौचोंकी व्यवस्था (अशौच-सम्पात)

जन्म लेनेका तथा मरनेका—इस प्रकारसे अशौच दो प्रकारका होता है। इनमें मरणाशौच प्रबल माना गया है। महर्षि दाल्भ्यजीने एक अशौचके मध्य दूसरा असमान अशौच आ जानेपर व्यवस्था दी है कि मरणाशौचके मध्य यदि जननाशौच हो जाय तो बादके जननाशौचका सूतक नहीं लगता, वह अशौच मरणाशौच पूरा होनेपर पूरा हो जाता है। मरणाशौचसे जननाशौच समाप्त हो जाता है, शुद्धि हो जाती है, किंतु जननाशौचसे मरणाशौचकी शुद्धि नहीं होती। दो समान अशौच उपस्थित होनेपर अर्थात् जन्मके अशौचमें जन्मका दूसरा अशौच आ जाय या मृत्युके अशौचके मध्य दूसरा मृत्युका अशौच आ जाय तो पहिले अशौचके बाकी दिनोंमें दूसरा अशौच छूट जाता है—

शवसूतकमुत्पन्नं पश्चाज्जातं न सूतकम्।
शावेन शुध्यते सूतिः सूत्या शावं न शुध्यति॥
जातं जातेन शुद्धं स्यान्मृतकं मृतकेन तु।

(दाल्भ्य० १२४-१२५)

पापोंका सामान्य प्रायश्चित्त—गायत्री-जप

महर्षि दाल्भ्य सदा सत्कर्म तथा धर्माचरणका ही परामर्श देते हैं, क्योंकि सत्कर्म ही मनुष्यके अभ्युदयके परम कल्याणके कारक हैं। असत्कर्म एवं अधर्माचरणसे प्रत्यवाय होता है और नरककी प्राप्ति होती है। फिर भी यदि दुष्कर्म हो जाय और उस पापकर्मके लिये स्वयं ही अपनी आत्मा अपनेको कोसने लग जाय, अपने मनमें ग्लानि उत्पन्न हो जाय, पश्चात्ताप होने लगे तो उसके निवारणके लिये अधिकारी व्यक्तिको तिलसे हवन करना चाहिये और गायत्री-मन्त्रका बार-बार तबतक जप करना चाहिये, जबतक आत्माकी आवाज न आ जाय कि अब वह शुद्ध हो गया है। गायत्री-मन्त्रमें अपार शक्ति है। इसके श्रद्धापूर्वक जप करनेसे वह सभी पापोंसे सर्वथा शुद्ध होकर भगवती गायत्री माताका कृपापात्र बन जाता है—

यत्र यत्र च संकीर्णं पश्येदात्मानमात्मना।
तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्यावर्तनं तथा॥

(दाल्भ्य० १६६)

महर्षि हारीत और उनकी स्मृतियाँ

परम वैष्णव महर्षि हारीत प्राचीन धर्मशास्त्रकार हैं। उनके नामसे तीन स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं—(१) लघुहारीतस्मृति, (२) हारीतस्मृति तथा (३) वृद्धहारीतस्मृति। साथ ही 'हारीतधर्मसूत्र'का भी उल्लेख प्राप्त होता है। मनुस्मृतिके प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूकभट्टने 'मन्वर्थमुक्तावली'में शीलके लक्षण-निरूपणमें महर्षि हारीतका एक वचन दिया है, जो उपलब्ध स्मृतियोंमें प्राप्त नहीं होता, इससे प्रतीत होता है कि मूल हारीतस्मृतिका स्वरूप कुछ और ही था। शीलकी परिभाषा-सम्बन्धी वह वचन बड़े महत्त्वका है, अतः उसे यहाँपर दिया जा रहा है—

'ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम्।'

(मनु० २। ६ पर मन्वर्थमुक्तावली)

शीलकी उपर्युक्त परिभाषाका तात्पर्य यह है कि शील तेरह भेदोंमें विभक्त है। शीलवान्‌के ये तेरह लक्षण इस प्रकार हैं—(१) ब्राह्मणत्वको जानना, (२) देवताओं और पितरोंकी भक्ति, (३) सौम्यता, (४) दूसरेको पीड़ा न पहुँचाना, (५) पीठ-पीछे किसीकी निन्दा न करना, (६) मृदुता, (७) कटुवादी न होना, (८) सबसे मित्रभाव रखना, (९) मधुर भाषण, (१०) उपकारको स्मरण रखना, (११) शरणागतकी रक्षा करना, (१२) दया करना तथा (१३) शान्त-स्वभावसे रहना।

महर्षि हारीतके वचन बहुत ही प्रामाणिक माने गये हैं। बौधायन, आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ आदिने उन्हें प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। साथ ही कृत्यकल्पतरु, स्मृतिचन्द्रिका आदि परवर्ती निबन्धग्रन्थों तथा अनेक निबन्धकारोंने हारीतके अभिमतको बड़े ही समारोहसे उपन्यस्त किया है। महाभारतमें महर्षि हारीतके नामसे एक गीता भी उपदिष्ट है, जो 'हारीतगीता' कहलाती है। उसके उपदेश बड़े ही लाभप्रद हैं तथा काममें लाने योग्य हैं। कुछ उपदेशोंको यहाँ दिया जा रहा है—

परदोषदर्शनसे सदा बचनेका परामर्श देते हुए महर्षि हारीतका कहना है कि कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह न नेत्रसे, न मनसे और न वाणीसे ही दूसरेके दोष देखे, सोचे या कहे। किसीके सामने या परोक्षमें पराये दोषकी चर्चा कहीं न करे—

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित्॥

(महा०, शान्ति० २७८। ४)

अहिंसा सर्वोपरि धर्म है, अतः अहिंसा-धर्मका पालन करते हुए सभी प्राणियोंके साथ मित्रताका व्यवहार रखना चाहिये, किसीके साथ भी वैर करना ठीक नहीं। इसी बातको हारीत बतलाते हैं—

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥

(महा०, शान्ति० २७८। ५)

अर्थात् समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करे—किसीको भी पीड़ा न दे। सबके प्रति मित्रभाव रखकर विचरता रहे। इस नश्वर जीवनको लेकर किसीके साथ शत्रुता न करे।

इसी प्रकार सहिष्णुभावसे रहनेके लिये महर्षिका कहना है—

अतिवादांस्तितिक्षेत नाभिमन्येत कंचन।
क्रोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाक्रुष्टः कुशलं वदेत्॥

(महा०,शान्ति० २७८। ६)

भाव यह है कि यदि कोई अपने प्रति अमर्यादित बात कहे—निन्दा या कटु वचन सुनाये तो उसके उन वचनोंको चुपचाप सह ले। किसीके प्रति अहंकार या घमंड न प्रकट करे। कोई क्रोध करे तो भी उससे प्रिय वचन ही बोले। यदि कोई गाली दे तो भी उसके प्रति हितकर वचन ही मुँहसे निकाले।

इन थोड़ेसे वचनोंसे ही स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि हारीतने व्यावहारिक जीवनकी कितनी सुन्दर शिक्षा हमें दी है। इसी प्रकारके ज्ञान, भक्ति, सदाचार, शौचाचार, कर्तव्याकर्तव्य, सत्य, न्याय, परोपकार, तप, स्वाध्याय, भक्ति एवं योगचर्याके अनेकों उपदेश उनकी स्मृतियोंमें भरे पड़े हैं। यहाँ उनकी स्मृतियोंका संक्षिप्त परिचय तथा उनकी कुछ सारभूत

बातोंको दिया जा रहा है—

(१)

लघुहारीतस्मृति

उपलब्ध लघुहारीतस्मृतिमें ११७ श्लोक प्राप्त होते हैं तथा इसमें आद्योपान्त विविध प्रायश्चित्त-विधानों तथा शुद्धियोंका वर्णन हुआ है।

(२)

हारीतस्मृति

आचार्य हारीत-प्रणीत हारीतस्मृति छोटे-छोटे ७ अध्यायोंमें उपनिबद्ध है। इसमें लगभग २०० के आस-पास श्लोक हैं। कहीं-कहीं इसे लघुहारीतस्मृति भी कहा गया है। इसके ६ अध्यायोंमें संक्षेपमें चारों आश्रमों तथा चारों वर्णोंके धर्म बतलाये गये हैं तथा अन्तिम सातवें अध्यायमें योगचर्याका वर्णन है। स्वयं आचार्य हारीतका कहना है कि अभीतक वर्ण तथा आश्रम-धर्मोंको बतलाया, जिनके अनुष्ठानसे स्वर्ग-अपवर्गकी प्राप्ति होती है, अब संक्षेपसे सभी वर्णाश्रम-धर्मियोंके लिये कल्याणकारी योगपर प्रकाश डाला जा रहा है—

योगशास्त्रं प्रवक्ष्यामि संक्षेपात् सारमुत्तमम्।

(हारीत० ७। २)

महर्षिका कथन है कि योगाभ्याससे पूर्वजन्मके सभी पातकोंका विनाश हो जाता है—

योगाभ्यासबलेनैव नश्येयुः पातकानि तु॥

(हारीत० ७। ३)

योगकी प्रक्रिया बतलाते हुए वे कहते हैं कि साधकको सर्वप्रथम प्राणायामके सहारे वाणीके संयममें तथा प्रत्याहारसे इन्द्रियोंको वश करनेमें सहायता मिलती है। पुनः धारणाके अभ्याससे दुर्धर्ष एवं अजेय मन भी सरलतापूर्वक वशमें हो जाता है और एक ही स्थानपर केन्द्रित होने लगता है। धारणाके द्वारा एकाग्र-वृत्ति और एकाग्र-मनके द्वारा सम्पूर्ण जगत्के आधारभूत निर्मल अतिसूक्ष्म परमात्मतत्त्वका ध्यान होने लगता है।

परमात्माका रूप शुद्ध प्रतप्त स्वर्णके समान निर्मल एवं अति दीप्तिमान् है और वही शुद्ध आत्मा है, जो अपने शरीरके अन्तर्गत तथा बाह्य विश्वमें भी व्याप्त है। इस प्रकार जो सभी प्राणियों तथा योगीके हृदयमें स्थित है, वह एक ही परमात्मा है। उस परमात्माके ध्यानसे साधकका तथा सम्पूर्ण विश्वका भी कल्याण हो जाता है। जबतक उस तत्त्वकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक निरन्तर उसके ध्यानका अभ्यास करते रहना चाहिये—

आत्मलाभसुखं यावत् तपोध्यानमुदीरितम्।

(हारीत० ७। ८)

जैसे पक्षी एक पंखके सहारे आकाशमें उड़ नहीं सकता, उसे उड़नेके लिये दोनों पंखोंका सहारा लेना पड़ता है, उसी प्रकार योगाभ्यासमें कर्मयोगके द्वारा विशेष ज्ञानकी प्राप्ति और उसी ज्ञानके आश्रयसे योगमें उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होती जाती है, ऐसा साधक उत्तरोत्तर अभ्यास-क्रमसे शाश्वत ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है—

उभाभ्यामपि पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः॥
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्।

(हारीत० ७। १०-११)

इस प्रकार योगी सर्वथा विजितेन्द्रिय, वैराग्यवान् और शान्त हो जाता है तथा उन्हींके आश्रयसे वह विष्णुके परमपदको प्राप्त कर लेता है, यह योगका अद्भुत चमत्कार है।

(३)

वृद्धहारीतस्मृति

महर्षि हारीतद्वारा विरचित वृद्धहारीतस्मृति या वृद्धहारीतसंहिता बहुत बड़ी है, जिसमें बड़े-बड़े ८ अध्याय और प्रायः ३,५०० के आस-पास श्लोक हैं। इस दृष्टिसे यह सभी स्मृतियोंसे विशाल है। वैष्णवोंके आचार आदि सिद्धान्तोंका इसमें विस्तारसे प्रतिपादन किया गया है। विष्णुभक्तिका यह एक मान्य ग्रन्थ है। यहाँ कुछ बातें दी जा रही हैं—

भगवान् विष्णुकी दास्य-भक्ति ही परम धर्म है

इस स्मृतिके आरम्भमें ही परम वैष्णव राजा अम्बरीषने महर्षि हारीतसे 'परम धर्म क्या है?' इस विषयमें जिज्ञासा की तो महर्षि हारीतने उनसे कहा कि 'भगवान् विष्णुकी दास्य-भक्ति ही परम धर्म है।' महर्षि हारीतने भगवान् विष्णुकी महिमा, उनकी भक्तवत्सलता, अकारणदयालुता

तथा सर्वहितैषिताका प्रतिपादन करते हुए अन्तमें निष्कर्षमें बतलाया कि भगवान् विष्णुकी दास्यता स्वीकार करना, उनके साथ स्वामि-सेवक-भावका सम्बन्ध रखकर उनके शरणागत हो जाना और निःस्वार्थभावसे उनकी सेवा करना ही 'परम धर्म' है, इसी दास्य-भावसे भगवत्प्राप्ति—मुक्ति हो जाती है, अन्यथा नरक भोगना पड़ता है—

दास्येनैव भवेन्मुक्तिरन्यथा निरयं भवेत्॥

(वृद्धहारीत० १। १८)

महर्षि हारीतका कहना है कि भगवान् विष्णुको अपना परम स्वामी और सच्चा हितैषी जानकर अपनेको उनका सेवक समझना चाहिये और दास्य-भक्तिका अवलम्बन ग्रहणकर नित्य-नैमित्तिक जो भी कर्म करे, उन्हें भगवान् श्रीहरिकी प्रीतिके लिये ही करना चाहिये[1]।

भगवान्‌की सभी प्रकारसे सेवा करना ही सभी कर्मोंमें श्रेष्ठ कर्म है और यही परम धर्म भी है—

अयमेव परं धर्मः प्रधानं सर्वकर्मणाम्॥

(वृद्धहारीत० १। २७)

इसके अनन्तर महर्षि हारीतने विस्तारसे वैष्णवोंके ऊर्ध्वपुण्ड्र, शङ्ख, चक्र, गदा, शार्ङ्गधनुष आदि पवित्र चिह्नोंको धारण करनेकी विधि, वैष्णवोंके संस्कारोंकी विधि, वैष्णवोंके नामकरण-संस्कारकी विधि, मन्त्र-संस्कार तथा मन्त्र-दीक्षाकी विधि वर्णित की है। दीक्षासे पूर्व शिष्यको चाहिये कि आचार्यकी भक्तिपूर्वक आराधना करके उनसे वैष्णव मन्त्र प्राप्त करनेके लिये इस प्रकार प्रार्थना करे—

भो गुरो ब्रूहि मन्त्रं मे ब्रूयादिति दयानिधे।

(वृद्धहारीत २। १२७)

इसपर गुरुको चाहिये कि वे शरणागत शिष्यको राम, कृष्ण अथवा भगवान् नृसिंह आदिके अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर आदि मन्त्रोंको विधिपूर्वक उपदिष्ट करें—

रामकृष्णनृसिंहाख्यान् मन्त्रान् तस्मै निवेदयेत्॥

(वृद्धहारीत० २। १२९)

इसी क्रममें इसमें भगवान् विष्णुके बड़े ही सुन्दर ध्यान वर्णित हुए हैं तथा श्रीसहित भगवान् विष्णुकी उपासना-विधिका भी प्रतिपादन हुआ है। आगे मन्त्रयोगका विशेष ध्यानके साथ प्रतिपादन किया गया है तथा भगवन्नाम-महिमाका भी वर्णन हुआ है।

मन्त्रयोगका वर्णन

यद्यपि मन्त्रयोग पाञ्चरात्रसंहिताओं, नृसिंहपूर्वतापिनी, रामपूर्वतापिनी तथा गोपालपूर्वतापिनी उपनिषदोंमें विस्तारसे प्राप्त है तथापि आचार्य हारीतने इस मन्त्रयोगको विशेष प्रभावशाली ढंगसे साङ्गोपाङ्ग विवेचित किया है। इसमें भगवान् विष्णुके प्रायः सभी अवतारों और वराह, वामन, राम तथा कृष्ण आदिके मन्त्रों एवं उन मन्त्रोंकी साधनाओंकी विस्तारसे प्रक्रिया बतायी गयी है तथा नृसिंह-उपासनापर विशेष बल दिया गया है।

आचार्य हारीतका यह नृसिंहोपासना-प्रकरण नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद्, नृसिंहपुराण, ब्रह्मपुराण, प्रपञ्चसार तथा शारदातिलक आदि ग्रन्थोंसे अद्भुत साम्य रखता है और भगवान् नृसिंहके मूल मन्त्रमें भी कोई अन्तर नहीं दीखता।

भगवान् नृसिंहका मूल मन्त्र

भगवान् नृसिंहका मूल मन्त्र इस प्रकार है—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्॥
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्योर्मृत्युं नमाम्यहम्।

(वृद्धहारीत० ३। ३४१-४२)

इसी प्रकार लक्ष्मीनृसिंहका मन्त्र इस प्रकार दिया है—

'क्ष्रौं ह्रीं श्रीं श्रीं नृसिंहाय नमः।'

इस स्मृतिमें भगवान् नृसिंहके अनेक रमणीय ध्यान भी आये हैं, जिनमें उनके सौम्य तथा रौद्र दोनों स्वरूपोंका वर्णन हुआ है और यह बतलाया गया है कि महाभय आदि स्थितियोंमें रक्षाके लिये भगवान् नृसिंहके रौद्र स्वरूपका ध्यान करना चाहिये और अभ्युदय आदिकी स्थितिमें भगवान्‌के सौम्य स्वरूपका ध्यान करना चाहिये—

महाभयेष्विदं ध्यानं सौम्यमभ्युदयेषु च।

(वृद्धहारीत० ३। ३५२)

भगवान् वामनके मन्त्र

भगवान् वामनके मन्त्र इस प्रकार दिये गये हैं—

(१) **ॐ नमो विष्णवे पतये महाबलाय स्वाहा।**

१-तस्माद्दास्यं परां भक्तिमालम्ब्य नृपसत्तम। नित्यं नैमित्तिकं सर्वं कुर्यात् प्रीत्यै हरेः सदा॥ (वृद्धहारीत० १। २१)

(२) 'ह्रीं श्रीं श्रीवामनाय नमः।'—यह मूल मन्त्र है। (वृद्धहारीत० ३। ३७६, ३७८)

भगवान् हयग्रीवका मन्त्र

'हुं ऐं हयग्रीवाय नमः।'

इसी प्रकार भगवान् राम तथा भगवान् कृष्ण आदिके भी मन्त्र और उनकी उपासना-विधि दी गयी है।

मन्त्रयोगकी सिद्धिमें मुख्यरूपसे इष्टदेवका मन्त्रजप, मन्त्रोंको न्यासद्वारा अपने शरीरमें उपन्यस्त करना, मन्त्रमय विग्रह मानना, विविध कामनाओंसे अथवा निष्कामभावसे तत्तत्स्वरूपोंका ध्यान, जप, चरित्र-पाठ, हवन, पूजन, दशाङ्ग उपासनाएँ तथा इष्टदेवकी लीलाओंका श्रवण-मनन, साथ ही कवच, पटल तथा पद्धतियाँ आदि सहायक होते हैं। इस प्रकार मन्त्रयोग भी भगवान्की प्राप्तिमें पूर्ण सहायक होता है और भगवान्का साक्षात्कार करानेके कारण उनकी उपलब्धिका कारण भी बन जाता है।

वृद्धहारीतस्मृतिमें इसी मन्त्रयोगपर विशेष बल दिया गया है और मुख्यरूपसे वैष्णव सम्प्रदायकी आचार एवं उपासना-पद्धतिका निरूपण किया गया है। वैष्णवोंके आचारच्युत होनेपर प्रायश्चित्त-विधान तथा उनके नित्य-नैमित्तिक कर्मों, दोला-यात्राओं, विविध पर्वोंपर महोत्सवों एवं अनेकों वैष्णव यागोंका वर्णन किया गया है और सबके मूलमें भगवान् विष्णुकी सेवाको ही मुख्य साधन बताया गया है तथा उनका सेवक मानकर अपने कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेका निर्देश किया गया है एवं उसे ही स्वधर्म बतलाया गया है—

सोऽहं दासो भगवतो मम स्वामी जनार्दनः।
एवं वृत्तिर्भवेदस्मिन् स्वधर्मः परमो मतः॥

(वृद्धहारीत० ५। १६)

महर्षि हारीतका यह स्पष्ट उद्घोष है कि भगवान्को उद्देश्यमें रखकर ही सभी कर्म करने चाहिये अर्थात् 'सभी कर्म भगवान्को प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों,' इसी दृष्टिसे कर्म करना चाहिये। इसके विपरीत जो करता है अर्थात् स्वार्थको लेकर जो कर्म करता है या भगवद्विमुख जो कर्म करता है, वह पाखंडी कहलाता है और वह सभी लोकोंमें निन्दित समझा जाता है[1]।

अस्तु, मनुष्यको चाहिये कि वह सभी प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाले भगवान् वासुदेवकी प्रीतिके लिये ही सभी कर्मोंको करे। उन्हींका नित्य अर्चन करे, उन्हींको नित्य नमस्कार करे, उन्हींका ध्यान कर जप करे और उन्हींका अपने हृदयप्रदेशमें नित्य ध्यान करे, उन्हींके नामोंका नित्य गान करे, उन्हींके लीला-चरित्रों और गुणोंका वाणीसे वर्णन करे, जो भी व्रत-उपवास-नियम आदि करे, सब उन्हींके निमित्त करे, यही वैष्णवोंका मुख्य आचार है, मुख्य धर्म है। यह निष्कण्टक पन्थ है जो भगवान् विष्णुके परमपदको प्राप्त करा देता है। इसके अतिरिक्त अन्य सब कर्म जो भगवान्से रहित हैं, कुपथ हैं, नरकको प्राप्त करानेवाले हैं[2]।
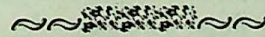
आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते। उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा॥

(महाभा०, शा० प० २९१। ३)

प्रजानाथ! मनुष्य-शरीरकी आयु सुलभ नहीं है—वह दुर्लभ वस्तु है, उसे पाकर आत्माको नीचे नहीं गिराना चाहिये। मनुष्यको चाहिये कि वह पुण्यकर्मके अनुष्ठानद्वारा आत्माके उत्थानके लिये सदा प्रयत्न करता रहे।
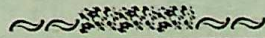
१-भगवन्तमनुद्दिश्य यः कर्म कुरुते नरः। स पाषण्डीति विज्ञेयः सर्वलोकेषु गर्हितः॥ (वृद्धहारीत० ५। १८)

२-प्रीतये वासुदेवस्य सर्वभूतनिवासिनः। तमेव चार्चयेन्नित्यं नमस्कुर्यात् तमेव हि॥
ध्यात्वा जपेत् तमेवेशं तमेव ध्यापयेद्धृदि। तन्नामैव प्रगातव्यं वाचा वक्तव्यमेव च॥
व्रतोपवासनियमान् तमुद्दिश्यैव कारयेत्।
एष निष्कण्टकः पन्थास्तस्य विष्णोः परं पदम्।
अन्यं तु कुपथं ज्ञेयं निरयप्राप्तिहेतुकम्॥ (वृद्धहारीत० ५। १२—१७)

आख्यान—

सत्संगके प्रभावसे पाँच प्रेतोंके उद्धारकी कथा

'हारीतस्मृति'ने मानवमात्रके लिये कुछ सामान्य धर्मोंका परिगणन किया है, जिनमें सत्संग भी है—

दानं दमस्तपः शौचमार्जवं क्षान्तिरेव च।
आनृशंस्यं सतां संगः पारमैकान्त्यहेतवः॥

(वृद्धहारीत० ८। ३३७)

संतोंकी संगतिसे लाभ-ही-लाभ होता है। संत तुलसीदासजीने कहा है कि एक क्षण भी सत्संग करनेसे जो सुख प्राप्त होता है, उसकी तुलनामें स्वर्ग और अपवर्गका सुख बिलकुल नगण्य है। यह तो हुआ सत्संगका आध्यात्मिक लाभ। आधिदैविक और आधिभौतिक लाभ भी इससे शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। रत्नाकर डाकूका देवर्षि नारदसे जो थोड़ी देरका संग हुआ, उसका परिणाम बहुत ही चौंकानेवाला है। वह व्यक्ति वाल्मीकि-रूप महर्षि और आदिकवि बन गया। इसी तरह पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड)-से पता चलता है कि एक संतके साथ केवल बातचीत करनेसे कुछ ही देरमें पाँच प्रेतोंको प्रेतत्वसे छुटकारा मिल गया और वे दिव्य विमानोंपर चढ़कर ऊँचे लोकोंमें चले गये।

प्राचीन कालमें पृथु नामके एक आचारनिष्ठ ब्राह्मण थे। वे दिन-रात धर्मके ही कार्य किया करते थे। एक बार तीर्थयात्राके प्रसंगसे वे एक वनमें पहुँचे। वह वन वृक्ष और लतासे शून्य था। कहीं जल भी नहीं दिखायी देता। केवल काँटे-ही-काँटे वहाँ दिखायी पड़ते। सहसा ब्राह्मण देवताकी दृष्टि पाँच प्रेतोंपर पड़ गयी। वे देखनेमें बहुत ही भयंकर थे। देखते ही ब्राह्मण देवतामें भयका संचार हो गया, किंतु तुरंत ही उन्होंने धैर्य धारण कर लिया। उन्होंने पूछा—'तुम लोग कौन हो? तुमसे ऐसे कौन-से कर्म हो गये हैं कि तुम्हारी आकृति इतनी विकृत हो गयी है? इतने दुःखी एवं बेचैन क्यों हो?'

प्रेतोंमेंसे एकने कहा—'आपने ठीक ही समझा है, सचमुच हमलोग निरन्तर दुःख-ही-दुःखमें डूबे रहते हैं। एक क्षण भी चैन नहीं पाते। हमारा ज्ञान भी लुप्त हो गया है। हम इतना भी नहीं जानते कि कौन दिशा किस ओर है। केवल दुःख-ही-दुःखका ज्ञान होता रहता है।' ब्राह्मणने याद दिलाया कि 'क्या आपको पता है. कि आपलोगोंको किस-किस कर्मसे इस दुर्गतिकी प्राप्ति हुई है?' उनमेंसे एकने कहा कि 'मैं ताजा और स्वादिष्ट भोजन स्वयं खा जाता था और ब्राह्मणोंको बासी खिलाता था, इस कारण मेरा नाम पर्युषित पड़ गया है। इस पापसे मैं प्रेत बन गया हूँ और मेरा भयानक रूप हो गया है। मेरे दूसरे साथीने कुछ भूखे और अन्न माँगनेवाले ब्राह्मणोंकी हत्या कर दी। इस पापसे यह सूचीमुख नामका प्रेत हो गया है। इसका मुँह सुईकी तरह छोटा है। एक तो भोजन-पानी मिलता ही नहीं, मिलनेपर भी सुई-जितने छोटे छेदसे कितना पानी पिया जा सकता है और कितना भोजन किया जा सकता है। यह हमेशा भूख और प्याससे तड़पता ही रहता है। यह तीसरा प्रेत 'भूखे ब्राह्मणको कुछ देना न पड़े' इस भयसे शीघ्रतापूर्वक वहाँसे हट जाता था, इसलिये इसका नाम शीघ्रग हो गया। इस प्रेतयोनिमें इसको लँगड़ा बनना पड़ा। यह जो चौथा प्रेत है, वह देनेके डरसे केवल घरमें बैठकर स्वादिष्ट भोजन किया करता था, यह रोधक कहलाता है। इस प्रेतयोनिमें इसे सिर नीचा करके चलना पड़ रहा है। यह जो पाँचवाँ प्रेत है, वह किसीके माँगनेपर कुछ बोलता नहीं था, केवल सिर नीचा करके धरती कुरेदने लगता था। इसलिये इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग विकृत हो गये हैं और इसका नाम लेखक पड़ गया।'

ब्राह्मणने पूछा—आखिर तुम लोग खाते-पीते क्या हो? प्रेतोंने कहा कि 'हमको बहुत ही निन्दित भोजन करना पड़ता है। जिन घरोंमें पवित्रता नहीं होती, वहीं हमें विकृत पदार्थोंका भोजन प्राप्त होता है।'

अन्तमें प्रेतोंने ब्राह्मणसे प्रार्थना की कि 'आप तपस्वी हैं, आप बतायें कि वह कौन-सा कर्म है, जिस कर्मसे जीव प्रेत-योनिमें नहीं पड़ता।' ब्राह्मणने कहा—'जो मनुष्य एक या तीन कृच्छ्र-चान्द्रायण-व्रत करता है, वह कभी प्रेतयोनिमें नहीं जाता। जो मान-अपमानमें और शत्रु-मित्रमें समान-भाव रखता है, वह भी प्रेतयोनिमें नहीं जाता। जिसने क्रोध, ईर्ष्या, तृष्णा तथा लोभ आदिको जीत लिया है, वह प्रेत नहीं होता। जिसके हृदयमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दया भरी हुई है तथा जो गौ, ब्राह्मण, तीर्थ, पर्वत, नदी और देवताओंको प्रणाम करता है, वह मनुष्य प्रेत नहीं होता।'

पृथु जब इस प्रकार उपदेश दे रहे थे, उसी समय आकाशमें सहसा नगारे बजने लगे, आकाशसे पुष्प-वृष्टि होने लगी और चारों ओरसे उन पाँच प्रेतोंके लिये विमान आ गये। आकाशवाणी हुई—'एक संतके साथ वार्तालाप करनेके कारण तुम सब प्रेतोंकी दिव्य गति हुई है।' इस प्रकार सत्संगके प्रभावसे उन प्रेतोंका उद्धार हो गया। (ला० मि०)

औशनसस्मृति

भृगुवंशमें उत्पन्न आचार्य उशना ही 'औशनसस्मृति'के उपदेष्टा हैं। उशनाप्रणीत होनेसे यह स्मृति 'औशनसस्मृति' कहलाती है। उशना ही शुक्र या शुक्राचार्य कहलाते हैं, जो आज एक ग्रहके रूपमें नक्षत्रमण्डलमें प्रतिष्ठित हैं। देवासुर-संग्राममें ये असुरोंके पुरोहित एवं गुरुके रूपमें पूज्य रहे हैं। इन्हें मृत-संजीवनी विद्या ज्ञात थी। इनमें योग-साधना एवं तपस्याका बहुत अधिक बल था। इनकी पुत्रीका नाम देवयानी था, जिसका विवाह राजा ययातिके साथ हुआ था। पुराणेतिहास-ग्रन्थोंमें आया है कि शुक्राचार्य सभी प्रकारके रत्नों और धनोंके एकमात्र स्वामी हैं, धनाध्यक्ष कुबेर भी इन्हींसे धन प्राप्त करते हैं। ये नीतिशास्त्रके भी आचार्य हैं। इनके अनेक दिव्य उपदेश पुराणों तथा इतिहास-ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं। महाभारतमें अपनी पुत्री देवयानीको सहनशीलताकी महिमा और क्रोधकी निन्दा बताते हुए ये कहते हैं—देवयानी! जो उत्पन्न हुए क्रोधको अक्रोध—क्षमाभावके द्वारा मनसे निकाल देता है, समझ लो उसने सम्पूर्ण जगत्को जीत लिया। जो क्रोधको रोक लेता है, निन्दा सह लेता है और दूसरेके सतानेपर भी दुःखी नहीं होता, वही सब पुरुषार्थोंका सुदृढ़ पात्र है[1]।

एक अन्य उपदेशमें शुक्राचार्य लोगोंको सावधान करते हुए कहते हैं कि—'यह कोई न समझे कि मैं जो यह पापरूपी कर्म कर रहा हूँ, उसका फल मुझे नहीं मिलेगा। ईश्वर या धर्म कुछ नहीं है। मेरे पापको कोई जानता नहीं, अतः मुझे फल कैसे मिलेगा?' परंतु ऐसा समझना महान् भूल है, पापका—अधर्माचरणका फल अवश्य मिलता है, भले ही उसमें देर लगे। इसी बातको राजा वृषपर्वाको समझाते हुए वे कहते हैं—

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्यमानो हि कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥
पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरु भुक्तमिवोदरे॥

(महा०, आदि० ८०। २-३)

अर्थात् 'राजन्! जो अधर्मरूप पापाचरण किया जाता है, उसका फल तुरंत नहीं मिलता। जैसे—गायकी सेवा करनेपर धीरे-धीरे कुछ कालके बाद वह ब्याती और दूध देती है अथवा धरतीको जोत-बोकर बीज डालनेसे कुछ कालके बाद पौधा उगता और यथासमय फल देता है, उसी प्रकार किया जानेवाला अधर्म धीरे-धीरे कर्ताकी जड़ काट देता है। यदि वह (पापसे उपार्जित द्रव्यका) परिणाम अपने ऊपर नहीं दिखायी देता तो उस अन्यायोपार्जित द्रव्यका उपभोग करनेके कारण पुत्रों अथवा नाती-पोतोंपर अवश्य प्रकट होता है। जैसे खाया हुआ गरिष्ठ अन्न तुरंत नहीं तो कुछ देर बाद अवश्य ही पेटमें उपद्रव करता है, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी निश्चय ही अपना फल देता है।'

इसी प्रकार उनके उपदेश बहुत ही सुन्दर और समाचरणीय हैं।

महर्षि उशनाके नामसे प्राप्त 'औशनसस्मृति'में भी सदाचारकी ही शिक्षा प्राप्त होती है। शौनक आदि महर्षियोंने प्रणामपूर्वक इनसे जिस धर्मशास्त्रकी जिज्ञासा की थी और उसके उत्तरमें जो शुक्राचार्यजीने बतलाया, वही औशनसस्मृतिका वर्ण्य-विषय है। इस स्मृतिमें ९ अध्याय और ६०० श्लोक हैं। मुख्यरूपसे ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, श्राद्ध, आशौच तथा प्रायश्चित्तका वर्णन है, किंतु बीच-बीचमें अनेक कल्याणकारी उपदेश एवं ज्ञानकी बातें आयी हैं। आरम्भमें उपनयनकी आवश्यकता और ब्रह्मचारीके कर्तव्योंका निर्देश हुआ है और उसके लिये गुरुकी सेवा करना ही महत्त्वपूर्ण कर्तव्य बताया गया है।

ब्रह्मचारी या शिष्यको चाहिये कि वह गुरुजनोंको देखकर आसनसे उठ खड़ा हो जाय और हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम करे। उनके साथ एक आसनपर न बैठे अर्थात्

१-यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति। देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम्॥
× × ×
यः संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते। यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम्॥ (महा०, आदि० ७९। ३,५)

गुरुसे नीचे आसनपर बैठे और गुरुसे किसी भी प्रकार विवाद न करे। कभी उनके साथ द्वेष न करे; क्योंकि गुरुसे द्वेष करनेवाला अधोगति प्राप्त करता है—'**गुरुद्वेषी पतत्यधः।**' (औशनस० १। ३१)

बड़ा भाई पिताके समान है

औशनसस्मृतिमें बतलाया गया है कि बड़ा भाई पिताके समान पूज्य एवं मान्य है। जो व्यक्ति अपने बड़े भाईकी आज्ञाकी अवमानना करता है, वह मूढ़ है, इस अवमाननाजन्य दोषसे वह अन्तमें नरकको प्राप्त करता है—

यो भ्रातरं पितृसमं ज्येष्ठं मूढोऽवमन्यते।
तेन दोषेण सम्प्रेत्य निरयं सम्प्रगच्छति॥

(औशनस० १। ४०)

अभ्यागत (अतिथि) सबका गुरु है

जैसे द्विजातिवर्गका अग्नि गुरु है, चारों वर्णोंका ब्राह्मण गुरु है, स्त्रियोंका एकमात्र गुरु उसका पति ही है, वैसे ही सभीके लिये 'अतिथि' गुरुके समान पूज्य एवं श्रेष्ठ है—

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥

(औशनस० १। ४८)

प्रतिष्ठाके पाँच हेतु

पाँच ऐसे साधन हैं, जिनके होनेपर व्यक्ति लोकमें पूजित होता है और सम्मान प्राप्त करता है। उनके नाम हैं—(१) धन, (२) बन्धु-बान्धव, (३) अवस्था, (४) कर्म तथा (५) विद्या। इनमेंसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ साधन हैं और जिसके पास सद्विद्या है, वही वास्तवमें सबसे श्रेष्ठ है, सबका मान्य है, सबका पूज्य है—

विद्या कर्म वयो बन्धुर्वित्तं भवति यस्य वै।
मान्यस्थानानि पञ्चाहुः पूर्वं पूर्वं गुरूणि च॥

(औशनस० १। ४९)

भोजनकी कभी निन्दा न करे

शुक्राचार्यजी सुन्दर एवं व्यवहारमें लाने योग्य उपदेश देते हुए कहते हैं कि सत्प्रयत्नपूर्वक जो पवित्र भोजन जितना भी प्राप्त होता है, उसकी कभी निन्दा न करे। अन्नमें परमात्माका निवास होता है और अन्नसे ही प्राणी जीवन धारण करते हैं, अतः प्राप्त भोजनकी पूजा कर, उसे प्रणाम कर, उसे भगवान्‌को निवेदित करके भगवत्प्रसादके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। भोजनकी निन्दा करनेसे भोजनमें अधिष्ठित परमात्माकी ही निन्दा होती है, अतः ऐसा न करे। भोजनको देखकर हर्षित होवे, प्रसन्न होवे तथा उसकी प्रशंसा करे। ऐसा करनेसे वह अन्न शुद्ध सात्त्विक होकर बुद्धिको भी परम शुद्ध कर देता है और बुद्धिके शुद्ध होनेपर व्यक्ति सत्त्व-सम्पन्न होकर धर्माचरणमें ही प्रवृत्त होता है—

पूजयेदशनं नित्यमद्यादन्नमकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वतः॥

(औशनस० १। ६०)

ब्रह्मचारीको भिक्षामें प्राप्त हुआ अन्न तो और भी पवित्र है, ऐसा भैक्ष वृत्तिवाला ब्रह्मचारी जो भोजन करता है, वह उसका भोजन करना उपवासके ही समान है—

भैक्षेण वृत्तिनो वृत्तिरुपवाससमं स्मृता॥

(औशनस० १। ५९)

कुत्सित भोजन कभी न करे

अन्यायकी वृत्तिसे प्राप्त भोजन, अपवित्र भोजन तथा सर्वथा परित्याज्य मांसादि भोजन कुत्सित भोजन है। ऐसा भोजन करनेसे अनेक प्रकारके शारीरिक एवं मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, आयु भी कम हो जाती है, अधोगति होती है, कोई पुण्य प्राप्त नहीं होता, बल्कि पापकी ही वृद्धि होती है, लोग भी ऐसे भोजनकी निन्दा करते हैं, अतः इस प्रकारके परिणामवाले कुत्सित भोजनको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये, उससे सदा दूर ही रहना चाहिये—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं कुत्सभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥

(औशनस० १। ६१)

सदा मधुर एवं हितकर वाणी बोले

आत्मकल्याणकामी व्यक्तिको चाहिये कि वह निरन्तर इन्द्रियोंके विषयोंको अपने वशमें रखकर जितेन्द्रिय रहे। मनके वशमें न होकर आत्माके वशमें रहे। क्रोध न करे, सदा बाह्याभ्यन्तर पवित्र रहे और सदा ऐसी वाणी बोले जो

मधुर हो और हित करनेवाली हो अर्थात् कठोर एवं अकल्याणकारी वाणी कभी न बोले—

जितेन्द्रियः स्यात् सततं वश्यात्माऽक्रोधनः शुचिः।
प्रयुञ्जीत सदा वाचं मधुरां हितभाषिणीम्॥

(औशनस० ३। १५)

गया-श्राद्धकी महिमा

गयामें जाकर यदि कोई वहाँ प्रसंगतः प्राप्त गया-श्राद्धको श्रद्धापूर्वक करता है तो वह अपने पितरोंका उद्धार कर देता है और स्वयं परम गतिको प्राप्त करता है—

गयां प्राप्यानुषङ्गेण यदि श्राद्धं समाचरेत्।
तारिताः पितरस्तेन स याति परमां गतिम्॥

(औशनस० ३। १३५)

स्वधर्माचरणकी महिमा

अपने वर्ण एवं आश्रमके जो नियत कर्म हैं, वे ही स्वधर्म कहलाते हैं, शास्त्रोंकी आज्ञा है कि अपनी-अपनी मर्यादामें रहकर स्वधर्मका पालन करना चाहिये। जो निरन्तर अपने धर्ममें स्थित है तथा जिसका मन ईश्वरमें लगा है और जो फलासक्तिसे रहित होकर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्मोंको करता है, वह वेद-शास्त्रोंमें बताये गये परम स्थानको प्राप्त करता है अर्थात् उसे भगवत्प्राप्ति सहज सुलभ हो जाती है—

यः स्वधर्मपरो नित्यमीश्वरार्पितमानसः।
प्राप्नोति परमं स्थानं यदुक्तं वेदसम्मितम्॥

(औशनस० ७। २३)

औशनससंहिता

आचार्य उशनाके नामसे एक संक्षिप्त श्लोकबद्ध संहिता भी प्राप्त होती है, जिसमें मात्र ५१ श्लोक हैं। इसमें चारों वर्णोंके अनुलोम तथा प्रतिलोम-संसर्गसे उत्पन्न विभिन्न संकर-जातियोंका परिगणन हुआ है और उनकी वृत्तियोंका भी निवेश हुआ है। इसमें सूत, वेणुक, मागध, श्वपच, सूनिक, पुलिन्द, पुक्कश, रजक, अम्बष्ठ, नापित, कायस्थ, निषाद, मणिकार, शुण्डिक तथा पारशव आदि जातियोंके आविर्भावका इतिहास संगृहीत हुआ है।
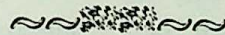
मनुष्यको कितना चाहिये?

एकोऽपि पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति च। एकस्मिन्नेव राष्ट्रे तु स चापि निवसेन्नृपः॥
तस्मिन् राष्ट्रेऽपि नगरमेकमेवाधितिष्ठति। नगरेऽपि गृहं चैकं भवेत् तस्य निवेशनम्॥
एक एव प्रदिष्टः स्यादावासस्तद्गृहेऽपि च। आवासे शयनं चैकं निशि यत्र प्रलीयते॥
शयनस्यार्धमेवास्य स्त्रियाश्चार्धं विधीयते। तदनेन प्रसंगेन स्वल्पेनैवेह युज्यते॥
सर्वं ममेति सम्मूढो बलं पश्यति बालिशः। एवं सर्वोपयोगेषु स्वल्पमस्य प्रयोजनम्॥
तण्डुलप्रस्थमात्रेण यात्रा स्यात् सर्वदेहिनाम्। ततो भूयस्तरो भोगो दुःखाय तपनाय च॥

जो राजा अकेला ही समूची पृथ्वीका एकच्छत्र शासन करता है, वह भी किसी एक ही राष्ट्रमें निवास करता है। उस राष्ट्रमें भी किसी एक ही नगरमें रहता है। उस नगरमें भी किसी एक ही घरमें निवास होता है। उस घरमें भी उसके लिये एक ही कमरा नियत होता है। उस कमरेमें भी उसके लिये एक ही शय्या होती है, जिसपर वह रातमें सोता है। उस शय्याका भी आधा ही भाग उसके पल्ले पड़ता है। उसका आधा भाग उसकी रानीके काम आता है। इस प्रसंगसे वह अपने लिये थोड़े-से ही भागका उपयोग कर पाता है। तो भी वह मूर्ख गँवार सारे भूमण्डलको अपना ही समझता है और सर्वत्र अपना ही बल देखता है। इस प्रकार सभी वस्तुओंके उपयोगोंमें उसका थोड़ा-सा ही प्रयोजन होता है। प्रतिदिन सेरभर चावलसे ही समस्त देहधारियोंकी प्राणयात्राका निर्वाह होता है। उससे अधिक भोग दुःख और संतापका कारण होता है। (महाभारत, अनु० प० १४५)

घटना—

फ्रांसका एक महान् विद्वान् हिन्दूधर्मकी शरणमें आकर शिवशरण कैसे बना?

(भक्त श्रीरामशरणदासजी पिलखुवा)

कुछ वर्षों पहलेकी बात है कि फ्रांसके एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान्ने अपने ईसाई-मतके ग्रन्थोंको बड़ी गहराईसे देखनेके पश्चात् यह निर्णय किया कि इनमें कोई विशेष तत्त्व नहीं है और फिर वे अंग्रेज भाई बौद्धधर्मकी ओर आकृष्ट हुए तथा उन्होंने बड़ी लगनके साथ बौद्ध-ग्रन्थोंका अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी बहुतसे मत-मज़हबोंका एवं उनके ग्रन्थोंका अध्ययन किया और देखा, लेकिन बहुत विचार करनेके पश्चात् वे इस निर्णयपर पहुँचे कि इन मत-मतान्तरोंमें और इनके ग्रन्थोंमें वास्तवमें कोई तत्त्व नहीं है। अन्तमें उन्होंने हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंको देखा और हिन्दूधर्मका अध्ययन किया तथा यह निश्चय किया कि समस्त विश्वमें यदि कोई वास्तविक सत्य-धर्म है तो वह एकमात्र सनातनधर्म ही है। अन्य जितने भी मत-मज़हब, पंथ, रिलीजन-समाज दिखायी पड़ रहे हैं, ये सब मनुष्योंके दिमागोंकी उपज हैं, इनमें कोई तत्त्व नहीं है।

अंग्रेज नवयुवक भारतमें आया

हिन्दूधर्मसे प्रभावित होकर वे ही अंग्रेज भाई धर्मप्राण ऋषियोंके परम पवित्र देश भारतमें आये और यहाँके बहुतसे विद्वानोंसे मिले। अन्तमें वे श्रीविश्वनाथपुरी वाराणसी आये और यहाँके भी विद्वानोंसे मिलते रहे। वाराणसीमें उन्होंने भारतके सुप्रसिद्ध संत पूज्य श्रीस्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजकी ख्याति सुनी और फिर वे इनके श्रीचरणोंमें उपस्थित हुए और उनसे भेंट की। पूज्य श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराजसे मिलकर ये अंग्रेज महोदय बड़े प्रसन्न हुए और फिर तो कितनी ही बार आपके पास आते-जाते रहे और अपनी शंकाओंका समाधान करते रहे। एक बार इन्होंने हिन्दूधर्ममें दीक्षित होनेका पूर्ण निश्चय कर पूज्य श्रीस्वामीजी महाराजसे करबद्ध प्रार्थना की कि महाराज, हमें भी अपने महान् हिन्दूधर्मकी शरणमें ले लिया जाय तो बड़ी कृपा हो।

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराजने जब देखा कि वास्तवमें इन्हें हिन्दूधर्मका बड़ा गहरा अध्ययन है और ये सच्चे हृदयसे सनातनधर्मकी, हिन्दूधर्मकी शरणमें आना चाहते हैं तो स्वामीजी महाराजने उनसे स्पष्टरूपसे कहा कि हम प्राचीन शास्त्रीय सनातनधर्मको माननेवाले हैं, इसलिये हम आपको भी प्राचीन शास्त्रीय सनातन-धर्मानुसार, मर्यादानुसार अपने हिन्दूधर्ममें स्थान दे सकते हैं। हमारे यहाँ आपके साथ खान-पान, रोटी-बेटीका व्यवहार कुछ नहीं होगा और मर्यादानुसार रहना होगा।

इन्होंने इन सब बातोंको सहर्ष स्वीकार कर लिया। पूज्य श्रीस्वामीजी महाराजने बताया कि हमारे शास्त्रोंकी—सनातनधर्मकी मर्यादाके अनुसार आप अन्त्यज-कोटिमें आते हैं, सो आपको हम उसी अन्त्यज-कोटिमें रखेंगे और आपको अपनेको अन्त्यज मानकर चलना होगा तथा मर्यादानुसार रहना होगा और आपको देवमन्दिरोंमें भी जानेका अधिकार नहीं है और न हम आपको अपने साथ एक जगह बैठकर खिला-पिला सकते हैं और न आपको स्वयं ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदिके साथ बैठकर खाना-पीना चाहिये। मन्दिरके शिखरका दर्शन करनेमें ही आपका उद्धार होगा, शास्त्र-विरुद्ध, मर्यादाविरुद्ध चलकर कदापि नहीं होगा।

वे तो बड़े ही बुद्धिमान् थे, इसलिये उन्होंने पूज्य स्वामीजी महाराजकी इन सभी शास्त्रीय बातोंको नतमस्तक होकर मान लिया और सहर्ष स्वीकार कर लिया और कहा कि महाराज, मैं मर्यादानुसार—शास्त्रानुसार चलकर ही अपना वास्तविक कल्याण करना चाहता हूँ, हठधर्मी करना नहीं चाहता, इसलिये हमारे कल्याणका जो साधन शास्त्र बताता हो वह हमें बताइये, वही हमें स्वीकार है।

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराजने उन्हें भारतके सुप्रसिद्ध महान् तीर्थ तीर्थराज प्रयागमें भेजवाकर वहाँपर उनका नाईद्वारा सारे केशोंका मुंडन करवाकर उनके सिरपर हिन्दुत्वकी प्रतीक चोटी (शिखा) रखवा दी गयी और उस अंग्रेजका पहला नाम बदलकर शुभ नाम शिवशरण रख

दिया गया। अब तो वे बहुत कालतक काशीमें रहे और उनकी बड़ी-बड़ी दूरतक ख्याति फैली तथा हिन्दूधर्मकी अद्‌भुत महत्तापर उनके बड़े ही महत्त्वपूर्ण लेख निकलते रहे।

महाराजा रीवाँकी कोठीमें हमारी भेंट कैसे हुई?

भारतकी राजधानी दिल्लीमें पूज्य श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराजने जिस समय एक बहुत बड़ा महान् ऐतिहासिक शतकुंडी महायज्ञ कराया था तो उसमें समस्त भारतके कोने-कोनेसे बड़े-बड़े धर्माचार्य, संत-महात्मा, महान् विद्वान् और हिन्दू जनता आयी हुई थी। उसी महान् यज्ञके दर्शनार्थ काशीसे हवाई जहाजके द्वारा वह अंग्रेज शिवशरणजी भी दिल्ली पधारे थे और पूज्यपाद पंडितप्रवर श्रीरामचरितमानस-मर्मज्ञ श्रीमानसराजहंस विजयानन्द त्रिपाठीजी महाराजने हमें तब सर्वप्रथम इन शिवशरणजीसे हमारी भेंट करायी थी, जो बिलकुल हिन्दू वेशभूषामें थे, जिनसे भेंटकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

एक बार जब काशीमें विराट् शतकुंडी महायज्ञ हुआ था तो शुभ अवसरपर भी हम यज्ञमें गये हुए थे। हमने काशीमें रहकर एक दिन श्रीशिवशरणजीका पता लगाकर उनसे जाकर महाराजा रीवाँकी कोठीमें भेंट की। उन दिनों वे महाराजा रीवाँकी कोठीमें ही रह रहे थे। हमारी उनसे खूब खुल करके बातें हुईं। हमने देखा कि सिर मुँड़ा हुआ था और सिरपर लम्बी मोटी चोटी थी तथा गलेमें श्रीरुद्राक्षकी बहुत-सी मालाएँ पड़ी हुई थीं। उन दिनों श्रीशिवशरणजी श्रीविश्वनाथपुरी काशीमें रहकर नित्यप्रति पतितपावनी भगवती भागीरथी श्रीगङ्गाजीका स्नान किया करते थे और मन्दिरमें बिलकुल नहीं जाते थे, दूरसे ही मन्दिरके शिखरका दर्शन कर लिया करते थे और रुद्राक्षकी मालापर श्रीशिवनामका जप किया करते थे। उनका बड़ा ही सुन्दर सात्त्विक जीवन था। बड़ी मर्यादानुसार रहते थे, न तो किसीको अपने हाथका खिलाते-पिलाते थे और न औरोंके साथ बैठकर खाते-पीते। उनके लिखे गये हिन्दूधर्मके सम्बन्धमें विद्वत्तापूर्ण लेख बड़े चावसे पढ़े जाते थे और वास्तवमें वे बड़े खोजपूर्ण होते थे, जिन्हें पढ़कर सभी आश्चर्यचकित रह जाते थे। उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण लेखोंसे यह स्पष्ट सिद्ध किया था कि पहले समस्त भूमण्डलमें हिन्दूधर्म विद्यमान था और यही वास्तवमें सत्यधर्म था और बाकी जितने भी मत-मज़हब, रिलीजन, पंथ, समाज आदि दिखलायी पड़ रहे हैं ये सब बादमें गढ़े गये हैं।

काठियावाड़-नरेशकी धर्मशास्त्र-निष्ठा

हमारे धर्मप्राण भारतदेशके क्षत्रिय राजा पहले बड़े कट्टर सनातनधर्मी, सदाचारपरायण, पूर्ण शास्त्रविश्वासी, गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक और परम सदाचारी, प्रजापालक हुआ करते थे। इस सम्बन्धकी एक ऐतिहासिक सत्य घटना यहाँ दी जा रही है। आशा है, पाठक इसे बड़े ही ध्यानसे पढ़नेकी कृपा करेंगे और इस सत्य घटनासे कुछ शिक्षा लेकर अपना जीवन सदाचारमय बनानेका प्रयत्न करेंगे।

एक दिन काठियावाड़के महाराज साहब अपने राजमहलकी छतपर इधर-से-उधर टहल रहे थे। राजा साहब बड़े ही धार्मिक प्रवृत्तिके और परम सदाचारी तथा महान् जितेन्द्रिय थे। वे अपनी प्रजाको पुत्रवत् मानकर उसका पालन किया करते थे। सहसा उनकी दृष्टि एक सुन्दर नवयुवतीपर पड़ी, जो अपने मकानकी छतपर निर्वस्त्र हो स्नान कर रही थी। राजाके मनमें कुछ विकार आया और वे उस नवयुवतीकी ओर अपलक देखते रहे। जब वह नवयुवती स्नान करके मकानकी छतसे नीचे उतर गयी तो राजा साहब महलकी छतपर बैठकर कुछ सोचते रहे। कुछ क्षणोंके पश्चात् राजा साहब नीचे उतरे और उन्होंने अपने कर्मचारीको भेजकर अपने ब्राह्मण राजपुरोहितको अपने पास बुलवाया। राजपुरोहितके आ जानेपर राजाने उन्हें प्रणाम किया और बड़े ही विनम्र-शब्दोंमें प्रश्न किया—

राजा साहब—'महाराज, यदि कोई पिता अपनी पुत्रीको कुदृष्टिसे देखे तो उस व्यक्तिको क्या दण्ड देना चाहिये?'

राजपुरोहितने महाराजको बताया—'महाराज, इस प्रकारके

राक्षसके लिये शास्त्रोंमें मृत्युदण्ड देनेका विधान आया है। महाराजने पुनः प्रश्न किया कि 'यदि कोई राजा अपनी प्रजाकी पुत्रीको कुदृष्टिसे देखे तो उस राजाको क्या दण्ड मिलना चाहिये?'

राजपुरोहितने उत्तर देते हुए कहा—'उस राजाको भी मृत्युदण्ड ही मिलना चाहिये, क्योंकि राजाके लिये प्रजाकी पुत्रियाँ भी अपनी ही पुत्रियोंके समान होती हैं।'

राजाने प्रातःकालकी घटी घटना उन राजपुरोहितको आद्योपान्त कह सुनायी। इसपर उन राजपुरोहितने व्यवस्था दी कि शास्त्रोक्त-विधानके अनुसार राजाको जिंदा जलाना चाहिये।

परम सदाचारी राजाने राजपुरोहितद्वारा शास्त्रानुसार प्राप्त इस दण्डको सहर्ष स्वीकार किया।

दूसरे दिन प्रातः राजा चिताके सामने अपना मुँह नीचे किये हुए खड़े थे और मन दुराचारमें प्रवृत्त होनेके कारण उन्हें जिंदा अग्निमें जलकर मरना होगा इसका उन्हें तनिक भी दुःख नहीं हो रहा था। सारे नगरमें और सारे राजपरिवारमें उत्तेजना और महान् शोकका वातावरण व्याप्त था। चारों ओर जिधर भी देखो यही कानाफूसी और तरह-तरहकी अफवाहें जारी थीं। बहुतसे व्यक्ति राजपुरोहितको बुरा-भला कहने लगे कि उन्होंने हमारे प्रिय राजाको मानसिक पापका ऐसा कड़ा दण्ड देनेकी व्यवस्था दी और कुछ लोग शास्त्रोंको ही कोसने लगे। पर निर्णय तो निर्णय ही था। चितामें आग लगायी गयी। झटसे राजाने अपने कुलदेवताका ध्यान किया और अग्निमें प्रवेश करनेके लिये अपना पग बढ़ाया तो वहाँपर जमा एकत्र लोगोंकी चीखें निकल गयीं और राजपत्नियोंने बड़ी बुरी तरहसे रोते हुए महाराजके पैर पकड़ लिये और वे महाराजको चितामें प्रवेश करनेसे रोकने लगीं। इधर प्रजा भी बड़ी जोरसे दहाड़ मार-मारकर रोने लगी और हाहाकार करने लगी।

ठीक उसी समय झटसे राजपुरोहित कुछ आगे बढ़े और उन्होंने राजा साहबको सम्बोधित करते हुए कहा—'राजन्, ठहरो और चितामें प्रवेश न करो।'

'क्यों पुरोहितजी महाराज, ऐसा क्यों?' राजाने पूछा!

इसलिये कि राजन्, आपके पापका प्रायश्चित्त हो गया है।

कब हो गया और कैसे हो गया महाराज, मैं कुछ समझ नहीं पाया। राजाने पूछा।

राजाकी इस जिज्ञासाका पुरोहितने उत्तर देते हुए कहा—'महाराज, आपने अपना अपराध मुझे बता दिया है और इतना ही नहीं समस्त प्रजाको भी इसका पता लग गया है, अतः यह प्रकटीकरण प्रायश्चित्तरूप ही है। आपने पाप किया नहीं था, आपका मन पापमें और दुराचारमें केवल प्रवृत्त हुआ था और वह मनसे सम्बद्ध था, इस प्रकार उस पापका प्रायश्चित्त हो गया है।'

यह शास्त्रीय व्यवस्था सुनकर और मनके किये गये पापका प्रायश्चित्त हो जानेपर राजा पीछे लौटे और प्रजा एकदमसे आनन्दविभोर हो गयी। सभी लोग राजाके सदाचारकी बड़ी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे और अपने-अपने घरोंको लौट गये। सबके मुखसे यही निकला कि राजा हो तो ऐसा हो जैसे कि हमारे ये महाराज हैं!

क्या इस सच्ची घटनासे हम कुछ सीख लेंगे? तो इसका उत्तर हमें अपनी अन्तरात्मासे ही मिल पायगा।

 [प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम्। अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा॥
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम्। तद् विद्वाननुबुद्ध्येत मनसा कर्मनिश्चयम्॥

(महाभा०, शा०प० २७०। ३९-४०)

समस्त प्राणियोंपर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, निरभिमानता, लज्जा, तितिक्षा और शम—ये परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग हैं। इनके द्वारा पुरुष परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुषको मनके द्वारा कर्मके वास्तविक परिणामका निश्चय समझना चाहिये।

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

वर्ष ७०

संख्या ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, वि० सं० २०५३, श्रीकृष्ण-सं० ५२२२, अप्रैल १९९६ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शु[illegible]
डाक-व्ययस[illegible]
(भारतमें) ५००[illegible]
(सजिल्द ६०० [illegible])

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशि[illegible]

कल्याण

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवात्मभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

वर्ष ७० | गोरखपुर, सौर वैशाख, वि० सं० २०५३, श्रीकृष्ण-सं० ५२२२, अप्रैल १९९६ ई० | संख्या ४ | पूर्ण संख्या ८३३

सती अनसूयाकी संकल्प-सिद्धि

पतिव्रता अनुसूया निज गृह राखे बाल बनाई।
सुनि ह्वै बिकल सिवा उठि धाई, धात्रिहि सुगति सुनाई।
दोऊ तिय अकुलाय कही सब सिंधु-सुता ढिग जाई॥
सोच सँकोच बिबस तिहुँ बनिता ह्वै जिय निपट निरासा।
भूरि गरूर दूर धरि गमनी अत्रितिया के पासा॥

(रसिकबिहारीकृत राम-रसायन)

कल्याण

याद रखो—पारमार्थिक लाभ ही यथार्थ लाभ है और पारमार्थिक हानि ही यथार्थ हानि है। अत: जहाँ लौकिक लाभ पारमार्थिक लाभका विरोधी हो, वहाँ लौकिक लाभका मोह त्यागकर पारमार्थिक लाभकी रक्षा करनी चाहिये। इसी प्रकार जहाँ पारमार्थिक लाभमें लौकिक हानि हो, वहाँ पारमार्थिक लाभके लिये लौकिक हानिको सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये।

याद रखो—लौकिक हानि-लाभसे आत्माके पतन-उत्थानका, अपने-आपके बन्धन-मोक्षका कोई सम्बन्ध नहीं है, परंतु पारमार्थिक हानिका तो अर्थ ही है आत्माका पतन, जीवात्माके बन्धनकी और भी दृढ़ता। तथा पारमार्थिक लाभका अर्थ ही है आत्माका उत्थान, जीवात्माकी मुक्तिकी ओर अग्रसरता।

याद रखो—एक आदमीके पास बहुत धन है, बड़ी उसकी प्रतिष्ठा है। जमीन-मकान हैं, पुत्र-पौत्र हैं, पद-अधिकार प्राप्त है—वह सब प्रकारसे सम्पन्न है, लौकिक लाभ उसके चारों ओर व्याप्त है, परंतु इसके बदलेमें उसका मन काम-क्रोधसे, मद-अभिमानसे, तृष्णा-लोभसे, द्वेष-हिंसासे, वैर-विरोधसे, मोह-ममतासे भर गया है और वह ईश्वरको भूलकर केवल विषयभोगोंकी प्राप्ति, रक्षा और भोगके लिये सदैव चिन्तित और निषिद्ध आचरणमें रत है तो उसका उपर्युक्त लौकिक लाभ उसके किसी कामका नहीं होगा। मरते ही समस्त प्राणि-पदार्थोंसे सम्बन्ध टूट जायगा, सबसे नाता टूट जायगा और उसे बाध्य होकर नरकानलमें दग्ध होना, नारकीय यातना भोगना और फिर बुरी-बुरी दु:खदायिनी योनियोंमें भटकना पड़ेगा। इस प्रकार उसका जीवात्मा—वह पतनके गर्तमें गिर जायगा।

याद रखो—यदि एक मनुष्य संसारकी दृष्टिमें अभावपूर्ण जीवन बिता रहा है, धन-मान, प्रतिष्ठा-प्रशंसा, पुत्र-परिवार, मित्र-सुहृद्, जमीन-मकान, पद-अधिकार—सभीसे वञ्चित है, बल्कि शरीरनिर्वाहके लिये भी जिसके पास साधन नहीं है, परंतु जिसका हृदय संतोष-क्षमा, विनय-विनम्रता, सहिष्णुता-तितिक्षा, प्रेम-सेवा, सुहृदता-सहानुभूति, मैत्री-करुणा, विवेक-वैराग्यसे पूर्ण है और जो भगवत्प्राप्तिके लक्ष्यसे भगवद्भजन और भगवत्सेवाको ही जीवनका स्वरूप मानकर नित्य-निरन्तर भगवत्प्रीतिकारक दैवी गुणोंके अर्जन, रक्षण और आचरणमें लगा हुआ ईश्वरकी ओर बढ़ रहा है, उसका उपर्युक्त लौकिक हानि या लौकिक प्राणि-पदार्थोंके अभावसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह निश्चय ही परम-कल्याणरूप भगवान्‌को प्राप्त करेगा। इस प्रकार उसको मानव-जीवनकी सच्ची सफलता प्राप्त होगी।

याद रखो—मनुष्ययोनि भगवत्प्राप्तिरूप महान् पारमार्थिक लाभके लिये ही प्राप्त हुई है। भगवान्‌की बड़ी कृपासे यह साधनधाम मानव-शरीर मिला है। इसको केवल इसी महान् कार्यकी साधनामें लगाना यथार्थ मानवता है। यदि मानव-शरीरका उपयोग भोगकामना और भोगोंके भोगमें किया जाय तो वह उसका दुरुपयोग ही है और यदि भोगोंके लिये दुर्गुण, दुर्विचारोंका आश्रय लेकर दूषित कर्म किये जायँ, तब तो मानव-जीवनका महान् दुरुपयोग है, क्योंकि मानव-जीवनमें किये हुए कर्मोंका फल ही जीवको अनन्त लोकों तथा अनन्त योनियोंमें विविध प्रकारसे भोगना पड़ता है।

याद रखो—जीव जबतक मनुष्य-योनिमें नहीं आता, तबतक तो वह अपने पूर्व मानव-जन्मकृत भोगोंको भोगकर कर्म-ऋणसे क्रमश: मुक्त होता रहता है। पर मानव-शरीर प्राप्त करके यदि भगवत्प्राप्तिके साधनमें नहीं लगता और भोग-प्राप्त्यर्थ सत्कर्म करता है तो उसे जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहकर सत्कर्मोंके फलस्वरूप विविध लोकों तथा योनियोंमें लौकिक सुख मिलता है, भगवत्प्राप्ति नहीं होती। यह उसकी महान् हानि होती है। मानव-जीवनका सुदुर्लभ अवसर हाथसे चला जाता है और यदि वह मानव-शरीरमें दुष्कर्म करता है, तब तो उसे विविध प्रकारकी भीषण नरकयन्त्रणा तथा विविध जघन्य योनियोंमें जन्म लेकर अपार कष्ट-भोग करना पड़ता है, इससे अच्छा था कि वह मानव-शरीर ही प्राप्त न करता।

याद रखो—मानव-शरीर विफल न हो जाय—नहीं तो, फिर बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ेगा। अवसर हाथसे निकल जानेपर कोई भी उपाय नहीं रह जायगा, अतएव जबतक मानव-शरीर है, जबतक इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि क्रियाशील हैं, तबतक इनके द्वारा मानव-जीवनके एकमात्र कार्य भगवत्प्राप्तिके साधनमें लग जाओ। लौकिक हानिसे बचनेके लिये या लौकिक लाभकी प्राप्तिके लिये कोई भी ऐसा कार्य कभी भूलकर भी मत करो, जिससे पारमार्थिक लाभमें बाधा पहुँचे और तनिक भी पारमार्थिक हानि हो।—**'शिव'**

स्वधर्मे निधनं श्रेयः

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आजकल ऐसी बात कही जाती है कि वर्णविभाग उच्च वर्णके अधिकारारूढ़ लोगोंकी स्वार्थपूर्ण रचना है, परंतु ध्यान देनेपर पता लगता है कि समाज-शरीरकी सुव्यवस्थाके लिये वर्णधर्म बहुत ही आवश्यक है और यह मनुष्यकी रचना है भी नहीं। वर्णधर्म भगवान्के द्वारा रचित है। स्वयं भगवान्ने कहा है—'**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**' (४। १३)

'गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरे ही द्वारा रचे हुए हैं। भारतके दिव्य दृष्टि-प्राप्त त्रिकालज्ञ महर्षियोंने भगवान्के द्वारा निर्मित इस सत्यको प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त किया, और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्ति, शीलमय, सुखी, कर्मप्रवण, स्वार्थदृष्टिशून्य कल्याणप्रद और सुरक्षित बना दिया। सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये मनुष्योंके चार विभागकी सभी देशों और सभी कालोंमें आवश्यकता हुई है और सभीमें चार विभाग रहे और रहते भी हैं। परंतु इस ऋषियोंके देशमें वे जिस सुव्यवस्थितरूपसे रहे, वैसे कहीं नहीं रहे।

समाजमें धर्मकी स्थापना और रक्षाके लिये तथा समाज-जीवनको सुखी बनाये रखनेके लिये, जहाँ समाजकी जीवन-पद्धतिमें कोई बाधा उपस्थित हो, वहाँ प्रयत्नके द्वारा उस बाधाको दूर करनेके लिये, कर्मप्रवाहके भँवरको मिटानेके लिये, उलझनोंको सुलझानेके लिये और धर्मसंकट उपस्थित होनेपर समुचित व्यवस्था देनेके लिये परिष्कृत और निर्मल मस्तिष्ककी आवश्यकता है। धर्मकी और धर्ममें स्थित समाजकी भौतिक आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये बाहुबलकी आवश्यकता है। मस्तिष्क और बाहुका यथायोग्य रीतिसे पोषण करनेके लिये धनकी और अन्नकी आवश्यकता है। और उपर्युक्त कर्मोंको यथायोग्य सम्पन्न करानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

इसीलिये समाज—शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। चारों एक ही समाज-शरीरके चार आवश्यक अङ्ग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें नीच-ऊँचकी ही कल्पना है। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रमबलसे बड़ा है। और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्के शरीरसे हुई है—ब्राह्मणकी उत्पत्ति भगवान्के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋग्वेद सं० १०। ९०। १२)

परंतु इनका यह अपना-अपना बल न तो स्वार्थसिद्धिके लिये है और न किसी दूसरेको दबाकर स्वयं ऊँचा बननेके लिये ही है। समाज-शरीरके आवश्यक अङ्गोंके रूपमें इनका योग्यतानुसार कर्मविभाग है। और यह है केवल धर्मके पालने-पलवानेके लिये ही। ऊँच-नीचका भाव न होकर यथायोग्य कर्मविभाग होनेके कारण ही चारों वर्णोंमें एक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है। कोई भी किसीकी न अवहेलना कर सकता है, न किसीके न्याय्य अधिकारपर आघात कर सकता है। इस कर्मविभाग और कर्माधिकारके सुदृढ़ आधारपर रचित यह वर्णधर्म ऐसा सुव्यवस्थित है कि इसमें शक्ति-सामञ्जस्य अपने-आप ही रहता है। स्वयं भगवान्ने और धर्मनिर्माता ऋषियोंने प्रत्येक वर्णके कर्मोंका अलग-अलग स्पष्ट निर्देश करके तो सबको अपने-अपने धर्मका निर्विघ्न पालन करनेके लिये और भी सुविधा कर दी है और स्वकर्मका पूरा पालन होनेसे शक्ति-सामञ्जस्यमें कभी बाधा आ ही नहीं सकती।

यूरोप आदि देशोंमें स्वाभाविक ही मनुष्य-समाजके चार विभाग रहनेपर भी निर्दिष्ट नियम न होनेके कारण शक्ति-सामञ्जस्य नहीं है। इसीसे कभी ज्ञानबल सैनिक बलको दबाता है और कभी जनबल धनबलको परास्त करता है। भारतीय वर्णविभागमें ऐसा न होकर सबके लिये पृथक्-पृथक् कर्म निर्दिष्ट हैं।

ऋषिसेवित वर्णधर्ममें ब्राह्मणका पद सबसे ऊँचा है,

वह समाजके धर्मका निर्माता है, उसीकी बनायी हुई विधिको सब मानते हैं। वह सबका गुरु और पथप्रदर्शक है; परंतु वह धन-संग्रह नहीं करता, न दण्ड ही देता है, न भोग-विलासमें ही रुचि रखता है। स्वार्थ तो मानो उसके जीवनमें है ही नहीं। धनैश्वर्य और पद-गौरवको धूलके समान समझकर वह फल-मूलोंपर निर्वाह करता हुआ सपरिवार शहरसे दूर वनमें रहता है। दिन-रात तपस्या, धर्मसाधन और ज्ञानार्जनमें लगा रहता है और अपने शम, दम, तितिक्षा, क्षमा आदिसे समन्वित महान् तपोबलके प्रभावसे दुर्लभ ज्ञाननेत्र प्राप्त करता है और उस ज्ञानकी दिव्य ज्योतिसे सत्यका दर्शन कर उस सत्यको बिना किसी स्वार्थके सदाचारपरायण, साधु-स्वभाव पुरुषोंके द्वारा समाजमें वितरण कर देता है। बदलेमें कुछ भी चाहता नहीं। समाज अपनी इच्छासे जो कुछ दे देता है या भिक्षासे जो कुछ मिल जाता है, उसीपर वह बड़ी सादगीसे अपनी जीवनयात्रा चलाता है। उसके जीवनका यही धर्ममय आदर्श है।

क्षत्रिय सबपर शासन करता है। अपराधीको दण्ड और सदाचारीको पुरस्कार देता है। दण्डबलसे दुष्टोंको सिर नहीं उठाने देता और धर्मकी तथा समाजकी दुराचारियों, चोरों, डाकुओं और शत्रुओंसे रक्षा करता है। क्षत्रिय दण्ड देता है, परंतु कानूनकी रचना स्वयं नहीं करता। ब्राह्मणके बनाये हुए कानूनके अनुसार ही वह आचरण करता है। ब्राह्मणरचित कानूनके अनुसार ही वह प्रजासे कर वसूल करता है और उसी कानूनके अनुसार प्रजाहितके लिये व्यवस्थापूर्वक उसे व्यय कर देता है। कानूनकी रचना ब्राह्मण करता है और धनका भंडार वैश्यके पास है। क्षत्रिय तो केवल विधिके अनुसार व्यवस्थापक और संरक्षक मात्र है।

धनका मूल वाणिज्य, पशु और अन्न सब वैश्यके हाथमें है। वैश्य धन उपार्जन करता है और उसको बढ़ाता है किंतु अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मणके ज्ञान और क्षत्रियके बलसे संरक्षित होकर धनको सब वर्णोंके हितमें उसी विधानके अनुसार व्यय करता है। न शासनपर उसका कोई अधिकार है और न उसे उसकी आवश्यकता ही है। क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके वाणिज्यमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं करते, स्वार्थवश उसका धन कभी नहीं लेते, वरं उसकी रक्षा करते हैं और ज्ञानबल तथा बाहुबलसे ऐसी सुव्यवस्था करते हैं कि जिससे वह अपना व्यापार सुचारुरूपसे निर्विघ्न चला सकता है। इससे उसके मनमें कोई असंतोष नहीं है। और वह प्रसन्नताके साथ ब्राह्मण तथा क्षत्रियका प्राधान्य मानकर चलता है और मानना आवश्यक भी समझता है, क्योंकि इसीमें उसका हित है। वह खुशीसे राजाको कर देता है, ब्राह्मणकी सेवा करता है और विधिवत् आदरपूर्वक शूद्रको भरपूर अन्न-वस्त्रादि देता है।

अब रहा शूद्र, शूद्र स्वाभाविक ही जनसंख्यामें अधिक है। शूद्रमें शारीरिक शक्ति प्रबल है, परंतु मानसिक शक्ति कुछ कम है। अतएव शारीरिक श्रम ही उसके हिस्सेमें रखा गया है। और समाजके लिये शारीरिक शक्तिकी बड़ी आवश्यकता भी है। परंतु इसकी शारीरिक शक्तिका मूल्य किसीसे कम नहीं है। शूद्रके जनबलके ऊपर ही तीनों वर्णोंकी प्रतिष्ठा है। यही आधार है। पैरके बलपर ही शरीर चलता है। अतएव शूद्रको तीनों वर्ण अपना प्रिय अङ्ग मानते हैं। उसके श्रमके बदलेमें वैश्य प्रचुर धन देता है, क्षत्रिय उसके धन-जनकी रक्षा करता है और ब्राह्मण उसको धर्मका, भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखलाता है। न तो स्वार्थसिद्धिके लिये कोई वर्ण शूद्रकी वृत्ति हरण करता है, न स्वार्थवश उसे कर्म-पारिश्रमिक देता है और न उसे अपनेसे नीचा मानकर किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही करता है। सब यही समझते हैं कि सब अपना-अपना स्वत्व ही पाते हैं, कोई किसीपर उपकार नहीं करता। परंतु सभी एक-दूसरेकी सहायता करते हैं और सब अपनी उन्नतिके साथ उसकी उन्नति करते हैं और उसकी उन्नतिमें अपनी उन्नति और अवनतिमें अपनी अवनति मानते हैं। ऐसी अवस्थामें जनबलयुक्त शूद्र संतुष्ट रहता है, चारोंमें कोई किसीसे ठगा नहीं जाता, कोई किसीसे अपमानित नहीं होता।

एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बाँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्मस्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेका हित करते हुए समाजकी शक्ति बढ़ाते हैं। न तो सब एक-सा कर्म करना चाहते हैं और न अलग-अलग कर्म करनेमें

कोई ऊँच-नीच-भाव ही मनमें लाते हैं। इसीसे उनका शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और धर्म उत्तरोत्तर बलवान् तथा पुष्ट होता है। यह है वर्णधर्मका स्वरूप।

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुत: वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई शृंखला या नियम ही नहीं रहेगा। सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी। परंतु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है। यदि केवल कर्मसे वर्ण माना जाता तो युद्धके समय ब्राह्मणोचित कर्म करनेको तैयार हुए अर्जुनको गीतामें भगवान् क्षत्रियधर्मका उपदेश न करते। मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है। जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसको उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये। क्योंकि वही उसका स्वधर्म है। और स्वधर्मका पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याणकारक बतलाया है। '**स्वधर्मे निधनं श्रेय:।**' साथ ही परधर्मको 'भयावह' भी बतलाया है। यह ठीक ही है; क्योंकि सब वर्णोंके स्वधर्म-पालनसे ही सामाजिक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और तभी समाज-धर्मकी रक्षा और उन्नति होती है। स्वधर्मका त्याग और परधर्मका ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकर है। खेदकी बात है, विभिन्न कारणोंसे आर्यजातिकी यह वर्ण-व्यवस्था इस समय शिथिल हो चली है। आज कोई भी वर्ण अपने धर्मपर आरूढ़ नहीं है, सभी मनमाने आचरण करनेपर उतर रहे हैं और इसका कुफल भी प्रत्यक्ष ही दिखायी दे रहा है।

(गीता-तत्त्वविवेचनी-टीकासे)

कर्मयोगका सारभूत रहस्य

भजन-ध्यान तो सदा-सर्वदा ही परम श्रेष्ठ है। परंतु एकान्तमें भजन-ध्यान न करके भी भगवच्चिन्तनसहित शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको निरन्तर करता हुआ ही निष्काम कर्मयोगी परमात्माकी शरण और उसकी कृपासे परमगतिको प्राप्त हो जाता है।

अपने-अपने वर्ण-धर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये।

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिको ही अपना सर्वस्व मानकर पतिका ही चिन्तन करती हुई, पतिके आज्ञानुसार, पतिके लिये ही मन, वाणी, शरीरसे नियत (अपने जिम्मे बँधे हुए) संसारके समस्त कर्मोंको करती हुई पतिकी प्रसन्नता प्राप्त करती है, इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी एक परमात्माको ही अपना सर्वस्व मानकर उसीका चिन्तन करता हुआ उसीके आज्ञानुसार मन, वाणी, शरीरसे उस परमात्माके ही लिये अपने कर्तव्य-कर्मका आचरण कर परमात्माकी प्रसन्नता और परमात्माको प्राप्त करता है।

समस्त—सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें परमात्माको व्याप्त समझकर सभीको परमात्माका स्वरूप मानकर अपने कर्मोंद्वारा निष्काम कर्मयोगी भक्त भगवान्‌की पूजा करता है।

जैसे धनका लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममें धनकी प्राप्तिका उपाय ही सोचता है। किसी तरह धन मिलना चाहिये केवल यही भाव उसके मनमें निरन्तर रहता है। जिस काममें रुपये लगते हैं, रुपये नहीं आते या उनके आनेमें कुछ बाधा होती है, उस कामके समीप भी वह जाना नहीं चाहता। वह केवल उन्हीं कार्योंको करता है जो धनकी प्राप्तिके अनुकूल या सहायक होते हैं। इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी भी 'आठ पहर चौंसठ घड़ी' मन, वाणी, शरीरद्वारा उन्हीं सब कर्मोंको करता है जो ईश्वरको संतुष्ट करनेवाले होते हैं।

वैष्णवधर्म

(भागवताचार्य प्रभुपाद श्रीमान् प्राणकिशोर गोस्वामी महाराज, एम्० ए०, विद्याभूषण, साहित्यरत्न)

जीवकी चेतनाके साथ-साथ उसकी आनन्द-संवेदना लगी हुई है। समस्त रूप-रस-गन्धमें निरवच्छिन्न सर्वाश्रय परमात्माके आनन्दस्वरूपके अनुस्मरणमें विष्णुभावना समुल्लसित होती है—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्। (ऋग्वेद १। २२। २०)

इस सत्यका आश्रय लेकर वैदिक आराधनाकी प्रवृत्ति है, वही वैष्णवधर्म है। प्रागैतिहासिक युगमें—

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूळ्हमस्य पांसुरे। (ऋग्वेद १। २२। १७)

—इस मन्त्रमें त्रिविक्रम विष्णुकी सर्वाधिक महिमामें वैष्णव-भावनाके रहस्यका अनुसंधान करना चाहिये।

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥
(ऋग्वेद १। १५६। ३)

—ऋग्वेदके इस मन्त्रमें वैष्णव-साधनाका मूल स्रोत प्राप्त होता है। 'हे विष्णो! तुम्हारी अनन्त महिमाको हम कितना-सा जानते हैं और क्या कह सकते हैं? तुम्हारे नामकी महिमाको जानकर नाम-भजन ही हम करते हैं। इसीसे हमको सुमति प्राप्त होगी।'

संहिता, उपनिषद्, ब्राह्मण, सूत्र, पञ्चरात्र, पुराण, तन्त्र आदि सब शास्त्रोंमें विष्णु, वैष्णव और धर्मकी बातें भरी पड़ी हैं। मनु, अत्रि, विष्णु आदि स्मृतियाँ विष्णु, नारायण, अच्युतकी नाम-महिमा, वैष्णवके धर्माचार तथा सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनचर्याकी विस्तृत प्रयोगपद्धति विश्लेषण-पूर्वक प्रदर्शित करती हैं।

शाण्डिल्यविद्या और सूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, महाभारतके नारायणीय और पाञ्चरात्रिक व्यूहविचार, गौतमीय तन्त्र तथा तापिनी श्रुतिके समन्वयसे वैष्णवधर्मका जो विस्तार हुआ है और जिस वैचित्र्यका विकास हुआ है, वह एक विराट् साहित्य है।

इसको कोई पाञ्चरात्रिक कहते हैं तो कोई पौराणिक साहित्य,कोई तान्त्रिक कहते हैं तो कोई अवैदिक और कोई बौद्ध-प्रभाव बतलाते हैं। पता नहीं, क्या-क्या कहते हैं।

वैष्णव कहते हैं कि अनादि वैष्णवधर्म काल-कलन-धर्मी युगधर्मप्रवर्तक सार्वजनिक मानव-धर्म है। श्रीविष्णुके चरणाश्रित भक्तोंके लिये यह धर्म नित्य है। देवर्षि नारद, व्यास, वाल्मीकि, श्रीशुक आदिने साधनासे, चिन्तनसे, भावनासे, प्रेरणासे सुरसरिकी धाराके समान सर्वलोकपावन वैष्णवधर्मको मानवके हृदयाङ्गणमें अवतरित किया है। वेदप्रतिपाद्य यह धर्म पाशुपत आदि धर्मोंके समान शून्यवादपर आश्रित मतवादसे पूर्णतः पृथक् और स्वतन्त्र है। सौर, शाक्त, शैव और गाणपत्य-निगमसे नियन्त्रित साधनाका जो क्रम समस्त भारतमें फैला हुआ है, उसमें सर्वत्र विष्णु, नारायण, यज्ञेश्वरको मुख्य स्थान प्राप्त है।

स्मार्त, वैदिक, वेदान्ती, तान्त्रिक या पौराणिक—सभी विष्णुभगवान्का नामस्मरण करके पवित्र होते हैं, विष्णुभगवान्का नामस्मरण करके आचमन करते हैं, यज्ञेश्वरकी पूजा करके अन्य किसी पूजामें लगते हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य या निष्काम कर्म विष्णुको समर्पित होनेपर ही पूर्ण फल प्रदान करते हैं, अन्यथा मन्त्रतः या तन्त्रतः कोई-न-कोई छिद्र—दोष रह जानेके कारण सम्यक्रूपसे अनुष्ठित नहीं माने जाते।

जलचर, थलचर, नभचर प्राणिसमूह तथा मानव—सबमें सर्वत्र एक विष्णु ही गुहाशय-रूपमें प्रविष्ट हैं। स्थावर-जंगम उन्हींके ही रूप हैं। विष्णुभक्त इस रूपका दर्शन करके उन्हें प्रणाम करते हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भागवत ११। २। ४५)

स्थावर जङ्गम देखे ना देखे ताँर मूर्ति।
जाहाँ जाहाँ दृष्टि पड़े ताहाँ इष्ट स्फूर्ति॥

परम देवताके मर्त्यलोकमें अवतरणका संदेश वैष्णवधर्मकी ही देन है। संसारके अन्य किसी धर्मदर्शनमें इस प्रकार सुस्पष्ट भाषामें स्वयं भगवान्के अवतारकी बात नहीं है। वैष्णवलोग भगवान्की अनन्त लीला, अनन्त धाम, अनन्त प्रकाश और अनन्त महिमाके सम्बन्धमें संदेहरहित विश्वासका

परिचय देकर प्राकृत लोकोंमें उसके दर्शनार्थ उदग्रदृष्टि होते हैं। वे सहस्र भुजावाले हैं, अष्टभुज हैं, चतुर्भुज हैं तथा द्विभुज भी हैं। अनेक रूपोंमें उनकी आराधना होती है। श्री, भू, लीला आदिसे परिसेवित श्रीनारायणरूपमें, श्रीराम-जानकी युगलसरकारके रूपमें, फिर गोपालकृष्ण, गोपीजनवल्लभ, राधा-श्यामसुन्दर-स्वरूपमें आराधित हैं। यह साधनाका क्रम अनादि-कालसे चला आ रहा है। इसको ऐतिहासिक विचारसरणिमें लाकर जो इसे किसी देश-कालमें या किसी मानव-समाजके द्वारा सृष्ट बतलाया जाता है, उसे वैष्णवगण नहीं मानते। श्रीभगवान्‌का रूप नित्य है, पार्षद नित्य हैं, धाम नित्य है और उनकी लीला नित्य है। समय-समयपर उसका प्राकट्य और अप्राकट्य, आविर्भाव और तिरोभाव होता है।

विष्णुरेव हि यस्यैष देवता वैष्णवः स्मृतः।

—लिङ्गपुराणके इस वाक्यके अनुसार श्रीविष्णुके आराधक वैष्णव हैं। और भी विशेषरूपसे कहा गया है—

गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः ॥

वैष्णव दीक्षा लेकर श्रीविग्रहकी सेवा करे। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुसे कुलीन ग्रामवासी पूछते हैं—'वैष्णव कौन है?' प्रभु पहले कहते हैं—

जाँर मुखे एक बार सुनि कृष्णनाम।
सेइ वैष्णव ताँर करिओ सम्मान॥

दूसरे वर्ष भी ग्रामवासियोंने वैसा ही प्रश्न फिर किया। इस बार गौराङ्गने कहा—

कृष्ण नाम निरन्तर जाँहार बदने।
सेइ वैष्णव श्रेष्ठ, भज ताँहार चरणे॥

तीसरे वर्ष पुनः यही प्रश्न करनेपर महाप्रभुने उनसे कहा—

जाँहार दर्शने मुखे आइसे कृष्णनाम।
ताँहारे जानिओ तुमि वैष्णव-प्रधान॥

इस प्रकारसे भागवतगणका तारतम्य शास्त्रमें वर्णित है। वैष्णव निरभिमानी होते हैं। वर्णाश्रमके कारण उच्च या नीचका कोई विरोध उनमें नहीं होता। वे लोग कुल-गौरव, विद्या या धनके गौरवको तुच्छ जानकर सब अवस्थाओंमें अपनेको सबका सेवक समझते हुए सबका सम्मान करते हैं। ब्राह्मणकुलमें जन्म लेकर भी आभिजात्यहीन वैष्णव जानते हैं कि भजनके प्रभावसे हीन कुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी सर्वपूज्य हो जाते हैं। अन्तर्निहित गुणोंके परमोत्कर्षका आविष्कार ही वैष्णव-जीवनकी सार्थकता है। वैष्णवका देह भगवान्‌का रथ है, हृदय उनका सिंहासन है, प्रत्येक अङ्गमें हरिमन्दिर है, पदचारण परिक्रमा है, वाणीमें नाममन्त्र है, दृष्टिमें प्रेम है, व्यवहारमें पूजा है, दर्शनमें पवित्रता है और सेवामें भगवत्सांनिध्य है। सत्यनिष्ठा, शौर्य, निर्भीकता, दैन्य, कारुण्य उनके अङ्गके भूषण हैं। प्राचीन वैष्णवोंका नाम-स्मरण करके मैं उनको प्रणाम करता हूँ—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि॥

देवर्षि नारद भक्तिप्रवर्तक गुरु हैं और प्रह्लाद शिष्य हैं। श्लोकमें प्रह्लादका नाम सर्वप्रथम उल्लेख करना तात्पर्यपूर्ण है। भक्तिकी प्रबलतासे गुरु-शिष्यमें शिष्यका नाम ही अधिक आदरणीय माना गया है, दैत्यकुलमें जन्म लेनेपर भी इसमें बाधा नहीं आयी। भक्तिनिष्ठा, सदाचार, विश्वास, ज्ञान, परिचर्या, प्रेम, शुश्रूषा, चारित्रिक दृढ़ता, त्याग, संयम, निर्भरशीलता, सूक्ष्मदृष्टि, शरणागति आदि सद्वृत्तियाँ भक्तोंका आश्रय लेकर नित्य समुज्ज्वल हो रही हैं।

वैष्णव-साधना सार्वजनिक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। सब लोग परम पुरुषोत्तमकी सेवाके अधिकारी हैं। अतएव वैष्णव-भाव अनुशीलनके योग्य है। दूसरी साधनाओंमें योग्य और अयोग्यका विचार होता है। जो अयोग्य माना जाता है, उसका प्रवेश निषिद्ध होता है। वैष्णवका द्वार पतित, अधम, अयोग्य—सभीके लिये खुला है। जिस दिन भगवान्‌का नाम ग्रहण किया, उसी दिनसे वैष्णव-साधना आरम्भ हो गयी। जितना जो कुछ होता है, सब जमा होता जाता है, जरा-सा भी नष्ट नहीं होता। अति अल्प साधनासे बहुत लाभ होता है। जिस दिन तनिक भी भक्त-संग हुआ, जिस दिन साधुका चरणस्पर्श प्राप्त हुआ, नामकी ध्वनि कानमें पहुँची, उसी दिनसे भक्तिका आभास पाकर भगवान्

संतुष्ट हो गये। बलदेव विद्याभूषणकी भाषामें—

भक्त्याभासेनापि तोषं दधाने
धर्माध्यक्षे विश्वनिस्तारनाम्नि।
नित्यानन्दाद्वैतचैतन्यरूपे
तत्त्वे तस्मिन् नित्यमास्तां रतिर्नः॥

वैष्णव विश्वासमय जीवन-यापन करते हैं। विश्वस्त भगवान् अपने भक्तको वञ्चित नहीं करते। अति अल्पसाधनसे ही उनकी प्रीति प्राप्त होती है। '**पत्रं पुष्पं फलं तोयम्**'—यदि पत्र, पुष्प, फलके आहरणमें श्रम होता हो तो अनायास लब्ध जलसे भी उनकी पूजा हो जाती है। '**जलस्य चुलुकेन वा**'—एक चुल्लू जलके प्रदान करनेपर भी श्रीभगवान् भक्तके सामने ऋणी होकर आत्मविक्रय करते हैं—

कृष्णके तुलसी जल देय जेइ जन।
तार ऋण शोधिवारे कृष्ण करेन चिन्तन॥
तुलसी जलेर मत धरे नाहि धन।
अतएव आत्म बेचि करे ऋणेर शोधन॥

वैष्णवशरीरमें विष्णुभगवान्‌की गुणावली संक्रमित होती है। वैष्णव क्षमाशील, हिंसारहित, सहिष्णु, सत्यप्रिय, निर्मल, समभाव, निरुपाधि, कृपालु, अक्षुब्ध, स्थिरबुद्धि, संयतेन्द्रिय, कोमलस्वभाव, पवित्र, अकिंचन, कामनारहित, मिताहारी, शान्त, शरणागत, अप्रमत्त, गम्भीराशय, निरभिमान, सम्मानकारी, बन्धुभावापन्न, करुणस्वभाव तथा सत्यद्रष्टा होते हैं।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

नारायण-नामका तात्पर्य निखिल जीवका परम आश्रय है। उसी नारायणके चरणोंका आश्रय लेकर वैष्णवभावधारा फैल गयी है—विभिन्न प्रकारके मतवादोंमें परस्पर मतभेद होनेपर भी वैष्णव आचार्य एक अभिन्न परम पुरुषोत्तमके संधानमें प्रवृत्त हुए हैं।

श्रीरामानुज, निम्बार्क, मध्व, विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य, बलदेव विद्याभूषण आदि आचार्योंने वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य करके दार्शनिक विचारको प्रतिष्ठित किया है। प्रधानतः उनके भाष्योंमें अनात्मा जड-जीव और जीवात्मा, परमात्मा-परमेश्वर और उनके नित्य पार्षद भक्तोंको लेकर विचार किया गया है। इससे सृष्ट जगत्, स्रष्टा परमेश्वर और आराधक जीवका सम्बन्ध-निरूपण करनेमें विभिन्न प्रकारके मतवाद प्रकट हुए हैं। श्रीरामानुजका विशिष्टाद्वैत, श्रीनिम्बार्कका द्वैताद्वैत, श्रीमध्वका द्वैत, श्रीवल्लभका शुद्धाद्वैत और श्रीबलदेवका अचिन्त्यभेदाभेदवाद वैष्णवगणके लिये विचारणीय हैं। इनके विषयमें आलोचना करनेका यहाँ अवकाश नहीं है। यहाँ तो देखना यह है कि आचार्य रामानुज परम धर्मके सम्बन्धमें, शरणागतिके विषयमें क्या कहते हैं—

श्रीमन्नारायण अशरणशरण्य अनन्यशरणं त्वत्पदारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये।

सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

'जिसका कोई नहीं, हे नारायण! एकमात्र तुम्हीं उसके हो। मेरा और कोई नहीं, और कुछ भी नहीं है। तुम्हारे पदयुगलमें मैंने शरण ले ली है।' आचार्य निम्बार्क भी कहते हैं—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्॥

'ब्रह्मादि देवगणके द्वारा वन्दित श्रीकृष्ण-पदारविन्दके सिवा और कहीं भी गति नहीं देखनेमें आती।'

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं—

श्रीमन्तं समुपास्महे सुमनसामिष्टप्रदं विट्ठलम्।

'साधुजनके मङ्गलायतन श्रीमान् विट्ठलदेवकी मैं उपासना करता हूँ।' श्रीवल्लभाचार्यने '**श्रीकृष्णः शरणं मम**', '**दासोऽहं श्रीकृष्ण तवास्मि**' कहकर सम्यक् शरणागतिका उपदेश दिया है। बलदेव विद्याभूषण प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

समुद्धृत्य यो दुःखपङ्कात् स्वभक्तान्
नयत्यच्युतश्चित्सुखे धाम्नि नित्यम्।
प्रियान् गाढरागात् तिलार्धं विमोक्तुं
न चेच्छत्यसावेव सुज्ञैर्निषेव्यः॥

'जो अपने भक्तोंको दुःखपङ्कसे उद्धार करके चिदानन्दमय निज नित्यधाममें बुला लेते हैं तथा प्रगाढ़ अनुरागवश उनको क्षणमात्रके लिये भी छोड़ना नहीं चाहते, पण्डित लोगोंको उन्हीं अच्युतकी आराधना करनी चाहिये।'

श्रीरामानुजाचार्यके आराध्य शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी

चतुर्भुज श्रीविष्णुभगवान् हैं, और सभीके आराध्य द्विभुज श्रीकृष्ण गोविन्द गोपाल हैं। श्रीरामानन्द द्विभुज श्रीरामके उपासक हैं। तुलसीदासजी भक्ति-भावसे कहते हैं—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥

सर्वाङ्गमें हरिमन्दिर-रचना, चक्रादि-चिह्न—नामाङ्कन-धारण, तुलसीमाला, कण्ठी, नामजप-माला आदि धारण, महाप्रसाद-भोजन, आमिष-त्याग, तुलसी-सेवन, धाममें वास, श्रीगुरु और विग्रहकी सेवा, नित्य भागवत-रामायण आदि शास्त्रोंका पाठ तथा श्रवण, स्तुति-पाठ—वैष्णवाचारका पालन, नामसंकीर्तन सभी सम्प्रदायोंमें नित्य-कर्तव्य माने गये हैं। भक्तिके चौसठ अङ्ग हैं, परंतु कम-से-कम नौ अङ्ग, अथवा किसी भी एक अङ्गके साधनसे भी जीव कृतार्थ हो सकता है। श्रीरामानुजाचार्यने जिस प्रकार शरणागतिको प्रधानता प्रदान की है, व्रजवासीगणने उसी प्रकार सेवा-सुखकी प्रधानता स्वीकार की है। पुष्टिमार्गका अवलम्बन करनेवाले श्रीवल्लभाचार्यके अनुयायी प्रीतिपूर्वक श्रीविग्रह और गुरुकी सेवा करते हैं। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी कृपासे परिपुष्ट श्रीरूप-सनातन आदि वैष्णव-गुरुजनोंने बंगाल, श्रीक्षेत्र तथा श्रीवृन्दावनको एक अखण्ड प्रेम-सूत्रमें ग्रथित कर भारतके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्ततक श्रीहरिनाम-संकीर्तनको ही कलियुगमें एकमात्र साधन और साध्यके सिद्धान्तके रूपमें प्रचारित किया है।

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने स्वयं कीर्तन करके शिक्षा दी है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

कलिकाले नामरूपे कृष्ण अवतार।
नाम हैते सर्वजगत् हय त निस्तार॥

विष्णु-मन्दिर-निर्माण, देवता-प्रतिष्ठा, प्राकार—विमान आदिकी संख्या, उच्चता, विस्तार आदिके सम्बन्धमें भारतीय स्थापत्यमें विराट् साहित्य विद्यमान है। शास्त्रानुमोदित देश-काल आदिका विचार करके देवताकी प्रतिष्ठा और अर्चनाके प्रवर्तनमें कितने नये-नये तीर्थोंकी सृष्टि वैष्णवोंने की है, इसकी गणना कौन कर सकता है? मन्दिरमय भारतवर्षमें विष्णुमन्दिरोंकी संख्या सर्वापेक्षा अधिक है, यह कहनेमें अत्युक्ति नहीं है। आधुनिक मन्दिरोंमें प्राचीन गोपुरोंमें अवस्थित देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ प्रायः लुप्त हो रही हैं और उनके स्थानमें अधिकार कर लिया है मन्दिरकी दीवालोंपर साधु-संत महापुरुषोंके चित्रोंने। किसी-किसी मन्दिरकी दीवालमें गीता-भागवतके श्लोक भी उत्कीर्ण देखे जाते हैं। ये सब मन्दिर आगे साधकोंको शास्त्रानुशीलनके लिये प्रेरणा प्रदान करेंगे—यह आशा की जाती है। उत्तरमें बदरीनारायण, दक्षिणमें विठोबा, तिरुपति, विष्णुकाञ्ची और वरदराज, पश्चिममें सुदामापुरी, बेटद्वारका तथा समुद्रके तटपर पुरुषोत्तम नीलाचलनाथ, मध्यभारतमें अयोध्यामें श्रीराम, मथुरा-वृन्दावनमें श्रीकृष्ण और उन्हींके विशेष आविर्भाव नदियामें श्रीकृष्णचैतन्य हैं। इस वैष्णव-भावधाराके उच्छ्वासमें केवल धर्म और धार्मिक ही नहीं, बल्कि कितने गुणी, ज्ञानी, शिल्पकार और कवियोंकी मानसिक शक्तिका—मनोराज्यका विकास हुआ है, इसका इतिहास कौन लिखेगा? भारतीय साहित्यको वैष्णव कवियोंने जिस प्रकार संजीवित, सरसित और समृद्ध बनाया है, उसके प्रभावने भारतकी प्रत्येक भाषाके ऊपर अपनी छाप लगा दी है। दिल्लीके समीप सूरदास, महाराष्ट्रमें ज्ञानेश्वर, नामदेव और तुकाराम, गुजरातमें नरसी मेहता, राजस्थानमें मीराँबाई, असम प्रदेशमें शंकरदेव, बंगालमें जयदेव-चण्डीदास तथा गोविन्ददास, मिथिलामें विद्यापति, उड़ीसामें जगन्नाथदास और भी कितने वैष्णव कवियोंके काव्य, पद, पदावली, दोहा, सोरठा, ओवी और अभङ्गोंके द्वारा परमदेवताकी महिमाका वर्णन हुआ है, उसकी सीमा नहीं है।

हरिकथा वैष्णवके लिये परम आदरणीय है। वैष्णव भाषाका विरोध नहीं करता। एकनाम महाराज कहते हैं—

आतां संस्कृता किंवा प्राकृता भाषा झाली जे हरिकथा।
ते पावनचि तत्त्वता सत्य सर्वथा मानली॥

संस्कृत या जो कोई प्राकृत भाषा हो, हरिकथा उसका गौरव है। साधुगण इस प्रकार सभी भाषाओंको सम्मान प्रदान करते हैं। भाषाकी सम्पत्ति है—हरिकथा तथा वैष्णवोंकी सम्पत्ति है—हरिनाम-हरिभक्ति।

भगवान्‌के सामने दीनता

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

साधकोंके लिये एक बहुत उत्तम उपाय है परमेश्वरके सामने आर्त होकर दीनभावसे हृदय खोलकर रोना, यह साधन एकान्तमें करनेका है। सबके सामने करनेसे लोगोंमें उद्वेग होने और साधनके दम्भरूपमें परिणत हो जानेकी सम्भावना है। प्रात:काल, संध्या-समय, रातको, मध्यरात्रिके बाद या उषाकालमें जब सर्वथा एकान्त मिले, तभी आसनपर बैठकर मनमें यह भावना करनी चाहिये कि 'भगवान् यहाँ मेरे सामने उपस्थित हैं, मेरी प्रत्येक बातको सुन रहे हैं और मुझे देख भी रहे हैं।' यह बात सिद्धान्तसे भी सर्वथा सत्य है कि भगवान् हर समय हर जगह हमारे सभी कामोंको देखते और हमारी प्रत्येक बात सुनते हैं। भावना बहुत दृढ़ होनेपर, भगवान्‌के जिस स्वरूपका इष्ट हो, वह स्वरूप साकाररूपमें सामने दीखने लगता है एवं प्रेमकी वृद्धि होनेपर तो भगवत्कृपासे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन भी हो सकते हैं। अस्तु।

नियत समय और यथासाध्य नियत स्थानमें प्रतिदिन नित्यकी भाँति आसन या जमीनपर बैठकर भगवान्‌को अपने सामने उपस्थित समझकर दिनभरके पापोंका स्मरण कर उनके सामने अपना सारा दोष रखना चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए आर्तभावसे क्षमा तथा फिर पाप न बने, इसके लिये बलकी भिक्षा माँगनी चाहिये। हो सके तो भक्तश्रेष्ठ श्रीसूरदासजीका यह पद गाना चाहिये या इस भावसे अपनी भाषामें सच्चे हृदयसे विनय करना चाहिये—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी॥
भरि भरि उदर बिषयको धायो जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरी बिमुखनकी निसिदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो जग मोतें सब पतितनमें नामी।
सूर पतितकौ ठौर कहाँ है सुनिये श्रीपति स्वामी॥

हे दीनबन्धो! यह पापी आपके चरणोंको छोड़कर और कहाँ जाय? आप-सरीखे अनाथनाथके सिवाय जगत्‌में ऐसा कौन है जो मुझपर दयादृष्टि करे! प्रभो! मेरे पापोंका पार नहीं है, जब मैं अपने पापोंकी ओर देखता हूँ, तब तो मुझे बड़ी निराशा होती है, करोड़ों जन्मोंमें भी उद्धारका कोई साधन नहीं दीखता, परंतु जब आपके विरदकी ओर ध्यान जाता है तब तुरंत ही मनमें ढाढ़स आ जाता है। आपके वह वचन स्मरण होते हैं, जो आपने रणभूमिमें अपने सखा और शरणागत भक्त अर्जुनसे कहे थे—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'अत्यन्त पापी भी अनन्यभावसे मुझको निरन्तर भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने अबसे आगे केवल भजन करनेका ही भलीभाँति निश्चय कर लिया है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सनातन परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे भाई! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेव श्रीकृष्णकी शरण हो जा, मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

कितने जोरके शब्द हैं, आपके सिवा इतनी उदारता और कौन दिखा सकता है? *'ऐसो को उदार जग माहीं।'* परंतु प्रभो! अनन्यभावसे भजन करना और एक आपकी ही शरण होना तो मैं नहीं जानता। मैंने तो अनन्त जन्मोंमें और अबतक अपना जीवन विषयोंकी गुलामीमें ही खोया है, मुझे तो वही प्रिय लगे हैं, मैं आपके भजनकी रीति नहीं समझता। अवश्य ही विषयोंके विषम प्रहारसे अब मेरा जी घबड़ा उठा है, नाथ! आप अपने ही विरदको देखकर मुझे अपनी शरणमें रखिये और ऐसा बल दीजिये, जिससे एक क्षणके लिये भी आपके मनमोहन रूप और पावन नामकी विस्मृति न हो।

हे दीनबन्धो! दीनोंपर दया करनेवाला दूसरा कौन है?

दीनको दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जाहि दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥

सुर, नर, मुनि, असुर, नाग साहिब तौ घनेरे।
तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥
त्रिभुवन तिहुँ काल बिदित, बेद बदति चारी।
आदि-अन्त-मध्य राम! साहबी तिहारी॥
तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव-सील-सुजसु जाचन जन आयो॥
पाहन-पसु बिटप-बिहँग अपने करि लीन्हे।
महाराज दसरथके! रंक राय कीन्हे॥
तू गरीबको निवाज, हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु! तुलसिदास मेरो॥

हे तिरस्कृत भिखारियोंके आश्रयदाता! दूसरा कौन ऐसा है जो आपके सदृश दीनोंको छातीसे लगा ले? जिसको सारा संसार घृणाकी दृष्टिसे देखता है, घरके लोग त्याग देते हैं, कोई भी मुँहसे बोलनेवाला नहीं होता, उसके आप होते हैं, उसको तुरंत गोदमें लेकर मस्तक सूँघने लगते हैं, हृदयसे लगाकर अभय कर देते हैं। रावणके भयसे व्याकुल विभीषणको आपने बड़े प्रेमसे अपने चरणोंमें रख लिया, पाण्डव-महिषी द्रौपदीके लिये आपने ही वस्त्रावतार धारण किया, गजराजकी पुकारपर आप ही पैदल दौड़े। ऐसा कौन पतित है, जो आपको पुकारनेपर भी आपकी दयादृष्टिसे वञ्चित रहा है? हे अभयदाता! मैं तो हर तरहसे आपकी शरण हूँ, आपका हूँ, मुझे अपनाइये प्रभो!

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मातु, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

हे पतितपावन! हे आर्तत्राणपरायण! हे दयासिन्धो! बुरा, भला जो कुछ हूँ, सो आपका हूँ, अब तो आपकी शरण आ पड़ा हूँ, हे दीनके धन! हे अधमके आश्रय! हे भिखारीके दाता! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। ज्ञान-योग, तप-जप, धन-मान, विद्या-बुद्धि, पुत्र-परिवार और स्वर्ग-पाताल किसी भी वस्तुकी या पदकी इच्छा नहीं है। आपका वैकुण्ठ, आपका परम धाम और आपका मोक्षपद मुझे नहीं चाहिये। एक बातकी इच्छा है, वह यह कि आप मुझे अपने गुलामोंमें गिन लीजिये, एक बार कह दीजिये कि 'तू मेरा है।' प्रभो! गोसाईंजीके शब्दोंमें मैं भी आपसे इसी अभिमानकी भीख माँगता हूँ—

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

बस, इसी अभिमानमें डूबा हुआ जगत्‌में निर्भय विचरा करूँ और जहाँ जाऊँ, वहीं अपने प्रभुका कोमल करकमल सदा मस्तकपर देखूँ!—

हे स्वामी! अनन्य अवलम्बन! हे मेरे जीवन-आधार।
तेरी दया अहैतुकपर निर्भर कर आन पड़ा हूँ द्वार॥
जाऊँ कहाँ जगत्‌में तेरे सिवा न शरणद है कोई।
भटका, परख चुका सबको, कुछ मिला न अपनी पत खोई॥
रखना दूर रहा, कोईने मुझसे नजर नहीं जोड़ी।
भला किया, यथार्थ समझाया, सब मिथ्या प्रतीति तोड़ी॥
हुआ निरास उदास, गया विश्वास जगत्‌के भोगोंका।
प्रगट हो गया भेद सभी रमणीय विषय-सुख-रोगोंका॥
अब तो नहीं दीखता मुझको तेरे सिवा सहारा और।
जल-जहाजका कौआ जैसे पाता नहीं दूसरी ठौर॥
करुणाकर! करुणा कर सत्वर, अब तो दे मन्दिर-पट खोल।
बाँकी झाँकी नाथ! दिखाकर तनिक सुना दे मीठे बोल॥
गूँज उठे प्रत्येक रोममें परम मधुर वह दिव्य-स्वर!
हृत्तन्त्री बज उठे साथ ही मिला उसीमें अपना सुर॥
तन पुलकित हो, सुमन-जलजकी खिल जायें सारी कलियाँ।
चरण मृदुल बन मधुप उसीमें करते रहें रंगरलियाँ॥
हो जाऊँ उन्मत्त, भूल जाऊँ तन-मनकी सुधि सारी।
देखूँ फिर कण-कणमें तेरी छबि नव-नीरद घन प्यारी॥
हे स्वामिन्! तेरा सेवक बन, तेरे बल होऊँ बलवान।
पाप-ताप छिप जायें, हो भय भीत, मुझे तेरा जन जान॥

इस भावकी प्रार्थना प्रतिदिन करनेसे बड़ा भारी बल मिलता है। जब साधकके मनमें यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं भगवान्‌का दास हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं, तब वह निर्भय हो जाता है। फिर माया-मोहकी और पाप-

तापोंकी कोई शक्ति नहीं जो उसके सामने आ सकें। जब पुलिसका एक साधारण सिपाही भी राज्यके सेवकके नाते राज्यके बलपर निर्भय विचरता है और चाहे जितने बड़े आदमीको धमका देता है, तब जिसने अखिल-लोकस्वामी **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः'** भगवान्‌को अपने स्वामीरूपमें पा लिया है, उसके बलका क्या पार है? ऐसा भक्त स्वयं निर्भय हो जाता है और जगत्‌के भयभीत जीवोंको भी निर्भय बना देता है।

गृहस्थ-धर्म-विचार

गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रमके विधिपूर्वक पालन करनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये, क्योंकि उस समयतक मनुष्यकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है और शरीर बलवान्, वीर्यवान् एवं आरोग्य-सम्पन्न होता है, मन शुद्ध और सत्कार्योंकी ओर प्रवृत्त होता है। जैसे प्राणिमात्र वायुका आश्रय लेते हैं, वैसे सब आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रमियोंसे ही आश्रय पाते हैं—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

(मनु० ३। ७८)

अन्य तीनों आश्रमवालोंके पालन-पोषणका भार गृहस्थोंके कंधोंपर ही होता है। कमजोर कंधे इस भारको कैसे सँभाल सकते हैं। शास्त्र कहते हैं कि दुर्बलेन्द्रिय स्त्री-पुरुष इस आश्रमको धारण नहीं कर सकते। अतएव गृहस्थाश्रमको चलानेके लिये आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष अपने शरीर और मनको खूब बलवान् तथा संयत बनायें, सांसारिक व्यवहारोंको उत्तम रीतिसे चलानेके लिये सामर्थ्य और विद्याबल प्राप्त करें। तभी शूरवीर और बुद्धिमान् संतान पैदा होगी एवं गृहस्थाश्रमका बोझ सँभालकर अन्य आश्रमोंकी सेवा की जा सकेगी। इस आश्रममें आकर मनुष्य सत्कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

स्त्री-पुरुषका जो वैवाहिक बन्धन है, उसीका नाम गृहस्थाश्रम है और उन दोनोंके एक होकर रहनेसे ही गृहस्थका काम सुचारुरूपसे संचालित होता रहता है।

गृहस्थाश्रममें स्त्री-पुरुषको कामवासनारहित प्रेम-भावसे संयतेन्द्रिय रहकर ज्ञानसहित संतानोत्पत्ति करनी चाहिये। वह गृह स्वर्गोपम है, जिसमें स्त्री-पुरुष एक-दूसरेसे प्रेमयुक्त व्यवहार करते हैं तथा दोनों ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। अन्यथा कामनासक्त होनेसे स्त्री-पुरुष-व्यवहारपर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। स्त्री-पुरुष यदि संयमसे रहकर शुद्ध आचरण रखें तथा धार्मिक व्यवहार—ईश्वरभक्ति, धार्मिक पुस्तकोंके अध्ययन-पाठ, प्रवचन आदि करें तो मनोनिग्रह-धारणासे काममूलक समस्याका उन्मूलन हो सकता है। संयम ही सर्वोत्कृष्ट उपाय है। संयम अव्यावहारिक नहीं है। कृत्रिम साधनोंसे मन उच्छृंखल बनता है। मनकी उच्छृंखलतासे विषय-सेवनकी परिमिति नहीं रहती।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पश्चात् स्त्री-पुरुषको 'स्वधर्म'में रत रहते हुए एक-दूसरेका रक्षक बनकर रहना चाहिये, न कि इन्द्रियोंके क्षणिक सुखके वशीभूत होकर एक-दूसरेके भक्षक बन जायँ। अतएव हमें उचित है कि हम ज्ञानसहित अपनी शक्तिको पर्याप्तरूपमें संचित करें, अपनी आत्मा एवं उसके प्रकाशको बढ़ायें एवं पुरुषार्थके साथ प्राणिमात्रकी निःस्वार्थभावसे सेवा करते हुए अपने गार्हस्थ्य-जीवनको सुचारुरूपसे संचालित करते रहें। इसीमें मानव-जीवनका कल्याण है।

× × ×

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

—इस श्लोकका अर्थ आजके समाज-स्वातन्त्र्यके युगमें लोग अपार्थ-दृष्टिसे करते हैं। पर इसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि कन्याकी रक्षा पिता, युवतीकी पति और माताकी पुत्र करता है। स्त्री स्वतन्त्र रहकर अपनी रक्षा नहीं कर सकती।

यह सत्य है कि स्त्री शक्तिरूपा है एवं शक्तिका स्रोत है। सारे संसारको शक्ति स्त्रीजातिसे ही मिलती है। पर

उसकी शक्तिकी देख-रेख रखना कौमारावस्थातक पिताका कर्तव्य है। दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर उसकी शक्तिका विकास होता रहे, इसका भार पितापर है।

इसके बाद युवावस्थामें उसकी शक्तिकी देख-रेख रखना पतिका काम है। गृहस्थ-धर्मको सुचारुरूपसे संचालित एवं धर्मयुक्त संतानोत्पत्ति करते हुए उसकी शक्तिकी देख-रेख करना यानी उसकी शक्ति कहीं भी कम न हो जाय, इस बातका ध्यान रखना पतिका कर्तव्य है।

गृहस्थाश्रम समाप्त करनेके बाद उसकी शक्तिकी देख-रेख रखना और सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है। उसकी शक्तिका जितना संचय रहेगा, उतना ही उसकी आत्माका विकास होगा एवं आत्माका प्रकाश बढ़नेसे उसको मोक्षकी प्राप्ति होगी। कम-से-कम पुनर्जन्ममें यह संचित शक्ति उसके लिये सहायक तो होगी ही।

शास्त्रोंने पितासे सहस्रगुना अधिक माताका सम्मान करना बतलाया है—

सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

धार्मिक दृष्टिसे चतुर्थाश्रमी यति सर्ववन्द्य है। गृहस्थ पिता भी संन्यासी पुत्रका वन्दन करता है, परंतु उस संन्यासीके लिये भी धर्मानुसार मातृवन्दना विहित है—

सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः॥

(स्क० पु०, काशी० ११। ५०)

पुरुष सदासे ही नारीको मातारूपमें पूज्य एवं मार्गदर्शिका मानता रहा है। पत्नीरूपमें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय एवं हृदयेश्वरी बनाकर उसे अपना सर्वस्व समर्पण करके उसके रक्षण-पोषणके लिये, वस्त्राभरण जुटानेके लिये दिन-रात परिश्रम करता रहा है। इतना ही नहीं, नारीके संकेतपर ही पुरुष सब काम करता रहा है। प्रेमसे ही पुरुष स्त्रीको वशमें रख पाया है। प्रेमसे ही स्त्री भी पुरुषको अपने अनुकूल बनाती रही है। किन्हीं धार्मिक आध्यात्मिक संस्कारशून्य समाजके लोगोंमें स्त्रीको गलेमें रस्सी बाँधकर रखनेकी प्रथा हो सकती है, पर वह भारतमें कभी नहीं रही। स्त्रीका एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध शुद्ध धर्ममूलक ही है, धर्म-नियन्त्रित स्नेह एवं अर्थव्यवस्था उसका आनुषङ्गिक फल है। पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी मनुष्यता एवं विशेषता ही यह है कि मनुष्य प्रत्यक्ष-अनुमानसे अतिरिक्त आगम-प्रमाण भी मानता है और तदनुकूल वह धार्मिक होता है। पति-पत्नीके असाधारण सम्बन्धसे ही पत्नी, पुत्री, भगिनी, माता आदिकी असाधारण व्यवस्था होती है। तदनुकूल ही उत्तराधिकारकी व्यवस्था भी चलती है। इसीलिये आस्तिकोंका कहना है कि प्रत्यक्षानुमानाश्रित मति जहाँतक दौड़ती है, वहाँतक ही चलनेवाले 'वानर' आदि पशु होते हैं और प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त आगमके अनुसार धार्मिक, आध्यात्मिक सामाजिक व्यवस्था करके चलनेवाले लोग ही 'नर' अर्थात् मानव होते हैं—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥

(तन्त्रवार्तिक)

आजकलके जडवादी लोग धर्मको न मानकर कहते हैं कि 'पातिव्रत्यधर्म' केवल व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारपर बना हुआ है। समाज तहस-नहस न हो जाय, इसीलिये एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध रखनेके लिये स्त्रीको समझा-बुझाकर राजी किया गया और तदनुसार ही धर्म, नीति, रिवाज गढ़े गये एवं स्त्रीकी स्वतन्त्रतामें धर्म और भगवान्के नाराज होनेका डर दिखलाया गया। इसके अतिरिक्त पातिव्रत्यका और कोई अर्थ नहीं है।

जडवादी इससे अधिककी आशा भी क्या कर सकते हैं? जिनकी दृष्टिमें विश्वका कारण सर्वज्ञ ईश्वर ही नहीं जँचता, जो भूत-प्रेतकी कल्पनाको ही परिष्कृतरूपमें ईश्वर-कल्पना समझते हैं, जिनके मतानुसार धर्म-कल्पना भीरु मस्तिष्कका फितूर मात्र है, वे सीता-सावित्री आदिके परम गम्भीर पातिव्रत्यधर्मको कैसे समझ सकते हैं? सीताका अग्नि दीप्त करके जीवित हो उठना, सावित्रीका यमराजसे अपने मृत पतिको पुनः प्राप्त कर लेना, शाण्डिलीका सूर्यनारायणके उदयपर प्रतिबन्ध लगा देना आदि जडवादी दृष्टिसे कोरी कल्पनाएँ मात्र ही हैं। आश्चर्य है कि परम सत्य आर्ष इतिहास तो नास्तिक जडवादियोंकी दृष्टिमें झूठे हैं, परंतु बंदरसे मनुष्य उत्पन्न होनेका निराधार विकासवादी इतिहास सत्य है। नास्तिक जडवादी सिवा अनर्गल प्रलापके और क्या कह सकते हैं? स्पष्ट है कि जिन्हें धर्म, सभ्यता, संस्कृति और पातिव्रत्य मान्य हैं, ऐसे स्त्री-पुरुषोंके लिये

आजकलके प्रेमोत्तरविवाह (लव मैरेज) इत्यादि ये सुधार तथा जडवादियोंकी नास्तिकता धर्म एवं मानवताके शत्रु ही हैं।

स्त्री सर्वदा ही लज्जाशील होती है, वह कभी अभियोगिनी नहीं होती। पुरुष ही स्वैरी होकर स्त्रीको स्वैरिणी बनाता है। जहाँ पुरुष स्वैरी न होगा, वहाँ स्त्री भी स्वैरिणी नहीं हो सकती। स्त्री पुरुषकी हृदयेश्वरी है, प्राणेश्वरी है, आत्मा है—सब कुछ है। उसके हिस्से एवं अधिकारकी बात जडवादी नास्तिकोंके द्वारा ही उठायी गयी है, उठायी जाती है। स्त्रीको पुरुषके बराबर बनानेका प्रयत्न करना उसका अपमान करना है, उसको हजार गुना नीचे उतारना है। विवाह करके परिवार-पालन करनेके उदात्त कर्तव्यको झगड़ा या झंझट समझनेकी प्रवृत्ति जडवादी उच्छृंखल-पंथियोंकी ही प्रेरणा है। स्त्री और पुरुष—सभी यदि नौकर-नौकरानी बनेंगे, तो उनकी संतानें भी अवश्य ही नौकर-मनोवृत्तिकी ही बनेंगी। माताका दूध न पाकर, जननीका लाड-प्यार, लालन-पालन न पाकर, डिब्बोंके दूध पीनेवाले बच्चे निम्नश्रेणीके ही होंगे। माता-पिताका भी बच्चोंमें कोई प्रेम न होगा, बच्चोंका भी माँ-बापके प्रति कुछ आकर्षण-अनुराग न होगा। पति-पत्नीका भी परस्पर स्थायी प्रेम न होनेसे किसी भी सम्बन्धकी स्थिरता न होगी। सभी सम्बन्ध वासना-तृप्ति और पैसेके कारण होंगे। विवाह और तलाककी अबाध परम्परा चलती ही रहेगी। इसको आज-कलकी सुधारणा कहें या कुधारणा, यह नहीं समझमें आता।

हमलोगोंका सुख और कल्याण हमारे कर्मोंपर निर्भर है। हमारी भारतीय वैदिक संस्कृतिका उद्देश्य भी लोककल्याण और परोपकार ही है। अतएव धर्मत: गृहस्थाश्रमका मुख्य कर्तव्य है—

यत्कृत्वानृण्यमाप्नोति दैवात् पित्र्याच्च मानुषात्।

—देवऋण, पितृऋण तथा मनुष्यऋण—इन तीनों ही ऋणोंसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना। ईश्वरसे हमलोगोंकी यही हार्दिक प्रार्थना है कि वे हमको सद्बुद्धि दें, जिससे हम अच्छे कामोंमें लगें, क्योंकि बिना सत्कर्मके हमारी कोई भी उन्नति नहीं हो सकती। भगवान् सन्मति दें।

गोवंश और हिन्दू जाति

(श्रीगणेशीलालजी)

गोघृत बिनु देवोंको कैसे, तुम संतुष्ट करोगे।
डूब मरोगे वैतरणीमें, गौ-बिनु नाहिं तरोगे॥
लोक और परलोक शान्ति-सुख जिस गौपर निर्भर है।
कैसी बीत रही है उसपर इसकी किसे फिकर है॥
मातासे भी ज्यादा जिस माताने दूध पिलाया।
कैसे हो सत्पुत्र मातृका ध्यान न तुमको आया॥
गोवध है जबतक दुख-पूरित सुख हमको न मिलेगा।
हीन बनेंगे हिन्दू प्रतिपल पीड़ित हिन्द रहेगा॥
गौएँ हैं आधार विश्वकी गोरक्षा जीवन है।
गौ बिनु क्या हिन्दुत्व रहेगा? गौसे हिन्दूपन है॥
तन मन धन सर्वस्व समर्पण गो-जननीपर कर दो।
गो-रक्षाकी वीर-भावना भारतभरमें भर दो॥
करो प्रतिज्ञा भारत-भूसे गोवध हटवा देंगे।
सुखी न होंगी जबतक गौएँ तबतक चैन न लेंगे॥

साधकोंके प्रति—

राजाका कर्तव्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

सामाजिक व्यवस्थापर समाजका अधिकार है, राजा (शासक या सरकार)-का अधिकार नहीं। अतः समाजके नियम बनाना राजाका कर्तव्य नहीं है। विवाह, व्यापार, जीविका, संतानोत्पत्ति, वर्णाश्रमधर्मका पालन आदि प्रजाके धर्म हैं। प्रजाके धर्मोंमें हस्तक्षेप करना राजाका कर्तव्य नहीं है। अगर राजा उनमें हस्तक्षेप करता है तो यह अन्याय है। राजाका मुख्य कर्तव्य है—प्रजाकी रक्षा करना और उससे बलपूर्वक धर्मका पालन करवाना।

कोई धर्मका उल्लंघन न करे, इसलिये धर्मका पालन करवाना राजाका अधिकार है। परंतु धर्मशास्त्रके विरुद्ध कानून बनाना राजाका घोर अन्याय है। हिन्दू एकसे अधिक विवाह न करे, अमुक उम्रमें विवाह करे, दोसे अधिक संतान पैदा न करे आदि कानून बनाना राजाका अधिकार नहीं है। राजाका कर्तव्य अपने राज्यमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था करना है, न कि उसके जन्मपर ही रोक लगा देना। अपने धर्म, वर्ण, आश्रम, जाति आदिके अनुसार आचरण करना प्रजाका अधिकार है। अगर प्रजा धर्म, वर्णाश्रम आदिकी मर्यादाके विरुद्ध चले तो उसको शासनके द्वारा मर्यादामें लगाना राजाका कर्तव्य है।

एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः।

(श्रीमद्भा० १। १७। ११)

'राजाओंका परम धर्म यही है कि वे दुखियोंका दुःख दूर करें।'

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह॥

(श्रीमद्भा० १। १७। १६)

'बिना आपत्तिकालके मर्यादाका उल्लंघन करनेवालोंको शास्त्रानुसार दण्ड देते हुए अपने धर्ममें स्थित लोगोंका पालन करना राजाओंका परम धर्म है।'

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः॥

(श्रीमद्भा० ४। २१। २४)

'जो राजा प्रजाको धर्ममार्गकी शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करनेमें लगा रहता है, वह केवल प्रजाके पापका ही भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है।'

श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो
यत्साम्पराये सुकृतात् षष्ठमंशम्।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति॥

(श्रीमद्भा० ४। २०। १४)

'राजाका कल्याण प्रजापालनमें ही है। इससे उसे परलोकमें प्रजाके पुण्यका छठा भाग मिलता है। इसके विपरीत जो राजा प्रजाकी रक्षा तो नहीं करता, पर उससे कर वसूल करता जाता है, उसका सारा पुण्य प्रजा छीन लेती है और बदलेमें उसे प्रजाके पापका भागी होना पड़ता है।'

यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः॥

(श्रीमद्भा० १। १७। १०)

'जिस राजाके राज्यमें दुष्टोंके उपद्रवसे सारी प्रजा त्रस्त रहती है, उस मतवाले राजाकी कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक नष्ट हो जाते हैं।'

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

(मानस, अयोध्या० ७१। ३)

प्रजाका शासक राजा होता है और राजाके शासक वीतराग संत-महात्मा होते हैं। धर्म और धर्माचार्यपर राजाका शासन नहीं चलता। उनपर शासन करना राजाका घोर अन्याय है। धर्म और धर्माचार्यका राजापर शासन होता है। यदि उनका राजापर शासन न हो तो राजा उच्छृंखल हो जाय! निर्बुद्धि राजा ही धर्म और धर्माचार्यपर शासन करता है, उनपर अपनी आज्ञा चलाता है; क्योंकि वह समझता है कि बुद्धि मेरेमें ही है! दूसरा भी कोई बुद्धिमान् है—यह बात उसको जँचती ही नहीं।

पहले हमारे देशमें राजालोग राज्य तो करते थे, पर सलाह ऋषि-मुनियोंसे लिया करते थे। कारण कि अच्छी सलाह वीतराग पुरुषोंसे ही मिल सकती है, भोगी पुरुषोंसे नहीं। इसलिये कानून बनानेका अधिकार वीतराग पुरुषोंको ही है। महाराज दशरथ और भगवान् राम भी प्रत्येक कार्यमें

वसिष्ठजीसे सम्मति लेते थे और उनकी आज्ञासे सब काम करते थे। परंतु आजकलके शासक संतोंसे सम्मति लेना तो दूर रहा, उल्टे उनका तिरस्कार, अपमान करते हैं। जो शासक खुद वोटोंके लोभमें, स्वार्थमें लिप्त है, उसके बनाये हुए कानून कैसे ठीक होंगे? धर्मके बिना नीति विधवा है और नीतिके बिना धर्म विधुर है। अतः धर्म और राजनीति—दोनों साथ-साथ होने चाहिये, तभी शासन बढ़िया होता है। बढ़िया शासनका नमूना महाराज अश्वपतिके इन वचनोंसे मिलता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(छान्दोग्य० ५। ११। ५)

'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मदिरा पीनेवाला है, न कोई अनाहिताग्नि (अग्निहोत्र न करनेवाला) है, न कोई अविद्वान् है और न कोई परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री (वेश्या) तो होगी ही कैसे?'

जो वोटोंके लिये आपसमें लड़ते हैं, कपट करते हैं, हिंसा करते हैं, लोगोंको रुपये दे-देकर, फुसला-फुसलाकर वोट लेते हैं, उनसे क्या आशा रखी जाय कि वे न्याययुक्त राज्य करेंगे? नेतालोग वोट लेने तो आ जाते हैं, पर वोट मिलनेके बाद सोचते ही नहीं कि लोगोंकी क्या दशा हो रही है? वोट लेनेके लिये तो खूब मोटरें दौड़ायेंगे, तेल फूँकेंगे, लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करेंगे, अपना और लोगोंका समय बरबाद करेंगे, पर वोट मिलनेके बाद आकर पूछेंगे ही नहीं कि भाई, तुम लोगोंकी सहायतासे हमें वोट मिले हैं, तुम्हारे घरमें कोई तकलीफ तो नहीं है? तुम्हारा जीवन-निर्वाह कैसा हो रहा है? पहले राजालोग शासन करते थे तो वे राज्यकी सम्पत्तिको अपनी न मानकर प्रजाकी ही मानते थे और उसको प्रजाके ही हितमें खर्च करते थे। प्रजाके हितके लिये ही वे प्रजासे कर लेते थे। सूर्यवंशी राजाओंके विषयमें महाकवि कालिदास लिखते हैं—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

(रघुवंश १। १८)

'वे राजालोग अपनी प्रजाके हितके लिये प्रजासे उसी प्रकार कर लिया करते थे, जिस प्रकार सहस्रगुना करके बरसानेके लिये ही सूर्य पृथ्वीसे जल लिया करता है।'

जब राजाओंमें स्वार्थभाव आ गया और वे प्रजाकी सम्पत्तिका खुद उपभोग करने लगे, तब उनका परम्परासे अरबों वर्षोंसे चला आया राज्य भी नहीं रहा। आज झूठ-कपट आदिके बलपर जीतकर आये हुए नेतालोग सोचते हैं कि हमें तो पाँच वर्षोंतक कुर्सीपर रहना है, आगेका कोई भरोसा नहीं; अतः जितना संग्रह करके लाभ उठा सकें, उतना उठा लें, देश चाहे दरिद्र हो जाय। वे यह सोचकर नीति-निर्धारण करते हैं कि धनियोंका धन कैसे नष्ट हो? यह नहीं सोचते कि सब-के-सब धनी कैसे हो जायँ? महाभारतमें आया है—

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥

(महा०, उद्योग० ३४। १७)

'जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुको ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन (कर) ग्रहण करे।'

परंतु आज सरकार धनियोंका धन छीननेके लिये उनके घरों और दूकानोंमें छापा मारती है, जो कि डाका डालना ही है, और धनी लोग टैक्ससे बचनेके लिये तरह-तरहकी बेईमानी सीखते हैं। दोनों ही देशका हित नहीं सोचते कि इस नीतिसे भविष्यमें देशकी क्या दशा होगी? सरकार धनियोंसे जबर्दस्ती धन लेनेकी चेष्टा करेगी तो धनियोंके भीतर भी जबर्दस्ती धन छिपानेका भाव पैदा होगा। इसलिये सरकारको चाहिये कि वह धनियोंका धन न छीनकर उनके भीतर उदारताका, परोपकारका भाव जाग्रत् करे। यह भाव वीतराग पुरुषोंके द्वारा ही जाग्रत् किया जा सकता है।

वर्तमान राजनीति संघर्ष पैदा करनेवाली है। हमें वोट दो, दूसरी पार्टीको वोट मत दो, वह ठीक नहीं है—इससे संघर्ष पैदा होता है। वोट-प्रणालीमें मूर्खताकी प्रधानता है। जिस समाजमें मूर्खोंकी प्रधानता होती है, वहीं वोट-प्रणाली लागू की जाती है। महात्मा गाँधीका भी एक वोट और भेड़ चरानेवालेका भी एक वोट! सज्जन पुरुषका भी एक वोट और दुष्ट पुरुषका भी एक वोट! यह समानता मूर्खोंमें ही होती है। ***'अँधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।'*** वोट-प्रणालीमें भी बेईमानी होती है। जिनके हाथमें सत्ता होती है, वे वोट-प्रणालीका खूब दुरुपयोग करते हैं। वोट प्राप्त करनेके लिये विधर्मियोंका पक्ष लेते हैं,

समाजकण्टकोंका पक्ष लेते हैं, अपराधियोंका सहारा लेते हैं। ये बातें किसीसे छिपी नहीं हैं।

वास्तवमें वोट देनेका, सरकार चुननेका अधिकार केवल उन्हीं पुरुषोंको है, जो सच्चे समाजसेवक, त्यागी, धर्मात्मा, सदाचारी, परोपकारी हैं। उनमें भी विशेष अधिकार जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषोंको है। माँ कोई कार्य करती है तो बालककी सलाह नहीं लेती; क्योंकि बालक मूर्ख (बेसमझ) होता है। परंतु वोट देनेकी वर्तमान प्रणालीके अनुसार यदि बुद्धिमानोंकी संख्या निन्यानबे है और मूर्खोंकी संख्या सौ है तो एक वोट अधिक होनेसे मूर्ख जीत जायँगे, बुद्धिमान् हार जायँगे, जबकि वास्तवमें सौ मूर्ख मिलकर भी एक बुद्धिमान्‌की बराबरी नहीं कर सकते*। वर्तमान वोट-प्रणालीके अनुसार जिसकी संख्या अधिक होती है, वह जीत जाता है और राज्य करता है, और जिसकी संख्या कम होती है, वह हार जाता है। विचार करें, समाजमें विद्वानोंकी संख्या अधिक होती है या मूर्खोंकी? सज्जनोंकी संख्या अधिक होती है या दुष्टोंकी? ईमानदारोंकी संख्या अधिक होती है या बेईमानोंकी? अध्यापकोंकी संख्या अधिक होती है या विद्यार्थियोंकी? जिनकी संख्या अधिक होगी, वे ही वोटोंसे जीतेंगे और देशपर शासन करेंगे, फिर देशकी क्या दशा होगी—विचार करें!

आयुर्वेदमें धर्म-निरूपण

(आयुर्वेदाचार्य वैद्य श्रीवासुदेवजी मिश्र, शास्त्री)

आयुर्वेद शास्त्र वेद-विद्याका मुख्य अङ्ग है। यह शास्त्र शरीरकी बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि एवं पवित्रतापर विशेष बल देते हुए उसे दीर्घ जीवन प्रदान कर सत्कर्मानुष्ठानद्वारा भगवत्प्राप्तितक पहुँचा देता है। युक्त-आहार-विहार, सद्विचार एवं धर्माचरण तथा यम-नियमोंके सेवनद्वारा सदा स्वस्थ एवं प्रसन्न बने रहकर परोपकारकी शिक्षा देता है। आयुर्वेदशास्त्रके परिष्कर्ता आचार्य चरक आदि महात्मा सदा धर्मका ही आचरण रखते थे, इसीलिये वे दीर्घजीवी होकर अमरताको प्राप्त हुए। इस प्रकार धर्मशास्त्र जिस धर्माचरणका उपदेश करता है, शब्दान्तरसे आयुर्वेद भी उसी विषयका प्रतिपादन करता है, अतः दोनोंका परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' इस वचनसे स्पष्ट होता है कि धर्म-साधनके लिये स्वस्थ शरीरकी विशेष आवश्यकता है। शार्ङ्गधरसंहितामें कहा गया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं मतः।
अतो रुग्भ्यस्तनुं रक्षेन्नरः कर्मविपाकतः॥

अर्थात् धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थोंका आधार शरीर ही है, अतः रुग्ण शरीरकी सदा रक्षा करनी चाहिये। रोग भी मूलतः पापकर्मोंके ही परिणाम हैं, इसलिये सदा सत्कर्मोंका ही सेवन करना चाहिये।

महर्षि चरक स्पष्ट उद्घोष करते हैं—

धर्मार्थं नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम्॥

अर्थात् अविनाशी परम पद प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाले धर्मपरायण महर्षियोंने धर्म-लाभकी दृष्टिसे ही आयुर्वेदको प्रकाशित किया है, न कि अर्थ तथा काम-प्राप्ति करनेकी इच्छासे। महाभारतमें भी कहा गया है—

एकतः क्रतवः सर्वे सहस्रवरदक्षिणाः।
अन्यतो रोगभीतानां प्राणिनां प्राणरक्षणम्॥

अर्थात् एक ओर उत्तमोत्तम हजारों दक्षिणाओंवाले यज्ञ कर लो और दूसरी ओर रोगपीड़ित प्राणियोंकी प्राण-रक्षा कर लो तो इन दोनोंमें प्राण-रक्षा-रूप धर्म ही श्रेष्ठ है।

स्कन्दपुराणमें कहा गया है कि—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः।
तस्मादारोग्यदानेन यद्दत्तं स्याच्चतुष्टयम्॥

अर्थात् धर्म, अर्थ और काम तथा मोक्ष—इन सबका साधन आरोग्य ही है, अतः आरोग्यदान सर्वश्रेष्ठ है।

महर्षि चरकने सूत्रस्थानके ग्यारहवें तिस्रैषणीय अध्यायमें स्पष्ट किया है कि सब कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवालोंको इन तीन एषणाओंको प्रधानता देनी होगी—(१) प्राणैषणा, (२) धनैषणा, (३) परलोकैषणा।

सर्वप्रथम प्राणैषणा कहनेका उद्देश्य स्पष्ट है कि बिना

*चन्दनकी चुटकी भली, गाड़ी भलौ न काठ। बुद्धिवान एकहि भलौ, मूरख भलौ न साठ॥

प्राणोंके कुछ भी प्राप्त करना असम्भव है। वह भी स्वस्थ शरीरसे ही प्राप्त किया जा सकता है।

दूसरी धनैषणा कहनेका तात्पर्य है कि सांसारिक कार्योंके लिये धनकी एषणा भी समुचित है। धनार्जन भी धर्मानुकूल ही होना चाहिये। जो कार्य सत्पुरुषोंद्वारा विहित हैं, उन्हींका अनुष्ठान करना चाहिये।

तीसरी परलोकैषणाका चरम उद्देश्य बताते हुए स्पष्ट कहा गया है कि हमारे इस जन्ममें धर्म-प्रतिपादित कार्योंका ही प्रतिफल है स्वर्गादिकी प्राप्ति। जिसे हम आलस्यका परित्याग कर भोग-विलाससे दूर रहकर सदाचरणकी ओर अपनी प्रवृत्तिको बढ़ाकर प्राप्त कर सकते हैं। किन पुरुषोंका आचरण अनुपालनीय है, कौन श्रेष्ठ पुरुष हैं, कौन शिष्ट, सदाचारी कहलाते हैं और आप्त पुरुष कौन हैं, किनके वचन प्रामाण्य हैं, इस विषयमें महर्षि चरक कहते हैं—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥

(सूत्रस्थान ११। ६)

तात्पर्य यह है कि रज और तमसे निर्मुक्त तथा तपस्या एवं ज्ञानसे सम्पन्न त्रिकालदर्शी महात्मा सत्य ही कहेंगे, वे असत्य क्यों कहेंगे। वस्तुतः हमारे धर्माचरणका प्रथम सोपान सदाचार ही है, जिसका उपदेश चरकसंहितामें विशदरूपसे वर्णित है।

महर्षि चरक अपनी चरकसंहिता (सूत्रस्थान अ० ८)-में सदाचारका धर्मोपदेश करते हुए कहते हैं—

देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत् ।

अर्थात् देवता, गाय, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन, सिद्ध-साधु-संत-महात्मा तथा आचार्यों—श्रेष्ठ महापुरुषोंकी सेवा करे, पूजा करे, ये सब पूज्य हैं। '**अग्निमनुचरेत्**'—अग्निकी उपासना करे। '**द्वौ कालावुपस्पृशेत्**'—प्रातः-सायं दोनों कालोंमें स्नान, संध्या-वन्दन, गायत्री-जप करे। '**साधुवेशः**'—अपना वेश साधु पुरुषोंके समान रखे, उद्दण्ड या उच्छृंखल वेष धारण न करे। '**पूर्वाभिभाषी**'—किसी अभ्यागत अथवा मान्य, पूज्य, मित्र, बन्धु-बान्धव या परिजन आदिको देखकर मधुर वाणीमें पहले ही उससे कुशल-समाचार आदि पूछकर शीलवान् बने। '**होता यष्टा दाता**'—बलिवैश्वादि नित्य-कर्म करे, देवपूजन करे; ब्राह्मण, दीन, दुःखी आदिकी धनादिसे सेवा करे। '**अतिथीनां पूजकः**'—अतिथियोंका पूजन करे। '**पितृणां पिण्डदः**'—श्राद्धादि कर्म करे। '**काले हितमितमधुरार्थवादी**'—यथासमय हितकर, मधुर, मनको प्रिय लगनेवाली, अर्थयुक्त वाणी बोले। '**वश्यात्मा**'—जितेन्द्रिय बने। '**धर्मात्मा**'—धर्मात्मा बने। '**क्षमावान्**'—सभी प्राणियोंके साथ क्षमाका आचरण करे, हिंसक न बने। '**आस्तिकः**'—वेद-शास्त्रादिके वचनों, संत-महात्माके वचनोंमें पूर्ण विश्वास रखे, ईश्वरको माने। '**मङ्गलाचारशीलः**'—सदा माङ्गलिक आचरणका सेवन करे। '**सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्**'—सभी प्राणियोंका बन्धु बने—मित्र बने, किसीसे वैर न करे। '**दीनानामभ्युपपत्ता**'—दीनजनोंका उपकारवान् बने। '**सत्यसन्धः**'—हमेशा सत्य ही बोले। '**सामप्रधानः**'—दूसरोंके अथवा शत्रुओंके भी परुष वचनोंको सहन करनेवाला बने अर्थात् अत्यन्त सहिष्णु बने। '**न कुर्यात् पापम्**'—पाप-कर्म न करे। '**नाधार्मिकैः सहासीत**'—अधार्मिकोंकी संगति न करे।

भोजनके विषयमें आयुर्वेद पूर्ण धर्माचरणका निर्देश देता है—

नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्त्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो न विमना नादत्त्वाऽग्र-मग्नये नाप्रोक्षितम्। इत्यादि।

बिना स्नान किये, बिना स्वच्छ-धुला वस्त्र धारण किये, बिना जप किये, बिना होम किये, बिना देवताओंके निवेदन किये, पितरों, गुरुओं, अतिथियों तथा सेवकोंको दिये बिना, मुख, हाथ-पैर बिना धोये, अशुद्धमुख एवं बेमन तथा बिना अग्निको समर्पित किये और बिना प्रोक्षण किये भोजन न करे।

महर्षि चरकके धर्मविषयक अन्य उपदेश भी पालनीय हैं। जैसे—'**न नियमं भिन्द्यात्**'—ग्रहण किये गये नियमका त्याग न करे। '**न ब्राह्मणान् परिवदेत्**'—ब्राह्मणोंका अपमान न करे। '**न गवां दण्डमुद्यच्छेद्**'—गायको डंडेसे न मारे। '**नेन्द्रियवशगः स्यात्**'—इन्द्रियोंके वशमें न हो। '**न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत्**'—मनको भ्रमित न होने दे।

इस प्रकार आयुर्वेदशास्त्र धर्माचरणकी ही सत्-शिक्षा प्रदान करता है। ये उपदेश सर्वदा ग्राह्य एवं अनुपालनीय हैं और परम हितकर हैं।

धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः—

प्रजापतिस्मृति

पूर्वकालमें रुचि नामके एक महात्मा हुए, जो प्रजापति-पदपर अधिष्ठित हुए। इन्हीं रुचि प्रजापतिके नामसे 'प्रजापतिस्मृति' प्रसिद्ध हुई। पुराणोंमें महात्मा रुचिका बड़े ही विस्तारसे उज्ज्वल दिव्य चरित्र प्राप्त होता है, उसे संक्षेपमें यहाँ दिया जा रहा है—

प्राचीन कालकी बात है, प्रजापति रुचि निवृत्तिमार्गका आश्रय लेकर स्वाध्याय, जप, तप-योगकी साधनामें निरत रहते थे। वे सब प्रकारकी आसक्तियोंसे सर्वथा दूर रहकर ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न रहते थे। उनकी ऐसी मुनिवृत्ति देखकर उनके पितरोंने उनसे गृहस्थ-धर्म स्वीकार करनेको कहा, किंतु महात्मा रुचिने मोक्षमार्गको ही विशेष श्रेयस्कर बताया। तब पितरोंने उन्हें बहुत समझाया और कहा कि 'यदि तुम हमारी बात नहीं मानोगे तो हमलोगोंका पतन हो जायगा और तुम्हारी भी अधोगति होगी।' ऐसा कहकर पितर अदृश्य हो गये। पितरोंकी बात सुनकर रुचिका मन बहुत उद्विग्न हो गया। तब उन्होंने निश्चय किया कि 'मैं तपस्याद्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न करूँगा।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने सौ वर्षोंतक कठोर तपस्या की। उनकी आराधनासे प्रसन्न हो ब्रह्माजीने उन्हें दर्शन दिया और कहा—'रुचे! मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो।' तब रुचिने पितरोंद्वारा कही गयी सारी बात उन्हें बता दी और गार्हस्थ्यधर्म ग्रहण करनेकी अभिलाषा भी प्रकट की। ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर कहा—'विप्रवर! तुम प्रजापति होओगे, तुमसे प्रजाकी सृष्टि होगी। प्रजाकी सृष्टि और धर्माचरणपूर्वक तुम उनका पालन-पोषण करोगे तथा अन्तमें तुम्हें उत्तम गति प्राप्त होगी। अब तुम स्त्री-प्राप्तिकी अभिलाषा लेकर पितरोंका पूजन करो। वे ही प्रसन्न होकर तुम्हें मनोवाञ्छित पत्नी और पुत्र प्रदान करेंगे, भला पितर संतुष्ट हो जायँ तो वे क्या नहीं दे सकते।' इतना कहकर ब्रह्माजी चले गये और तब रुचिने नदीके एकान्त-तटपर पितरोंका तर्पण किया और अनेक प्रकारकी स्तुतियोंसे उनकी प्रार्थना की। रुचिके भक्तिपूर्वक स्तुति करते ही रुचिके समक्ष एक बड़ा तेजःपुञ्ज प्रकट हुआ—जो सम्पूर्ण आकाशमें व्याप्त था। उस उद्दीप्त प्रकाशमण्डलको देखकर रुचिने पृथ्वीपर घुटने टेक दिये और पितरोंकी प्रसन्नताके लिये बड़ी ही भावपूर्ण स्तुति प्रारम्भ की[१]। रुचिद्वारा स्तुति किये जानेपर उस प्रकाशमण्डलसे पितर प्रकट हुए और रुचिसे वर माँगनेको कहा। इसपर रुचिने बड़े ही विनयपूर्वक कहा—'पितरो! ब्रह्माजीने मुझे सृष्टि करनेका आदेश दिया है, इसलिये मैं दिव्यगुणोंसे सम्पन्न उत्तम पत्नी चाहता हूँ।' पितर बोले—'वत्स! हम तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न हैं, तुम्हें यहीं इसी समय उत्तम पत्नीकी प्राप्ति होगी, जिससे तुम्हें श्रेष्ठ 'मनु' नामक पुत्र प्राप्त होगा, जो तुम्हारे ही नामपर तीनों लोकोंमें 'रौच्यमनु' के नामसे विख्यात होगा। उसके

१-महात्मा रुचिद्वारा पितरोंके लिये की गयी स्तुति अत्यन्त महत्त्वकी है। पितरोंकी प्रसन्नताके लिये श्राद्धादि-अवसरों अथवा अन्य समयोंमें भी इस स्तुतिके पाठसे प्रसन्न होकर पितर अपने पुत्र-पौत्रोंका सर्वविध कल्याण कर देते हैं, उस स्तुतिका एक अंश यहाँ दिया जा रहा है—

रुचिरुवाच

अर्चितानाममूर्तानां पितॄणां दीप्ततेजसाम्। नमस्यामि सदा तेषां ध्यानिनां दिव्यचक्षुषाम्॥
इन्द्रादीनां च नेतारो दक्षमरीचयोस्तथा। सप्तर्षीणां तथान्येषां तान् नमस्यामि कामदान्॥
मन्वादीनां मुनीन्द्राणां सूर्याचन्द्रमसोस्तथा। तान् नमस्याम्यहं सर्वान् पितॄनप्सूदधावपि॥
नक्षत्राणां ग्रहाणां च वाय्वग्न्योर्नभसस्तथा। द्यावापृथिव्योश्च तथा नमस्यामि कृताञ्जलिः॥
देवर्षीणां जनितॄंश्च सर्वलोकनमस्कृतान्। अक्षय्यस्य सदा दातॄन् नमस्येऽहं कृताञ्जलिः॥
प्रजापतेः कश्यपाय सोमाय वरुणाय च। योगेश्वरेभ्यश्च सदा नमस्यामि कृताञ्जलिः॥
नमो गणेभ्यः सप्तभ्यस्तथा लोकेषु सप्तसु। स्वयम्भुवे नमस्यामि ब्रह्मणे योगचक्षुषे॥
सोमाधारान् पितृगणान् योगमूर्तिधरांस्तथा। नमस्यामि तथा सोमं पितरं जगतामहम्॥
अग्निरूपांस्तथैवान्यान् नमस्यामि पितॄनहम्। अग्नीषोममयं विश्वं यत एतदशेषतः॥
ये तु तेजसि ये चैते सोमसूर्याग्निमूर्तयः। जगत्स्वरूपिणश्चैव तथा ब्रह्मस्वरूपिणः॥
तेभ्योऽखिलेभ्यो योगिभ्यः पितृभ्यो यतमानसः। नमो नमो नमस्ते मे प्रसीदन्तु स्वधाभुजः॥

भी अनेक पराक्रमी, बलशाली, गुणवान् धर्मात्मा पुत्र होंगे, जो इस पृथ्वीका पालन करेंगे और तुम प्रजापति कहलाओगे।' ऐसा वर देकर पितर अदृश्य हो गये।

उसी समय नदीके मध्यसे प्रम्लोचा नामक एक दिव्य अप्सरा अपनी कन्याके साथ प्रकट हुई और महात्मा रुचिसे मधुर वाणीमें बोली—'तपोधन! यह मेरी उत्तम कन्या है, इसका नाम 'मालिनी' है, इसे आप अपनी पत्नीरूपमें स्वीकार करें, इससे आपको एक सर्वोत्तम पुत्रकी प्राप्ति होगी, जो 'रौच्यमनु' के नामसे विख्यात होगा।' रुचिको पितरोंकी बात सच्ची जान पड़ी। तब उन्होंने 'तथास्तु' कहकर 'मालिनी' को अनेक महर्षियोंके साक्ष्यमें स्त्रीरूपमें स्वीकार किया। उसी मालिनीसे 'रौच्यमनु'का आविर्भाव हुआ, जो तेरहवें 'रौच्य' मन्वन्तरके अधिपति हुए।

इस प्रकार महात्मा रुचिका दिव्य चरित्र अनेक शिक्षाओंसे भरा पड़ा है। अपनी प्रजाओंके निमित्त उन्होंने जो उपदेश प्रदिष्ट किये, वे 'प्रजापतिस्मृति'के नामसे विख्यात हुए। चूँकि प्रजापति रुचि पितरोंके अनन्य भक्त थे, उनकी दृष्टिमें देवताओंसे भी पितरोंकी अधिक महिमा एवं शक्ति-सामर्थ्य है, अतः अपनी 'प्रजापतिस्मृति'में उन्होंने पितरोंकी प्रसन्नताके लिये तर्पण एवं श्राद्ध करनेका विशेष परामर्श दिया है और इस स्मृतिमें आद्योपान्त श्राद्ध-प्रक्रियाका ही विधि-विधान विवेचित है।

उपलब्ध 'प्रजापतिस्मृति'में २०० के आस-पास श्लोक हैं। इसके वक्ता ब्रह्माजी हैं और श्रोता हैं रुचि प्रजापति। इसके आरम्भमें ही महात्मा रुचि ब्रह्माजीसे प्रार्थनापूर्वक कहते हैं कि 'हे ब्रह्मन्! मैंने पितरोंकी आज्ञासे तथा आपके अनुग्रहसे गृहस्थधर्म स्वीकार किया है और अपनी पत्नी प्रम्लोचाकी पुत्री मालिनीके साथ मैंने यद्यपि अनेक तीर्थोंमें भ्रमण किया, वहाँ पितरोंके निमित्त अनेक प्रकारके श्राद्धादि कर्मोंका सम्पादन किया है, किंतु हे देवदेव! श्राद्धका इतना विस्तार है कि कहीं-कहीं उसकी क्रियामें अज्ञानके कारण संशय होने लगता है। आप तो सम्पूर्ण वेदादि शास्त्रोंके पारगामी हैं, श्राद्धके विषयमें सब कुछ जाननेवाले हैं, अतः श्राद्धक्रियामें कोई संशय न रह जाय, इसलिये आप मुझे सम्पूर्ण श्राद्धकल्पका उपदेश देनेकी कृपा करें।'

महात्मा रुचिके इस प्रकार निवेदन करनेपर ब्रह्माजीने जो 'श्राद्धकल्प' उन्हें बतलाया, वह 'प्रजापतिस्मृति'के नामसे विख्यात हुआ। मुख्यरूपसे इसमें श्राद्धका काल, श्राद्धकर्ताके कर्तव्य, श्राद्ध-द्रव्य, श्राद्ध-देश, श्राद्ध-पाककर्ता, ब्राह्मण-निमन्त्रण, श्राद्धके योग्य ब्राह्मण, श्राद्धके नियम, श्राद्धमें प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ, श्राद्धके पात्र, श्राद्ध-सम्बन्धी भोजन, श्राद्धके देवता, श्राद्धोंके विविध मन्त्र, पितरोंका आवाहन, आसन, अर्घ, होम, पात्रालम्भन, ब्राह्मण-भोजन, पिण्डदान, पितरोंकी प्रार्थना तथा उनसे क्षमापन और श्राद्धके बादकी क्रियाएँ आदि बातें निरूपित हैं।

प्रारम्भमें श्राद्ध-काल बताते हुए कहा गया है कि तिथिके क्षय एवं वृद्धि होनेपर, सूर्य तथा चन्द्रग्रहणमें, युगादि-तिथियोंमें (वैशाख मासकी शुक्ल-तृतीया—अक्षयतृतीया, कार्तिक मासकी शुक्ल-नवमी—अक्षयनवमी, माघमासकी पूर्णिमा और भाद्रपदमासके शुक्लपक्षकी त्रयोदशी—ये चार तिथियाँ सत्य, त्रेता आदि चार युगोंकी तिथियाँ हैं), महालयमें, अमावास्यामें, तीर्थमें, विशेष पर्वोंपर, संक्रान्ति, वैधृति, व्यतिपात आदि योगोंमें, अष्टका-अन्वष्टकामें तथा मन्वादि तिथियों एवं व्रत आदिमें श्राद्ध अवश्य करना चाहिये।

रुचि बोले—जो सबके द्वारा पूजित, अमूर्त, अत्यन्त तेजस्वी, ध्यानी तथा दिव्यदृष्टिसम्पन्न हैं, उन पितरोंको मैं सदा नमस्कार करता हूँ। जो इन्द्र आदि देवताओं, दक्ष, मरीचि, सप्तर्षियों तथा दूसरोंके भी नेता हैं, कामनाकी पूर्ति करनेवाले उन पितरोंको मैं प्रणाम करता हूँ। जो मनु आदि राजर्षियों, मुनीश्वरों तथा सूर्य और चन्द्रमाके भी नायक हैं, उन समस्त पितरोंको मैं जल और समुद्रमें भी नमस्कार करता हूँ। नक्षत्रों, ग्रहों, वायु, अग्नि, आकाश और द्युलोक तथा पृथ्वीके भी जो नेता हैं, उन पितरोंको मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। जो देवर्षियोंके जन्मदाता, समस्त लोकोंद्वारा वन्दित तथा सदा अक्षय फलके दाता हैं, उन पितरोंको मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। प्रजापति, कश्यप, सोम, वरुण तथा योगेश्वरोंके रूपमें स्थित पितरोंको सदा हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। सातों लोकोंमें स्थित सात पितृगणोंको नमस्कार है। मैं योगदृष्टिसम्पन्न स्वयम्भू ब्रह्माजीको प्रणाम करता हूँ। चन्द्रमाके आधारपर प्रतिष्ठित तथा योगमूर्तिधारी पितृगणोंको मैं प्रणाम करता हूँ। साथ ही सम्पूण. जगत्के पिता सोमको नमस्कार करता हूँ तथा अग्निस्वरूप अन्य पितरोंको भी प्रणाम करता हूँ; क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोनमय है। जो पितर तेजमें स्थित हैं, और चन्द्रमा, सूर्य एवं अग्निके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं तथा जो जगत्स्वरूप और ब्रह्मस्वरूप हैं, उन सम्पूर्ण योगी पितरोंको मैं एकाग्रचित्त होकर प्रणाम करता हूँ। उन्हें बारंबार नमस्कार है। वे स्वधाभोजी पितर मुझपर प्रसन्न हों।

नान्दीमुख-श्राद्धकी प्रशस्ति तथा उसके फलका वर्णन करते हुए कहा है कि नान्दीमुख-श्राद्ध करनेसे प्रसन्न होकर पितर आरोग्य, सुयश, सभी प्रकारके सौख्य, ऐश्वर्य एवं संतान प्रदान करते हैं—

तस्यारोग्यं यशः सौख्यं विवर्धन्ते धनप्रजाः॥

(प्रजापति॰ १९)

जो महालयमें, पितरोंकी क्षयतिथिमें, ग्रहणमें तथा गयामें श्रद्धापूर्वक पितरोंका श्राद्ध करता है, उसके लिये अश्वमेधादि बड़े-बड़े यागोंके करने तथा अन्य पुण्यप्रद धर्म-कर्मोंके करनेसे क्या प्रयोजन? अर्थात् वह श्राद्धकर्मसे ही सब फलोंको प्राप्त कर लेता है—

श्राद्धं कृतं येन महालयेऽस्मिन्
पित्रोः क्षयाहे ग्रहणे गयायाम्।
किमश्वमेधैः पुरुषैरनेकैः
पुण्यैरिमैरन्यतमैः कृतैः किम्॥

(प्रजापति॰ २०)

प्रजापति रुचिका कहना है कि पितरोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शुद्ध भावनासे जो कुछ भी पवित्र वस्तु स्वल्प भी अर्पित की जाती है तो वह कोटिगुना फलदायी हो जाती है—

श्रद्धया स्वल्पमात्रं च दत्तं कोटिगुणं भवेत्॥

(प्रजापति॰ २५)

प्रजापति रुचिका अभिमत है कि नरकमें वास कर रहे पितरोंके लिये तीर्थका जल बड़ा ही दुर्लभ है, अतः यदि कोई अपने पितरोंके निमित्त गया, पुष्कर, प्रयाग आदि पुण्य तीर्थोंमें जाकर श्राद्ध, पिण्डदान तथा तर्पण आदि कर्म श्रद्धासे करता है तो उस श्राद्धकर्ताके द्वारा संतृप्त वे सभी पितर नरकोंसे मुक्ति प्राप्तकर अक्षय स्वर्गमें वास करते हैं—

पितृणां नरकस्थानां जलं तीर्थस्य दुर्लभम्।
तेन संतर्पिताः सर्वे स्वर्गं यान्तीति मद्वचः॥

(प्रजापति॰ २९)

प्रतिदिन किया जानेवाला श्राद्ध नित्य-श्राद्ध कहलाता है। जैसे **'अहरहः संध्यामुपासीत'** प्रत्येक दिन संध्या करनी चाहिये—यह शास्त्र-वचन है, वैसे ही पितरोंकी प्रसन्नताके लिये नित्य-श्राद्ध सदा करना चाहिये। नित्य-श्राद्ध भगवान् विष्णुका स्वरूप ही है, अतः 'नित्य-श्राद्ध' करनेसे भगवान् विष्णु प्रसन्न होकर पितरोंके लिये संतृप्तकारक बन जाते हैं—

नित्यश्राद्धं सदा कार्यं पितृणां तृप्तिहेतुकम्।
स विष्णुरिति विज्ञेयो नित्यं प्रीणाति पूर्वजान्॥

(प्रजापति॰ ३६)

अगस्त्य-पुष्प, भृङ्गराज, तुलसी, शतपत्रिका, तिल तथा तिल-पुष्प—ये छः पितरोंको अत्यन्त प्रिय हैं, अतः पितृकर्ममें इनका प्रयोग करना चाहिये—

अगस्त्यं भृङ्गराजं च तुलसी शतपत्रिका।
तिलं च तिलपुष्पं च षडेते पितृवल्लभाः॥

(प्रजापति॰ १०१)

बासी (पर्युषित) पुष्प तथा बासी जलका प्रयोग श्राद्ध आदि कर्मोंमें तथा देवपूजन इत्यादिमें नहीं करना चाहिये, किंतु गङ्गाजल तथा तुलसीदल या तुलसीपुष्पमें बासीपनका दोष नहीं होता, अतः ये सदा ग्राह्य हैं—

त्यजेत् पर्युषितं पुष्पं त्यजेत् पर्युषितं जलम्।
न त्यजेज्जाह्नवीतोयं तुलसीदलपङ्कजम्॥

(प्रजापति॰ १०८)

गोबरसे उपलिप्त भूमि, गोमूत्रसे सींची गयी भूमि तथा भगवान् विष्णुके चरणोंसे प्रकट हुई भगवती गङ्गाके जलसे सेवित भूमि सभी कार्योंके लिये पवित्र है, प्रशस्त है और तीर्थरूप है—

गोमयेनोपलिप्ता भूः पवित्रा सर्वकर्मसु।
गोमूत्रेणोक्षिता तीर्थं विष्णुपादाम्बुसेविता॥

(प्रजापति॰ १०९)

प्रजापति रुचिने दयाधर्मको मुख्य धर्म बताते हुए सभी प्राणियोंपर दया रखते हुए सबके कल्याणमें तत्पर रहनेका उपदेश प्रदान किया है और बताया है कि यदि पुण्य-प्राप्तिकी अभिलाषा हो, कल्याण-प्राप्तिकी इच्छा हो तो सभी प्राणियोंके प्रति दया एवं करुणाका भाव रखना चाहिये। मन, वाणी तथा कर्मसे अहिंसाका भाव रखना सबसे बड़ा धर्म है। इसलिये प्राणीमात्रको अपनी आत्माके ही समान समझकर सबके साथ प्रेम, मैत्री, दया एवं आदरका उच्च भाव रखकर व्यवहार करना चाहिये—

कारुण्यं प्राणिषु प्रायः कर्तव्यं पुण्यहेतवे।
अहिंसा परमो धर्मस्तस्मादात्मवदाचरेत्॥

(प्रजापति॰ १४८)

पुलस्त्यस्मृति

पुलस्त्यस्मृतिके प्रणेता ब्रह्मर्षि पुलस्त्य ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। इनकी गणना सप्तर्षियों तथा प्रजापतियोंमें की जाती है। सृष्टिके विस्तारमें इनका विशेष योगदान है। सप्तर्षिमण्डलमें भ्रमण करते हुए ये संसारके जीवोंकी गतिविधियोंको देखते रहते हैं और अपनी तपस्या, ज्ञान तथा दैवीसम्पत्तिके द्वारा जगत्के कल्याण-सम्पादनमें लगे रहते हैं। इनका स्वभाव अत्यन्त दयालु है। ये योगविद्याके आचार्य भी माने गये हैं। ये ब्रह्माजीके समान ही तेजस्वी हैं और अपने उत्तम गुणोंके कारण देवता आदि उनसे विशेष प्रेम करते हैं। इनका मन सदा धर्ममें लगा रहता है। ये विश्रवाके पिता तथा कुबेर और रावण आदिके पितामह हैं। तपस्या, विद्या, बल, तेज, अध्यात्म-ज्ञान एवं धर्माचरणमें ये सर्वोत्कृष्ट हैं।

चूँकि ये प्रजापति हैं, इसलिये इन्होंने अपनी प्रजाके कल्याणके लिये उनके दैनिक आचार-विचारके नियन्त्रणके लिये एक धर्मसंहिताका प्रणयन किया, जो 'पुलस्त्यस्मृति'के नामसे प्रसिद्ध है। पहले यह स्मृति बड़ी रही होगी, किंतु वर्तमानमें वह अत्यल्परूपमें उपलब्ध होती है। जिसमें आज केवल ३० के आस-पास ही श्लोक प्राप्त होते हैं। प्राचीन निबन्धग्रन्थों—मदनपारिजात, विज्ञानेश्वर-प्रणीत मिताक्षरा टीका, कालमाधवीय तथा हेमाद्रि आदिमें इनके कई वचनोंको प्रमाण-रूपमें उद्धृत किया गया है, उसके कुछ वचन आज प्राप्त पुलस्त्यस्मृतिमें उपलब्ध नहीं होते, इससे भी यह प्रतीत होता है कि कुछ समय पूर्वतक पुलस्त्यस्मृति विस्तृत कलेवरके साथ उपलब्ध थी। उदाहरणके लिये हेमाद्रि (पुरुषार्थ-चिन्तामणि)-में उपन्यस्त महर्षि पुलस्त्यजीके कुछ वचनोंको दिया जा रहा है, जो वर्तमान पुलस्त्यस्मृतिमें नहीं हैं। यथा—

धर्मेषु नियता ये च धर्मशास्त्रार्थचिन्तकाः।
वेदशास्त्रविदो ये वै तेषां वचनमौषधम्॥

(हेमाद्रि, परि॰ खण्ड अ॰ ६)

अर्थात् 'जो धर्माचरणमें नियत हैं, धर्मशास्त्रके सूक्ष्म अर्थके चिन्तनमें लगे रहते हैं और जो वेदशास्त्रोंको जाननेवाले हैं, ऐसे तत्त्वज्ञानसम्पन्न तथा सदाचार-धर्माचारपरायण ऋषि-मुनियोंके वचन औषधके समान हितकारी एवं कल्याणकारी हैं, जैसे रोगीके लिये औषधि सब प्रकारसे उसका कल्याण करनेवाली तथा बिना कुछ विचार किये ग्रहण करने योग्य है, उसी प्रकार धर्मात्मा ऋषि-मुनियोंके धर्मशास्त्रोंमें कहे गये वचन सभी मनुष्योंके लिये बिना कुछ तर्क-वितर्क किये आचरणमें, व्यवहारमें लाने योग्य हैं और सब प्रकारसे इहलोक तथा परलोकमें मङ्गल करनेवाले हैं, अतः शास्त्र-वचनोंमें तनिक भी शंका किये बिना उनका यथावत् पालन अवश्य करना चाहिये।

इसी प्रकार श्राद्ध, प्रायश्चित्त, सदाचार आदिपर भी महर्षि पुलस्त्यजीके अनेक सुन्दर वचन प्राप्त होते हैं। पुराणोंमें भी इनके कई धर्मशास्त्रीय प्रकरण उपलब्ध हैं।

यहाँ संक्षेपमें पुलस्त्यस्मृतिकी कुछ बातोंको दिया जा रहा है। इस स्मृतिके उपक्रममें ही बतलाया गया है कि अनेक ऋषि-महर्षियोंने कुरुक्षेत्रमें महात्मा पुलस्त्यजीसे श्रुति-स्मृति तथा आगमोंमें प्रतिपादित धर्मोपदेशोंका श्रवण किया, वे ही उपदेश महर्षि पुलस्त्यजीके नामसे प्रसिद्ध हो गये और पुलस्त्यस्मृतिके नामसे जाने गये[१]।

मुख्यरूपसे इस स्मृतिमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमोंके मुख्य धर्मों (कर्तव्य-कर्मों)-के साथ ही संक्षेपमें राजधर्मका भी वर्णन किया गया है। इसमें वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिक धर्म तथा राजधर्म—इस प्रकार धर्म पाँच प्रकारका कहा गया है—'**पञ्चधावस्थितं धर्मं शृणुध्वं द्विजसत्तमाः**'॥ (श्लोक २) इन पाँचोंको विशेषधर्म कहकर वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंको संक्षेपमें बतलाया गया है और स्वधर्मपालनकी आज्ञा दी गयी है; क्योंकि स्वधर्म-पालनसे ही परम श्रेय एवं अभ्युदयकी प्राप्ति होती है—

उक्तः पञ्चविधो धर्मः श्रेयोऽभ्युदयहेतुकः।
पुरुषाणां यथायोगं स च सेव्यः फलार्थिना॥

(श्लोक २७)

१-कुरुक्षेत्रे महात्मानं पुलस्त्यमृषयोऽब्रुवन्। तांश्च धर्मान् प्रकारांश्च नो वद स्मार्तमागमम्॥ (श्लोक १)

संन्यास-धर्म

महर्षि पुलस्त्यजी संन्यासीके धर्मका निरूपण करते हुए बताते हैं कि संन्यासीको यह समझना चाहिये कि 'जो कुछ भी हो रहा है, सब भगवान्की शक्तिसे हो रहा है, स्वयमेव हो रहा है,' अतः लोकदृष्टिमें सब कुछ करता हुआ भी वह कर्तापनके अभिमानसे रहित रहे। भिक्षाके विशुद्ध अन्नसे जीवन-निर्वाह करे। कोई कुटी-आश्रम आदि न बनाये, किसी वृक्षके मूल आदिमें रहे। किसी भी वस्तु-पदार्थ अथवा धन-सम्पत्तिका तनिक भी परिग्रह (संग्रह) न करे, किसीसे द्रोह न करे। सभी जीव-निकायोंमें समता रखे अर्थात् सबमें भगवद्बुद्धि रखे। प्रिय-अप्रियमें और सुख-दुःखमें समान-भाव रखे, अर्थात् अनुकूल तथा प्रतिकूल किसी भी परिस्थितिमें विकारवान् न हो, निर्विकार-भावसे स्थिर रहे। बाह्य तथा आभ्यन्तर सब प्रकारसे शुद्ध रहे, नियमों एवं व्रतोंका पालन करे। भावको अत्यन्त शुद्ध रखे। भावनामें कोई विकार न आने पाये। सभी इन्द्रियोंको वशमें करके धारणा-ध्यानके बलपर नित्य ब्रह्म-चिन्तनरूप समाधिके आनन्दसागरमें निमग्न रहे।[1]

सामान्य-धर्म

चारों वर्ण एवं चारों आश्रमोंके विशेष-विशेष धर्मोंको बतलानेके बाद वर्णाश्रमधर्मके सभी मनुष्योंके लिये जो आवश्यक पालनीय नियम हैं, उनका निरूपण सामान्य-धर्मके अन्तर्गत किया गया है, क्योंकि ये ऐसे सामान्य, किंतु आवश्यक नियम हैं कि जिनका पालन किये बिना विशेष-धर्मोंका पालन करना व्यर्थ ही है, जैसे सत्य, अहिंसा, शौच (बाह्याभ्यन्तरशुद्धि एवं पवित्रता), दया तथा क्षमा आदि ऐसे सामान्य धर्म हैं, जिनका पालन चाहे ब्राह्मण आदि किसी वर्णका हो और चाहे ब्रह्मचारी, गृहस्थ आदि किसी आश्रमका हो, सबके लिये आवश्यक है, यह सार्वभौम धर्म है। मानवमात्रका धर्म है, इसीको इस स्मृतिमें इस प्रकार बतलाया गया है—

अहिंसा सत्यवादश्च सत्यं शौचं दया क्षमा।
वर्णिनां लिङ्गिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते॥

(पुलस्त्यस्मृति २२)

इस प्रकार पुलस्त्यस्मृतिमें अनेक उपादेय एवं व्यावहारिक बातें बतलायी गयी हैं। छोटी होनेपर भी यह अत्यन्त उपयोगी है।

लौगाक्षिस्मृति

महर्षि लौगाक्षिविरचित 'लौगाक्षिस्मृति' स्मृति-साहित्यमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह स्मृति काफी बड़ी है तथा इसमें मुख्यरूपसे जातकर्म, नामकरण, उपनयन तथा विवाह आदि संस्कारोंकी पूरी प्रयोग-विधि दी गयी है और प्रत्येक कर्मके वैदिक मन्त्रों एवं पद्धतिका भी निरूपण किया गया है। उपनयन-प्रकरणमें ब्रह्मचारिधर्मोंको भी विस्तारसे बताया गया है। विवाह-संस्कारके प्रकरणमें विस्तारसे औपासन-होम एवं चतुर्थी-कर्मका प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर गृहस्थके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विस्तारसे वर्णन है, जिसमें बाह्याभ्यन्तर-शौच, दन्तधावन, स्नान, संध्या-विधि, गायत्री-जप, गायत्रीकी चौबीस मुद्राएँ, ब्रह्मयज्ञ, देव-पितृ-तर्पण, भीष्म-तर्पण और फिर विस्तारसे पञ्चायतन-पूजनमें गणेश, सूर्य, दुर्गा, विष्णु तथा शिव—इन पाँच देवोंके पूजनकी विधि निरूपित है। तदनन्तर पञ्चमहायज्ञोंका विधान, अतिथि-महिमा, भोजनविधि, भक्ष्याभक्ष्य-विचार, स्त्रीधर्म, गोदान तथा अन्तमें बड़े ही विस्तारसे वैश्वदेव

१-सर्वारम्भपरित्यागो भैक्षान्नं वृक्षमूलता। निष्परिग्रहताद्रोहः समता सर्वजन्तुषु॥
प्रियाप्रियपरिष्वङ्गः सुखदुःखाविकारिता। सबाह्याभ्यन्तराशौचं नियमो व्रतकारिता॥
सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणाध्याननित्यता। भावशुद्धिस्तथेत्येवं परिव्राड्धर्म उच्यते॥
(श्लोक १९—२१)

तथा श्राद्धकी पूरी प्रक्रिया बतायी गयी है। बीच-बीचमें बड़े ही सुन्दर उपदेश आये हैं। महर्षि लौगाक्षिने धर्माचरणको ही परम श्रेयका साधन बताया है। यहाँ इस स्मृतिकी कुछ बातें अति संक्षेपमें दी जा रही हैं—

लक्षवर्तिका दीपदानकी महिमा

महर्षि लौगाक्षिने पुरुष अथवा स्त्रियोंद्वारा किये जानेवाले घोर दुष्कृत कर्मों तथा गुह्यतम पापोंकी निवृत्तिके लिये अर्थात् जिन पापोंको एकान्तमें किया गया हो और प्रकट न किया गया हो, उनके निवारणके लिये 'लक्षवर्तिका (एक लाख बत्तीके)-दीपदान' को सर्वोत्तम उपाय बतलाया है और कहा है कि वैशाख, कार्तिक तथा माघ मासमें मासभर भगवान् विष्णु या शिवकी प्रीतिके लिये उनकी आराधनापूर्वक लक्षवर्तिकायुक्त दीपका दान करनेसे सब प्रकारके दोष-पाप शान्त हो जाते हैं। दीपके लिये यथासम्भव गोघृतका प्रयोग करना चाहिये। जिस मासमें दीपदान करना हो उसकी पूर्णिमाको उद्यापन करना चाहिये[1]। वैसे तो अपनी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कभी भी यह 'लक्षवर्तिका-दीपदान' किया जा सकता है, किंतु दीपदानके लिये कार्तिक मास सर्वश्रेष्ठ है—

दीपाराधनकृत्यस्य कार्तिकस्तूत्तमोत्तमः।
कार्तिके तत्कृतं कर्म कोटिकोटिगुणं भवेत्॥

भगवान् विष्णुकी विशेष आराधना करके कार्तिक मासमें मात्र एक दीपका दान करनेसे भी जन्मसे लेकर आजतकके सभी संचित पाप तत्क्षण ही नष्ट हो जाते हैं, फिर यदि कोई एक लाख वर्तिकाओंवाले मङ्गलदीपका दान करे तो उसके फलके विषयमें क्या कहा जा सकता है[2]?

यमल पुत्रोंकी व्यवस्था

लौगाक्षिस्मृतिमें संक्षेपमें विवाहके प्रकरणमें 'औरस' तथा 'दत्तक' पुत्रका भी संक्षेपमें वर्णन हुआ है और यमल (जुड़वें) पुत्रोंमें ज्येष्ठ-कनिष्ठपर विचार करते हुए कहा गया है कि जो पुत्र पहले जन्म लेता है वह कनिष्ठ (छोटा) होता है और जो बादमें जन्म लेता है, उसे ज्येष्ठ पुत्र समझना चाहिये तथा यही बादमें जन्मा ज्येष्ठ पुत्र पिताके कर्मोंको करनेका अधिकारी है—

यमयोः पुत्रयोर्मध्ये पूर्वं जातः कनीयसः॥
पश्चाज्जातस्तु विज्ञेयो ज्येष्ठः कर्मसु सत्कृतः।

(लौगाक्षि०, पृ० २४६)

भगवान् अग्निका ध्यान-स्वरूप और उनकी प्रार्थना

औपासन-होमके प्रकरणमें भगवान् अग्निदेवके ध्यान-स्वरूपका निरूपण करते हुए बताया गया है कि भगवान् अग्निदेवके सात हाथ, चार सींग, सात जिह्वाएँ दो सिर तथा तीन चरण (पाँव) हैं। वे अत्यन्त प्रसन्न मुखवाले हैं। सुखपूर्वक आसनपर विराजमान हैं। उनके मुखमण्डलपर अत्यन्त मधुर मुसकानकी छटा सुशोभित है, उनके दक्षिण-भागमें देवी स्वाहा तथा वाम-भागमें देवी स्वधा विराजमान हैं। वे अपने दाहिने हाथोंमें शक्ति, अन्न, स्रुच् तथा स्रुवा धारण किये हैं और बायें हाथोंमें तोमर, व्यजन तथा घृतपात्र लिये हैं। इस प्रकारके स्वरूपवाले भगवान् हुताशनको अपने सामने प्रत्यक्ष बैठे हुएके समान समझकर साधकको बड़े ही भावसे उनका यजन-पूजन अथवा आराधन करना चाहिये[3] और उनसे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—

१-यस्मिन् मासे समाप्तिः स्यात् तत् पौर्णम्यां समापनम्॥ (लौगाक्षि०, पृ० २६०)

२-एकेन दीपदानेन देवदेवस्य कार्तिके॥
आजन्मसंचितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। किं पुनर्लक्षसंख्याकैर्वर्तिवृन्दोद्भवैः शिवैः॥ (लौगाक्षि०, पृ० २६०)

३-सप्तहस्तश्चतुःशृङ्गः सप्तजिह्वो द्विशीर्षकः।
त्रिपात्प्रसन्नवदनः सुखासीनः शुचिस्मितः। स्वाहां तु दक्षिणे पार्श्वे देवीं वामे स्वधां तथा।
बिभ्रद्दक्षिणहस्तैस्तु शक्तिमन्नं स्रुचं स्रुवम्। तोमरं व्यजनं वामैर्घृतपात्रं तु धारयन्।
आत्माभिमुखमासीन एवंरूपो हुताशनः॥ (लौगाक्षि०, पृ० २६८)

[स्मृतियोंमें प्रायः वेदार्थका ही उपबृंहण हुआ है। भगवान् अग्निदेवका ऋग्वेद (४। ५८। ३), यजुर्वेद (१७। ९१) आदिमें इस प्रकार ध्यान आया है। इसी ध्यानका विस्तार इस स्मृतिमें हुआ है—
चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥]

श्रद्धां मेधां यशः प्रज्ञां विद्यां बुद्धिं श्रियं बलम्।
आयुष्यं तेज आरोग्यं देहि मे हव्यवाहन॥

(लौगाक्षि०, पृ० २६९)

अर्थात् हवनीय द्रव्यको वहन करनेवाले हे हव्यवाहन भगवान् अग्निदेव! आप मुझे श्रद्धा, मेधा, उत्तम यश, प्रज्ञा, विद्या, सद्बुद्धि, ऐश्वर्य, बल, आयु, तेज तथा आरोग्य प्रदान करें।

निष्काम धर्माचरणसे परम ज्ञानकी प्राप्ति

महर्षि लौगाक्षिका परामर्श है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने आत्मोद्धारका उपाय अवश्य करना चाहिये और वह आत्मोद्धार है अपनेको भगवत्प्राप्तिके योग्य बना लेना। इसके लिये सम्यक् ज्ञानकी अपेक्षा है और वह सम्यक् ज्ञान न तो अनेक कर्मोंके करनेसे, न गृहस्थाश्रमके सेवनसे अर्थात् संतानादिसे, न धनके त्याग अर्थात् दान इत्यादि कर्मोंके करनेसे, न तपस्या करनेसे और न सैकड़ों पुण्यकर्मोंके करनेसे प्राप्त होता है, बल्कि वह ज्ञान तो जबतक चित्त तथा अन्तःकरण सर्वथा निर्मल, पवित्र एवं सात्त्विक नहीं हो जाता है तबतक होना सम्भव नहीं। केवल कर्मोंके जालसे ज्ञान नहीं होता, इसके लिये आवश्यक है कि चित्त परम शुद्ध हो। वह चित्तकी शुद्धि भी नित्य निष्काम-धर्माचरणपर ही आधृत है अर्थात् व्यक्ति शुद्ध हृदयसे, पवित्र-बुद्धिसे यदि अपने आश्रम एवं वर्णधर्मकी मर्यादामें स्थिर रहकर धर्मशास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे कर्म करता है तो वे ही कर्म उसे सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति करा देते हैं और इस ज्ञानसे उसका परम कल्याण हो जाता है[1]।

सदा हितकर एवं श्रेयस्कर कार्य करे

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि जो कार्य सब प्रकारसे मङ्गलजनक हो, परम कल्याणकारी हो, वही कार्य बार-बार अथवा निरन्तर करना चाहिये। जो कार्य सज्जनोंको उद्वेग उत्पन्न न करे, सभी शास्त्रोंसे अभिमत हो, सभी प्रकारसे अहेय हो अर्थात् प्रशंसनीय हो, वही कार्य करने योग्य है। जो कार्य देश-कालके अनुरूप हो, वेदद्वारा विहित हो, समीचीन हो, अपने कुलके अनुकूल हो, अपने बन्धु-बान्धवों तथा शिष्टजनोंद्वारा आचरित हो, वही कार्य करने योग्य है। इसके विपरीत जो शास्त्रद्वारा निन्द्य बताया गया हो, सज्जनोंद्वारा अभिमत न हो ऐसे कुकर्मको विद्वान् व्यक्तिको कभी भी नहीं करना चाहिये, ये सब त्याज्य कर्म हैं[2]।

निवासयोग्य उत्तम देश

जहाँ सज्जन पुरुष निवास करते हों, जहाँ वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मण रहते हों और जहाँ अग्निहोत्र आदि पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान होता हो, वह देश निवास करनेके लिये उत्तम है। **'स देशः पर उत्तमः।'** (पृ० २७४) और एक भी असज्जन या दुष्ट पुरुषके निवास करनेसे क्षेत्र सुक्षेत्र न होकर कुक्षेत्र हो जाता है—**'असदेकनिवासेन कुदेशत्वं तथा स्मृतम्।'** (पृ० २७४)। अतः जहाँ सत्पुरुष रहते हों, वही स्थान रहने योग्य है।

चौदह एवं अठारह विद्याएँ

अङ्गोंसहित चारों वेद अर्थात् (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद तथा (४) अथर्ववेद—ये चार वेद और (५) शिक्षा, (६) कल्प, (७) निरुक्त, (८) व्याकरण, (९) छन्द तथा (१०) ज्योतिष—ये वेदके अङ्ग, (११) मीमांसादर्शन, (१२) न्यायदर्शन, (१३) पुराण और (१४) धर्मशास्त्र—ये चौदह विद्याएँ हैं। इन सभीके मूलमें धर्मतत्त्व ही निहित है। इसीके साथ (१) आयुर्वेद, (२) धनुर्वेद, (३) गन्धर्ववेद तथा (४) अर्थशास्त्र—ये चार मिलाकर अठारह विद्यास्थान हैं[3]।

१-न कर्मणा न प्रजया न धनत्यागतोऽपि वा। तपसा केवलेनापि तथा पुण्यशतादपि॥
ज्ञानं न जायते नृणां किंतु तच्चित्तशुद्धितः। सा चित्तशुद्धिस्तु तथा नित्यैस्तैरेव कर्मभिः॥ (लौगाक्षि०, पृ० २७०)

२-हितं श्रेयस्करं भूरि कर्म कार्यं मनीषिभिः।
सतामनुद्वेगकरं सर्वशास्त्रैकसम्मतम्। अहेयं सर्वविन्दूनां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥
देशकालं वैदिकं च समयं स्वकुलक्षमम्। स्वबन्धुशिष्टहव्यं यत् कर्तव्यं न तु चेतरत्॥ (लौगाक्षि०, पृ० २७३)

३-अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गन्धर्वो वेद एव च। अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादश स्मृताः॥ (लौगाक्षि०, पृ० २७५)

कलियुगकी महिमा

जिस धर्मकी सिद्धि सत्ययुगमें दस वर्षोंमें होती है, त्रेतायुगमें वर्षभरमें होती है और द्वापरमें एक मासमें होती है, उसी धर्मकी सिद्धि कलियुगमें मात्र एक अहोरात्र (२४ घंटे)-में हो जाती है अर्थात् कलियुगमें थोड़ी भी धर्म-साधना, थोड़ी भी भक्ति-भावपूर्वक की गयी आराधनासे सद्यः सिद्धि प्राप्त हो जाती है, इसलिये कलियुग शीघ्र ही महान् कल्याण कर देनेवाला है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तु॥
द्वापरे तस्य मासेन ह्यहोरात्रात् कलौ युगे।
धर्मसिद्धिर्भवेन्नॄणां कलिः साधुस्ततो महान्॥

(लौगाक्षि॰, पृ॰ २७७)

आख्यान—

पितृतीर्थ

पितृभक्त सुकर्माकी कथा

जैसे शिष्यके लिये गुरुकी सेवा तथा पत्नीके लिये पतिकी सेवाके अतिरिक्त किसी तीर्थ, व्रत आदिका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, उसी प्रकार पुत्रके लिये माता-पिताकी सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी तपस्या, तीर्थ, व्रत आदिकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि माता-पिता ईश्वरकी चलती-फिरती मूर्ति हैं। ईश्वरकी सेवासे जैसे सम्पूर्ण देवता स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही ईश्वरकी मूर्ति—माता-पिताकी सेवासे सारे देवता स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं। पुत्रने यदि माता-पिता तथा गुरुको अपनी सेवासे संतुष्ट कर लिया तो चान्द्रायण आदि सारे व्रतोंकी पूर्ति स्वयं हो जाती है।[1]

पद्मपुराणमें एक कथा आती है। सुकर्मा नामके एक सर्वशक्तिसम्पन्न ब्राह्मण थे, जो अवस्थाकी दृष्टिसे वे निरे बालक थे, फिर भी माता-पिताकी सेवासे उनमें वे शक्तियाँ आ गयी थीं, जो हजारों वर्ष तपस्या करके भी नहीं आ पातीं। सुकर्माके पिताका नाम था कुण्डल। सुकर्माने अपने पितासे ही वेद-शास्त्रोंका अध्ययन किया था। सुकर्मा धर्मशास्त्रके इस तथ्यको जानते थे कि यदि मैं माता-पिताकी सेवा कर सका तो मुझे किसी व्रत आदिके करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं रह जायगी।

माता-पिताकी सेवा वे प्रतिदिन तन्मय होकर सावधानीसे करने लगे। माता-पिताकी सेवामें कभी सुकर्माको थकानका अनुभव नहीं होता, अपितु अधिक-से-अधिक सेवा करनेमें अधिक-से-अधिक आनन्द मिलने लगा। सुकर्मा माता-पिताका शरीर दबाते, मल-मलकर स्नान कराते और उनकी रुचिके अनुसार ठीक अवसरपर उन्हें भोजन कराते। गर्मीके दिनोंमें उन्हें पंखा झलते और जाड़ेमें उनके शीत-निवारणके लिये अग्नि प्रज्वलित करते। इस प्रकार सुकर्माका प्रत्येक क्षण माता-पिताकी सेवामें ही बीतता।

उन्हीं दिनों पिप्पल नामके एक तपस्वी दशारण्यमें कठिन तपस्या कर रहे थे। उनकी तपस्यासे दशारण्यके प्राणियोंमें पारस्परिक वैर समाप्त हो गया था। सब हिल-मिलकर रहते थे। एक बार उन्होंने तीन हजार वर्ष केवल वायु पीकर गुजार दिये। उनकी देहसे ज्योतिष्मती आभाएँ निकलती रहती थीं। उनकी ऐसी तपस्यासे इन्द्रादि देवता विस्मित हो उठे और प्रसन्न होकर तपस्वी पिप्पलके शरीरपर फूलोंकी वर्षा की और कहा—'तुम जो भी चाहो वर माँगो। तुम्हें सब कुछ मिल जायगा।'

पिप्पलने वरमें माँगा कि 'सम्पूर्ण संसार मेरे वशमें हो जाय।' देवताओंने 'तथास्तु' कहकर तपस्वी पिप्पलकी मनःकामना पूरी की। इसके बाद तपस्वी पिप्पलने वर-दान-प्राप्तिकी सत्यता परीक्षाद्वारा जाननी चाही। देवताओंका आशीर्वाद भला कैसे निष्फल होता। तपस्वी पिप्पल जिसे-जिसे चाहते वह-वह उनके वशमें हो जाता। इस सिद्धिसे तपस्वी पिप्पलमें अहंकारका अंकुर फूटने लगा। वे कहने लगे—'विश्वमें मेरे समान और कोई नहीं है।'

१-तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा। तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥ (मनुस्मृति २। २२८)

ब्रह्माजीने देखा कि अहंकार करनेसे तपस्वी पिप्पलकी दुर्गति होगी। इसलिये वे सारसका रूप धारण करके पिप्पलसे बोले—'पिप्पल! तुम यह जो अहंकार कर रहे हो कि इस समय मुझसे बढ़कर कोई श्रेष्ठ नहीं है, यह झूठा है। हजारों वर्ष तपस्या करके भी तुम अबोध-के-अबोध रह गये हो। तुम्हें तो केवल अर्वाचीन तत्त्वका ही ज्ञान हुआ है। प्राचीन तत्त्वके सम्बन्धमें तुम कुछ नहीं जानते हो। इन दोनों तत्त्वोंका सच्चा ज्ञाता तो केवल पितृभक्त सुकर्मा है। इस समय सुकर्मासे बढ़कर कोई अन्य तत्त्ववेत्ता नहीं है। उम्रकी दृष्टिसे तुम सुकर्मासे हजारों वर्ष बड़े हो। सुकर्मा तो अभी निरा बालक ही है। तुमने तो घोर तप किये हैं, किंतु सुकर्माने कोई तप नहीं किया है। तुमने यज्ञ, दान, ध्यान आदि बहुत सत्कर्म किये हैं। सुकर्माने इनमेंसे किसी एकका भी सम्पादन नहीं किया है। उसने जो कुछ किया है, केवल माता-पिताकी सेवा की है और इसीसे वह विश्वका सबसे बड़ा तत्त्ववेत्ता बन बैठा है। भूत, भविष्य और वर्तमानकी सारी घटनाएँ उसे प्रत्यक्ष दीखती हैं। सारा विश्व उसके वशमें है।

सारसका यह कथन सुनकर तपस्वी पिप्पल हतप्रभ हो गये। उन्होंने पूछा कि आप सारसके रूपमें कौन हैं? सारसने कहा—'तुम सुकर्माके पास जाओ। उसीसे मेरा परिचय और अर्वाचीन-प्राचीन ज्ञानके विषयमें भी पूछो।'

तपस्वी पिप्पलकी उत्सुकता बहुत बढ़ गयी थी। वे अनवरत चलकर सुकर्माके पास जा पहुँचे। उस समय सुकर्मा माता-पिताके चरणोंकी प्रेमपूर्वक सेवा कर रहे थे। पितृ-प्रेम उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे झाँक रहा था। विनम्रता और शान्तिके वे प्रतीक मालूम पड़ते थे। सुकर्माने जब तपस्वी पिप्पलको अपने दरवाजेपर देखा, तब उनके पास पहुँचकर बहुत ही नम्रतासे प्रणाम किया और अर्घ्य, पाद्य देकर उनकी पूजा की। बातचीतके अवसरपर सुकर्माने पिप्पलके जीवनमें होनेवाली सारी घटनाओंको खोलकर बतला दिया। यह भी बता दिया कि भगवान् ब्रह्माने सारसका रूप धारणकर आपको मेरे पास भेजा है।

बिना बताये अपनी सारी घटनाओंको सुकर्माके मुखसे सुनकर तपस्वी पिप्पलको महान् आश्चर्य हुआ। अब तपस्वी पिप्पलने सुकर्माकी दूसरी परीक्षा लेनी चाही। कहा—'मैंने सुना है कि समग्र विश्व आपके अधीन है। मैं इसे प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ।' सुकर्माने अतिथिकी इच्छाको पूर्ण करना चाहा। उसने देवताओंका स्मरण किया। देखते-देखते वहाँ सभी देवता इकट्ठे हो गये, सब जगह देवता-ही-देवता भरे हुए थे। आकाश, जल, थलमें तिल रखनेकी भी जगह नहीं थी।

देवताओंने सुकर्माका सम्मान किया और वर माँगनेको कहा। सुकर्माने भक्तिभावसे देवताओंको प्रणाम किया और वर माँगा कि 'माता-पिताके चरणोंमें मेरा प्रेम बढ़ता रहे। दूसरा वरदान यह माँगा कि मरनेपर मेरे माता-पिताको विष्णुका धाम प्राप्त हो।' देवताओंने हर्षमें भरकर 'तथास्तु' कहा और अदृश्य हो गये।

तपस्वी पिप्पल आँखें फाड़-फाड़कर यह कौतुक देखते रह गये। अब उन्होंने परमात्माके अर्वाचीन और प्राचीन रूपको जानना चाहा। सुकर्माने विस्तारके साथ इस रहस्यका निरूपण किया। पिप्पल बहुत विस्मित थे कि इतनी छोटी अवस्थामें सुकर्माको इतना ज्ञान और इतनी सिद्धियाँ कैसे मिल गयीं। उन्होंने पूछा—'सुकर्मा! तुम तो निरे बालक हो। तुमने कोई तपस्या नहीं की, कोई यज्ञ नहीं किया, कोई तीर्थ और व्रत भी नहीं किया। फिर तुम्हें ये सब सिद्धियाँ कैसे प्राप्त हुईं?

सुकर्माने नम्रतासे कहा—'ब्रह्मन्! आपका कहना ठीक है। सचमुच मैंने तीर्थ, व्रत आदि सत्कर्म कभी नहीं किया। मैंने तो केवल माता-पिताके चरणोंकी सेवा की है। मुझे इतना मालूम है कि माता-पिताकी सेवासे बढ़कर और कोई साधन नहीं है और इनके अतिरिक्त मुझे किसी साधनकी आवश्यकता भी नहीं रहती। मेरे भाग्यसे अभी मेरे माता-पिता जीवित हैं। इनकी सेवा ही मेरे लिये सब कुछ है। पुत्रके लिये माता-पिता तथा गुरु आदिकी सेवा करना धर्मशास्त्रका आदेश है। वेद-पुराण भी यही कहते हैं-

एतयोश्च प्रसादेन ज्ञानं मम प्रदीप्यताम्॥

(पद्मपु०, भूमिखण्ड ८४। १८)

अरुणस्मृति

अरुण भगवान् सूर्यके सारथी हैं। भगवान् सूर्यके समान ही ये भी समस्त प्राणियोंके धर्म-कर्मके साक्षी हैं। भगवान् सूर्यके सात घोड़ोंसे समन्वित दिव्य रथमें आरूढ़ होकर ये घोड़ोंकी वल्गा (लगाम) थामकर सूर्यके पथमें भ्रमण करते रहते हैं। ये धर्मकी मर्यादामें स्थित रहते हैं। पूर्व क्षितिजमें सूर्योदयसे पूर्व अरुणकी लालिमा स्पष्ट दीख पड़ती है। पौराणिक आख्यानोंमें निर्दिष्ट है कि अरुण प्रजापति कश्यपके पुत्र हैं, इसलिये ये काश्यप या काश्यपेय भी कहलाते हैं। इनकी माताका नाम विनता था। इन्होंने श्येनीसे सम्पाती तथा जटायु नामक दो पुत्रोंको प्राप्त किया था। समस्त संसारके प्रत्यक्ष द्रष्टा होनेके कारण इनसे कुछ भी छिपा नहीं है। ये सभी बातोंकी जानकारी रखते हैं। इनके नामसे एक संक्षिप्त स्मृति प्राप्त होती है, जो 'अरुणस्मृति'के नामसे विख्यात है। कलेवरमें लघुकाय (१४८ श्लोकात्मक) होनेपर भी इस स्मृतिका विशेष महत्त्व है।

ब्राह्मणका स्वरूप कितना शुद्ध, निर्मल, पवित्र और तपःपूर्ण होता है—यह 'अरुणस्मृति'का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। देखनेमें तो ब्राह्मण सामान्य मनुष्य-सा ही प्रतीत होता है, पर स्वधर्मपालन, चरित्र और तपस्याकी दृष्टिसे वह देवताओंसे भी बहुत ऊपर उठा हुआ है। भगवान् सूर्य और अरुणके संवादमें इस स्मृतिमें ब्राह्मणके अप्रतिग्रह-रूप मुख्य धर्मका निरूपण हुआ है। यद्यपि ब्राह्मणके अप्रतिग्रहधर्म (दान न लेने, संग्रह न करने)-का वर्णन अन्य मनु आदि स्मृतियोंमें भी आया है, किंतु इस स्मृतिमें आद्योपान्त केवल यही विषय बड़े ही विस्तारसे वर्णित है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य कोई बात नहीं आयी है; इस दृष्टिसे इस स्मृतिका विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। वास्तवमें विशुद्ध ब्राह्मणत्व क्या है, यह इस स्मृतिके अध्ययनसे भलीभाँति समझमें आ जाता है।

तपस्या, गायत्री-उपासना, स्वाध्याय और आत्मज्ञान—यह ब्राह्मणका श्रेष्ठ धर्म है। शास्त्रोंमें यद्यपि अध्ययन करना-कराना, यज्ञ करना-कराना तथा दान देना और दान लेना—ये ब्राह्मणके ६ मुख्य वर्णधर्म बतलाये गये हैं, तथापि इनमें भी त्यागवृत्ति एवं संतोषपूर्वक रहना उनका मुख्य लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। ब्राह्मणके लिये किंचित् भी धन संचय न करके उसे असंग्रही होनेका निर्देश है; क्योंकि धन-सम्पत्ति तपस्या आदि कल्याणकारी मार्गमें प्रबल बाधक है। ब्राह्मणके लिये धर्मशास्त्रमें यह आज्ञा है कि वह दान लेनेमें (प्रतिग्रहमें) समर्थ होनेपर भी लोभके वशीभूत हो किसीसे दान न ले। इससे उसका ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है। अतः उसे उचित है कि धर्मपूर्वक, न्यायपूर्वक वित्तोपार्जन करनेवालोंसे बहुत आवश्यक होनेपर ही दान ले। अन्यायोपार्जित द्रव्य कदापि न ग्रहण करे।

ब्राह्मणमें एक दिव्य ब्राह्म तेज होता है, जिसके लिये घोर तप करके राजर्षि विश्वामित्रने क्षत्रियत्वसे ऊपर उठकर और ब्रह्मतेज प्राप्त कर त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग भेजा; दूसरे स्वर्ग, सप्तर्षि, ग्रह और नक्षत्रोंका निर्माण किया तथा वे एक दूसरे ही ब्रह्माण्डके निर्माणमें सक्षम हो गये। जब ब्रह्मतेजसम्पन्न ब्राह्मण ब्रह्माके समान नयी सृष्टि कर सकता है तो दिव्य सम्पत्तियोंका निर्माण कर लेना उसके लिये तुच्छ बात है। अतः उसे प्रतिग्रहकी क्या आवश्यकता है? अपने तप, विद्या एवं मन्त्र-बलसे वह सब कुछ करनेमें सक्षम है। 'प्रतिग्रह ब्राह्मणके लिये सर्वथा परित्याज्य है' इस रहस्यको अरुणस्मृतिमें भगवान् सूर्यद्वारा अरुणको अनेक प्रकारसे उपदिष्ट किया गया है।

इस स्मृतिमें बतलाया गया है कि प्रतिग्रहसे ब्राह्मणका ब्राह्म तेज नष्ट हो जाता है। धनके लोभमें पड़कर यदि वह दान लेता है तो निर्विष सर्पकी तरह तेजोहीन, सत्त्वहीन हो जाता है। विद्या, विवेक, बुद्धि, ज्ञानसे हीन हो जाता है। उसका पुण्य भी नष्ट हो जाता है। अतः उसे अत्यन्त अपरिग्रही होकर शास्त्रकी मर्यादाका पालन करना चाहिये। इसीमें ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व है। यदि वह अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाय तो उसका ब्राह्मणत्व व्यर्थ ही है। ब्राह्मणको तो उपवास, जप, तप एवं धर्माचरणमें ही निरत रहना चाहिये। त्यागके कारण ही ब्राह्मणकी पूज्यता है।

भगवान् आदित्य अरुणसे कहते हैं कि 'हे काश्यपेय! ब्राह्मणके लिये प्रतिग्रह (दान) ऊपरसे मधुके समान मीठा जान पड़ता है, किंतु परिणाममें वह विषके समान हो जाता

है, किंतु दाताके लिये वह पुण्य ही होता है'—

प्रतिग्रहः काश्यपेय मध्वास्वादो विषोपमः।
ब्राह्मणाय भवेन्नित्यं दाता धर्मेण युज्यते॥

(अरुण० ३)

दान लेनेसे ब्राह्मणोंका ब्राह्म तेज नष्ट हो जाता है, इसलिये प्रतिग्रह लेनेपर प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये—

प्रतिग्रहेण विप्राणां ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति।
अतः प्रतिग्रहं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥

(अरुण० २६)

दोषयुक्त दान लेनेसे ब्राह्मण दाताके दोष-पापोंका भागी बन जाता है। यहाँतक कि भिक्षाका जो अन्न ब्राह्मण ग्रहण करता है, उसके लिये भी उसे गायत्री आदि पुण्यप्रद मन्त्रोंका जप करना चाहिये, तभी दोष-पापकी शान्ति होती है—

दुष्टप्रतिग्रहं कृत्वा विप्रो भवति किल्बिषी।
अपि भिक्षागृहीते तु पुण्यमन्त्रमुदीरयेत्॥

(अरुण० २७)

विद्वान् व्यक्तिको चाहिये कि प्रथम तो वह प्रतिग्रह ले ही न, यदि ले भी तो शरीरकी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करे, जप करे, होम करे। प्रतिग्रहके धनमेंसे भी दान करे, गायोंकी सेवामें लगाये, दीन-दुखियोंको बाँटे। इस प्रकार प्रायश्चित्त आदि करने तथा धनके सदुपयोगसे प्रतिग्रहजन्य दोष-पापसे वह मुक्त हो जाता है—

तस्मात् प्रतिग्रहं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥

× ×

प्रायश्चित्ते कृते विप्रो मुच्यते दुष्परिग्रहात्।

(अरुण० ४१, ४३)

प्रतिग्रहका धन स्थिर भी नहीं रहता, वह समूल नष्ट हो जाता है—

प्रतिग्रहार्जितं द्रव्यं सर्वं नश्यति मूलतः॥

(अरुण० ७३)

इसलिये उस धनको यज्ञादि पुण्यानुष्ठानों, मन्दिरों, वापी, कूप, तालाब आदिके निर्माण आदि सत्कार्योंमें लगाना चाहिये—

तस्मात् प्रतिग्रहधनं न स्थिरं स्यात् कदाचन।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कृत्वा तद्धनं सद्गतिं नयेत्॥

(अरुण० १३९)

यद्यपि प्रायश्चित्त अनेकों प्रकारके हैं, किंतु उनमें भी भगवान् नारायणका स्मरण परम प्रायश्चित्त है—

प्रायश्चित्तं तु तस्यैव हरेः स्मरणं परम्।

(अरुण० १४५)

भगवान् सूर्य अरुणजीको यह भी बतलाते हैं कि प्रतिग्रहमें उतना दोष नहीं है, जितना कि उसके बेचनेमें है—

प्रतिग्रहे न दोषः स्याद् दोषस्तस्यैव विक्रये॥

(अरुण० ४६)

विद्यादान, भूमिदान तथा कपिलाके दानको प्रतिग्रह नहीं बतलाया गया है और न उसके लेनेमें कोई दोष बताया गया है। ये तीनों अतिदान कहे गये हैं। ये तीनों प्रतिग्रहमें लेनेपर भी परोपकार ही करते हैं, अतः इनमें दोष नहीं है, यथा कपिला गायके गव्य पदार्थोंका यज्ञ आदि कार्योंमें उपयोग होकर सबका कल्याण होता है, उसके पालन करनेमें भी पुण्य ही है। इसी प्रकार विद्यार्जन करनेसे पुनः उसी सद्विद्यासे अन्य लोगोंका भला होता है और भूमि दानमें लेनेसे उस भूमिसे प्राप्त अन्नसे न केवल मनुष्योंका बल्कि पशु-पक्षी आदि तिर्यक् प्राणियोंका भी भरण-पोषण होता है। कपिला गायके विषयमें कहा गया है—

प्रतिग्रहस्ततस्तस्याः पुण्यात् पुण्यतरः स्मृतः॥

(अरुण० ६७)

ऐसे ही भूमिदानके विषयमें कहा है कि भूमिदान देनेवाला तथा भूमिका दान लेनेवाला दोनों पुण्यके भागी होते हैं और स्वर्गमें निवास करते हैं—

भूमिं यः प्रतिगृह्णाति भूमिं यश्च प्रयच्छति।
उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतं स्वर्गगामिनौ॥

(अरुण० ८९)

यदि भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है तो वास्तविक त्याग कीजिये। हृदयसे अपना सर्वस्व प्रभुका समझिये। प्रभुके लिये ही सारे काम कीजिये। ममता, अहंता और आसक्तिको जड़से उखाड़ डालिये।

राजप्रतिग्रह महान् दोष है—एक प्राचीन आख्यान

भगवान् आदित्य अरुणजीको उपदिष्ट करते हुए कहते हैं कि राजाका दिया हुआ दान और भी अधिक भयंकर है। वह शहदके समान आस्वादयुक्त प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके समान घातक है, अत: उसकी घोररूपताको समझकर लोभमें पड़कर कौन मनुष्य ऐसा है जो दान लेगा ?

राजप्रतिग्रहो घोरो मध्वास्वादो विषोपमः।
तं ज्ञात्वा मानवः कस्मात् करिष्यति प्रलोभनम्॥

(अरुण॰ ७४)

वास्तवमें त्याग ही ब्राह्मणकी मुख्य वृत्ति है। उसे प्रतिग्रहसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। ब्राह्मणोंद्वारा प्रतिग्रहके भीषण दोषोंको समझकर प्रतिग्रह न लेनेके अनेकों दृष्टान्त पुराणादि ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं। यहाँ सप्तर्षियोंद्वारा राजाके दान न लेनेकी एक कथा दृष्टान्तस्वरूप उपन्यस्त की जाती है—बहुत पुराने समयकी बात है। एक बार पृथ्वीपर बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं हुई। संसारमें घोर अकाल पड़ गया। सभी ग भूखों मरने लगे। सप्तर्षि भी भूखसे व्याकुल होकर इधर-उधर भटकने लगे। घूमते-घूमते ये लोग वृषादर्भि राजाके राज्यमें गये। उनका आगमन सुनकर राजा वहाँ आया और बोला—'मुनियो! मैं आपलोगोंको अन्न, ग्राम, घृत-दुग्धादि रस तथा तरह-तरहके रत्न दे रहा हूँ, आपलोग कृपया स्वीकार करें।'

ऋषियोंने कहा—'राजन्! राजाका दिया हुआ दान ऊपरसे मधुके समान मीठा जान पड़ता है, किंतु परिणाममें वह विषके समान हो जाता है। इस बातको जानते हुए भी हमलोग आपके प्रलोभनमें क्योंकर पड़ सकते हैं। ब्राह्मणोंका शरीर देवताओंका निवासस्थान है। यदि ब्राह्मण तपस्यासे शुद्ध एवं संतुष्ट रहता है तो वह सम्पूर्ण देवताओंको प्रसन्न रखता है। ब्राह्मण दिनभरमें जितना तप संग्रह करता है, उसको राजाका प्रतिग्रह क्षणभरमें इस प्रकार जला डालता है जैसे सूखे जंगलको प्रचण्ड दावानल। इसलिये आप इस दानके साथ कुशलपूर्वक रहें। जो इसे माँगें अथवा जिन्हें इसकी आवश्यकता हो, उन्हें ही यह दान दे दें।'

यों कहकर वे दूसरे रास्तेसे आहारकी खोजमें वनमें चले गये। राजाने अपने मन्त्रियोंको गूलरके फलोंमें सोना भर-भरकर ऋषियोंके मार्गमें रखवा देनेका आदेश दिया। उनके सेवकोंने ऐसा ही किया। महर्षि अत्रिने जब उनमेंसे एकको उठाया, तब फल बड़ा वजनदार मालूम हुआ। उन्होंने कहा—हमारी बुद्धि इतनी मन्द नहीं हुई है, हम सो नहीं रहे हैं। हमें मालूम है इनके भीतर सुवर्ण है। यदि आज हम इन्हें ले लेते हैं तो परलोकमें हमें इसका कटु परिणाम भोगना पड़ेगा।'

यों कहकर दृढ़तापूर्वक नियमोंका पालन करनेवाले वे ऋषिगण चमत्कारपुरकी ओर चले गये। घूमते-घूमते वे मध्यपुष्करमें गये, जहाँ अकस्मात् आये हुए शुनःसख नामक एक परिव्राजकसे उनकी भेंट हुई। वहाँ उन्हें एक बहुत बड़ा सरोवर दिखायी दिया। उसका जल कमलोंसे ढँका हुआ था। वे सब-के-सब उस सरोवरके किनारे बैठ गये। उसी समय शुनःसखने पूछा—'महर्षियो! आप सब लोग बताइये, भूखकी पीडा कैसी होती है?'

ऋषियोंने कहा—'शस्त्रास्त्रोंसे मनुष्यको जो वेदना होती है, वह भी भूखके सामने मात हो जाती है। पेटकी आगसे शरीरकी समस्त नाड़ियाँ सूख जाती हैं। आँखोंके आगे अँधेरा छा जाता है, कुछ सूझता नहीं। भूखकी आग प्रज्वलित होनेपर प्राणी गूँगा, बहरा, जड़, पंगु, भयंकर तथा मर्यादाहीन हो जाता है। इसलिये अन्न ही सर्वोत्तम पदार्थ है।'

अतः अन्नदान करनेवालेको अक्षय तृप्ति और सनातन स्थिति प्राप्त होती है। चन्दन, अगर, धूप और शीतकालमें ईंधनका दान अन्नदानके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं हो सकता। दम, दान और यम—ये तीन मुख्य धर्म हैं। इनमें भी दम विशेषतः ब्राह्मणोंका सनातन धर्म है। दम तेजको बढ़ाता है। जितेन्द्रिय पुरुष जहाँ कहीं भी रहता है, उसके लिये वही स्थान तपोवन बन जाता है। विषयासक्त मनुष्यके मनमें भी दोषोंका उद्भावन होता है, पर जो सदा शुभ कर्मोंमें ही प्रवृत्त है, उसके लिये तो घर भी तपोवन ही है। केवल शब्द-शास्त्र (व्याकरण)-में ही लगे रहनेसे मोक्ष नहीं होता, मोक्ष तो एकान्तसेवी, यम-नियमरत, ध्यानपरायण

पुरुषको ही प्राप्त होता है। अङ्गोंसहित वेद भी अजितेन्द्रियको पवित्र नहीं कर सकते। जो चेष्टा अपनेको बुरी लगे, उसे दूसरेके लिये भी आचरण न करे—यही धर्मका सार है। जो परायी स्त्रीको माताके समान, पर-धनको मिट्टीके समान तथा संसारके सभी भूतोंको अपने ही समान देखता है, वही ज्ञानी है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका ध्यान रखनेवाला प्राणी मोक्षको प्राप्त करता है।'

तदनन्तर ऋषियोंके हृदयमें विचार हुआ कि इस सरोवरमेंसे कुछ मृणाल निकाले जायँ। पर उस सरोवरमें प्रवेश करनेके लिये एक ही दरवाजा था और इस दरवाजेपर खड़ी थी राजा वृषादर्भिकी कृत्या, जिसे उसने अपनेको अपमानित समझकर ब्राह्मणोंद्वारा अनुष्ठान कराकर सप्तर्षियोंकी हत्याके लिये भेजा था। सप्तर्षियोंने जब उस विकराल राक्षसीको वहाँ खड़ी देखा, तब उन्होंने उसका नाम तथा वहाँ खड़ी रहनेका प्रयोजन पूछा। यातुधानी बोली—'तपस्वियो! मैं जो कोई भी होऊँ, तुम्हें मेरा परिचय पूछनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम इतना ही जान लो कि मैं इस सरोवरकी रक्षिका हूँ।'

ऋषियोंने कहा—'भद्रे! हमलोग भूखसे व्याकुल हैं। अतः तुम यदि आज्ञा दो तो हमलोग इस तालाबसे कुछ मृणाल उखाड़ लें।' यातुधानी बोली—'एक शर्तपर तुम ऐसा कर सकते हो। एक-एक आदमी आकर अपना नाम बताये और प्रवेश करे।' उसकी बात सुनकर महर्षि अत्रि समझ गये कि यह राक्षसी कृत्या है और हम सबको वध करनेकी इच्छासे आयी है। तथापि भूखसे व्याकुल होनेके कारण उन्होंने उत्तर दिया—'कल्याणि! पापसे त्राण करनेवालेको अरात्रि कहते हैं और उनसे बचानेवाला अत्रि कहलाता है। पापरूप मृत्युसे बचानेवाला होनेके कारण ही मैं अत्रि हूँ।' यातुधानी बोली—'तेजस्वी महर्षे! आपने जिस प्रकार अपने नामका तात्पर्य बतलाया है, वह मेरी समझमें आना बड़ा कठिन है। अच्छा, आप तालाबमें उतरिये।'

इसी प्रकार वसिष्ठने कहा—'मेरा नाम वसिष्ठ है। सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण लोग मुझे वरिष्ठ भी कहते हैं।' यातुधानी बोली—'मैं इस नामको याद नहीं रख सकती। आप जाइये, तालाबमें प्रवेश कीजिये।' कश्यपने कहा—'कश्य नाम है शरीरका, जो उसका पालन करता हो, वह कश्यप है। 'कु' अर्थात् पृथ्वीपर वम—वर्षा करेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है—अतः मैं 'कुवम' भी हूँ। काशके फूलकी भाँति उज्ज्वल होनेसे 'काश्य' भी समझो।' इसी प्रकार सभी ऋषियोंने अपने नाम बतलाये, किंतु वह किसीको भी ठीकसे न याद कर पायी, न व्याख्या ही समझी, अन्तमें शुन:सखकी पारी आयी। उन्होंने अपना नाम बतलाते हुए कहा—'यातुधानी! इन ऋषियोंने जिस प्रकार अपना नाम बतलाया है, उस तरह मैं नहीं बता सकता। मेरा नाम शुन:सखसख (धर्म-स्वरूप मुनियोंका मित्र) समझो।'

इसपर यातुधानीने कहा—'आप कृपया अपना नाम एक बार और बतलायें।' शुन:सखने कहा—'मैंने एक बार अपना नाम बतलाया। तुम उसे याद न कर बार-बार पूछती हो, इसलिये लो, मेरे त्रिदण्डकी मारसे भस्म हो जाओ।' यों कहकर उस संन्यासीके वेषमें छिपे इन्द्रने अपने त्रिदण्डकी आड़में गुप्त वज्रसे उसका विनाश कर डाला और सप्तर्षियोंकी रक्षा की तथा अन्तमें कहा—'मैं संन्यासी नहीं, इन्द्र हूँ। आप लोगोंकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे ही मैं यहाँ आया था। राजा वृषादर्भिकी भेजी हुई अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाली यातुधानी कृत्या आपलोगोंका वध करनेकी इच्छासे यहाँ आयी हुई थी। अग्निसे इसका आविर्भाव हुआ था। इसीसे मैंने यहाँ उपस्थित होकर इस राक्षसीका वध कर डाला। तपोधनो! लोभका सर्वथा परित्याग करनेके कारण अक्षय लोकोंपर आपका अधिकार हो चुका है। अब आप यहाँसे उठकर वहीं चलिये।'

अन्तमें सप्तर्षिगण इन्द्रके साथ चले गये।

(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ९३; स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय ३२; पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय १९)

जिसका मन पदार्थों और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, वही योगी है। क्रिया करता है पर आसक्त नहीं होता। स्फुरणा हो पर आसक्ति नहीं, ऐसा सर्व-संकल्पोंका त्यागी ही योगारूढ है।

दस मानव-धर्म

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

महर्षि दधीचकी धृति

'भगवन्! स्वार्थीजन अपने स्वार्थके सम्मुख दूसरेका कष्ट नहीं देख पाते। वृत्रासुर आपकी अस्थियोंसे बने वज्रसे मर सकता है और आपकी कृपाके बिना ....' आगे बोला नहीं गया देवराजसे! उन्होंने लज्जासे मस्तक झुका लिया।

स्वर्गपर असुरोंका आधिपत्य हो गया था। उनके नायक वृत्रासुरने देवताओंके सब अस्त्र-शस्त्र निगल लिये थे। अमरावतीके सदनोंमें और नन्दनकाननमें असुर क्रीड़ा कर रहे थे तथा देवता गिरि-गुफाओंमें छिपते-भटकते फिर रहे थे। महर्षि दधीचकी अस्थिसे बने वज्रसे वृत्र मर सकता है, किंतु उन तपोधनपर आघात तो वृत्र-वधसे अधिक असम्भव—देवसमाज याचना करने आया था महर्षिसे!

'शरीर तो एक दिन जायगा ही। वह किसीका उपकार करता जाय, यह प्राणीका परम सौभाग्य!' महर्षि दधीचका लोकोत्तर धैर्य। समाधिमें स्थित होकर देहत्याग किया उन्होंने। अपने देहकी अस्थियोंका उनका दान-मानवताने जो महत्तम पुरुष दिये, उनमें भी महानतम महर्षि दधीच। धन्य दधीचकी धृति!

महर्षि वसिष्ठकी क्षमा

'कितनी निर्मल चन्द्रिका है!' देवी अरुन्धतीने रात्रिके एकान्तमें, उन्मुक्त गगनके नीचे ज्योत्स्नास्नात अपने आराध्य महर्षि वसिष्ठसे उनके वामपार्श्वमें बैठकर सहजभावसे कहा।

'यह चन्द्रिका इसी प्रकार दिशाओंको उज्ज्वल कर रही है, जैसे आजकल विश्वामित्रका तप लोकोंको समुज्ज्वल कर रहा है!' महर्षिने सोल्लास कहा।

सभाका शिष्टाचार नहीं, समूहमें दिखावेकी प्रशंसा नहीं, एकान्तमें पत्नीसे कहा गया यह वाक्य—हृदयका वास्तविक उद्गार! और विश्वामित्र कौन? वसिष्ठके परम शत्रु—महर्षिके सौ पुत्रोंकी हत्या करा देनेवाले। किसी भी प्रकार वसिष्ठको क्लेश देनेको नित्य उद्यत वसिष्ठके पराभवके लिये ही जिनकी तपस्या थी।

उस दिन, उस समय भी विश्वामित्र वहीं थे। सशस्त्र वसिष्ठको मार देनेको उद्यत, अवसरकी प्रतीक्षामें झाड़ियोंमें छिपे विश्वामित्र—किंतु महर्षि वसिष्ठकी यह क्षमा, विपक्षीके अपराधकी पूर्ण विस्मृति और उसके गुणका ग्रहण—शस्त्र फेंककर महर्षिके पदोंपर गिर गये विश्वामित्र तो क्या आश्चर्यकी बात थी। यह है क्षमा!

अर्जुनका दम

'जैसे कुन्तीदेवी मेरी माता हैं, जैसे इन्द्राणी शची मेरी माता हैं, वैसे ही कुरुकुलकी जननी आप भी मेरी माता हैं। आप अपने इस पुत्रपर प्रसन्न हों!' एकान्तमें रात्रिके समय, स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा उर्वशी कामातुर आयी थी, देवराज इन्द्रके आदेशसे आयी थी और जितना शृङ्गार सम्भव था—भली प्रकार सजकर आयी थी।

मध्यम पाण्डव अर्जुनका लोकोत्तर मनोनिग्रह—उर्वशीका रूप, उसकी आतुर अनुनय-विनय व्यर्थ और व्यर्थ उसका शाप! दम (मनके संयम) और सदाचारके व्रतीको कोई शाप दे—आशीर्वाद बनकर रहना होगा उसे। अर्जुनके लिये सहायक बना वह शाप।

लिखित ऋषिका अस्तेय

बड़े भाई शंखके उपवनसे एक फलमात्र खा लिया था। बड़े भाईका उपवन—अनुमति आवश्यक है, ध्यान नहीं रहा; किंतु बड़े भाई कहते हैं—यह कर्म चोरीकी परिभाषामें आयेगा—पाप है तो प्रायश्चित्त भी होना ही चाहिये।

'तुम मर्यादाका पालन करानेवाले हो—उसे बदलनेवाले नहीं। मर्यादाके निर्माता हम हैं—हम जानते हैं कि उचित क्या है।' लिखितने डाँट दिया नरेशको। वे चोरीका दण्ड लेने आये—नरेश क्यों कहता है कि वह क्षमा कर सकता है। चोरीका दण्ड—विवश नरेशको उनके हाथ कटवा देने पड़े।

'मैं दण्ड ले आया!' दोनों हाथ कट गये, किंतु मुखपर उल्लास कि निष्पाप हो गये। महातापस अग्रजका प्रभाव पीछे हाथ दे दे—यह भिन्न बात है। दूसरे दिन तर्पण करते समय ज्यों-के-त्यों हाथ आ गये!

देवमाता अदितिका शौच

पवित्रताके प्रतीक हैं देवता—देवताओंकी माता हैं जो, उनका शौच—उनकी पवित्रताका वर्णन वाणी कैसे करेगी? उनकी आराधना—परमपुरुषकी आराधनामें नित्य संलग्ना हैं वे। वे परमपुरुष भी उनको वामनरूपमें माँ बनानेको

उत्कण्ठित हुए—शौचाचारका अपार माहात्म्य।

अद्रोहकका इन्द्रिय-निग्रह

'मैं अपनी शय्यापर ही इन्हें शयन कराऊँगा। इनकी रक्षा—इन लोकोत्तर सुन्दरीकी रक्षा लोकाचारके विपरीत व्यवहारके बिना मुझे दीखती नहीं। आपको यह स्वीकार हो तो इन्हें यहाँ रखें!' अद्रोहककी यह बात स्वीकार कर ली राजकुमारने। उन्हें प्रवासमें जाना था। परम धार्मिक अद्रोहकको छोड़कर उनकी अत्यन्त रूपवती पत्नीकी रक्षा करनेवाला दूसरा कोई उन्हें दीखता नहीं था।

'मित्र! मैंने जो कुछ किया था—लोकापवादने उसे व्यर्थ कर दिया। मैं उस लोकापवादको नष्ट कर दूँगा।' छः महीनेपर जब राजकुमार लौटे—उनकी पत्नीके सम्बन्धमें जितने मुख, उतनी बातें। अद्रोहकके यहाँ वे पहुँचे तो आँगनमें काष्ठचिता सजी मिली।

'पीठकी ओर तुम्हारी स्त्रीको करके, अपनी पत्नीकी ओर मुख करके मैं सदा एक शय्यापर सोया हूँ। तुम्हारी स्त्रीके स्तन भी मेरी पीठमें जब स्पर्श किये हैं—मुझे माताके स्तनका बोध हुआ है। यदि मेरा भाव सदा शुद्ध रहा है तो अग्निदेव मेरे लिये शीतल रहें।' प्रज्वलित चितामें प्रवेश किया अद्रोहकने—ऐसे इन्द्रिय-निग्रही लोकोत्तर महापुरुषके रोमोंके भी स्पर्शकी शक्ति अग्निदेवमें कहाँ हो सकती है। अद्रोहकका वस्त्रतक नहीं जला। अद्रोहकपर दोष लगानेवालोंके मुँहपर कोढ़ हो गया!

महाराज जनककी बुद्धि

सच्ची 'धी' जो सत्-असत्का ठीक-ठीक निर्णय कर ले। जो असत्में भूलकर भी प्रवृत्त न हो और सदा सत्के ही सम्मुख रहे। इस प्रकारकी सच्ची बुद्धिके प्रतीक महाराज जनक—वे नित्य अनासक्त, ज्ञानियोंके भी गुरु, मिथिलानरेश। 'धी'की असफलता है देहासक्ति—वह धन्य तो हुई महाराज विदेहमें।

महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासकी विद्या

'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।' यह सारा विश्व-साहित्य—विश्वकी सम्पूर्ण विद्या व्यासजीकी जूठन है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्षका सम्पूर्ण वर्णन किया उन्होंने। वेदोंका विभाजन, पुराणोंका प्रणयन—पञ्चम वेद महाभारतका निर्माण। यही घोषणा कर सकते थे—'जो यहाँ है वही सर्वत्र है। जो यहाँ (महाभारतमें) नहीं, वह और कहीं नहीं।'

धर्म एवं न्यायपूर्वक अर्जित अर्थ, उस अर्थसे धर्मविहित कामका सेवन तथा दानादि धर्माचरण, धर्मका आचरण भी अर्थ या कामकी प्राप्तिके लिये नहीं—मोक्षके लिये—यही आदर्श विद्या है। वह तो अविद्या है,जो मनुष्यको अधर्मकी ओर, भोगकी ओर प्रवृत्त करती है। विद्याके परमाचार्य—विश्वके वास्तविक गुरु हैं भगवान् व्यास। जगत्को विद्याका आलोक देनेके लिये ही तो श्रीहरिने यह अवतार धारण किया है।

महाराज हरिश्चन्द्रका सत्य

राज्य गया, धन गया, वैभव गया। अयोध्याकी महारानीको बेचना पड़ा, वे दासी बनीं और स्वयं बिकना पड़ा—स्वयं चाण्डालके हाथों बिककर श्मशानका चौकीदार बनना पड़ा—इतनेपर भी सीमा नहीं। इकलौता पुत्र—अपना परम सती पत्नी उस पुत्रकी लाश लिये क्रन्दन करती सम्मुख—श्मशानका कर लिये बिना हरिश्चन्द्र अपने पुत्रका शव फूँकनेकी अनुमति दे नहीं सकते। 'हरिश्चन्द्रका सत्य—सत्य ही परमेश्वर है' यह महात्मा गाँधीने इस युगमें कहा; किंतु हरिश्चन्द्रके सत्यने त्रेतामें परमेश्वरको विवश किया था श्मशानमें प्रकट होनेके लिये।

भगवान् नारायणका अक्रोध

'मन्मथ! देवाङ्गनाओ! वायुदेव, ऋतुराज! आप सबका स्वागत! आप सब इस आश्रममें आ गये हैं तो कृपा कर हमारा आतिथ्य ग्रहण करें।'

प्रसन्न सस्मित श्रीमुख भगवान् नारायण। क्षोभकी रेखातक नहीं भालपर। कामदेव तथा उसके सहचरोंको आश्वासन मिला, अन्यथा, उनके तो प्राण ही सूख गये थे—यदि ये क्रोध करें—भगवान् रुद्रका कोप स्मरण आ गया मदनको।

देवराज इन्द्र नित्य शङ्कालु हैं तपस्वियोंके तपसे। उनका आदेश—अलकनन्दाका दिव्य उपकूल वसन्त-श्रीसे झूम उठा था। मलयमारुत, कोकिलकी काकली, अप्सराओंके नृत्य-संगीत तथा उनकी उन्मद क्रीड़ा—मदनके विश्वजयी पञ्चशर व्यर्थ हो गये और काम पराजित हो गया। पराजित काम भयसे काँपा, किंतु पराजित था वहाँ उसका छोटा भाई क्रोध भी। आदि ऋषि भगवान् नारायण मुसकराते स्वागत कर रहे थे।
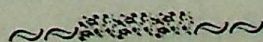
देवोपासना

जीवनमें उपासनाका विशेष महत्त्व है। जब मनुष्य अपने जीवनका वास्तविक लक्ष्य निर्धारित कर लेता है, तब वह तन-मन-धनसे अपने उस लक्ष्यकी प्राप्तिमें संलग्न हो जाता है। मानवका वास्तविक लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये उसे यथासाध्य संसारकी विषय-वासनाओं और भोगोंसे दूर रहकर भगवदाराधन एवं अभीष्टदेवकी उपासनामें संलग्न होनेकी आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार गङ्गाका अविच्छिन्न प्रवाह समुद्रोन्मुखी होता है, उसी प्रकार भगवद्-गुण-श्रवणके द्वारा द्रवीभूत निर्मल, निष्कलंक, परम पवित्र अन्तःकरणका भगवदुन्मुख हो जाना वास्तविक उपासना है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। ११)

इसके लिये आवश्यक है कि चित्त संसार और तद्विषयक राग-द्वेषादिसे विमुक्त हो ज़ाय। शास्त्रों और पुराणोंकी उक्ति है—'**देवो भूत्वा यजेद्देवान् नादेवो देवमर्चयेत्।**' देव-पूजाका अधिकारी वही है, जिसमें देवत्व हो। जिसमें देवत्व नहीं, वास्तवमें उसे देवार्चनसे पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। अतः उपासकको भगवदुपासनाके लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अभिमान आदि दुर्गुणोंका त्याग करके अपनी आन्तरिक शुद्धि करनी चाहिये। साथ ही शास्त्रोक्त आचार-धर्मको स्वीकार करके बाह्य-शुद्धि कर लेनी चाहिये, जिससे उपासकके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तथा अन्तरात्माकी भौतिकता एवं लौकिकताका समूल उन्मूलन हो सके और उनमें रसात्मकता तथा पूर्ण दिव्यताका आविर्भाव हो जाय। ऐसा जब हो सकेगा तभी वह उपासनाके द्वारा निखिल-रसामृतमूर्ति सच्चिदानन्दघन भगवत्स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेगा।

मनुष्यकी प्रकृति, स्वभाव और रुचिमें वैभिन्न्य रहता है अर्थात् सबका स्वभाव, सबकी प्रकृति और सबकी रुचि एक-जैसी नहीं होती। इसलिये शास्त्र-पुराणोंमें देवोपासनाके विभिन्न प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और प्रकृतिके अनुसार भगवत्प्राप्तिके लिये अपने इष्टकी उपासनामें संलग्न हो सके। यही कारण है कि शास्त्रकारोंने एक ही ब्रह्मका कई रूपोंमें वर्णन किया है। '**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।**' साथ ही अनेक रूपोंमें और अरूपमें भी उनकी उपासनाका विधान प्रस्तुत किया है। इस प्रकार साधक अपनी मनःस्थितिके अनुसार अपने इष्टका निश्चय कर सुविधापूर्वक उपासनामें संलग्न होकर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उपासनामें निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार—कोई भी भगवत्स्वरूप लक्ष्य बनाया जा सकता है। उपासनामें भक्तिकी प्रमुखता मानी गयी है। जो व्यक्ति जितना मनोयोगपूर्वक अपने इष्टदेवकी सेवा-अर्चा-पूजा और आराधना करता है, उसकी उपासना उतनी ही प्रगाढ़ होती है। यह उपासना नित्य और नैमित्तिक दो प्रकारसे की जाती है। नित्योपासनामें रागानुगा भक्तिका बहुत महत्त्व बतलाया गया है। जैसे एक अबोध बालकका आश्रय उसकी जननी ही है। माताके बिना वह रह नहीं सकता। जैसे खग-शावक अधीरतापूर्वक अपने मातृ-खगकी प्रतीक्षा करता है और बछड़ा चरनेके लिये गयी हुई अपनी माता गौके लिये अधीर होकर प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार किसी भक्तके लिये उसके इष्टदेवका क्षणभरका वियोग भी असह्य होता है। अतः नित्य-निरन्तर अपने इष्टके प्रति उसकी सेवा-पूजा-आराधना चलती रहती है। इसके बदलेमें उसे अपने आराध्यसे कुछ चाहिये नहीं। वह तो अपने आराध्यके सुखमें सुखी, प्रसन्नतामें प्रसन्न रहता है। वह मात्र अपने आराध्यकी प्रीति और प्रेमका आकांक्षी होता है। इस प्रकारके साधक निष्काम होते हैं। वे भगवान्से कोई लौकिक वस्तु प्रायः नहीं माँगते।

परंतु सामान्यतः संसारमें अज्ञानवश मनुष्य स्वाभाविकरूपमें भौतिक सुखोंकी आकांक्षा रखते हैं। लौकिक सुख-सुविधाओंके प्रति उनके मनमें आकर्षण रहता ही है। यह आकर्षण सत्संग, भगवद्भक्ति और उपासनासे ही समाप्त होता है। अतः पुराण और शास्त्र सम्पूर्ण उपासनाका सविस्तार वर्णन करते हैं। इसमें उनका तात्पर्य यही है कि सांसारिक सुखोंमें और भौतिक

वस्तुओंमें प्रीति रखनेवाले लोग भी किसी प्रकार भगवदुन्मुख तो हो जायँ। भगवान्‌से उनका सम्बन्ध तो जुड़े। उन्हें भगवदाराधनसे लौकिक सुखोंकी प्राप्ति तो होगी ही, पर जब साथ ही सत्संग आदिके द्वारा भगवत्तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर क्षणभरमें भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना भी प्रबल हो जायगी, तब उनका आत्मकल्याण भी हो सकेगा।

यहाँ शास्त्रोंमें वर्णित देवोपासनाकी कुछ विधियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

नित्योपासनामें दो प्रकारकी पूजा बतायी गयी है—(१) मानसपूजा और (२) बाह्यपूजा। साधकको दोनों प्रकारकी पूजा करनी चाहिये, तभी पूजाकी पूर्णता है। अपनी सामर्थ्य और शक्तिके अनुसार बाह्यपूजाके उपकरण अपने आराध्यके प्रति श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निवेदन करना चाहिये। शास्त्रोंमें लिखा है कि '**वित्तशाठ्यं विवर्जयेत्**' अर्थात् देव-पूजनादि कार्योंमें कंजूसी नहीं करनी चाहिये। सामान्यत: जो वस्तु हम अपने उपयोगमें लेते हैं, उससे हल्की वस्तु अपने आराध्यको अर्पण करना उचित नहीं है। वास्तवमें भगवान्‌को वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वे तो भावके भूखे हैं। वे उपचारोंको तभी स्वीकार करते हैं, जब निष्कपटभावसे व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा और भक्तिसे निवेदन करता है।

बाह्यपूजाके विविध विधान हैं, यथा—राजोपचार, सहस्रोपचार, चतु:षष्ठ्युपचार, षोडशोपचार और पञ्चोपचार-पूजन आदि। यद्यपि सम्प्रदायभेदसे पूजनादिमें किञ्चित् भेद भी हो जाते हैं, परंतु सामान्यत: सभी देवोंके पूजनकी विधि समान है। गृहस्थ प्राय: स्मार्त होते हैं, जो पञ्चदेवोंकी पूजा करते हैं। पञ्चदेवोंमें १-गणेश, २-दुर्गा, ३-शिव, ४-विष्णु और ५-सूर्य हैं। ये पाँचों देव स्वयंमें पूर्ण ब्रह्म-स्वरूप हैं। साधक इन पञ्चदेवोंमें एकको अपना इष्ट मान लेता है, जिन्हें वह सिंहासनपर मध्यमें स्थापित करता है। फिर यथालब्धोपचार-विधिसे उनका पूजन करता है। संक्षेप और विस्तार-भेदसे अनेक प्रकारके उपचार हैं, जैसे—चौंसठ, अठारह, सोलह, दस और पाँच।

इन उपचारोंके उपलब्ध न होनेपर श्रद्धा और भावनापूर्वक पञ्चोपचार-पूजनकी विधि भी शास्त्रोंमें बतायी गयी है। पञ्चोपचार-पूजनमें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य प्रमुख हैं।

भगवत्पूजा अतीव सरल है, जिसमें उपचारोंका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। महत्त्व भावनाका है। समयपर जो भी उपचार उपलब्ध हो जाय, उन्हें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निश्छल दैन्यभावसे भगवदर्पण कर दिया जाय तो उस पूजाको भगवान् अवश्य स्वीकार करते हैं।

मानसपूजा

इस बाह्यपूजाके साथ-साथ मानसपूजाका भी अत्यधिक महत्त्व है। पूजाकी पूर्णता मानसपूजनमें ही हो जाती है। भगवान्‌को किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, वे तो भावके भूखे हैं। संसारमें ऐसे दिव्य पदार्थ उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे परमेश्वरकी पूजा की जा सके। इसलिये पुराणोंमें मानस-पूजाका विशेष महत्त्व माना गया है। मानसपूजामें भक्त अपने इष्टदेवको मुक्तामणियोंसे मण्डित कर स्वर्णसिंहासनपर विराजमान करता है। स्वर्गलोककी मन्दाकिनी गङ्गाके जलसे अपने आराध्यको स्नान कराता है, कामधेनु गौके दुग्धसे पञ्चामृतका निर्माण करता है। वस्त्राभूषण भी दिव्य अलौकिक होते हैं। पृथ्वीरूपी गन्धका अनुलेपन करता है। अपने आराध्यके लिये कुबेरकी पुष्पवाटिकासे स्वर्णकमल-पुष्पोंका चयन करता है। भावनासे वायुरूपी धूप, अग्निरूपी दीपक तथा अमृतरूपी नैवेद्य भगवान्‌को अर्पण करनेकी विधि है। इसके साथ ही त्रिलोककी सम्पूर्ण वस्तु, सभी उपचार सच्चिदानन्दघन परमात्मप्रभुके चरणोंमें भावनासे भक्त अर्पण करता है। यह है मानसपूजाका स्वरूप। इसकी एक संक्षिप्त विधि भी पुराणोंमें वर्णित है। जो नीचे लिखी जा रही है—

१-ॐ लं पृथिव्यात्मकं गन्धं परिकल्पयामि।

(प्रभो! मैं पृथिवीरूप गन्ध (चन्दन) आपको अर्पित करता हूँ।)

२-ॐ हं आकाशात्मकं पुष्पं परिकल्पयामि।

(प्रभो! मैं आकाशरूप पुष्प आपको अर्पित करता हूँ।)

३-ॐ यं वाय्वात्मकं धूपं परिकल्पयामि।

(प्रभो! मैं वायुदेवके रूपमें धूप आपको प्रदान करता हूँ।)

४-ॐ रं वह्न्यात्मकं दीपं दर्शयामि।

(प्रभो! मैं अग्निदेवके रूपमें दीपक आपको प्रदान

करता हूँ।)

५-ॐ वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि।

(प्रभो! मैं अमृतके समान नैवेद्य आपको निवेदन करता हूँ।)

६-ॐ सौं सर्वात्मकं सर्वोपचारं समर्पयामि।

(प्रभो! मै सर्वात्माके रूपमें संसारके सभी उपचारोंको आपके चरणोंमें समर्पित करता हूँ।) इन मन्त्रोंसे भावनापूर्वक मानसपूजा की जा सकती है।

पूजाके पाँच प्रकार

शास्त्रोंमें पूजाके पाँच प्रकार बताये गये हैं—अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या। देवताके स्थानको साफ करना, लीपना, निर्माल्य हटाना—ये सब कर्म 'अभिगमन'के अन्तर्गत हैं। गन्ध, पुष्प आदि पूजा-सामग्रीका संग्रह 'उपादान' है। इष्टदेवकी आत्मरूपसे भावना करना 'योग' है। मन्त्रार्थका अनुसंधान करते हुए जप करना, सूक्त, स्तोत्र आदिका पाठ करना, गुण, नाम, लीला आदिका कीर्तन करना तथा वेदान्तशास्त्र आदिका अभ्यास करना—ये सब 'स्वाध्याय' हैं। उपचारोंके द्वारा अपने आराध्यदेवकी पूजा 'इज्या' है। ये पाँच प्रकारकी पूजाएँ क्रमशः सार्ष्टि, सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य और सारूप्य मुक्तिको देनेवाली हैं।

विशिष्ट उपासना

विशेष अवसरोंपर जो देवाराधन किया जाता है, जैसे—नवरात्रके अवसरपर दुर्गापूजा, सप्तशतीका पाठ, रामायण आदिके नवाह-पाठ, लक्षपार्थिवार्चन, महारुद्राभिषेक, श्रीमद्भागवतसप्ताह आदि विशेष प्रकारके अनुष्ठान विशिष्ट उपासनाएँ हैं। आरोग्यता एवं दीर्घजीवन-प्राप्तिके निमित्त महामृत्युञ्जयका जप एवं धन, संतान तथा अन्य कामनाओंके निमित्त किये जानेवाले अनुष्ठान भी इन्हींमें आते हैं।

मन्त्रानुष्ठान

मन्त्र शब्दका अर्थ है 'संसारी जीवके त्राणकारक, मननीय, ज्ञानमय अक्षरोंका समूह।'—

मननं सर्ववेदित्वं त्राणं संसार्यनुग्रहः।
मननात् त्राणधर्मत्वान्मन्त्र इत्यभिधीयते॥

(नार० पु० १। ६४। ३)

मन्त्र प्राप्त होनेपर भी यदि उसका अनुष्ठान न किया जाय, सविधि पुरश्चरण करके उसे सिद्ध न कर लिया जाय, तो उससे उतना लाभ नहीं होता जितना होना चाहिये। श्रद्धा, भक्ति-भाव और विधिके संयोगसे मन्त्रोंके अक्षर अन्तर्हृदयमें प्रवेश कर अनुप्राणित करने लगते हैं। अनुष्ठानमें कुछ नियमोंकी आवश्यकता होती है। यहाँ संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

मन्त्रानुष्ठानके योग्य स्थान

मन्त्रानुष्ठान स्वयं करना अथवा सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणके द्वारा कराना चाहिये। किसी पुण्यक्षेत्र, नदीतट, पवित्र वन-पर्वत, संगम, उद्यान, तुलसीकानन, गोशाला, देवालय, बिल्व, पीपल या आँवलेके वृक्षके नीचे अथवा अपने घरमें मन्त्रका अनुष्ठान शीघ्र फलप्रद होता है। सूर्य, अग्नि, गुरु, चन्द्रमा, दीपक, जल, ब्राह्मण और गौओंके सामने बैठकर जप करना उत्तम माना गया है। मुख्य बात यह है कि जहाँ बैठकर जप करनेसे चित्तमें प्रसन्नता बढ़े, वही स्थान सर्वश्रेष्ठ है। घरसे दसगुना गोष्ठ, सौगुना जंगल, हजारगुना तालाब, लाखगुना नदीतट, करोड़गुना पर्वत, अरबोंगुना शिवालय और गुरुका संनिधान अनन्तगुना श्रेष्ठ है। जिस स्थानपर स्थिरतासे बैठनेमें किसी प्रकारकी आशंका न हो, म्लेच्छ, दुष्ट, बाघ, साँप आदि किसी प्रकारका विघ्न न डाल सकते हों, जहाँके लोग अनुष्ठानके विरोधी न हों, जिस देशमें सदाचारी और भक्त निवास करते हों, किसी प्रकारका उपद्रव अथवा दुर्भिक्ष न हो, गुरुजनोंकी संनिधि और चित्तकी एकाग्रता सहज-भावसे ही रहती हो, वही जपके लिये उत्तम स्थान है।

आहार-शुद्धि

भोजनके रससे ही शरीर, प्राण और मनका निर्माण होता है। म्लान चित्तमें देवता और मन्त्रके प्रसादका उदय नहीं होता। अशुद्ध भोजनसे रोग, क्षोभ और ग्लानि होती है। शुद्ध भोजनसे मन पवित्र होता है। अन्याय, बेईमानी, चोरी-डकैती आदिसे उपार्जित दूषित अन्नद्वारा शुद्ध चित्तका निर्माण होना असम्भवप्राय है। इसी प्रकार अशुद्ध स्थानमें रखा दूध, दही आदि या कुत्ते आदिसे स्पृष्ट पदार्थ भी त्याज्य हैं।

गौके दूध, दही, घी, श्वेत तिल, मूँग, कन्द, केला,

आम, नारियल, नारंगी, आँवला, साठी चावल, जौ, जीरा आदि हविष्यान्न व्रतोंमें उपादेय हैं। मधु, खारा नमक, तेल, लहसुन, प्याज, गाजर, उड़द, मसूर, कोदो, चना, बासी तथा परान्न त्याज्य है। जिन्हें भिक्षा लेनेका अधिकार है, उन संन्यासी आदिकोंके लिये भिक्षा परान्न नहीं है, पर भिक्षा सदाचारी, पवित्र, द्विजाति गृहस्थोंसे ही लेनी चाहिये।

मन्त्रानुष्ठानमें ब्रह्मचर्य एवं पवित्रतापूर्वक भू-शयन आदि आवश्यक हैं। अनुष्ठानकालमें कुटिल व्यवहार, क्षौर-कर्म, तैलाभ्यङ्ग आदि न करे तथा भोजन भी बिना भोग लगाये नहीं करना चाहिये। साधकको यथासम्भव पवित्र नदियों, देवखातों, तीर्थ, सरोवर, पुष्करिणी आदिमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्नान करना चाहिये। यथाशक्ति तीनों समय संध्या और इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये। शिखा खोलकर, निर्वस्त्र होकर, एक वस्त्र पहनकर, सिरपर पगड़ी बाँधकर, अपवित्र होकर या चलते-फिरते जप करना निषिद्ध है। जपके समय माला पूरी हुए बिना बातचीत नहीं करनी चाहिये। जप समाप्त करने और प्रारम्भ करनेके पूर्व आचमन कर लेना चाहिये।

मलिन वस्त्र पहनकर, केश बिखेरकर और उच्चस्वरसे जप करना शास्त्रविरुद्ध है। जप करते समय इतने कर्म निषिद्ध हैं—आलस्य, जँभाई, नींद, छींकना, थूकना, डरना, अपवित्र अङ्गोंका स्पर्श और क्रोध। जापकको स्त्री, शूद्र, पतित, व्रात्य, नास्तिक आदिके साथ सम्भाषण, उच्छिष्ट मुखसे वार्तालाप, असत्य और कुटिल भाषण छोड़ देना चाहिये। अपने आसन, शय्या, वस्त्र आदिको शुद्ध एवं स्वच्छ रखना चाहिये। उबटन, इत्र, फूलमालाका उपयोग और गरम जलसे स्नान नहीं करना चाहिये। सोकर, बिना आसनके, चलते और खाते समय तथा बिना माला ढँके जो जप किया जाता है, उसकी गणना अनुष्ठानके जपमें नहीं होती। जिसके चित्तमें व्याकुलता, क्षोभ, भ्रान्ति हो, भूख लगी हो, शरीरमें पीड़ा हो, उसे और जहाँ स्थान अशुद्ध एवं अन्धकाराच्छन्न हो, वहाँ जप नहीं करना चाहिये। जूता पहने हुए अथवा पैर फैलाकर जप करना निषिद्ध है। और भी बहुत-से नियम हैं, उन्हें जानकर यथाशक्ति उनका पालन करना चाहिये। ये सब नियम मानस-जपके लिये नहीं हैं। शास्त्रकारोंने कहा है—

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि।
मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैव सदाभ्यसेत्॥
न दोषो मानसे जाप्ये सर्वदेशेऽपि सर्वदा।

अर्थात् मन्त्रके रहस्यको जाननेवाला जो साधक एकमात्र मन्त्रकी ही शरण हो गया है, वह चाहे पवित्र हो या अपवित्र, सब समय—चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते मन्त्रका अभ्यास कर सकता है। मानस-जपमें किसी भी समय और स्थानको दोषयुक्त नहीं समझा जाता। कुछ मन्त्रोंके सम्बन्धमें अवश्य ही विभिन्न विधान है।

शास्त्रोंमें जप-यज्ञको सब यज्ञोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है। पद्म एवं नारदपुराणमें कहा गया है कि समस्त यज्ञ वाचिक जपकी तुलनामें सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हैं। उपांशु-जपका फल वाचिक जपसे सौगुना और मानस जपका सहस्रगुना होता है। मानस जप वह है, जिसमें अर्थका चिन्तन करते हुए मनमें ही मन्त्रके वर्ण, स्वर और पदोंकी आवृत्ति की जाती है। उपांशु-जपमें कुछ-कुछ जीभ और होंठ चलते हैं, अपने कानोंतक ही उनकी ध्वनि सीमित रहती है, दूसरा कोई नहीं सुन सकता। वाचिक जपका वाणीके द्वारा उच्चारण किया जाता है। तीनों ही प्रकारके जपोंमें मनके द्वारा इष्टका चिन्तन होना चाहिये। मानसिक स्तोत्र-पाठ और उच्चस्वरसे उच्चारणपूर्वक मन्त्र-जप—ये दोनों निष्फल हैं। गौतमी-तन्त्रमें कहा गया है—'सुषुम्णाके द्वारा मन्त्रका उच्चारण होनेपर उसमें शक्ति-संचार होता है।' पहले ऐसी भावना करनी चाहिये कि मन्त्रका एक-एक अक्षर चिच्छक्तिसे ओतप्रोत है और परम अमृतस्वरूप चिदाकाशमें उसकी स्थिति है। ऐसी भावना करते हुए जप करनेसे पूजा, होम आदिके बिना ही मन्त्र अपनी शक्ति प्रकाशित कर देते हैं। जप करनेमें प्राण-बुद्धिसे सुषुम्णाके मूलदेशमें स्थित जीवरूपसे मन्त्रका चिन्तन करते हुए मन्त्रार्थ और मन्त्रचैतन्यके ज्ञानपूर्वक मन्त्रजप करनेका विधान है।

जपमें मालाका प्रयोग—साधकोंके लिये माला भगवान्के स्मरण और नाम-जपकी संख्या-गणनार्थ बड़ी ही सहायक होती है। इससे उतनी संख्या पूर्ण करनेके लिये सब समय प्रेरणा प्राप्त होती रहती है एवं उत्साह तथा लगनमें किसी

प्रकारकी कमी नहीं आती। जो लोग बिना संख्याके जप करते हैं, उन्हें इस बातका अनुभव होगा कि जब कभी जप करते-करते मन अन्यत्र चला जाता है, तब मालूम ही नहीं होता कि जप हो रहा था या नहीं या कितने समयतक जप बंद रहा। यह प्रमाद हाथमें माला रहनेपर या संख्यासे जप करनेपर नहीं होता। यदि मन कभी कहीं चला भी जाता है तो मालाका चलना बंद हो जाता है, संख्या आगे नहीं बढ़ती और यदि माला चलती रही तो जीभ भी अवश्य चलती ही रहेगी। कुछ ही समयमें ये दोनों मनको आकृष्ट करनेमें समर्थ हो सकेंगी।

माला प्रायः तीन प्रकारकी होती है। करमाला, वर्णमाला और मणिमाला। अँगुलियोंपर जो जप किया जाता है, वह करमाला-जप है। इसका नियम यह है कि अनामिकाके मध्यभागसे नीचेकी ओर चलें फिर कनिष्ठाके मूलसे अग्रभागतक और फिर अनामिका तथा मध्यमाके क्रमसे अग्रभागपर होकर तर्जनीके मूलतक जायँ। इस क्रमसे अनामिकाके दो, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका एक, मध्यभागका एक और तर्जनीके तीन पर्व—कुल दस संख्या होती है। मध्यमाके दो पर्व सुमेरुके रूपमें छूट जाते हैं। साधारण करमालाका यही क्रम है, परंतु अनुष्ठान-भेदसे इसमें अन्तर भी पड़ता है, जैसे—शक्तिके अनुष्ठानमें अनामिकाके दो पर्व, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका अग्रभाग एक, मध्यमाके तीन पर्व और तर्जनीका एक मूलपर्व—इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। श्रीविद्यामें इससे भिन्न नियम है। मध्यमाका मूल एक, अनामिकाका मूल एक, कनिष्ठाके तीन, अनामिका और मध्यमाके अग्रभाग एक-एक और तर्जनीके तीन, इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। करमालासे जप करते समय अँगुलियाँ अलग-अलग नहीं होनी चाहिये। हथेली थोड़ी मुड़ी रहनी चाहिये। मेरुका उल्लङ्घन और पर्वोंकी सन्धि (गाँठ)-का स्पर्श निषिद्ध है। हाथको हृदयके सामने लाकर अँगुलियोंको कुछ टेढ़ी करके वस्त्रसे उसे ढँककर दाहिने हाथसे ही जप करना चाहिये।

वर्णमालाका अर्थ है—अक्षरोंके द्वारा गणना करना। यह प्रायः अन्तर्जपमें काम आती है, परंतु बहिर्जपमें भी इसका निषेध नहीं है। वर्णमालाके द्वारा जप करनेका प्रकार यह है कि पहले वर्णमालाका एक अक्षर बिन्दु लगाकर उच्चारण कीजिये और फिर मन्त्रका इस क्रमसे अवर्गके सोलह, कवर्गसे पवर्गतकके पचीस और यवर्गके हकारतक आठ और पुनः एक लकार—इस प्रकार पचासतक गिनते जाइये, फिर लकारसे लौटकर अकारतक आ जाइये। सौकी संख्या पूरी हो जायगी। 'क्ष'को सुमेरु माना जाता है, उसका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये। संस्कृतमें 'त्र' और 'ज्ञ' स्वतन्त्र अक्षर नहीं, संयुक्ताक्षर माने जाते हैं। इसलिये उनकी गणना नहीं होती। वर्ग भी सात नहीं, आठ माने जाते हैं। आठवाँ शकारसे प्रारम्भ होता है। इसके द्वारा 'अं कं चं टं तं पं यं शं' यह गणना करके आठ बार जपना चाहिये। ऐसा करनेसे जपकी संख्या एक सौ आठ हो जाती है। ये अक्षर तो मालाके मणि हैं, इनका सूत्र है कुण्डलिनी-शक्ति। यह मूलाधारसे आज्ञाचक्रपर्यन्त सूत्ररूपसे विद्यमान है। उसीमें ये सब स्वर-वर्ण मणिरूपसे गुँथे हुए हैं। इन्हींके द्वारा आरोह और अवरोह-क्रमसे अर्थात् नीचेसे ऊपर और ऊपरसे नीचे जप करना चाहिये। इस प्रकार जो जप होता है, वह सद्यः सिद्धिप्रद होता है।

जिन्हें अधिक संख्यामें जप करना हो, उन्हें तो मणिमाला रखना अनिवार्य है। मणि (मनिया) पिरोये होनेके कारण इसे मणिमाला कहते हैं। यह माला अनेक वस्तुओंकी होती है, जैसे रुद्राक्ष, तुलसी, शङ्ख, पद्मबीज, जीवपुत्रक (इंगुदी), मोती, स्फटिक, मणि-रत्न, मूँगा, सुवर्ण, चाँदी, चन्दन और कुशमूल। इन सभीके मणियोंसे माला तैयार की जा सकती है। इनमें वैष्णवोंके लिये तुलसी और स्मार्त, शैव, शाक्त आदिके लिये रुद्राक्ष सर्वोत्तम है। एक चीजकी मालामें दूसरी चीज न लगायी जाय। विभिन्न कामनाओंके अनुसार भी मालाओंमें भेद होता है और देवताओंके अनुसार भी। इनका विचार कर लेना चाहिये। मालाके मणि (दाने) छोटे-बड़े न हों। एक सौ आठ दानोंकी माला सब प्रकारके जपोंमें काम आती है। ब्राह्मण-कन्याओंके द्वारा निर्मित सूतसे माला बनायी जाय तो सर्वोत्तम है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण-वर्णके सूत्र श्रेष्ठ हैं।

रक्तवर्णका प्रयोग सब वर्णोंके लोग सब प्रकारके अनुष्ठानोंमें कर सकते हैं। सूतको तिगुना कर पुनः उसे तिगुना कर देना चाहिये। प्रत्येक मणिको गूँथते समय प्रणवके साथ एक-एक अक्षरका उच्चारण करते जाना चाहिये—जैसे—'ॐ अं' कहकर प्रथम मणि और '**ॐ आं**' कहकर दूसरी मणि। बीचमें जो गाँठ देते हैं, उसके सम्बन्धमें विकल्प है। चाहे तो गाँठ दें चाहे तो न दें। दोनों ही बातें ठीक हैं। माला गूँथनेका मन्त्र अपना इष्टमन्त्र भी है। अन्तमें ब्रह्मग्रन्थि देकर सुमेरु गूँथे और पुनः ग्रन्थि लगाये। स्वर्ण आदिके सूत्रसे भी माला पिरोयी जा सकती है। रुद्राक्षके दानोंमें मुख और पुच्छका भेद भी होता है। मुख कुछ ऊँचा होता है और पुच्छ नीचा। पोहनेके समय यह ध्यान रखना चाहिये कि दानोंका मुख परस्परमें मिलता जाय अथवा पुच्छ। गाँठ देनी हो तो तीन फेरेकी अथवा ढाई फेरेकी लगानी चाहिये। ब्रह्मग्रन्थि भी लगा सकते हैं। इस प्रकार मालाका निर्माण करके उसका संस्कार करना चाहिये।

देवतातत्त्व—देवता मुख्यतया तैंतीस माने गये हैं। उनकी गणना इस प्रकार है—प्रजापति, इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और ग्यारह रुद्र। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओंके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया गया है, वहाँके वर्णनसे यही तात्पर्य निकलता है कि वे कामरूप होते हैं। वेदान्तदर्शनमें कहा गया है कि देवता एक ही समय अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकट होकर अपनी पूजा स्वीकार कर सकते हैं। शास्त्रोंमें देवताओंके ध्यानकी सुस्पष्ट विधि निर्दिष्ट है। उसी रूपमें उनका ध्यान एवं उपासना की जानी चाहिये। वेदोंमें प्रायः सभी देवताओंका वर्णन आया है, जैसे इन्द्रके लिये '**वज्रहस्तः पुरन्दरः**।' उनके कर्मका भी वर्णन है कि वे वर्षाके अधिपति हैं और वृत्रवध आदि कर्म करते हैं। यहाँ कुछ देवताओंके ध्यान और मन्त्र लिखे जाते हैं।

इन्द्र

दिक्पतियोंके स्वामी इन्द्रका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—इन्द्रका वर्ण पीला है, उनके शरीरपर मयूरपिच्छके सदृश सहस्र नेत्रोंके चिह्न हैं, उनके चार हाथ हैं, जिनमें वे क्रमशः अभय एवं वरमुद्रा तथा वज्र एवं अंकुश धारण किये हुए हैं। वे अनेक प्रकारके कौस्तुभ, माणिक्यादि आभूषण, स्वर्णकुण्डल एवं यज्ञोपवीत धारण किये ऐरावत हाथीपर इन्द्राणीके साथ विराजमान हैं। इन्द्रका मन्त्र है—'**ॐ इं इन्द्राय नमः**।'

अग्नि

अग्निका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—उनका वाहन छाग है। उनके सात हाथ हैं और सात जिह्वाओंसे सात ज्वालाएँ निकलती रहती हैं। शरीर स्थूल है, उनकी दायीं ओर स्वाहा और बायीं ओर स्वधा नामकी पत्नियाँ हैं। वे अपने हाथोंमें स्रुव, स्रुच्, तोमर एवं शक्ति आदि धारण किये हुए हैं। अग्निका मन्त्र है—'**ॐ रं वह्निचैतन्याय नमः**।'

कुबेर

कुबेरका ध्यान इस प्रकार है—धनाध्यक्ष कुबेर नवों निधियोंके स्वामी हैं। उनका वर्ण सुवर्णवत् पीत है। उनके दो हाथ हैं, जिनमें कुन्त एवं निधि लिये हैं और पीताम्बर धारण किये अति सुन्दर हैं। वे यक्ष गुह्यकोंके स्वामी हैं तथा सपत्नीक नरवाहन—पालकीपर सवार या अश्वारूढ कहे गये हैं। कुबेरके मन्त्र छोटे-बड़े कई हैं। छोटा प्रसिद्ध मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ वैश्रवणाय नमः**'।

वास्तुदेव

वास्तुपुरुषका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—वास्तुदेवताका शरीर नीले वर्णका है। वे शुभ स्थानपर सोये हुए हैं। उनके दो हाथ हैं, जिनमें मापदण्ड धारण किये हुए हैं; सब लोगोंके आश्रय एवं विश्वके बीज हैं। उन्हें जो प्रणाम करता है, उसके भयको वे नष्ट कर देते हैं। उनका मन्त्र है—'**ॐ वास्तोष्पतये नमः**।'

सभी साधना एवं उपासनाओंका अन्तिम फल भगवत्प्राप्ति या सायुज्य मुक्ति है। देवतालोग अपनी उपासनासे प्रसन्न होकर सांसारिक पुरुषार्थोंकी उपलब्धिके साथ भगवत्प्राप्तिमें भी सहायक होते हैं। ऊपर देवोपासनाकी संक्षिप्त विधि निर्दिष्ट है। विशेष जानकारीके लिये उपासनापरक पुराण, स्मृति, आगमादि ग्रन्थ देखने चाहिये।
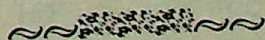
महाराष्ट्रके संत और धर्मशास्त्र

(डॉ॰ श्रीभीमाशंकरजी देशपांडे, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰डी॰, एल्-एल्॰ बी॰)

धर्मशास्त्रकी प्राचीन परम्परा विश्वमें केवल भारत देशमें ही पायी जाती है। इस विषयके अनुरोधसे मराठी संतोंका धर्ममय उपदेश यहाँ संक्षेपमें उद्धृत किया जा रहा है।

संत ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि 'विहित कर्म धर्मका प्रमुख अङ्ग है।' स्वधर्मानुष्ठानके अतिरिक्त अन्य क्रियमाण कर्म व्यवसाय कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्णने पार्थको धर्मका जो अर्थ बताया उसका भाष्य करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

एथ वाडील जें जें करिती।
तया नाम धर्मु ठेविती।
तेंचि येर अनुष्ठिती।
सामान्य सकट्ठ॥

(ज्ञाने॰ अ॰ ३। १५८)

अर्थात् अपने पूर्वज जो कर्म करते आये हैं, उसे धर्म समझना चाहिये। सामान्यजन उसका ही अनुष्ठान करते हैं।

वेदशास्त्र हित एवं अहितका मार्गदर्शन करते हुए सबपर समान कृपा करनेवाले हैं। (ज्ञा॰ अ॰ १६। ४४३)

जिन्हें अपनी आत्माका उद्धार करना है, उन्हें श्रुति-स्मृतिके सिद्धान्तोंका आचरण करना आवश्यक है। (ज्ञा॰ अ॰ १६। ४)

धर्मका यथार्थ शासन करनेवाला ही राजा कहलाता है। इसमें राजाके साथ समाजका नियमन है। राजा धर्मका ही रूप होता है। संत नामदेवजीका वचन है—

देही धर्मि हित करी। द्वैत भाव चित्तिन धरी॥
सर्वाभूती नमस्कारी। एक आत्मा म्हणोनि॥

सभी प्राणियोंमें आत्मभाव करना श्रेष्ठ है। यहाँ भक्तिके साथ अद्वैतका अधिष्ठान है।

संत एकनाथ महाराजका कहना है—

पावोनिया ब्रह्मज्ञान। स्वये उद्धरिला आपण॥
न करि तो चि दीनोद्धरणा हे भंड पण ज्ञात्या चे॥
स्वये तरोनि जना तारी। हे ज्ञाना ची अगाध थोरी॥
तें भ्यां दिधली तुझ्या करी। जन उद्धरी उद्धवा॥

(ए॰ भा॰ अ॰ २९। ८२४)

ज्ञानप्राप्तिसे व्यक्तिका विकास होता है। परंतु समाजका उद्धार करनेका उत्तरदायित्व वह टाल नहीं सकता। इसलिये ज्ञाताको समाज-रक्षणका कार्य करना आवश्यक है। इसमें लोगोंपर उसका उपकार नहीं, प्रत्युत वह उसका कर्तव्य है। इसमें निष्काम कर्मयोग एवं स्वधर्माचरणपर बल दिया गया है। वे कहते हैं—

मज करु दिली नाही सेवा। दाविले देवा देही च॥
जग व्यापक जनार्दन। सदा वसे परिपूर्ण॥
भिन्न-भिन्न नाही मनी। भरला से जनी जनी॥
एका जनार्दनी शरण। सर्वा ठायी व्यापक जाण॥

(एकनाथ गाथा १५०)

सभी प्राणियोंमें जनार्दनका वास सत्य है। इसलिये मानवमें भेद करना मूर्खता है। अज्ञानसे ही सर्वव्यापक जनार्दनका दर्शन नहीं होता। आत्मोद्धारकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्तिको ऐसा समझकर सर्वव्यापक जनार्दनकी शरणमें जाना चाहिये।

मराठीके आद्य कवि मुकुंदराज अपनी रचना विवेकसिंधुमें बताते हैं—

अशुद्ध पात्रि शुद्ध नव्हे ते दूध॥

जिस प्रकार अशुद्ध पात्रमें रखा हुआ दूध शुद्ध नहीं रहता, उसी प्रकार मलिन हृदयमें ज्ञानकी स्थिति है।

समर्थ रामदासजी उपदेश करते हुए कहते हैं—

श्रुती न्याय मीमांसकें तर्कशास्त्रें।
स्मृती वेद वेदांतवाक्यें विचित्रें।
स्वयें शेष मौनावला स्थीर पाहे॥
मना सर्व जाणी व सांडून राहे॥

(म॰ श्लो॰ १५८)

उपनिषद्, न्यायदर्शन, मीमांसादर्शन, तर्कशास्त्र, स्मृतिग्रन्थ एवं वेदान्त-वाक्योंमें जो परमात्माके स्वरूपका वर्णन है, वह भी अपूर्ण है। उसका वर्णन करनेमें सहस्रमुख शेष भी मौन धारण किये बैठे हैं। हे मानव! वहाँ तुम्हारा क्या महत्त्व है, इसलिये ज्ञानका अभिमान त्यागकर शान्त-चित्तसे परमात्मस्वरूपकी अनुभूति करते रहो।

संत तुकाराम महाराज अपनी अभंग-रचनामें इस प्रकार उपदेश देते हैं—

वेद अनंत बोलिला। अर्थ इतकाची साधिला॥
विठोबा सी शरण जावे। निज निष्ठे नाम ध्यावे॥

सकल शास्त्रा चा विचार । अंति इतकाची निर्धार॥
अठरा पुराणी सिद्धान्त । तुका म्हणे हाचि देव॥

वेदोंमें विपुल उपदेश किया गया है, परंतु उसमेंसे सीमित अर्थ हमने इस प्रकार लिया कि भगवान् विट्ठलकी शरणमें जाकर निष्ठापूर्वक उनका नाम रटे। सम्पूर्ण शास्त्रों एवं अठारह पुराणोंसे इतना ही उपदेश अपनाना कल्याणप्रद है। तुकाका अपने जीवनमें यही उद्देश्य है।

इसी प्रकार मराठी संतोंने समाजको भी उपदेश किया। जीव ईश्वर बन सकता है, परंतु उसके लिये साधनाकी आवश्यकता है। इस उपदेशपर लक्ष्य केन्द्रित करते हुए महाराष्ट्र संतोंकी शिक्षा धर्मशास्त्रपरक और ईश्वरतक पहुँचानेवाली है।

'धर्म' शब्दका दुरुपयोग

(महामहिम डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजीके विचार)

मनुष्यको इस बातका बड़ा अभिमान है कि 'मैं भाषाका स्वामी हूँ। जब चाहता हूँ, तब बोलता हूँ, और अपने भावोंके अनुरूप शब्दोंका चयन करता हूँ।' बात बिलकुल ऐसी तो नहीं है। मनुष्यके चित्तमें जितने प्रकारके भाव उठ सकते हैं, उतने शब्द किसी भी भाषामें नहीं हैं। सर्वदा अपने मनोऽनुकूल शब्द नहीं मिल पाते। बहुधा ऐसे शब्दोंका व्यवहार करना पड़ता है, जो अपने विवक्षित अर्थके आस-पास होते हैं। शब्दकी व्युत्पत्ति कुछ भी रही हो, वह सबसे पहिले चाहे जिस अर्थमें प्रयुक्त किया गया हो, पर ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ता है और वह पुराना होता जाता है, उसके साथ 'आस-पास' वाले अर्थोंका परिवार बढ़ता जाता है। बोलनेवालेको इनमेंसे कोई एक ही अभीष्ट होगा, पर शेष सब भी साथमें प्रतिध्वनित होते रहते हैं और यह श्रोताकी मनःस्थितिपर निर्भर करता है कि वह किस ध्वनितार्थको पकड़ेगा, यदि किसी कारणविशेषसे इन आंशिक अर्थोंमेंसे किसी कालविशेषमें किसी एकको प्रधानता मिल जाय तो यह भी सम्भव है कि वह शेषको दबा ले और उनको व्यक्त करनेके लिये कोई उपयुक्त शब्द ही न मिले। फिर तो यदि उनकी ओर लक्ष्य करना हो तो स्यात् लंबे वाक्यसे काम लेना होगा। परंतु वाक्यमें वह सजीवता नहीं होती जो प्रायः शब्दोंमें मिलती है।

मैं शब्दशास्त्रपर निबन्ध लिखने नहीं बैठा हूँ। ये सब विचार तो एक विशेष शब्दके सम्बन्धमें सोचते-सोचते उठ खड़े हुए। वह शब्द है—'धर्म'।

मैं नहीं जानता कि वेदमन्त्र पृथ्वीपर कबसे चले आ रहे हैं। परंतु यह निश्चित है कि 'धर्म' शब्द वेदोंमें भी आया है—'**तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**', '**अतो धर्माणि धारयन्**' आदि। तबसे उस वाङ्मयमें, जिसको 'हिंदू' विशेषण दिया जा सकता है, यह शब्द चला आ रहा है। जैन और बौद्ध आचार्योंकी रचनाओं और उपदेशोंमें भी बराबर इसका व्यवहार होता रहा है। 'धर्म'की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है। व्यासदेव कहते हैं—'अर्थ और काम धर्मपर ही आश्रित हैं।' मनुका आदेश है—'**न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्**' अर्थात् धर्मका पालन करते हुए कष्ट पानेपर भी मनमें अधर्मको स्थान न दे। यह शब्द इतना सुबोध समझा गया कि बहुधा विद्वानों और साधु-महात्माओंने इसकी परिभाषा करनेका प्रयत्न भी नहीं किया और परिभाषा यदि की भी गयी तो बहुत ही व्यापक, जैसे—'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**'—'जिससे अभ्युदय और मोक्षकी सिद्धि हो वह धर्म है' या मनुके शब्दोंमें '**धारणाद्धर्म इत्याहुः**'—'जो विश्वको धारण करता है, वह धर्म है।' इन वाक्योंकी व्याख्या करनेमें पुस्तकालय-के-पुस्तकालय लिखे जा सकते हैं। संक्षेपमें कहीं-कहीं धर्मके जो लक्षण बताये गये हैं, उनमेंसे एकको उदाहरणके लिये लें—

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः॥

(मत्स्यपुराण)

—इस स्थलपर अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश, क्षमा और धृतिको धर्मका मूल कहा गया है। लोकव्यवहारमें भी ऐसा ही देखा जाता है। सत्यवादी, दयालु, परोपकारी व्यक्तिको '**धर्मात्मा**' और हिंसावृत्तिवाले तथा लोभीको '**अधर्मी**' कहा करते हैं। विचारणीय बात यह है और इसी बातकी ओर मैं

विशेषरूपसे ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि धर्मकी परिभाषामें ईश्वरोपासनाका नाम तक परिगणित नहीं है। हो भी नहीं सकता था; क्योंकि यदि ऐसा होता तो बौद्ध और जैन इस शब्दका व्यवहार ही नहीं करते। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वरोपासना धर्मबाह्य या धर्मविरुद्ध है, पर वह धर्मका समानार्थक नहीं है। धर्मका अङ्ग भले ही हो, परंतु धर्मका सर्वस्व नहीं।

आजसे लगभग एक हजार वर्ष पहलेतक 'धर्म' शब्दका इस प्रकार व्यवहार करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई, परंतु जब यहाँ इस्लामके संदेशवाहक पहुँचे, तब अड़चन उत्पन्न हुई। वे लोग भी सत्य आदिका समर्थन करते थे, परंतु उनकी ओरसे जो उपदेश दिया जाता था, उसमें ईश्वरोपासनाका सबसे बड़ा स्थान था। कोई कितना भी अच्छा व्यक्ति क्यों न हो, परंतु यदि वह ईश्वरकी उपासनाको, और वह भी उस प्रकार जो इस्लामसे सम्मत है, प्रथम स्थान न दे तो वह प्रशंसाका पात्र नहीं हो सकता था। इसी दृष्टिकोणसे एक बार मौलाना मुहम्मद अलीने कहा था कि 'भले ही महात्माजीमें सब गुण हों, परंतु मैं किसी भी मुसलमानको उनसे ऊँचा समझूँगा।' अरबीमें धर्मका कोई यथार्थ पर्याय नहीं है। जब देशमें ईसाई आये, तब भी यही परिस्थिति उत्पन्न हुई। उनके सामने भी एक विशेष प्रकारसे ईश्वरकी उपासना करना सबसे महत्त्वकी चीज थी। ईसाईके पास भी धर्मके अर्थमें कोई शब्द नहीं था और हिंदूके पास मज़हब या रेलीजनके लिये कोई शब्द नहीं है। कभी-कभी इस अर्थमें 'सम्प्रदाय' शब्दका व्यवहार कर लिया जाता है, परंतु यह शब्द यथार्थ नहीं है। शिया और सुन्नी—ये मुसलमानोंके दो सम्प्रदाय हैं। रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैंट—दो पृथक् ईसाई सम्प्रदाय हैं। परंतु शिया और सुन्नीका मज़हब एक है, रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैंटका रेलीजन एक है। इस्लाम-धर्मके अनुयायियोंका देशमें कई सौ वर्षोंतक राज्य रहा। शासकका पक्ष बलवान् होता ही है। फलतः मुसलमानोंने धर्मके लिये अरबी या फारसीमें कोई पर्याय न ढूँढ़ा, न बनाया, शासित हिंदुओंको ही मज़हबके लिये शब्द ढूँढ़ना पड़ा और दुर्भाग्यसे उन्होंने 'धर्म' शब्दको ही इस कामके लिये चुना। इस्लाम मज़हबके जोड़में 'हिंदू-धर्म' ऐसा व्यवहार होने लगा। वही व्यवहार आज 'क्रिश्चियन रेलीजन' के युगमें भी होता चला आ रहा है। जहाँतक साधु-संतों और विद्वानोंकी बात है, 'धर्म' शब्दने अपना पुराना अर्थ खोया नहीं है। साधारण जनता भी इस शब्दके व्यापक अर्थसे पराङ्मुख नहीं हुई है। फिर भी कुछ-न-कुछ संकीर्णता तो आ ही गयी है।

स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके बाद इस शब्दपर अनर्थका पहाड़ टूट पड़ा। हमारे संविधानमें यह स्वीकार किया गया कि भारत सेक्युलर राज्य होगा और सेक्युलरके लिये दुर्भाग्यसे 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द चुना गया। अच्छा होता यदि अरबीका मज़हब शब्द अपना लिया गया होता। हिंदी जीवित भाषा है, उसने विदेशोंसे बहुत-से शब्द लिये हैं। वह मज़हबको भी पचा सकती थी। सेक्युलरके लिये मज़हब-निरपेक्ष कहना ठीक होता। अरबी और संस्कृतसे बना यह गंगाजमुनी शब्द ही विवक्षित अर्थको ठीक-ठीक व्यक्त कर सकता था। धर्मनिरपेक्ष कहनेसे अंधेर हो गया। अभीतक तो 'धर्म' शब्द अपने पुराने अर्थके साथ-साथ मज़हबके नये अर्थको ढोता जा रहा था। अब सरकारी व्यवहारमें आनेमें उसका पुराना अर्थ पीछे पड़ गया। सरकारी कागजोंमें, नेताओंके भाषणोंमें, समाचारपत्रोंमें—सर्वत्र धर्मको मज़हबके संकीर्ण अर्थमें प्रयुक्त किया जा रहा है और उसके व्यापक अर्थके लिये कोई दूसरा शब्द दीख नहीं पड़ता। यह कोई नहीं पूछता कि जब हम यह कहते हैं कि हम धर्मके प्रति निरपेक्ष हैं तो क्या हम उस सत्य और अहिंसाकी ओर निरपेक्ष हैं, जिसकी रट महात्माजी यावज्जीवन लगाते गये? क्या हम अलोभ, जीवदया, क्षमा-जैसे सद्गुणोंको अब सक्रियरूपसे प्रश्रय नहीं देना चाहते? यदि इनसे विमुख नहीं होना है तो इन सबके लिये सामूहिक रूपसे कौन-सा शब्द है?

निरपेक्षता उसी चीजकी ओरसे होती है, जो अनुपयुक्त समझी जाती है। धर्मनिरपेक्षताका नाम लेते-लेते चित्तपर यह भाव बैठता जाता है कि धर्म बुरी चीज है। नयी पीढ़ी यही शिक्षा ग्रहण कर रही है। मज़हबसे तो यह यों ही बहुत दूर है, 'धर्म' शब्द भी छूटता जाता है और धर्मका नाम लेना भी 'दकियानूसी खयाल'—प्रतिगामिताका प्रमाण माना जाता है। भारतीय संस्कृति ऐसे पर्यावरणमें पली थी, जिसको धार्मिकके सिवा किसी और शब्दसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते। धर्मकी ओरसे जो मनोभाव उत्पन्न किया जा रहा है, वह हमको उस संस्कृतिकी ओरसे भी हटाता

जा रहा है। मुझे उस समयकी एक घटना याद है, जब मैं उत्तरप्रदेशमें शिक्षामन्त्री था और मौलाना आजाद केन्द्रीय शिक्षामन्त्री थे। एक सज्जनने.....वे आज भी प्रतिष्ठाके पात्र हैं, अत: उनका नाम लेना उचित न होगा.....मौलाना साहबसे यह शिकायत की कि मैं स्कूलोंमें ऐसी पाठ्य-पुस्तकको प्रोत्साहन दे रहा हूँ, जिनमें मज़हबी बातें भरी हैं। उदाहरणके लिये यह लिखा गया था कि एक पुस्तकमें हरिश्चन्द्रकी कथा लिखी गयी है। मेरी समझमें हरिश्चन्द्रकी कथाको यदि इस प्रकार लिखा जाय कि उससे धार्मिक पुट दूर कर दिया जाय तो सारी कथा निर्जीव हो जायगी। मैंने मौलाना साहबको जो उत्तर दिया, उससे वह बात वहीं-की-वहीं समाप्त हो गयी, परंतु एक हिंदूनामधारी विद्वान्ने ऐसी आपत्ति उठायी थी, यही विचारणीय बात है।

इस बातपर हमको गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। मज़हब अच्छी चीज हो या बुरी, परंतु राज्यके लिये मज़हबके प्रति निरपेक्षताकी नीति कल्याणकारी है, किंतु इस प्रसंगमें 'धर्म' शब्दका व्यवहार करना भयानक है।

हम 'धर्म' शब्दके प्राचीन अर्थसे कितनी दूर चले गये हैं! कुछ दिनोंके बाद प्राचीन साहित्यका अर्थ समझना कठिन हो जायगा। उसमें पदे-पदे 'धर्म'-शब्द आया है, ऐसे प्रसंगोंमें इसका व्यवहार हुआ है, जहाँ पूजा-पाठकी कोई चर्चा नहीं है, केवल नैतिकता, नैतिक गुणोंकी प्रशंसा है। ऐसी बातें तो सार्वभौम होती हैं। परंतु इनका समर्थन करना भी बुरा हो गया, यह देखकर लोगोंको आश्चर्य होगा।

भारतको मज़हब और धर्मके सम्बन्धमें वही नीति अपनानी चाहिये, जो इस देशमें पहले भी मान्य थी। धर्मका आदर होना चाहिये। 'धर्म'-शब्दको सम्मान दिया जाना चाहिये। मज़हबको भी न तो बहिष्कारका विषय समझना चाहिये, न हँसीका। जीवनमें उसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। परंतु किसी मज़हब-विशेषके अनुयायियोंको राज्यकी दृष्टिमें ऊँचा या नीचा कोई स्थान-विशेष नहीं मिलना चाहिये। न तो किसी मज़हबवालेको शिक्षा या व्यापार या राजसेवामें कोई सुविधा दी जानी चाहिये न असुविधा। राज्यकी दृष्टिसे इससे अधिक निरपेक्षताकी आवश्यकता नहीं है और इसके लिये 'धर्म'-जैसे प्राचीन शब्दके अर्थको भ्रष्ट करनेकी आवश्यकता भी नहीं है।

अमृत-बिन्दु

मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने शरीरकी चिन्ता छोड़ता है, त्यों-त्यों उसके शरीरकी चिन्ता संसार करने लगता है।

× × ×

घरवालोंकी सेवा करनेसे मोह होता ही नहीं। मोह होता है कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छासे।

× × ×

भगवान्‌की तरफ खिंचावका नाम भक्ति है। भक्ति कभी पूर्ण नहीं होती, प्रत्युत उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

× × ×

भगवान्‌के प्रेमके लिये उनमें अपनापनकी जरूरत है और उनके दर्शनके लिये उत्कट अभिलाषाकी जरूरत है।

× × ×

जब हम सबकी बात नहीं मानते, तो फिर दूसरा कोई हमारी बात न माने तो हमें नाराज नहीं होना चाहिये।

× × ×

जो हमसे कुछ भी चाहते हैं, वे हमारे गुरु कैसे हो सकते हैं?

× × ×

धनके रहते हुए तो मनुष्य संत बन सकता है, पर धनकी लालसा रहते हुए मनुष्य संत नहीं बन सकता।

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

माता-पिता एवं बड़ोंके चरणस्पर्शका प्रभाव

बात ३ दिसम्बर १९८४ की है। मेरी छोटी बहनकी शादीकी तिथि निश्चित हो चुकी थी। मेरी सामान्य-सी नौकरी थी, अत: रुपयोंकी जटिल समस्या थी। ऐसेमें मैं भला बहनके विवाहका बोझ कैसे उठाता, चिन्ताके मारे मेरा बुरा हाल था। बिना रुपयोंके शादी कैसे होगी यह सोच-सोचकर मैं तथा मेरे माता-पिता अत्यन्त चिन्तित थे। ३ दिसम्बरकी रात्रिको मैंने शादीके खर्चका एक कच्चा बजट बनाया तो मालूम हुआ कि हमलोगोंद्वारा किसी तरह पेट काटकर जमा किये गये रुपयोंसे बजटकी राशि बहुत अधिक है। इससे भारी घबराहट तथा बेचैनी महसूस हुई। किसीके आगे हाथ पसारनेमें भी कठिनता थी, फिर मुझे इतनी बड़ी रकम देता भी कौन?

उस दिन रात्रिके १२ बजे होंगे, मेरी नींद तो नदारद हो ही चुकी थी, मैं चिन्तामें निमग्न था और सोच रहा था कि परमात्माके सिवाय और कोई आश्रय नहीं है। भगवान् भले ही मेरी इस नैयाको पार लगायें। इस प्रकार सोचते-सोचते किंकर्तव्यविमूढावस्थामें ही मेरी आँखें कब लग गयीं, मैं जान नहीं पाया, सहसा मैंने स्वप्नमें देखा कि जब मैं प्रभुके सामने झोली फैलाकर रो रहा था, तभी एक चमत्कारिक घटना घटी। मेरे कानोंमें आवाज आयी कि 'अरे! लक्ष्मी तो तुम्हारे पासमें ही है, तुम कहाँ भटक रहे हो?'

मैंने पूछा—'प्रभो! मेरे पास तो लक्ष्मी है नहीं।' पुन: आवाज आयी 'देखो! चिन्ता न करो, तुम्हारे माता-पिता ही अखण्ड ऐश्वर्यके निधान हैं, उन्हींको प्रणाम किया करो, उनकी सेवा करो, तुम्हारे सभी काम सफल होंगे।' इतनी बात हो ही रही थी कि अचानक मैं चौंककर जाग बैठा। स्वप्नकी बातें मुझे याद थीं।

अगले दिनसे ही प्रात:काल उठकर मैंने माता-पिता एवं बड़ोंको प्रणाम करनेका नियम ले लिया और उन सभीका आशीर्वाद ही मेरे लिये अमोघ फलदायी हो गया। उसी आशीर्वादके प्रभावसे नियत तिथिपर मेरी बहनकी शादी आनन्दसे सम्पन्न हो गयी। मैं पैसेके लिये बहुत चिन्तित था, किंतु माता-पिताके आशीर्वादसे बहनकी शादीके पहले शकुनमें ही इतने अधिक पैसे आ गये कि विवाहका सारा खर्च उसीसे चल गया और दूसरे दिन जब मैंने खर्चका हिसाब लगाया तो मेरे पास ५०० रुपये शेष बच भी गये थे। प्रणाम करनेका यह फल देखकर तो मैं दंग ही रह गया। पहले तो भगवान्‌ने मुझे ऐसी सद्बुद्धि प्रदान की कि माता-पिता तथा बड़ोंको प्रणाम करनेका महत्त्व बता दिया तथा फिर मुझसे विश्वासपूर्वक उस आचरणमें श्रद्धा भी करा दी। यह भगवान्‌की असीम कृपा नहीं तो और क्या है! ऐसे ही सब लोग यदि अपने माता-पिताकी तथा अपनेसे बड़े लोगोंके प्रति आदर-बुद्धि रखकर उनकी सेवा-पूजा करें तो निश्चित ही सबका परम कल्याण हो सकता है।

—ओमप्रकाश डाटा

(२)

षोडश नाम-महामन्त्रका प्रभाव

आजसे कुछ वर्षों पूर्वकी बात है, मैं एक विद्यालयमें प्रधानाध्यापकपदपर कार्यरत था। जिसके संचालन-हेतु धनकी आवश्यकता थी। दैवयोग ही कहिये उसकी पूर्तिके लिये मैं असत्-मार्गका भी आश्रय ले बैठा। फलत: पैसेके लालचमें गलत कार्य करनेमें जरा भी संकोच मुझे नहीं होता था, एक सत्यको छिपानेके लिये सौ असत्य बोलना पड़ता था। यद्यपि धन संग्रह करनेमें मुझे काफी परिश्रम करना पड़ता था, तथापि मिथ्याचारका सहारा लेकर पैदा किये हुए धनके उपयोगसे मेरी बुद्धि अज्ञानाच्छादित रहने लगी और धीरे-धीरे दु:संगके कारण धूम्रपान तथा मद्यपानकी भी प्रवृत्ति हो गयी। फिर मैंने विद्यालय छोड़ दिया। पुन: कुछ दिन बाद उसी विद्यालयमें एक वर्षतक काम किया। उसी अन्तरालमें संयोगवश एक सज्जनसे मुलाकात हुई जो 'कल्याण'-पत्रिका मँगाया करते थे। वे मेरे साथ अध्यापन करते थे, अत: 'कल्याण'-पत्रिका पढ़ने-हेतु मैं भी ले लिया करता था और उनके साथ कुछ भगवच्चर्चा भी होने लगी। यद्यपि 'कल्याण'-पत्रिका पहले भी कभी-कभी पढ़नेको मिलती थी, किंतु तबतक उसमें कोई रुचि न थी। परंतु अब तो कुछ भगवान्‌की कृपा और सत्संगका ऐसा प्रभाव हुआ कि 'कल्याण' पढ़े बिना चैन ही न पड़ता था। 'कल्याण'का एक अङ्क मैंने देखा जिसमें षोडश नाम-महामन्त्र *'हरे राम हरे राम०'* के जपके लिये निवेदन किया गया था, उसे पढ़कर मैंने इस षोडश नाम-महामन्त्रके जपका संकल्प लिया और मैं घरसे विद्यालय जाते समय साइकिल चलाते-चलाते १०८ बार जप करने लगा। धीरे-

धीरे इसमें मेरी रुचि और श्रद्धा बढ़ने लगी।

भगवत्प्रेरणासे अगरबत्ती आदि लगाकर अब आसनपर बैठकर पूजा करने लगा तथा षोडश नाम-महामन्त्रका जप भी करने लगा और अपने अंदर उत्पन्न सभी दोषों-दुर्गुणोंको दूर करनेका प्रयास करने लगा। मुझे यह स्पष्ट अनुभूति होने लगी कि महामन्त्रके जपसे मेरे दुर्गुण और दोष समाप्त हो रहे हैं। यह षोडश नाम-महामन्त्र-जपका प्रत्यक्ष लाभ और प्रभाव है कि एक गाड़ी जो पटरीसे उतर चुकी थी, उसे भगवन्नाम-जपने उठाकर पुनः पटरीपर रखकर सत्-मार्गके लिये प्रेरित कर दिया।

धन्य है षोडश नाम-महामन्त्र!

—श्रीराम

(३)

को नहिं जानत है जग में कपि संकटमोचन नाम तिहारो

सन् १९७९-८० की बात है। मेरे पिताजी प्राइमरी स्कूलमें अध्यापक थे। एक दिन रविवारको वे घरके पास ही बगीचेमें काम कर रहे थे कि अचानक उनके पेटमें भयंकर दर्द हुआ। दर्दके मारे उन्होंने जोरसे चीख मारी और वे वहीं बेहोश हो गिर पड़े।

पंद्रह-बीस मिनट बाद जब उन्हें होश आया तो पेटका दर्द तो कुछ ठीक हो गया था, पर उनकी जबान (आवाज) बंद हो गयी। यह देखकर सब हक्का-बक्का रह गये। पिताजी लिखकर और इशारेसे अपनी बात समझाने लगे। पिताजीकी यह दशा देख सारा परिवार अजीब उलझनमें फँस गया। समझमें नहीं आ रहा था कि करें तो क्या करें। जिसने भी यह खबर सुनी, वही हमारे घरकी ओर आने लगा। देर राततक आने-जानेवालोंका ताँता लगा रहा। हम सभी भगवान्से प्रार्थना करने लगे कि हे भगवान्, हमारे पिताजीकी जबान वापस लौटा दो। अन्तमें हमारे फूफाजीने माताजीसे कहा कि रुपयोंका इंतजाम करना चाहिये, हो सकता है इनका ऑपरेशन करवाना पड़े। ऑपरेशनका नाम सुनकर हमारे पैरोंकी जमीन खिसक गयी। मेरी माताजी जो शुरूसे ही धार्मिक विचारकी हैं, उन्होंने जान-बूझकर फूफाजीसे कहा कि हाँ-हाँ रुपयोंका इंतजाम है, जबकि उनके पास उस समय एक सौसे ज्यादा रुपये नहीं थे।

जब सभी लोग चले गये, तब मेरी माताजीने हमलोगोंसे कहा कि तुमलोग चिन्ता न करो, सो जाओ और मैं श्रीहनुमान्जीकी आराधना करूँगी। इसके बाद मेरी माताजी एक कटोरीमें गङ्गाजल लेकर पिताजीके पास बैठ गयीं और हनुमान्जीके संकटमोचनका पाठ करने लगीं। वे हर पाठके बाद एक चम्मच गङ्गा-जल पिताजीको पिलाती रहीं। ग्यारह पाठ करनेके बाद जब बारहवाँ पाठ कर रही थीं तो उनके कानोंमें राम-रामके शब्द सुनायी दिये, पर जब उन्होंने ध्यानपूर्वक सुना तो पिताजी धीरे-धीरे राम-राम बोल रहे थे। इस प्रकार बारहवाँ पाठ पूरा होनेतक पिताजी जोर-जोरसे राम-राम बोलने लगे। पिताजीकी जोर-जोरसे बोली सुनकर हम सब भी उठ गये और हम सभीकी आँखोंसे खुशीके आँसू टपकने लगे। हम सभीने बार-बार श्रीहनुमान्जीको प्रणाम किया, जिनकी कृपासे पिताजीकी जबान वापस आयी, सच है—***'को नहिं जानत है जग में कपि संकटमोचन नाम तिहारो।'***

—अम्बिका गुप्ता

(४)

गोमूत्र एक चमत्कारिक औषधि

यह घटना आजसे लगभग २० वर्ष पूर्वकी है, जब मैं छतरपुर (म० प्र०)-में नौकरीमें था। मेरा छोटा भाई, जिसकी आयु उस समय लगभग ३८ वर्षकी थी, शिकोहाबादमें एडवोकेट था। वह अम्लपित्त (एसीडिटी) रोगसे पीड़ित था। जो भी भोजन करता, खट्टा पानी बन जाता था, जो पेटमें बुरी तरहसे जलन पैदा करता था, पेटमें पीड़ा भी बनी रहती थी। यहाँतक कि खट्टा पानी मुँहमें भी आ जाता था। कभी-कभी तो इस पीड़ा और जलनको कम करनेके लिये दिनमें दो-तीन बार उल्टियाँ भी करनी पड़ती थीं। खाना वह भरपेट खा नहीं सकता था, शरीर कृश हो गया था। कई उपचार करानेपर भी उसकी बीमारी ठीक नहीं हो पा रही थी। अब वह अपने जीवनसे निराश हो गया था। परिवारके सभी लोग उसके स्वास्थ्यको लेकर काफी चिन्तित थे।

इसी बीच दैवयोगसे मेरी मुलाकात एक महात्माजीसे हुई जो लोगोंको उनके रोगोंका सस्ता, सुन्दर और टिकाऊ देशी उपचार बता दिया करते थे। मैंने भी एक दिन उनसे अपने छोटे भाईकी बीमारी एवं विभिन्न प्रकारके उपचारोंके बारेमें सविस्तार बताया। तो उन्होंने कहा कि रोग भी जड़से चला जायगा और पैसा भी एक खर्च नहीं होगा—लेकिन दवाका प्रयोग तुम कर सकोगे कि नहीं, यह संदेह है, क्योंकि बिना पैसेकी दवाके प्रति न तो आज श्रद्धा है और न विश्वास। डॉक्टरकी लम्बी-चौड़ी फीस और महँगी-से-महँगी दवा और इन्जेक्शनको ही लोग आज इलाज समझते हैं। इसपर मैंने आश्वासन दिया और कहा—'महाराज! आप जो बतायेंगे वह अवश्य करेंगे।' इसपर उन्होंने बताया कि 'प्रातःकाल उठते ही गायका जो प्रथम मूत्र हो, उसे एक गिलास या कटोरेमें

एकत्र कर लो और एक-दो घूँटसे प्रारम्भकर धीरे-धीरे पाँच-छः घूँटतक बढ़ा लो। १०-१५ दिनके प्रयोगसे ही लाभ प्रतीत होने लगेगा। बस श्रद्धा-विश्वाससे यह प्रयोग करते जाओ, बीमारी माह-दो-माहके प्रयोगसे जड़से कट जायगी। हाँ, यह ध्यान रखना कि गोमूत्र-सेवनके प्रारम्भिक दिनोंमें शौचके लिये २-३ बारतक जाना पड़ सकता है तो घबरानेकी जरूरत नहीं है, न कोई दूसरी दवा लेनेकी। २-४ दिनमें सब सामान्य हो जायगा।

जैसा महात्माजीने बताया था वह सब मैंने पत्रद्वारा लिखकर अपने छोटे भाईको सूचित कर दिया, परंतु एक तो शहरमें पास-पड़ोसमें कोई गाय पालनेवाला नहीं था, दूसरे प्रतिदिन किसीके यहाँ जाकर गायका पहला—प्रथम मूत्र भी प्राप्त करना कठिन था, इसलिये मेरे भाईने सबसे पहले एक गाय खरीद ली और बड़े चावसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए प्रतिदिन बतायी गयी विधिके अनुसार गोमूत्रका सेवन करने लगा।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि लगभग दो माहके अनवरत प्रयोगसे ही उसका तीन-चार साल पुराना रोग जड़से चला गया और उसका स्वास्थ्य बीमारीके पूर्वकी अवस्थासे भी कहीं अधिक सुन्दर हो गया। साथ ही आज २० वर्ष हो गये हैं, उसे कभी यह रोग नहीं हुआ।

[प्रेषक—बी०के० श्रीवास्तव]

(५)

विश्वासकी जीत

घटना मई १९९१ की है। हमारे यहाँ भुजियाका कारोबार होता था। घरके पिछवाड़े खाली जगहमें भुजियाकी भट्ठी लगायी हुई थी। गर्मीका मौसम था, घटनावाले दिन भुजिया बनानेकी बात थी, इस कारण मेरे पिताजी सूर्योदयसे पूर्व ही जाग गये थे। नित्यकर्मसे छुटकारा पाकर और भगवान्‌की पूजा-अर्चना करके वे कारखानेमें चले गये तथा भुजिया बनानेवाले कारीगरकी प्रतीक्षा करने लगे। जब समय अधिक हो गया और कारीगर नहीं आया तो पिताजीने सोचा कि जबतक भुजिया बनानेवाला आ नहीं जाता, तबतक मैं क्यों न तेल गर्म कर दूँ—ऐसा सोचकर उन्होंने भट्ठीको चालू कर दिया और कड़ाहीमें तेल उड़ेल दिया। तेल एकदम गरम हो चुका था, अतः पिताजीने तेलको पीपोंमें डालना उचित समझा। सोच-विचारकर उन्होंने चालू भट्ठीमें ही कड़ाहीमेंसे गर्म तेल निकालकर पीपोंमें डालना शुरू किया। अन्तमें जब कड़ाहीमें केवल एक डोलकी अर्थात् करीब-करीब एक-डेढ़ किलोग्राम तेल रह गया, तब अकस्मात् पिताजीका ध्यान दूसरी तरफ चला गया। इतनेमें ही कड़ाहीमें पड़ा थोड़ा-सा तेल एकदम गर्म हो उठा और धीरे-धीरे कड़ाहीमेंसे आगकी लपटें निकलने लगीं—यह सब देखकर मेरे पिताजी चिन्तित हो उठे और दौड़ते हुए घरके अंदर आये तथा शीघ्रतामें सारी बातें मुझे बतायीं, सुनकर मैं भी चिन्तित हो उठा। तत्काल ही मैं भी अपने पिताजीके साथ कारखानेमें गया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि आगकी लपटोंने भयानक रूप धारण कर लिया है, मेरे मनमें विचार आया कि अगर इन्हें अभी ही न रोका गया तो बहुत बड़ा हादसा घट सकता है—यह सोचकर मैं जल्दी ही वापिस घरके अंदर आया और पानीसे भरी एक बड़ी मटकी उठाकर वापिस पिछवाड़े गया, तबतक पिताजीने हिम्मत करके भट्ठीके मेन-स्विचको तो बंद कर दिया था, परंतु आगकी लपटोंने तो भयावह स्थिति धारण कर ली थी। मैंने अपने साथ लाये पानीके मटकेको पूरे जोरसे कड़ाहीपर उड़ेल दिया—कुछ समयके लिये तो आग एकदम बुझ गयी, परंतु जैसे ही कड़ाहीपर पानी पड़ा, गर्म तेल छिटककर मेरे पिताजीपर आ गया। गर्म तेलके छींटोंसे पिताजी बुरी तरह पीड़ित हो गये और बेहोश भी हो गये। स्थिति पहलेसे भी भयावह हो गयी, क्योंकि कारखानेके पूरे फर्शपर गर्म तेल बिखरा हुआ था और दूसरी तरफ मेरे पिताजीकी चिन्ताजनक हालत। संकटकी इस घड़ीमें मैं तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। मैंने मन-ही-मन संकटमोचन हनुमान्‌जीको याद किया; क्योंकि उस समय विपत्ति हरनेवाले हनुमान्‌जी ही मेरे सहायक थे और फिर हिम्मत जुटाकर मैं अपने पिताजीको वैसी घायल-अवस्थामें कारखानेसे बाहर निकाल ले आया। उस समय घरमें मेरी बड़ी बहिन मौजूद थी। पर हमें समझमें नहीं आ रहा था कि अब क्या करें। फिर भी मनमें थोड़ी-सी आशा थी कि बजरंगबली हमें अवश्य इस संकटसे उबारेंगे। यह विश्वास भी था कि सच्चे मनसे की जानेवाली प्रार्थना भगवान् जल्दी सुन लेते हैं। अन्तमें मेरे विश्वासकी ही जीत उस समय हुई। कुछ ही समय पश्चात् पिताजीको धीरे-धीरे होश आ गया। मेरी आँखोंमें, मन-ही-मन भगवान्‌की यह विचित्र लीला देख मारे खुशीके आँसू बहने लगे। मेरे पिताजी करीब डेढ़-दो-मासमें पूर्ण स्वस्थ हो गये, उनके सारे घाव भी ठीक हो गये। यह सब भगवान्‌की ही कृपा है।

हे संकटमोचन! आपकी जय हो!

—विमलकुमार सारड़ा

मनन करने योग्य

प्रत्येक स्थितिमें धर्मका ही आचरण

तस्माद्धर्मः सदा कार्यो मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।

(वृ० गौतमस्मृति २। ३३)

शाकल्य नामके एक ब्राह्मण थे। वे गौतमीके तटपर बड़ी निष्ठासे तप कर रहे थे। सभी प्राणी उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते थे, किंतु पासके पर्वतपर एक परशु नामका राक्षस रहता था। जो यज्ञसे बड़ा द्वेष रखता था और ब्राह्मणोंको मारकर खा जाता था। उसमें यह शक्ति थी कि चाहे जैसा भी रूप धर ले। परशु प्रतिदिन शाकल्यके पास उनको मारनेके लिये आता था, किंतु उनके तेजसे प्रतिहत होकर उन्हें मार नहीं पाता था।

जब परशुने देखा कि मैं किसी भी तरह शाकल्यको मार न सकूँगा तो उनको मारनेके लिये उसने एक षड्यन्त्र रचा। एक दिन वह राक्षस जर्जर बूढ़ा ब्राह्मण बनकर और अपने साथ एक कन्याको लेकर शाकल्यके पास पहुँचा। अतिथि-सत्कार करनेका वह समय था। वृद्ध ब्राह्मणने कहा—'मैं और यह कन्या दोनों भूखसे परेशान हैं। हमें आप भोजन दें।'

शाकल्यने देखा कि ठीक अवसरपर दो ब्राह्मण अतिथि-रूपमें आ गये हैं, इसलिये इन्हें भोजन कराना मेरा कर्तव्य है, अतः उन्होंने उन्हें भोजन कराना सहर्ष स्वीकार कर लिया। दोनोंको आसनपर बैठाकर उनकी पूजा की और श्रद्धाके साथ उनके आगे भोजन परस दिया। ब्राह्मण-रूप-धारी परशुने आचमनका जल हाथमें लेकर कहा—'मैं अभ्यागत हूँ आपसे कुछ और चाहता हूँ, यदि वह चाह आप पूरी कर दें तो मैं भोजन करूँगा। अन्यथा भोजन नहीं करूँगा।' महात्मा शाकल्यने कहा—'आपकी चाह मैं अवश्य पूरी करूँगा, आप भोजन ग्रहण करें।' अब परशु खुलकर सामने आ गया। उसने कहा—'मुने! न तो मैं वृद्ध ब्राह्मण हूँ और न मेरे पास कोई कन्या है। मैं परशु नामका राक्षस हूँ। बहुत दिनोंसे मैं तुझे खाना चाह रहा था लेकिन खा नहीं पा रहा था। अब तुम मुझे अपने-आपको दे दो; क्योंकि तुम प्रतिज्ञा कर चुके हो।' शाकल्यने शान्तिसे कहा—'ठीक है परशु! मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अतः तुम मुझे खाओ। धर्मकी रक्षाके लिये प्राण देना तो बहुत ही उत्तम है।' इतना सुनते ही अपना विकराल रूप धारणकर राक्षस शाकल्यको खानेके लिये उनके समीप पहुँचा। किंतु यह क्या, राक्षसको ब्राह्मणके रूपमें साक्षात् धर्म-देवता शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णुके रूपमें दिखायी दिये।

उस रूपको देखते ही राक्षसकी घिग्घी बँध गयी, वह रोकर अपनी सद्गति चाहने लगा।

धार्मिक तो उदार होते ही हैं। वे सबका हित ही करते हैं। अपकारीके प्रति उपकार करना ऊँचा धर्म माना जाता है। ब्राह्मणको उस राक्षसपर दया आ गयी, उन्होंने उसे भगवान्‌की स्तुति करनेका उपदेश दिया। उस प्रार्थनासे राक्षसका उद्धार हो गया।

इस प्रकार संकटमें भी अपने धर्मका परित्याग न करनेके कारण उसी धर्मरूप देवताने ब्राह्मणकी रक्षा की। अतः सदा धर्मका ही आचरण करना चाहिये। (ब्रह्मपुराण)

गीता-सार

अध्याय

१-सांसारिक मोहके कारण ही मनुष्य मैं क्या करूँ और क्या नहीं करूँ—इस दुविधामें फँसकर कर्तव्यच्युत हो जाता है। अत: मोह या सुखासक्तिके वशीभूत नहीं होना चाहिये।

२-शरीर नाशवान् है और उसे जाननेवाला शरीरी अविनाशी है—इस विवेकको महत्त्व देना और अपने कर्तव्यका पालन करना—इन दोनोंमेंसे किसी भी एक उपायको काममें लानेसे चिन्ता-शोक मिट जाते हैं।

३-निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करनेमात्रसे कल्याण हो जाता है।

४-कर्मबन्धनसे छूटनेके दो उपाय हैं—कर्मोंके तत्त्वको जानकर नि:स्वार्थभावसे कर्म करना और तत्त्वज्ञानका अनुभव करना।

५-मनुष्यको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके आनेपर सुखी-दु:खी नहीं होना चाहिये; क्योंकि इनसे सुखी-दु:खी होनेवाला मनुष्य संसारसे ऊँचा उठकर परम आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता।

६-किसी भी साधनसे अन्त:करणमें समता आनी चाहिये। समता आये बिना मनुष्य सर्वथा निर्विकल्प नहीं हो सकता।

७-'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा स्वीकार कर लेना सर्वश्रेष्ठ साधन है।

८-अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार ही जीवकी गति होती है। अत: मनुष्यको हरदम भगवान्का स्मरण करते हुए अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। जिससे अन्तकालमें भगवान्की स्मृति बनी रहे।

९-सभी मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, देश, वेश आदिके क्यों न हों।

अध्याय

१०-संसारमें जहाँ भी विलक्षणता, विशेषता, सुन्दरता, महत्ता, विद्वत्ता, बलवत्ता आदि दीखे, उसको भगवान्का ही मानकर भगवान्का ही चिन्तन करना चाहिये।

११-इस जगत्को भगवान्का ही स्वरूप मानकर प्रत्येक मनुष्य भगवान्के विराट् रूपका दर्शन कर सकता है।

१२-जो भक्त शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित अपने-आपको भगवान्के अर्पण कर देता है, वह भगवान्को प्रिय होता है।

१३-संसारमें एक परमात्मतत्त्व ही जानने योग्य है। उसको जाननेपर अमरताकी प्राप्ति हो जाती है।

१४-संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे अतीत होना जरूरी है। अनन्यभक्तिसे मनुष्य इन तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है।

१५-'इस संसारका मूल आधार और अत्यन्त श्रेष्ठ परमपुरुष एक परमात्मा ही है'—ऐसा मानकर अनन्यभावसे उनका भजन करना चाहिये।

१६-दुर्गुण-दुराचारोंसे ही मनुष्य चौरासी लाख योनियों एवं नरकोंमें जाता है और दु:ख पाता है। अ[illegible] जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करना आवश्यक है।

१७-मनुष्य श्रद्धापूर्वक जो भी शुभ कार्य करे, उसको भगवान्का स्मरण करके, उनके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ करना चाहिये।

१८-सब ग्रन्थोंका सार वेद हैं, वेदोंका सार उपनिषद् हैं, उपनिषदोंका सार गीता है और गीताका सार भगवान्की शरणागति है। जो अनन्यभावसे भगवान्की शरण हो जाता है, उसे भगवान् सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देते हैं।

('साधक-संजीवनी'के अनुसार)

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

वर्ष ७०

संख्या ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, वि० सं० २०५३, श्रीकृष्ण-सं० ५२२२, मई १९९६ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

वर्ष ७० | गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, वि० सं० २०५३, श्रीकृष्ण-सं० ५२२२, मई १९९६ ई० | संख्या ५ | पूर्ण संख्या ८३४

भगवान् नृसिंहकी प्रह्लादसे क्षमा-प्रार्थना

कहाँ वयस सुकुमार वत्स! तव कहाँ अहो, यह मृदुल शरीर।
और कहाँ उन्मत्त दैत्यकृत यह दारुण यातना गभीर॥
देखी अद्भुत बात, पितासे पीड़ित पुत्र बिना अवलंब।
क्षमा करो हे वत्स! मुझे आनेमें यदि हो गया विलंब॥
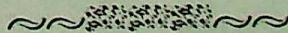
कल्याण

याद रखो—इस लोकमें सुख-सुविधा रहे, जीवन कष्टमय न रहे, सदाचार तथा सद्व्यवहार जीवनके स्वभावगत हो जायँ और मानव-जीवनके परम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति हो जाय—इसलिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चार पुरुषार्थ माने गये हैं। इन चारोंमें मोक्ष लक्ष्य है। मोक्षके लिये ही धर्मसंगत, धर्मानुमोदित अर्थ-कामका सेवन करना है।

याद रखो—अर्थकी सार्थकता इसीमें है कि उसके द्वारा धर्म-साधन हो, अभावग्रस्तोंके अभावकी पूर्ति हो तथा लोककी सच्ची सेवामें उसका उपयोग हो। नहीं तो, अर्थ सर्वथा अनर्थरूप है। अर्थ यदि भोगवासनाकी तृप्तिमें लगता है तो वासना, अतृप्ति और पाप बढ़ते हैं। अर्थ यदि किसीके अहितमें लगता है तो वैर, हिंसा, दुःख तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है। अर्थका यदि सावधानीके साथ उचित रूपमें सदुपयोग न हो तो उससे चोरी, हिंसा, असत्य, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, स्त्री, जुआ तथा शराबका व्यसन—ये पंद्रह अनर्थ उत्पन्न होते हैं। प्रेम तथा स्नेह-सेवाके पात्र सम्बन्धियोंमें शत्रुता हो जाती है। अर्थके साथ भय तो लगा ही रहता है। चिन्ता तो अर्थकी नित्य संगिनी है—उपार्जनमें, रक्षणमें, बढ़ानेकी इच्छामें, व्यवहारमें तथा नाशमें—चिन्ता रहती है। चिन्ताके साथ ही त्रास, परिश्रम और भ्रम भी लगे रहते हैं। अतएव अर्थको अनर्थरूप समझकर उसके संग्रहकी इच्छा न करो, जीवन-निर्वाहके लिये सुख तथा धर्मपूर्वक उपार्जन करो और उसका सद्व्यय करो।

याद रखो—अर्थकी भाँति ही काम भी इन्द्रियतृप्तिके लिये नहीं है। वह भी जीवन-निर्वाह तथा मानव-जीवनके लिये आवश्यक कर्तव्योंकी पूर्तिके लिये ही है। धर्मके द्वारा नियन्त्रित अर्थ ही जैसे उपयोगी होता है, वैसे ही काम भी वही उपयोगी होता है, जो धर्मके द्वारा नियन्त्रित हो, धर्मरूप हो और जिसका लक्ष्य मोक्ष हो।

याद रखो—धर्मका भी लक्ष्य मोक्ष है। यही धर्मका सच्चा फल है। जिस धर्मसे केवल अर्थ-काम-भोगकी प्राप्ति होती है, वह तो व्यर्थ है; क्योंकि उससे अनित्य तथा दुःखमूलक पदार्थोंकी ही प्राप्ति होती है। वास्तवमें जितने भी भोग हैं, सब दुःखरूप तथा दुःखकी उत्पत्ति करानेवाले हैं। अतएव उसी धर्मका सेवन करो, जो विषयभोगोंमें वैराग्य उत्पन्न करा दे और मोक्षकी प्राप्तिमें परम सहायक हो।

याद रखो—जिससे अतृप्ति तथा तृष्णा बढ़ती हो, जिससे दिन-रात अशान्तिकी अग्निमें जलना पड़ता हो, जिससे नये-नये बन्धन होते हों, जिससे नये-नये दुःख-क्लेशोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धि होती हो, जिससे भगवद्-विमुखता होती हो और पापकर्मोंमें प्रवृत्ति बढ़ती हो—वह त्रिवर्ग—(अर्थ, धर्म, काम) किस कामका ?

याद रखो—मोक्ष-विरोधी जो कुछ भी है, सभी त्याज्य तथा हेय है। अतएव धर्मविरुद्ध तथा वासना बढ़ानेवाले अर्थ एवं काममें तो रुचि रखनी ही नहीं चाहिये। ऐसे धर्मके लिये भी बहुत प्रयत्नशील नहीं होना चाहिये, जिससे केवल सम्पत्ति, भोग, सुन्दर शरीर, लौकिकी विद्या, लोककीर्ति और लंबी आयु मिलती हो; क्योंकि मोक्षविरोधिनी होनेपर ये सभी वस्तुएँ दुःख तथा बन्धन करनेवाली होती हैं और अनित्य तथा अपूर्ण होनेसे सदा ही चिन्ता तथा भयसे ग्रस्त रखती हैं।

याद रखो—मानव-जीवन अर्थ-कामोपभोगके लिये है ही नहीं। जहाँ जीवनमें केवल अर्थ और कामोपभोगकी लिप्सा जग जाती है, वहाँ धर्म नहीं रहता। इससे जीवन अधर्ममय, पापमय बन जाता है और पापका फल दुःख, बन्धन तथा नरकयन्त्रणा है ही। किसी भी युक्ति, मत, बहुमतसे या अस्वीकार करनेसे जीव इस फल-भोगसे कभी बच नहीं सकता। बाध्य होकर उसे अपने दुष्कर्मका फल भोगना ही पड़ता है। मानव-जीवनका साध्य तो भगवत्प्राप्ति या मोक्ष ही है और जो इस साध्यकी प्राप्तिमें सहायक साधन हो, वही धर्म है और जो इस धर्ममें सहायक साधन-रूप है, वही पुरुषार्थमें गण्य अर्थ और काम है। इसी दृष्टि तथा इसी निश्चयसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस चतुर्विध पुरुषार्थका सम्पादन-सेवन करो।—**'शिव'**

शास्त्रपरतन्त्रता ही स्वतन्त्रताकी जननी

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

जीवमात्रको स्वतन्त्रता परम प्रिय है। यह सर्वथा प्रत्यक्ष है, तथापि यदि वह अपनी स्वाभाविक इच्छाके अनुसार ही उसका उपयोग करने लगे तो यह निश्चित है कि वह ऐसे पराधीनता-पंकमें फँस जायगा जिससे पिण्ड छुड़ाना सर्वथा असम्भव हो जायगा। अत: सर्वत: स्वतन्त्र होते हुए भी उसे ईश्वरीय आज्ञाभूत शास्त्रोंके तो परतन्त्र ही रहना चाहिये।

कहते हैं कि भीष्म अपने पिता शान्तनुको पिण्डदान कर रहे थे। जब उन्होंने पिण्ड हाथमें लिया और पिण्ड देनेके लिये निर्मित वेदीपर देना ही चाहते थे कि वेदीके पास ही उनके पिताके हाथ प्रत्यक्ष दिखायी पड़े और शब्द हुआ—'पुत्र! पिण्ड वेदीपर न देकर मेरे हाथपर ही दे दो।' भीष्म बड़े ही संशयमें पड़ गये कि अब क्या करना चाहिये। पिताके आज्ञानुसार पिण्ड पिताके हाथमे दूँ या वेदीपर ? संदेह-निवृत्ति-हेतु जब उन्होंने श्राद्ध-पुरोहितसे पूछा तो पुरोहितने कहा—'शास्त्रकी आज्ञा पिण्डको वेदीपर देनेकी है।' तो भीष्मने प्रार्थना करते हुए अपने पितासे कहा—'पिताजी। मैंने तो अपनेको सर्वथा शास्त्रके अधीन कर रखा है, अत: आप मुझे क्षमा करें और वेदीपर दिये हुए पिण्डको ही ग्रहण करें।' भीष्मकी इतनी शास्त्रपरतन्त्रता देखकर उनके पिताने उन्हें आशीर्वाद दिया कि 'पुत्र! तुम्हारी इस शास्त्रपरतन्त्रताने मृत्युसे भी तुम्हें स्वतन्त्र कर दिया और जब तुम्हारी इच्छा होगी तभी तुम मृत्युको प्राप्त करोगे। सर्वत:-स्वतन्त्र मृत्यु तुम्हारे पराधीन होगी।' यह है शास्त्रकी पराधीनताका विलक्षण महत्त्व।

अत: मानवमात्रका हित शास्त्रके आज्ञा-पालनमें ही है। वस्तुत: मानवोंके हेतु ही शास्त्रोंका आविर्भाव है। अत: मानवोंका ही शास्त्रमें अधिकार है पशु आदिका नहीं।

एतद्वै शास्त्रं मनुष्यानधिकरोति न तु पशून्।

शास्त्रका लक्षण है—जिन नित्य अर्थात् वेद एवं कृतक यानी निबन्ध-ग्रन्थोंद्वारा पुरुषोंको प्रवृत्ति अर्थात् विधि एवं निवृत्ति अर्थात् निषेधका उपदेश किया जाता है, उन्हें शास्त्र कहते हैं। प्राणीमात्र-हेतु हितोपदेश करना ही शास्त्रोंकी शास्त्रता है।

'हितशासनाच्छास्त्रस्य शास्त्रत्वम्।'

व्यासने कहा—मैं दोनों हाथोंको उठाकर कहता हूँ कि हे मानवो! धर्मसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है। उस धर्मका अनुष्ठान क्यों नहीं करते?

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

महात्मा तुलसीदासजीने भी कहा है—

तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥

अर्थात् सर्वविध कल्याणका मूल धर्म है। उसका ज्ञान एकमात्र शास्त्रसे ही होता है। अत: याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा है—

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता:।
वेदा: स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा छ: अङ्गोंसे युक्त चारों वेद—ये चौदह विद्याएँ हैं। इन्हींके द्वारा धर्मज्ञान होता है।

इनमें मुख्यतया धर्म और परमात्माका निरूपण है। भगवदर्पण-बुद्ध्या किया गया धर्म अन्त:करणको शुद्ध करता है। शुद्ध अन्त:करणसे भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति और भक्तिसे परमात्माका ज्ञान होता है। परमात्माका ज्ञान होनेसे संसारकी निवृत्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। इसीसे ही भगवती श्रुति कहती है कि जिसे परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया वह फिर लौटकर इस संसारमें नहीं आता—'**न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते।**' अत: शास्त्र मनुष्यको सर्वथा स्वतन्त्रता प्रदान करनेवाले हैं। शास्त्रोंका यह दृढ़ मत है कि मानव-जीवनकी सफलता तपद्वारा ही होती है और विशेषत: ब्राह्मण-जीवन तो क्षुद्र विषय-भोगोंके सेवन-हेतु नहीं है, अपितु तप हेतु है—

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

इस प्रकार शास्त्रोंकी दृष्टिमें ब्राह्मण-जीवनका मुख्य उद्देश्य तप है तथा क्षत्रियोंके लिये आर्तजनकी रक्षा करना तप है। यही बात राजा दिलीपने सिंहसे कही थी। क्षत

अर्थात् नाशसे बचानेवालेको क्षत्रिय कहा जाता है। यदि मैं इस गौको नाशसे नहीं बचा सका तो रक्षा न कर सकनेके कारण निन्दित इन प्राणोंको धारण कर ही क्या करूँगा ?—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥

वास्तवमें दुष्ट मानवोंका जन्म संसारके अहित तथा सज्जनोंका अवतार प्राणीमात्रके कल्याणके लिये होता है। प्राप्त विद्या, धन और शक्ति—इन तीनोंके सदुपयोग तथा दुरुपयोग दोनों हो सकते हैं। दुर्जनोंको विद्या विवादके लिये, धन अभिमानके लिये एवं शक्ति दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेके लिये प्राप्त होती है तथा इनके विपरीत सज्जनोंको ये वस्तुएँ क्रमसे ज्ञान, दान एवं दुखियोंकी रक्षाके लिये प्राप्त होती हैं। इसलिये शास्त्र कहते हैं—

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेत-
ज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

महात्मा तुलसीदासजीने अपनी विद्याका कितना सुन्दर उपयोग किया। रामचरितमानस आज भौतिकताके निबिड अन्धकारमग्न भारतके ही नहीं अपितु समस्त विश्वके लिये दिव्य आलोकका कार्य कर रहा है, तथापि वे संत कहते हैं कि मैं अपने ही अन्तःकरणको प्रसन्न करनेके लिये श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रजीकी मङ्गलमयी पुण्यगाथाका भाषाद्वारा वर्णन करता हूँ—

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥

यह है सज्जनोंकी विद्या। इसी प्रकार राजर्षि रन्तिदेव आदिका धन सज्जनोंका धन तथा दिलीप आदिका बल सज्जनोंका बल था।

इस प्रकारकी विद्या, धन एवं शक्तिका भगवान् समादर करते हैं। वस्तुतः तो वेद कहते हैं कि सृष्टिके प्रथम केवल ब्रह्म ही था और अन्तमें भी वही रह जायगा—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तन्नैव व्यभवत्।

अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त यह जगत् बीचमें कहाँसे आ गया ? अतः विद्वान्‌को सर्वत्र ब्रह्मभावना करनी चाहिये। परम कृपालु भगवान्‌ने मानवको जीवनके अतिरिक्त बुद्धि तथा हृदय प्रदान किया है, जिनके द्वारा अपनेको शास्त्रोंके परतन्त्र कर, उनसे वास्तविक तत्त्व समझकर, अक्षय सुख-शान्ति प्राप्त करनी चाहिये। यही परम स्वतन्त्रता है। अक्षय सुख-शान्तिकी प्राप्तिका मार्ग शास्त्रोंने बतलाया है—

एकया द्वे विनिश्चित्य
त्रींश्चतुर्भिर्वशीकुरु ।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट्
सप्त हित्वा सुखी भव॥

अर्थात् एक बुद्धिसे सत्-असत् दोनोंका निश्चय करके वस्तुविचार, क्षमा, संतोष और विवेक—इन चारोंद्वारा काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंको वशमें करो, पुनः पाँचों इन्द्रियोंको जीतकर **जायते** (उत्पन्न होना) **अस्ति** (सत्ता प्राप्त करना) **वर्धते** (बढ़ना) **विपरिणमते** (परिवर्तन होना) **अपक्षीयते** (ह्रास होना) **नश्यति** (नाश होना)—इन षड् विकारोंको जानकर और सातों आवरणोंसे मुक्त होकर सुखी हो जाओ।

कहनेमें तो सुखी होना बड़ा सरल जान पड़ता है, किंतु इसके लिये शास्त्र-परतन्त्र होना अर्थात् धार्मिक होना परमावश्यक है। महामहिम शास्त्र अपनी शरणमें आये हुए मानवोंके जीवनकी सफलताके हेतु कृपाकर उनसे अधर्मका परिवर्जन एवं धर्मका परिपालन कराते हैं, क्योंकि धर्म ही ऐसी वस्तु है, जो अल्पादल्प-मात्रामें भी रहकर प्राणियोंकी बड़े-से-बड़े भयसे रक्षा करती है। अतः भगवान्‌ने कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

विपत्तिके विकराल समुद्रमें पड़े हुए प्राणी-हेतु एकमात्र कोई सहायक है तो धर्म ही है, जैसा कि द्रौपदी एवं गजेन्द्रमोक्ष आदि आख्यानोंसे प्रमाणित है। यहाँ धर्मसे सनातनधर्म ही विवक्षित है, क्योंकि प्राणीमात्रके कल्याणका ठेका लेनेका सामर्थ्य यदि किसी धर्ममें है तो वह सनातन धर्ममें ही है। आजकल कितने ही लोग कहने लगे हैं कि इस घोर कलिकालमें धर्मकी क्या आवश्यकता? किंतु

उनका कथन अत्यन्त अनुचित ही नहीं अपितु एक अक्षम्य अपराध भी है। कारण, शास्त्रका यह शाश्वतिक नियम है कि धर्मकी ही जीत होती है **'धर्म एव जयति नाधर्मः।'** इसी प्रकार सत्यकी जय होती है असत्यकी नहीं—

सत्यमेव जयते नानृतम्।

यह बात अवश्य है कि धर्ममें सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। धर्ममें स्वाभाविक प्रवृत्ति तो उन्हींकी होती है, जिनके समस्त पाप-ताप नष्ट हो गये हैं, अथवा जो स्वर्गसे पुण्यशेषको लेकर आये हैं। अतः भगवान्ने गीतामें कहा है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

अर्थात् जिन पुण्यकर्म करनेवाले पुण्यात्माओंके पाप नष्ट हो गये हैं, वे ही द्वन्द्वमोहसे निर्मुक्त होकर और दृढ़व्रती बनकर मेरी उपासना करते हैं। भगवान् भी शरीरधारी धर्म ही हैं, अतः शास्त्रोंने कहा—

रामो विग्रहवान् धर्मः।

अतः प्राणीमात्रका परम कल्याण शास्त्राधीन होनेमें ही है। उससे ही उसे निरवधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। इसीलिये साधुजन कहते हैं कि शास्त्रपरतन्त्रता ही स्वतन्त्रताकी जननी है।

[प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

बैलोंको कब और कैसे हाँके?

वाहयेद्धुङ्कृतेनैव शाखया वा सपत्रया। न दण्डेन न वा यष्ट्या न पाशेन न वा पुनः॥
न क्षुत्तृष्णाश्रमश्रान्तान् वाहयेद् विकलेन्द्रियान्। अतृप्तेषु न भुञ्जीयात् पिबेत् पीतेषु चोदकम्॥
शुश्रूषोर्मातरश्चैताः पितरस्ते प्रकीर्तिताः। अहं पूर्वत्र भागे च धुर्याणां वाहनं स्मृतम्॥
विश्रामेन्मध्यमे भागे भागे चान्ते यथासुखम्।
यत्र च त्वरया कृत्यं संशयो यत्र वाध्वनि। वाहयेत् तत्र धुर्यास्तु न स पापेन लिप्यते॥
भ्रूणहत्यासमं पापं तस्य स्यात् पाण्डुनन्दन। अन्यथा वाहयन् राजन् निरयं याति रौरवम्॥
रुधिरं पातयेत् तेषां यस्तु मोहान्नराधिप। तेन पापेन पापात्मा नरकं यात्यसंशयम्॥
नरकेषु च सर्वेषु समाः स्थित्वा शतं शतम्। इह मानुष्यके लोके बलीवर्दो भविष्यति॥

(महा०, आश्व०, वैष्णवधर्मपर्व)

[भगवान् श्रीकृष्णने महाराज युधिष्ठिरसे कहा—राजन्!] गाड़ीमें जुते रहनेपर बैलोंको हुङ्कारकी आवाज देकर अथवा पत्तेवाली टहनीसे हाँके। डंडेसे, छड़ीसे और रस्सीसे मारकर न हाँके। जब बैल भूख-प्यास और परिश्रमसे थके हुए हों तथा उनकी इन्द्रियाँ घबरायी हुई हों, तब उन्हें गाड़ीमें न जोते। जबतक बैलोंको खिलाकर तृप्त न कर ले, तबतक स्वयं भी भोजन न करे। उन्हें पानी पिलाकर ही स्वयं जल-पान करे। सेवा करनेवाले पुरुषकी कपिला गौएँ माता और बैल पिता हैं। दिनके पहले भागमें ही भार ढोनेवाले बैलोंको सवारीमें जोतना उचित माना गया है। दिनके मध्य भागमें—दुपहरीके समय उन्हें विश्राम देना चाहिये, किंतु दिनके अन्तिम भागमें अपनी रुचिके अनुसार बर्ताव करना चाहिये अर्थात् आवश्यकता हो तो उनसे काम ले और न हो तो न ले। जहाँ जल्दीका काम हो अथवा जहाँ मार्गमें किसी प्रकारका भय आनेवाला हो, वहाँ विश्रामके समय भी यदि बैलोंको सवारीमें जोते तो पाप नहीं लगता। पाण्डुनन्दन! परंतु जो विशेष आवश्यकता न होनेपर भी ऐसे समयमें बैलोंको गाड़ीमें जोतता है, उसे भ्रूण-हत्याके समान पाप लगता है और वह रौरव नरकमें पड़ता है। नराधिप! जो मोहवश बैलोंके शरीरसे रक्त निकाल देता है, वह पापात्मा उस पापके प्रभावसे निःसंदेह नरकमें गिरता है। वह सभी नरकोंमें सौ-सौ वर्ष रहकर इस मनुष्यलोकमें बैलका जन्म पाता है।

सत्संगका रहस्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सत्संग चार प्रकारका होता है। श्रीरामचरितमानसके सुन्दरकाण्डमें उच्चकोटिके सत्संगकी महिमा लिखी है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(रा॰ च॰ मा॰ सु॰ ४)

हे तात! स्वर्ग और मुक्ति—इन दोनोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय और एक पलड़ेमें एक क्षणका सत्संग रखा जाय तो एक क्षणके सत्संगके सुखके समान स्वर्ग और मुक्तिका जो सुख है, वह भी उसकी तुलनामें कुछ नहीं है।

संगका एक अर्थ है प्रीति और दूसरा अर्थ है साथ। भगवान्‌का यदि संग मिल जाय या भगवान्‌के साथ रहना हो जाय अथवा भगवान्‌में प्रेम हो जाय, तो प्रेमपूर्वक जो भगवान्‌का संग है वही असली सत्संग है। बिना प्रेमके संगका कोई मूल्य नहीं है। दुर्योधन आदिका भगवान् श्रीकृष्णमें न तो प्रेम था और न श्रद्धा थी। बिना प्रेम या बिना श्रद्धाके दुर्योधन आदि-जैसे लोगोंका भगवान् श्रीकृष्णके साथ संग भी हो जाय तो वह कोई सत्संग नहीं है। और यदि प्रेम है, तो भगवान् दूर भी हों तो भी वे नजदीक ही हैं, जैसे गोपियाँ रहतीं वृन्दावनमें और भगवान् रहते द्वारकामें, लेकिन इतना दूर होनेपर भी प्रेम होनेके कारण वह सत्संग है। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के साथमें रहना हो तो वह तो एक नम्बरका है ही। उसके होनेपर चाहे दूर भी रहना पड़े पर भगवान्‌में प्रेम बना रहे, जैसे गोपियोंका श्रीकृष्णके साथ प्रेम था, यह उत्तम दर्जेका सत्संग है। इसके बादमें दूसरे नम्बरका सत्संग है '**भगवत्संगिसंगिनाम्**' भगवत्संगी माने भगवान्‌का संगी अर्थात् भगवान्‌के जो साथी हैं, भगवान्‌ने जिन महापुरुषोंको संसारके उद्धारके लिये यहाँ भेजा है या भगवत्प्राप्त जो पुरुष हैं, भगवान्‌ने जिन पुरुषोंके ऊपर उद्धारका भार दे दिया है चाहे भगवान्‌के भेजे हुए हों अथवा यहाँपर ही भगवत्प्राप्त हों, जिनको भगवान्‌ने अधिकार दे दिया है ऐसे पुरुषोंका संग भी दूसरे नम्बरका केवल कथनमात्रके लिये ही है। एक प्रकारसे यह संग भी बहुत ही ऊँचे दर्जेका है। ऐसा भी न मिले तो तीसरे नम्बरका सत्संग वह है जिनको भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी है और स्वयं भगवत्प्राप्त पुरुष है। किंतु दूसरोंका उद्धार करनेकी शक्ति उनको भगवान्‌ने तो नहीं दी है, परंतु उनमें श्रद्धा करके साधक अपनी शक्तिके माफिक ही लाभ उठा सकते हैं। उन भगवत्प्राप्त पुरुषमें जिनकी श्रद्धा और प्रेम है, वे अपनी श्रद्धा-प्रेमके बलपर वैसा ही लाभ उठा सकते हैं। यह तीसरे नम्बरका सत्संग है। चौथे नम्बरका सत्संग उच्चकोटिके साधक पुरुषोंका है। भगवत्प्राप्तिके मार्गमें चलनेवाले जो साधक हैं, उनमें भी यदि हमारा श्रद्धा-प्रेम हो जाय तो हमें भगवत्प्राप्ति हो सकती है। गौणी वृत्तिसे सत्पुरुषोंके अभावमें सत्-शास्त्रोंका संग भी सत्संग है।

तो प्रथम श्रेणीके सत्संगकी बात चल रही थी कि एक क्षणका जो सत्संग है, उसके मुकाबलेमें मुक्ति भी कोई चीज नहीं है, यह तुलसीदासजी महाराजका कथन है और उनका सिद्धान्त है तथा उनकी मान्यता है। उन पुरुषोंके एक क्षणके सत्संगकी जो इतनी महिमा है वास्तवमें उसे तो तुलसीदासजी ही जानते हैं। अपने तो केवल इसका अनुमान कर सकते हैं। भगवान् और भगवान्‌का दिया हुआ अधिकार-प्राप्त महापुरुषका तो संसारमें विचरण ही परम धर्मरूप भक्ति—अमृतरूप भक्ति एवं निष्कामधर्मका प्रचार करनेके लिये है, जिससे जीवोंका कल्याण हो। जैसे राजा कीर्तिमान् बहुत उच्चकोटिके हुए। उनका संग जिनको हो गया, उनका भी उद्धार हो गया। मनमें यह विश्वास हो जाय कि ऐसे पुरुषोंका संग होता रहे चाहे नरकमें ही क्यों न रहना पड़े। इसपर एक राजाकी कथा याद आ गयी। पूरी तो याद नहीं है। थोड़ी ऐसी याद है। भगवान्‌के दूत या धर्मराजके दूत भगवान्‌के उस भक्तको परमधाम ले जा रहे थे, रास्तेमें नरक आ गया, वहाँ नरकके जीवोंका आर्तनाद सुनकर उन्होंने पूछा—'ये कौन रो रहे हैं?' दूतोंने कहा—'यह नरक है, यहाँके नारकीय जीव रो रहे हैं, बड़े दुःखसे आर्तनाद कर रहे हैं।' उन्होंने कहा—'चलो हमलोग भी देखें। रास्तेमें आ ही गया तो चलो उनके भी दर्शन कर लें।' वहाँ गये और उनके जाते ही उनकी हवा लगनेसे ही उनकी नरकको यातना बंद हो गयी। समझो कि यातना कायम रहते हुए भी एकदम बंद हो गयी। यानी यातनाका कोई असर उनपर नहीं हाता। जो अस्त्र-शस्त्र हैं, जिनके द्वारा उन्हें तकलीफ दी जाती थी, काटा जाता था उसमें धार

नहीं रह गयी। नरककी ज्वाला एकदम शान्त हो गयी, वह कोई काम नहीं कर रही है, उस भक्तकी—महापुरुषकी हवा लगनेसे तो नारकीय जीव जो थे, उनसे कहने लगे—प्रार्थना करने लगे कि 'आपके आते ही बड़ी शान्ति हो गयी है। यहाँकी जो जलन थी, वह एक प्रकारसे शान्त हो गयी है। यहाँकी यातना एकदम निष्प्रभ हो गयी है, इसलिये आप थोड़ी देर यहाँ और ठहरें।' उन्होंने सोचा कि 'हमारे ठहरनेसे यदि इन जीवोंको इतना सुख मिलता है तो मुझे करना ही क्या है। हम इस नरकमें ही ठहरेंगे।' वह वहाँ रुक गये, तब दूत बोले—'भगवान्के धाममें चलो।' वे बोले—'हम तो भगवान्के धाममें नहीं जायँगे। हम तो यहीं ठहरेंगे।' दूत बोले—'क्यों?' वे बोले—'ये बेचारे दु:खी हैं, हमारे रहनेसे उन्हें यदि सुख मिलता है तो हमारे लिये तो जैसे भगवान्का धाम है वैसे ही यह नरक-धाम है।' दूत बोले—'तो हम जाकर वहाँ क्या कहें।' वे बोले—'जाकर कह दो कि यदि ये सब नारकीय जीव आपके धाममें आ सकते हैं तो उनके साथ मैं भी आ सकता हूँ, नहीं तो हमको यहीं रहना है, आपके धामकी मुझे कोई जरूरत नहीं है।' और यहाँ सबको उस भक्तने आर्डर दे दिया कि 'सब लोग मिलकर भगवान्के नामका संकीर्तन करें। अबतक तो तुम आर्तनाद करते थे, पर अब भगवान्के नामका कीर्तन करो।' यह सुनकर सभी कीर्तन करने लगे। कीर्तन करनेसे उनके पहलेके जो पाप संचित थे, सब नष्ट हो गये और यातनाका प्रारब्धमें जो भोग था, वह सब भी नष्ट हो गया। उधर वे सब दूत भी भगवान्के धाममें पहुँच गये और बोले कि 'महाराज! वे भक्त तो वहीं ठहर गये, उन्होंने कहा कि अगर सब नारकीय जीव आ सकते हों तो मैं भी आ सकता हूँ।' भगवान् बोले—'जाओ सबको ले आओ।' तो इधर उनके संगसे वे तैयार हो गये तो वे सब-के-सब भगवान्के परमधाम चले गये। हजारों, लाखों विमान एक साथमें भगवान्के धाममें पहुँचे, जैसे विवाहके समय बरात पहुँचती है। अत: महापुरुषोंके संगमें नरकमें भी रहना पड़े तो उन नारकीय जीवोंको भी परम सुखकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये कहा गया—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

तो इस प्रकारका लवमात्रका—क्षणमात्रका भी जो सत्संग है वह मुक्तिसे भी बढ़कर है, जैसे उस भक्तके लिये नरकका वास भी मुक्तिसे बढ़कर हुआ, भगवान्की प्राप्तिसे बढ़कर हुआ। भक्तको भगवान्के मिलनेकी भी परवाह नहीं, उन्हें परवाह इस बातकी है कि मेरे रहनेसे ये कितने सुखी हो रहे हैं। तो यह अत्यन्त उच्चकोटिका भाव है। ऐसा भाव यदि हम लोगोंका हो जाय तो भगवान्के परमधाममें जानेके लिये हम लोगोंको प्रार्थना नहीं करनी पड़े। यहाँका स्थान ही हम लोगोंके लिये परमधाम हो जाय या भगवान् स्वयं आ कर अपने परमधाममें ले जायँ। इस आमन्त्रणकी भी अपनेको जरूरत नहीं है। अपनी आवश्यकता तो यह है कि जो जीव दु:खी हैं, उनका किसी प्रकारसे कल्याण हो।

इस बातका हम कई बार अनुभव करते हैं कि एक दु:खी आर्त गरीब जीव मरते समय बुलाता है तो उसके घर जाना पड़ता है और कोई एक धनी आदमी है, लखपती-करोड़पती है तो उनके यहाँ भी जाना पड़ता है। किंतु गरीबके यहाँ जानेमें जो एक प्रकारकी शान्ति मिलती है, वह शान्ति धनी आदमीके यहाँ जानेमें नहीं मिलती। क्योंकि गरीब आदमीके चित्तमें इतना उत्साह और प्रेम होता है, सोचता है कि देखो, मैं एक तुच्छ आदमी हूँ और ये इतने बड़े आदमी मेरे घर आये, आज मैं किसके समान हूँ। जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अनेक रूप धारण करके क्षणमात्रमें सभी लोगोंसे मिले। मानसमें आया है—

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(रा० च० मा० उ० ६। ७)

'भगवान् एक क्षणमें अमित रूप धारण करके एक-दूसरेसे मिले। भगवान् एक क्षणमें ही सबसे मिल रहे हैं, इसका मर्म कोई नहीं समझा।' मर्म यह था कि भगवान् अनन्त रूप धारण कर सबसे मिल रहे थे। और भगवान् जिससे मिलते वह यही समझता कि भगवान् मुझसे ही मिल रहे हैं। उसे आश्चर्य होता कि मुझ-जैसे तुच्छ मनुष्यसे भगवान् सबसे पहले मिल रहे हैं। इस अनुभवसे उसे बड़ा आश्चर्य और साथमें आनन्द भी होता था। तो इस प्रकारका जो भगवान्का मिलन है वह अलौकिक है। ऐसे ही एक गरीब आदमीसे कोई महान् पुरुष मिले तो उसे भी बड़ा भारी आनन्द आता है। उसके सुखसे सुखी होना आनन्दकी पराकाष्ठा है। एक तो भगवान्से मिलना हो और एक हमारे मिलनेसे उसे भगवान्के मिलनेके समान ही सुख हो तो हमारे लिये यह बात ज्यादा मूल्यवान् है। क्योंकि भगवान्से मिलनेका जो सुख और आनन्द है, उससे भी बढ़कर यह बात है। कारण, उसके लिये तो हम ही भगवान् हो गये।

तो हम सम्पूर्ण संसारको आनन्द देनेवाले भगवान्‌को आनन्द दें, भगवान् सबको आह्लादित करते हैं और हम भगवान्‌को आह्लादित करते रहें तो जैसे वह हमारे लिये गौरवकी बात है, वैसे ही भगवान्‌के लिये भी यह गौरवकी बात होगी कि वह अपने भक्तको आह्लादित करते हैं और भगवान्‌के लिये इससे बढ़कर और कोई बात नहीं है; क्योंकि ऐसा जो प्रेमी भक्त है उस प्रेमीको आह्लादित करनेमें भगवान्‌को सुख-शान्ति मिलती है, यद्यपि यह कथनमात्र है समझनेके लिये, भगवान् तो आनन्दरूप ही हैं।

भगवान्‌को सुख-शान्तिकी कमी कभी नहीं है, तथापि भक्तोंके संगसे भगवान्‌को जो सुख-शान्ति मिलती है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं। भक्तोंमें भी ऐसा भक्त जो भगवान्‌का दर्शन करके मुग्ध हो जाता है, आह्लादित हो जाता है, इतना ही नहीं, अपनी सेवाके द्वारा, चेष्टाके द्वारा, क्रियाके द्वारा, लीलाके द्वारा वह भगवान्‌को मुग्ध करता रहता है, वही उसके लिये श्रेयस्कर है। क्योंकि एक तो भगवान्‌का दर्शन करके मैं आनन्दमग्न हूँ और एक मैं भगवान्‌को सुख पहुँचा करके आनन्दमग्न हूँ। सारी दुनियाको आनन्द पहुँचानेवाले भगवान्‌को मैं सुख पहुँचा करके आनन्दमें मग्न हूँ। सारी दुनियाको आनन्द पहुँचानेवाले, सबको आह्लादित करनेवाले भगवान्‌को मैं आह्लादित करनेवाला बनूँ तो मेरे लिये यह अत्यन्त सौभाग्यकी बात है। और पुनः भगवान् हमें आह्लादित करनेके लिये लीला करें तो और गौरवकी बात है। हमारे चरित्रका उद्देश्य है भगवान्‌को आह्लादित करना और भगवान्‌की लीलाका उद्देश्य है हमें आह्लादित करना। हमारी चेष्टा भगवान्‌के लिये है और भगवान्‌की चेष्टा हमारे लिये है। हमारे उस प्रयत्नका मूल कारण भगवान् हैं, और भगवान्‌का उद्देश्य है हमें खुश करना। हमारी चेष्टासे भगवान् मुग्ध होते रहें और भगवान्‌की चेष्टासे हम मुग्ध होते रहें तो परस्परमें यह अलौकिक प्रेमका विषय है। इसी प्रकार यदि हम कहीं एक मरनेवालेको भगवान्‌का नाम और गुण सुनाने जायँ और सुननेवाला मुग्ध हो जाय—होशमें है और वह चाहे कि उसकी इच्छाकी पूर्ति करनेवाले हम बनें तो हमारे लिये उससे बढ़कर और कोई सौभाग्यकी बात नहीं है। उस मरनेवालेके लिये तो हम ही भगवान्‌के तुल्य हो गये। उस समय उसके मनमें कभी-कभी ऐसा भाव भी आया करता है कि मैं अभी न मरकर भगवान्‌के गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यकी बात सुनता ही रहूँ। इस प्रकार मेरा जीवन मुक्तिसे भी बढ़कर है। उस भक्तके साथ दूसरे भक्तका जो संग है एक तो जो मरनेवाला और सुननेवाला तथा दूसरा सुनानेवाला दोनोंका जो परस्पर प्रेम है, उनकी मुग्धता है—वह एक प्रकारसे मुक्तिसे भी बढ़कर है। वह भी सत्संग है। तो जिसका स्वयं भगवान्‌के साथमें इस प्रकारका संग है, उसकी तो बात ही क्या है। किंतु परस्परके भगवान्‌के भक्तोंका संग चाहे दोनों साधक हों या दोनोंमें एक भगवत्प्राप्त पुरुष और एक जिज्ञासु हो-(मरनेवाला) सुननेवाला जिज्ञासु हो तथा सुनानेवाला भगवत्प्राप्त पुरुष हो तो उन दोनोंके इस मिलनकी अन्तिम अवस्थाको देखनेवाले भी धन्यवादके पात्र हैं। ऐसी झाँकी भी कल्याण करनेवाली है और उसे हम सत्संग ही कहेंगे, जिनकी तुलसीदासजीने महिमा गायी है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(रा० च० मा० ५। ४)

हे तात! स्वर्ग और मुक्तिका जो सुख है, आनन्द है वह तराजूके एक पलड़ेपर और दूसरे पलड़ेपर सत्संगकी जो बात मैं कह रहा हूँ ऐसा जो संग है उस एक क्षणके सत्संगके समान मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि जो मरनेवाला प्राणी है, उसके लिये सत्संगका एक क्षण ही मुक्तिके लिये बहुत है। इस प्रकार उस संगके प्रभावसे हजारों पुरुषोंकी मुक्ति होती रहे, तो ऐसे पुरुषोंका संग करके अपना जीवन बितायें, और ऐसा सत्संग करते रहें तो वह सत्संग हम लोगोंके लिये भी मुक्तिसे बढ़कर ही है। भगवान् जिन मुक्त जीवोंको साथमें ले कर खुद आते हैं उन मुक्त जीवोंको हम परिकर कहते हैं। ये जीव भगवान्‌के साथी हो करके संसारमें भगवान्‌के साथ लीला करते हुए अपने समयका सद्व्यय करते हैं और जीवोंका कल्याण करते हैं। अतएव अपनी आत्माके कल्याणमें जो गौरव है, जो महत्त्व है, उससे भी ज्यादा महत्त्व इस बातमें है।

एक आदमी स्वयं भोजन करता है और एक दूसरा व्यक्ति दुःखी, अनाथ, भूखे आदमियोंको भोजन कराता है, तो भोजन करानेवालेको जो सुख मिलता है वह एक अलौकिक सुख है। यहाँ सुखका तो कोई भेद नहीं है किंतु जिज्ञासुओंकी दृष्टिमें इस संगका थोड़ा भेद है। उनकी दृष्टिमें यह संग सबसे उत्तम है, तो ऐसे संगके साथमें रहकर यदि अपना समय बीते तो वह संग अपनी मुक्तिसे भी बढ़कर है, जैसे भगवान्‌का उच्चकोटिका अनन्य प्रेमी

भक्त *'मुक्ति निरादर भगति लुभाने'* (रा॰ च॰ मा॰ ७। ११९। ७) मुक्तिका निरादर कर देता है और भक्तिका लोभ करता है। तात्पर्य यह कि मुक्ति ऐसे महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप-चिन्तनसे हो सकती है तो उसके आगे मुक्ति कोई चीज नहीं है। ऐसे पुरुषोंकी कीमत मुक्तिसे अधिक है। इसलिये जो इस तत्त्वको जाननेवाले होते हैं वे भी मुक्तिका निरादर करके उन पुरुषोंका संग करते हैं। अत: भगवान्‌की जो भक्ति है—अनन्य भक्ति, वह मुक्तिसे भी बढ़कर है, यह दृष्टि है भक्तिके मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंकी। भगवद्भक्तोंके लिये भगवान्‌में अनन्य भक्तिके समान, अनन्य प्रेमके समान कोई भी पदार्थ नहीं है। उनके लिये तो भगवान्‌की भक्ति साधन और भगवान्‌की प्राप्ति साध्य है। मुक्ति भी साध्य है। भगवान्‌के भक्त भगवत्प्राप्ति और मुक्तिमें भी भेद करते हैं। वे कहते हैं कि मुक्तिके तो चार भेद हैं—भगवान्‌में विलीन हो जाना और भगवान्‌के निकट रहना, भगवान्‌के निकट रहना जो है वह उस मुक्तिसे भी बढ़कर है; जिसे हम सायुज्य मुक्ति कहते हैं अर्थात् जो भगवान्‌में मिलन है। यह भक्तोंकी धारणा है कि भगवान्‌के समीप रहना, उनकी लीलामें शामिल होकर रहना यह उस सायुज्य मुक्तिसे भी बढ़कर इसलिये है कि सायुज्य मुक्ति तो धरोहरके रूपमें सदा ही मौजूद है, चाहे जब ले लो, वह सायुज्य मुक्ति अपने लिये ही नहीं, बल्कि दूसरोंके लिये भी वह दे सकता है। तो एक प्रकारसे उसका दर्जा भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें ऊँचा है। भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें भक्तिसे बढ़कर, उस अनन्य प्रेमसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जहाँ अनन्य प्रेम हो जाता है वहाँ भगवान्, भक्त और भक्ति तीनों एक ही हो जाते हैं, और स्वरूपत: अलग-अलग होते हुए भी तत्त्वत: एक ही चीज हैं। पारमार्थिक दृष्टिसे एक ही हैं। स्वयं भगवान् ही एक प्रकारसे मानो तीन रूपोंमें दीख रहे हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का जो चेतन प्रेम है, वह प्रेम ही तीन रूपोंमें बँटा हुआ है। इस प्रकार जो भगवान्‌की प्राप्ति है और मिलन है वह अपने-आपमें अद्भुत एवं अलौकिक है। इसीलिये भगवान्‌की जहाँ सारी चेष्टा भक्तको आह्लादित करनेके लिये होती है, वहीं भक्तकी भी सारी चेष्टा भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये हुआ करती है। जैसे गोपियोंके मध्य राधिकाजी सबसे बढ़कर हैं, उनकी सारी चेष्टा भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये और भगवान्‌की सारी चेष्टा राधिकाजीको आह्लादित करनेके लिये है। राधिकाजी तो साक्षात् भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति ही हैं। जैसे तुलसीदासजी कहते हैं—भगवान्‌की एक शक्ति यदि माया है तो दूसरी शक्ति है भगवान्‌की अनन्य भक्ति या आह्लादिनी शक्ति। वह चेतन है, वही संसारमें अवतारके रूपमें आती है तो उसे आह्लादिनी शक्ति कहते हैं। इसीलिये राधिकाजीको आह्लादिनी शक्ति कहा गया। भगवान्‌का और राधिकाजीका जो संग है, वह उन दोनोंके लिये तो दिव्य है ही साथ ही दर्शकोंके लिये भी यह अलौकिक ही है, क्योंकि वे भी मन्त्रमुग्धके समान ही मुग्ध होते जाते हैं। और भी जो सखियाँ थीं, वे भी राधिकाजीके साथ मुग्ध हो जाया करती थीं। भक्तिके मार्गमें तो ये अतुलनीय ही हैं। किंतु खयाल करना चाहिये भगवान्‌के प्रेमका यह गुप्त रहस्य तो वर्णनातीत ही है, क्योंकि जिसें यह बात प्राप्त है वह ढिंढोरा नहीं पीटता कि मैं इसका अनुभव करता हूँ। जो ढिंढोरा पीटता है वह वास्तवमें उस स्थितिमें स्थित ही नहीं है। वह तो अपनी मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये ही संसारको धोखा दे रहा है, जो उसका मिथ्याभिमान है। क्योंकि ऐसा कहना अथवा इसे प्रकाशित करना, भगवान्‌की भक्तिमें कलङ्क लगाना है। जहाँ भगवान् और भगवान्‌के भक्तका एकाङ्गी प्रेम है, अनन्य और विशुद्ध प्रेम है, वहाँ उस पुरुषकी तो बात ही क्या, किसी स्त्रीका भी प्रवेश नहीं हो सकता। राधा-माधवका जो प्रेम है वह अलौकिक प्रेम है। वर्तमानमें ये जो रास वगैरह होते हैं, उनमें वह चीज नहीं है, बल्कि वे तो गौरव घटानेवाले ही होते हैं। इसी भावनासे मैं वर्तमानके रासको देखनेकी मनाही किया करता हूँ। जैसे कोई मनुष्य महापुरुष या भगवान्‌के स्थानमें स्थित होकर मान-बड़ाई-पूजा लेता है और भगवान् समझते हैं कि यह मेरी भक्तिकी आड़में पाप करता है तो भगवान्‌का उससे प्रेम करना तो दूर रहा, वे यह समझते हैं कि यह मेरी भक्तिमें, प्रेममें कलङ्क लगानेवाला पुरुष है, यह आदमी दम्भी, पाखण्डी एवं अत्यन्त निम्न श्रेणीका पुरुष है। भगवान् उसे दण्ड दिया करते हैं। ऐसे पुरुषोंके संगसे सदैव दूर ही रहना चाहिये।

अत: सिद्ध है कि मनुष्यको वास्तविक रूपमें सत्पुरुषोंका ही संग करना चाहिये।

'बूझत बूझत बूझै'

(डॉ० श्रीचन्द्रभूषणलालजी वर्मा)

'पड़ोसी देशने अचानक ही उसके राज्यपर आक्रमण कर दिया और आश्चर्य! जिसने कभी हार नहीं जानी थी, उसे ही पराजयका मुँह देखना पड़ा।

अपने राज्यसे निकल जानेको बाध्य, भूख-प्याससे व्याकुल वह इधर-उधर भटकता हुआ एक स्थानपर पहुँचता है, जहाँ भिखारियोंको खिचड़ी बाँटी जा रही थी। कहींसे एक अधफूटी हंडी उठाकर वह भी थोड़ी खिचड़ी प्राप्त करनेमें सफल हो जाता है, परंतु जैसे ही वह एक वृक्षकी छाँहमें खानेको तत्पर होता है, दो साँड़ आपसमें लड़ते हुए उसके पास आकर टकरा जाते हैं, हंडी छिटककर फूट जाती है।'

राजा जनकका स्वप्न भंग हुआ, स्वर्णपर्यंकपर लेटे, दास-दासियोंसे घिरे राजा स्वप्नका स्मरणकर विचारमग्न हो जाते हैं।

'अष्टावक्र-गीता'में कथा आगे बढ़ी है। दरबारमें सभासदोंके मध्य राजा प्रश्न करते हैं—'वह सत्य अथवा यह सत्य ?' आश्चर्यचकित सभासद् मौन! राजा प्रश्न दुहराते हैं, परंतु फिर भी जब सभासद् निरुत्तर रहते हैं, तब कहोड़ ऋषिका सप्तवर्षीय बालक अष्टावक्र राजाको सम्बोधित करते हुए कहता है—'राजन्! जैसा सूक्ष्म तेरा प्रश्न है, वैसा ही सूक्ष्म उत्तर सुन—न वह सत्य, न यह सत्य' और यदि अधिक स्पष्टीकरण चाहता है तो स्वप्नका भिखारी जनक वर्तमानका सिंहासनासीन राजा जनक नहीं और न ही परम प्रतापी अजेय राजा जनक स्वप्नका पराजित नरेश।'

सत्य क्या है? शास्त्रोंमें सत्यकी जो परिभाषा दी है, वह है—

'त्रिकालाबाध्यं सत्यम्'

अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों कालोंमें (अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें) जो एक ही रूपमें अवस्थित रहे, जिसका रूप कभी बाधित न हो, वही सत्य है, आचार्य शंकरने भी कहा है—

'यद्रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्।'

अर्थात् जिसका जो रूप निश्चित है, उसका वह रूप कभी अन्यथा न हो वही सत्य है। इस संसारको कोई (यथा पूर्वमीमांसावाले) सत्य कहते हैं, कोई (यथा उत्तरमीमांसा वाले) उसे असत्य कह ईश्वरको ही सत्य मानते हैं। योगशास्त्री ईश्वर और संसार दोनोंहीको मुख्य मानते हैं, क्या ये सभी भ्रम हैं? रज्जुमें सर्पके भ्रमकी भाँति यह जगत् न तो सत्य है, न सर्वथा असत्य ही और मृगतृष्णाकी बहती नदीके सदृश यह सत्य और असत्य दोनों ही है। सदा स्थिर न रहनेके कारण यह असत्य कहलाता है और प्रतीत होनेके कारण सत्य।

संसारमें जो उत्पन्न होता है, वही वृद्धि और क्षयको प्राप्त होता है। उत्पत्ति आदिका सम्बन्ध इस दृश्य जगत्से ही है। **'त्वम्', 'अहम्'** और **'इदम्'**। (तू, मैं और यह) इत्यादि रूपोंमें जो कल्पित जगत् है, उसे दृश्य कहते हैं। यदि यथार्थमें यह है तो इसका निवारण किसी भी प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

अर्थात् जो असत् वस्तु है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो सत् है, उसका कभी अभाव नहीं होता।

जैसे सुषुप्तिमें स्वप्नके संसारका अभाव हो जाता है, उसी तरह यह समस्त चराचर जगत् जो दिखायी देता है, उसका कल्पके अन्तमें अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् कोई अव्यक्त अनिर्वचनीय सत् वस्तु ही शेष रह जाती है, वह न तो तेजस्तत्त्व है, न तमोमय, किंतु विद्वानोंने व्यवहारके लिये उसके 'आत्मा', 'ब्रह्म' अथवा 'सत्य' इत्यादि नाम रख छोड़े हैं।

जिससे 'ज्ञाता', 'ज्ञान' तथा 'ज्ञेय'का, 'द्रष्टा', 'दृश्य' तथा 'दर्शन' का और 'कर्म', 'कारण'(हेतु) एवं 'क्रिया'का उदय होता है, वह ज्ञानस्वरूप तत्त्व सत् है।

सांख्यदर्शनके अनुयायी जिन्हें 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्तवादी **'ब्रह्म'** नामसे जिनका चिन्तन करते हैं, विज्ञान-वेत्ताओंकी दृष्टिमें जो परम निर्मल 'विज्ञान'मात्र हैं, जिन्हें शून्यवादी 'शून्य' कहते हैं, जो सूर्यके प्रकाशके प्रकाशक हैं, वे

सम्पूर्ण कारणोंके कारण परब्रह्म परमेश्वर ही महाप्रलयके समयमें शेष रह जाते हैं।

जैसे बीजमें भावी वृक्ष रहते हैं, वैसे ही चिन्मय परमात्मामें भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके प्राणी सदा विद्यमान रहते हैं, ये परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत्में उदासीनकी भाँति स्थित रहते हैं।

द्रष्टा ही दृश्यका निर्माण करता है। अज्ञानीकी दृष्टि दृश्योंमें उलझी रहती है, वह द्रष्टाको नहीं जान पाता। द्रष्टामें दृश्यत्वकी प्रतीति होनेपर उसकी सत्ता भी असत्ता-सी हो जाती है, वह सद्रूप होनेपर भी असत्-सा प्रतीत होने लगता है।

सर्वशक्तिमान् ब्रह्म (परमात्म-तत्त्व)-की शक्तिसे रचित जो संकल्पमय रूप है, उसे 'मन' कहते हैं, यह सम्पूर्ण जगत् मनसे ही व्याप्त है। मनसे भिन्न केवल परमात्मा ही शेष रहते हैं। देह जड है, किंतु इसके भीतर रहनेवाले मनको न जड माना जाता है न अजड। जैसे बर्फका रूप शीतलता और काजलका रूप कालिमा है, उसी प्रकार मनका रूप (अत्यन्त) चंचलता है।

विषयसे गर्भित मन जब निश्चयको धारण करता है तो वह 'बुद्धि' कहलाता है। 'मैं हूँ' की भावना होनेपर उसे 'अहंकार' कहते हैं, जब यह विषयका चिन्तन करता है, तब 'चित्त'की संज्ञा पाता है और जब इसमें आत्माके अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्वका भान होने लगता है, तब वह 'अविद्या' हो जाता है।

इस अविद्यासे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, इसके परे ब्रह्म है। अविद्या ही सब दृश्य पदार्थोंका उपादान कारण है।

जैसे मृगमरीचिकामें प्रतीत होनेवाली नदी अपने भीतर न होनेपर भी चंचल तरंगोंका विस्तार करती है और वे सत्य जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मन ही इस जगत्रूपी इन्द्रजालकी सम्पत्तिका विस्तार करता है,[१] यह सम्पत्ति असत् होनेपर भी सत्-सी प्रतीत होती है—यह 'माया' है। सर्वज्ञ विद्वानोंने इसकी 'बन्धन', 'मोह', 'संसृति' और 'अविद्या' आदि अनेक नामोंसे कल्पना की है। ईशावास्य-उपनिषद्में कहा है—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'

अर्थात् सत्यका मुख हिरण्मय पात्रसे ढँका है, यह हिरण्मय पात्र या आवरण ही माया है।

जो स्वरूप कल्पित है, वह सत्य कैसे हो सकता है? सच्चिदानन्द परब्रह्ममें अभिन्न-रूपसे स्थित जगत् और अहंकी अज्ञानके कारण भेदयुक्त प्रतीति होती है—

'सम्यग्ज्ञानविहीनानां दृश्यते विविधं जगत्'

(नारद-पुराण)

अर्थात् ज्ञानसे रहित जीवोंको यह जगत् विविध भेदयुक्त दिखलायी देता है। भिन्न-सा दिखायी देना ही उसका असत्यरूप है और अभिन्न-रूपसे देखना ही उसके सत्य-रूपका दर्शन करना है।

योगवासिष्ठमें रामको उपदेश देते हुए गुरु वसिष्ठ कहते हैं—'हे रघुनन्दन! जैसे रूपहीन आकाशमें भ्रमवश नील-पीत आदि वर्णोंकी प्रतीति होती है। उसी प्रकार ब्रह्ममें यह जगत्-सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हुआ है। इस भ्रमके निवारणसे ही ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान होता है, दूसरे किसी कर्मसे नहीं। यह जो कुछ दिखायी देता है, वह ब्रह्म ही है और जो मिथ्या ज्ञानरूपी विषूचिका चिरकालसे दृढ़मूल हो गयी है, उसका नाम जगत् है। इसको अविचार भी कहते हैं, जिसकी निवृत्ति ज्ञानके बिना सम्भव नहीं—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'**

पर इस निवृत्तिके लिये तुलसीदासजी दूसरा उपाय बतलाते हैं, वे कहते हैं कि सदा चैतन्य, अखण्ड, आनन्दस्वरूपको तो जीव संसारमें समझते-समझते ही समझ पायेगा, परंतु विषय-वासनासे आच्छादित चित्त जब भगवद्-भक्तिरूपी निर्मल जलसे धुल जायगा और अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, तब अनायास ही परमात्मतत्त्वके दर्शन हो जायँगे, उन्हींके शब्दोंमें—

रघुपति-भगति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥

(विनय-पत्रिका १२४)

१-मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥

प्रभुको आत्मसमर्पण

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

साधकके लिये सबसे ऊँचा, सहजमें ही सिद्धि देनेवाला साधन प्रभुके प्रति आत्मसमर्पण है। भगवच्चरणोंमें अपने-आपको सौंप देना ही सारे शास्त्रोंका गुप्त रहस्य और समस्त साधनोंमें अन्तिम साधन है। सब प्रकारसे ज्ञान-विज्ञान, भक्ति-कर्म आदिका उपदेश कर चुकनेके बाद अन्तमें भगवान्ने यही गुप्त रहस्य अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको बतलाया था। इसी परम साधनसे मनुष्य अपने जीवनको उच्च-से-उच्च स्थितिपर पहुँचा सकता है।

इस आत्मसमर्पणका अर्थ केवल जीवनके कर्मोंको त्याग हाथ-पैर सिकोड़कर बैठ जाना नहीं है। कुछ लोग भूलसे यही मान लेते हैं कि 'करने-करानेवाले भगवान् हैं, उन्हींकी शक्ति सबके अंदर काम करती है, हमारा काम केवल चुप होकर बैठ रहना है।' परंतु यह बड़ा भारी भ्रम है, इससे आत्मसमर्पण सिद्ध नहीं होता। आत्मसमर्पणमें सबसे पहले आत्माका अर्पण होता है, आत्माके साथ ही अहंकार, मन, बुद्धि, शरीर सभी उसके अर्पण हो जाते हैं, ऐसा होनेपर साधकको यह स्पष्ट उपलब्धि होने लगती है कि इस शरीर, मन, वाणीसे जो कुछ होता है, सो वास्तवमें भगवान् ही करा रहे हैं। इससे पहले वह समझता था कि 'मैं कर रहा हूँ' अब समझता है कि 'भगवान् कर रहे हैं।' अपने कर्तापनका सारा अहंकार भगवान्के अहंकारमें मिल जाता है, क्योंकि मन, बुद्धि उन्हींके अर्पित हो चुके हैं। मन-बुद्धिका सारा स्वातन्त्र्य यहाँपर लुप्त हो जाता है, अब भगवान्का संकल्प ही उसका संकल्प, भगवान्का विचार ही उसका विचार और भगवान्की क्रिया ही उसकी क्रिया है। यदि भगवान् संकल्परहित, विचाररहित और क्रियारहित हैं, तो वह भी वैसा ही है; क्योंकि संकल्प, विचार और क्रिया होनेमें जिस अन्तःकरणकी आवश्यकता है, वह मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण भगवान्की वस्तु बन गया है, उसपर उसका अपना कोई अधिकार नहीं रह गया। इसलिये ऐसे साधकका सब जिम्मा भगवान् ले लेते हैं। वे कहते हैं—'जिसने मन-बुद्धि मुझे अर्पण कर दिये हैं, वह निःसंदेह मुझको प्राप्त होता है—'**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।**' परंतु इसमें कार्य त्यागकर निश्चेष्ट हो रहनेका उपदेश नहीं है। इसी मन्त्रमें भगवान् कहते हैं कि 'निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर'—'**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।**' इस बातको स्मरण रखता हुआ युद्ध कर कि यह सब भगवान्की लीला है, सब कुछ वही कराते हैं, मैं तो उनके हाथकी पुतलीमात्र हूँ। वह यन्त्री हैं, मैं यन्त्र हूँ। जिधर घुमाते हैं, उधर ही प्रसन्नतासे घूम जाता हूँ, कभी जरा-सी भी आनाकानी नहीं करता। इसीसे अर्जुनने धर्माधर्मके सारे विचारोंका त्याग करके स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया था कि 'मेरा संदेह जाता रहा, अब तुम जो कुछ कहोगे मैं वही करूँगा'—'**गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।**' (गीता १८। ७३)

ऐसा साधक कर्म-त्याग या संसार-त्यागकी इच्छा-अनिच्छा नहीं करता। भगवान्के खेलका खिलौना बने रहनेमें ही वह अपना सौभाग्य समझता है, क्योंकि इस समय उसकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप पहलेका-सा जड़ नहीं रह जाता, वह सर्वदा सर्वत्र देखता है केवल चैतन्यको और चैतन्यकी विचित्र लीलाको! वह समस्त जगत्को हरिका स्वरूप और समस्त कर्म-राशिको हरिका खेल देखता है, इसीसे वह इस खेलमें सदा सम्मिलित रहकर हरिरूप जगत्की सेवा किया करता है। परंतु इसमें उसका यह भाव कदापि नहीं रहता कि 'मैं जगत्की सेवा करता हूँ, या अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ,क्योंकि उसका तो अब कोई कर्तव्य रह ही नहीं जाता, पुतली कर्तव्यका ज्ञान नहीं रखती, वह तो स्वाभाविक ही मालिकके इशारेपर नाचती है। उसे इस कर्तव्य-ज्ञानकी आवश्यकता भी नहीं रहती; क्योंकि उसकी बागडोर किसी दूसरे सयानेके हाथमें है। ऐसी अवस्थामें संसारके भोगोंकी तो बात ही कौन-सी है,वे तो अत्यन्त तुच्छ, नगण्य हैं, उनकी ओर झाँकना तो उस साधकसे बन ही नहीं सकता; क्योंकि वे तो उसकी दृष्टिमें भगवान्की लीलाके अतिरिक्त कोई खास चीज ही नहीं रह जाते। ऊँचे-से-ऊँचे लोक भी उन्हींके लीलाक्षेत्र हैं, उन लोकोंके लिये भी उसका मन नहीं चलता, वह

अपनेको सदाके लिये प्रभुकी लीलाका एक खिलौना मानता है। सर्वत्र अबाधित मनोहर नित्य लीलामें भगवान् उसको अपने हाथमें लिये कहीं भी क्यों न रहें, उस खिलाड़ीके हाथोंसे और उसकी नजरसे तो वह हटता नहीं, फिर खेलकी जगहके एक भागसे दूसरे भागमें जानेकी इच्छा-अनिच्छा वह क्यों करने लगा? हाँ, यदि प्रभु कभी उसे खेलसे अलग होनेको कहते हैं, अपनी नजरसे ओझल करना चाहते हैं, तो इस बातको वह स्वीकार नहीं करता, इसीसे भागवतमें भगवान्ने कहा है कि 'मेरे भक्त मेरी सेवाको छोड़कर मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते'—

'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'

ऐसा भक्त जगत्‌के सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। उसका सेवाकार्य, उसकी व्यापार-प्रवृत्ति, उसकी रण-शूरता और उसका ज्ञान-वितरण सभी कुछ परमात्माकी लीलाके अङ्ग होते हैं। वह इस लीला-अभिनयका एक आज्ञाकारी चतुर पात्र होकर रहता है। उसकी क्रिया और कर्मवासना अहंकारप्रेरित न होकर प्रभुप्रेरित हुआ करती है। ऐसा दिव्य लीला-कर्मी भक्त शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे सदा ही मुक्त रहता है। भगवान्‌की प्राप्ति तो उसको नित्य रहती ही है; क्योंकि उसकी जीवन-डोर ही भगवान्‌के हाथमें रहती है। मुक्ति अवश्य ही दासत्वके लिये उसके चरणोंकी ओर ताका करती है, कभी-कभी हठसे चरणोंमें चिपट भी जाती है। एक रसीले भक्त कविने बहुत ही सुन्दर कहा है—

घनः कामोऽस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्र न रुचि-
स्तवैवांघ्रिद्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला।
सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पदगता
सकामास्मान्मुक्तिर्भजति महिमायं तव हरे॥

'हे हरे! हमारी तो तुम्हारे भजनमें ही गाढ़ रुचि है। अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं है। तुम्हारे ही चरणयुगलोंमें पड़े रहनेमें हमारा अतुल प्रेम है। हे भगवन्! तुम्हारी कुछ ऐसी अपार महिमा है कि वह बेचारी मुक्ति जब सकाम-विषयकामी लोगोंको नापसंद कर डालती है, तब उसी क्षण अपनेको निराश्रय समझकर बड़ी उत्सुकतासे हम भक्तोंके चरणोंमें चिपटकर हमारी चरणसेवा करने लगती है।'

चरण-सेविका बननेपर भी ऐसे भक्त उस मुक्तिके चंगुलमें फँसना नहीं चाहते। इस तरहके ऊँचे साधकोंकी सारी जिम्मेवारी स्वभावतः ही भगवान्‌के ऊपर रहती है। भगवान्ने अर्जुनके सामने प्रतिज्ञा करके कहा है—'मैं तुझे मुक्त कर दूँगा, तुझे कोई चिन्ता नहीं'—'**अहं त्वा मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**' हम बड़े ही मन्दबुद्धि हैं, अविश्वासी और अश्रद्धालु हैं; विविध प्रलोभनोंमें पड़कर व्यर्थ मनोरथ होते रहनेसे हमारा मन संदेहसे भर गया है, जागतिक भोग-सुखोंकी तुच्छ स्पृहा और धर्म-कर्मादिके साधनोंसे इन सुखोंके प्राप्त करनेका उपाय बतलानेवाली पुष्पिता वाणीने हमें मोहित कर रखा है, इसीसे हम भगवान्‌की इस प्रेम-पूरित महान् प्रतिज्ञावाणीपर परम विश्वास कर अनन्यभावसे उनकी शरण नहीं लेते। इसीसे बारंबार एक कष्टसे दूसरे कष्टमें पड़ते हुए संकटमय अशान्त जीवन बिता रहे हैं—पथ-भ्रष्ट पथिककी भाँति श्रान्त-क्लान्त होकर किंकर्तव्यविमूढ हो रहे हैं। वास्तवमें यह हमारी बड़ी ही दयनीय दशा है। इस स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये हमें अपनी दृढ़ संकल्प-शक्तिके द्वारा भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेका अभ्यास करना चाहिये। अपने प्रत्येक कर्मके मूलमें भगवत्प्रेरणा समझने, प्रत्येक सुख-दुःखको भगवान्‌का दयापूर्ण विधान समझकर उसीमें संतुष्ट रहने तथा निरन्तर उसका स्मरण करते हुए प्रत्येक कर्म बिना किसी भी इच्छा-अभिलाषाके यन्त्रवत् करते रहनेका अभ्यास करना चाहिये।

परंतु केवल मुखसे, 'मैं तुम्हारे शरण हूँ', 'मैं तो तुम्हें आत्मसमर्पण कर चुका' आदि शब्द कह देनेमात्रसे कुछ भी नहीं होता।

अपना माना हुआ सर्वस्व उसके अर्पण कर देना होगा। अहंकार, मन, बुद्धि, शरीरका प्रत्येक संकल्प,प्रत्येक चिन्तन, प्रत्येक विचार, प्रत्येक कामना और प्रत्येक कर्म सब कुछ उसके अर्पण कर देने होंगे। भोगोंकी ओर दौड़ते हुए मन और इन्द्रियोंको लौटाकर उनकी गति सर्वथा भगवान्‌की ओर कर देनी पड़ेगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक बार भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर मनुष्य समस्त भयसे छूट जाता है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकिकी कवितामें भगवान्

श्रीरामके ये वचन सर्वथा सत्य हैं कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो कोई प्राणी एक बार भी मेरे शरण होकर यों कहता है कि 'मैं तुम्हारा हूँ', उसे मैं अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

भगवान्‌के इस व्रतमें कोई संदेह नहीं है, एक बार भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण हो जानेपर जीव सदाके लिये अवश्य ही निर्भय हो जाता है। वास्तवमें आत्मसमर्पण होता भी एक ही बार है। समर्पणका अर्थ दान है, दान और ग्रहण एक ही कालमें एक बार ही हुआ करता है, जहाँ एक बार हो चुका, वहाँ सदाके लिये ही हो गया। परंतु हम एक बार उनको आत्मसमर्पण करते ही कहाँ हैं? आत्मसमर्पण या शरणका नाम जानते हैं, अर्थ नहीं जानते। हमारा ज्ञान,ध्यान, भजन या तो लोगदिखाऊ होता है या भोगोंको पानेके लिये होता है। हमारे मनकी सारी वृत्तियाँ नदियोंके समुद्रमें जाकर पड़नेकी भाँति सदा संसार-सागरमें जाकर पड़ती रहती हैं, ऐसी अवस्थामें हम निर्भय कैसे हो सकते हैं, अन्तर्यामी भगवान् भला बनावटी बातोंमें क्यों फँसने लगे? सच पूछिये तो हम भाँति-भाँतिके भयोंमें फँसे हुए हैं। पुत्रके मरनेका भय है, धन जानेका भय है, कीर्तिनाशका भय है, झूठी इज्जतका भय है, शरीर-नाशका भय है, घर-समाजके नाराज होनेका भय है। एक भय हो तो बताया जाय! हमने तो अपने चारों ओर भयका दल बटोर रखा है, इसीसे हमें आज तमाखू-सरीखी तुच्छ चीज छोड़नेमें भी स्वास्थ्य-नाशका भय रहता है, सर्वथा हानिकर रूढ़ि तोड़नेमें भी लोकलाज और समाजका भय लगता है, सच्ची बात कहनेमें भी राजका भय रहता है। इन्हीं सब भयोंके कारण हम नाना प्रकारके पापोंमें रत रहते हैं, यही आसुरी भाव है। जबतक इन आसुरी भावोंमें फँसे रहकर हम पाप बटोरते हैं, तबतक भगवान्‌के शरण कैसे हो सकते हैं? भगवान्‌ने तो स्वयं कहा है कि—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(गीता ७। १५)

'मायाने जिनका ज्ञान हरण कर लिया है, ऐसे पापी, आसुरी स्वभावके नराधम मनुष्य मुझ भगवान्‌की शरण नहीं हो सकते।'

इन सब भयके दलोंका दलन कर, सबको पैरोंसे कुचलते हुए दृढ़ और अविराम गतिसे आगे बढ़ना होगा, तब हम निर्भय शरणपदके अधिकारी होंगे।

एक दृष्टान्त

कुछ लोग विदेशसे दुःखी होकर अपने घर जाना चाहते थे। उनका घर हिमालयकी तराईमें उत्तरकी ओर था, परंतु उन्होंने इस बातको भूलकर दक्षिणकी ओर जाना आरम्भ कर दिया। घर जानेकी लगन बहुत जोरकी थी, इसलिये वे उसी उलटे मार्गपर खूब दौड़ने लगे। उन्हींके दो-चार साथी, जिनको सच्चे मार्गका ज्ञान था, उत्तरकी ओर जा रहे थे, रास्तेमें उनकी परस्पर भेंट हो गयी। यथार्थ मार्गपर सीधे घरकी ओर जानेवाले लोगोंने उलटे जाते हुए लोगोंसे पूछा—'भाई! तुम सब कहाँ जा रहे हो?' उनमेंसे कुछने कहा—'हम अपने घर जा रहे हैं।' उन्हींके देशके और एक ही गाँवके ये लोग भी थे। उन्होंने कहा—'भाई! घरके रास्ते तो हमलोग जा रहे हैं, तुम सब उलटे दौड़ते हुए घरसे और भी दूर बढ़े चले जा रहे हो, बहुत दूर निकल जाओगे तो फिर लौटनेमें बड़ी तकलीफ होगी, इस मार्गमें कहीं तुम लोगोंको विश्राम करनेके लिये जगह नहीं मिलेगी। वृक्षकी शीतल छाया या शान्तिप्रद ठंडा जल तो इस ओर है ही नहीं! बड़े जोरकी लू चल रही है, सारा शरीर झुलस जायगा, थककर हैरान हो जाओगे, प्यासके मारे प्राण छटपटानेपर भी कहीं सरोवरके दर्शन नहीं होंगे। इसलिये इस दुःखदायी विपरीत पथको छोड़कर हमारे साथ सीधे रास्ते चलो।' विपरीत-मार्गियोंमें बहुतोंने तो इस बातको सुनना ही नहीं चाहा; उनकी समझसे तो इन बातोंके सुननेमें समय लगाना सुखरूप घर पहुँचनेमें देर करने-जैसा प्रतीत हुआ। कुछने बातें तो सुनीं, परंतु विचार करनेपर उनको इन बातोंमें कुछ सार नहीं दिखलायी दिया, वे भी चले गये। कुछ लोग ठहरकर विचार करने लगे, उन्होंने सीधे रास्तेकी तरफ घूमकर देखा, थोड़ी देर वहाँ खड़े रहे, साथ चलनेकी इच्छा भी हुई, उन्हें अपना मार्ग विपरीत भी प्रतीत हुआ, परंतु वे मोहवश पुराने साथियोंका साथ नहीं

छोड़ सके, अतएव अपने मार्गमें शंकाशील होते हुए भी वे उसी उलटे मार्गपर चल पड़े। इन लोगोंमेंसे कुछ तो आगे जाकर ठहर गये और खूब सोच-विचारकर वापस मुड़ गये एवं कुछ अपने पुराने साथियोंकी बातोंमें आकर उसी मार्गसे चल दिये। कुछ थोड़े-से ही ऐसे निकले जो इनकी बातें सुनते ही सावधान होकर एकदम मुड़ गये, मुड़ते ही—उनका सम्पूर्ण शरीर सीधे मार्गके सामने होते ही वे सुन्दर स्वच्छ प्रकाशमय पथ और सामने ही अपना घर देखकर परम सुखी हो गये। फिर पीछेकी ओर झाँकनेकी भी उनकी इच्छा नहीं हुई। पुराने साथियोंने पुकारा, वापस लौटनेको कहा, परंतु उन्होंने उधरकी ओर मुँह बिना ही फिराये उनसे कह दिया—'भाई! हम अब इस सुखके मार्गसे वापस नहीं लौट सकते। सीधे मार्गपर आते ही हमें अपना घर सामने दीखने लगा है। घरकी प्रीति अब तो हमें मने करनेपर भी लौटने नहीं देती।' वे नहीं लौटे और झंझटोंसे छूटकर तुरंत अपने घर पहुँचकर सदाके लिये सुखी हो गये।

इसी प्रकार इस संसारमें भी चार प्रकारके मनुष्य हैं—पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त। परम और नित्य सुखरूप परमात्माकी खोज सभी करते हैं, सभी सुखके अन्वेषणमें दौड़ते हैं,परंतु अधिकांश मनुष्य पथभ्रष्ट होकर विपरीत मार्गपर ही चलते हैं, इसीसे उन्हें सुखके बदलेमें बारंबार दुःख-कष्टोंका शिकार बनना पड़ता है। कहीं भी शान्ति-सुखके दर्शन नहीं होते! इनमेंसे जो लोग सन्मार्गपर चलनेवाले सदाचारी संत-महात्माओंकी वाणीको सुनना ही व्यर्थ समझते हैं, चौबीसों घंटे 'हाय धन, हाय पुत्र, हाय सुख, हाय भोग, हाय कीर्ति' आदि चिल्लाते हुए ही भटकते हैं, कहाँ जाते हैं—इसका उन्हें स्वयं भी कुछ पता नहीं है तथापि अन्धोंकी तरह चल ही रहे हैं, वे तो पामर मनुष्य हैं। दूसरे वे विषयी पुरुष हैं, जो कभी-कभी प्रसंगवश अकारण-कृपालु संत-महात्माओंद्वारा कुछ परमार्थकी बातें सुन तो लेते हैं; परंतु उनमें उन लोगोंको कोई सार नहीं दीखता, इससे वे सुनकर भी तदनुसार चलनेकी इच्छा नहीं करते। तीसरे मुमुक्षु हैं, इनमें प्रधानतः दो श्रेणियाँ हैं—मन्द और तीव्र। जो मन्द मुमुक्षु हैं, वे सत्संगमें परमार्थकी बातें मन लगाकर सुनते हैं, सन्मार्गपर चलकर भगवत्प्राप्तिकी इच्छा भी करते हैं, मार्गकी ओर कुछ क्षणोंके लिये मुँह फिराकर यानी संसारके बाह्य भोगोंसे मनकी गतिको क्षणभरके लिये रोककर ईश्वरकी ओर लगाना भी चाहते हैं, परंतु विषयी पुरुषोंके संगसे व्यामोहमें पड़कर अपनी पुरानी चाल नहीं छोड़ सकते और पुनः विषयोंमें ही दौड़ने लगते हैं। परंतु जो तीव्र मुमुक्षु होते हैं, वे एकदम मुड़कर अपने मनकी गतिको सर्वथा ईश्वरोन्मुखी कर देते हैं। इस तरफ एक बार दृढ़ निश्चयपूर्वक पूर्णरूपसे लग जानेपर—भगवान्‌के सम्मुख हो जानेपर मनुष्यको कुछ विलक्षण ही आनन्द मिलने लगता है, परमात्मारूप परमानन्दका नित्य-निकेतन उसे अत्यन्त समीप—अपने अंदर-बाहर सब जगह दीखने लगता है, वह फिर किसी तरह भी संसारके बाह्य रूपकी ओर मन नहीं लगा सकता, यही एक बार परमात्माके सम्मुख होना है। हम लोग बाह्यभावको—मुखके शब्दोंको ही आत्मसमर्पण समझकर शास्त्रवचनोंपर संदेह करने लगते हैं और सोचते हैं कि 'हम तो किसी समय एक बार भगवान्‌के शरणागत हो गये थे, आत्मसमर्पण कर दिया था, परंतु अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ, इससे सम्भव है कि वाल्मीकिरामायणका यह श्लोक प्रक्षिप्त हो या केवल रोचक वाक्य ही हो।' परंतु यह नहीं सोचते, एक बार पूर्ण आत्मसमर्पण कर चुकनेके बाद किसी प्रकारका भय या अपने उद्धारकी चिन्ता ही कैसे हो सकती है? भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेवालेको किसका भय और उसका कैसा उद्धार? यदि भय या उद्धारकी चिन्ता है तो आत्मसमर्पण ही कहाँ हुआ? दोष भरा है हमारे अंदर, देखते हैं हम रात-दिन जगत्‌के भोग-सुख और तृप्तिकी असंख्य बाह्य वस्तुओंको, सुख ढूँढ़ते हैं उनमें और संदेह करते हैं भगवान् और भक्तशिरोमणि ऋषियोंके अनुभूत वाक्योंपर! कैसी विचार-विडम्बना है!

आत्मसमर्पणके लिये अपनेको दुष्कृतों—पापोंसे बचाकर आसुरी भावका आश्रय छोड़कर मायाके द्वारा अपहृत ज्ञानको सत्कर्म और उपासनासे पुनः अर्जन करना होगा और उस ज्ञानके द्वारा परमात्माके स्वरूपको समझकर निश्चल एक निश्चयसे अपना जीवन उन्हें अर्पण कर देना होगा। यही भगवान्‌के एक बार सम्मुख होना है। भगवान्‌के

सम्मुख होते ही तत्काल सारे पापपुञ्ज भस्म हो जाते हैं और वह मनुष्य उसी शाश्वती शान्तिरूप परम पदको प्राप्त होता है,जहाँसे पुन: कभी उसका स्खलन नहीं होता। पापोंके छोड़नेका यह मतलब नहीं कि सारे पापोंका फल भोगनेके बाद हम भगवान्की शरण लेंगे। इसका अर्थ यही है कि अबसे पापोंको छोड़कर, अपना अवशेष जीवन भगवान्को एक निश्चयसे अर्पण कर देना चाहिये। फिर तो भगवान् स्वयं सँभाल लेते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजता है तो उसे साधु मानना चाहिये; क्योंकि उसने आगेके लिये केवल मुझे ही भजनेका निश्चय कर लिया है। उसे केवल साधु मानना ही नहीं चाहिये, वह वास्तवमें बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और उस नित्य परम शान्तिको प्राप्त होता है। मैं यह सत्य विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।'

भगवान्के इन बड़े भरोसेके वचनोंपर विश्वास करके नित्य अपने अत्यन्त समीप रहनेवाले, अपने अंदर ही बसनेवाले उस परमात्माको ज्ञानके द्वारा जानकर उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। अश्रद्धा, आलस्य, उद्योगहीनता, भय, संशय, जडता, अविश्वास आदि दोषोंको सब तरहसे तिलाञ्जलि देकर बड़े उत्साहसे भगवान्की विश्वलीलामें खिलौना बननेकी भावना करते हुए अग्रसर होना चाहिये।

भगवान्के दिव्य मन्दिरका द्वार सबके लिये सदा-सर्वदा खुला है। जो उन्हें चाहेगा वे उसे ही मिलेंगे। जो उनसे प्रेम करेगा, उसीसे वे प्रेम करेंगे। अवश्य ही ज्ञान बिना उनके त्रिगुणातीत स्वरूपका पता नहीं लगता और उनके उस सत्त्वगुणसे भी ऊँचे—अति विलक्षण अनिर्वचनीय स्वरूपका पता लगे बिना यथार्थ आत्मसमर्पण भी नहीं हो सकता; परंतु केवल शुष्क ज्ञानसे भी वहाँतक पहुँचनेमें बड़ी-बड़ी बाधाएँ हैं, ज्ञानके साथ प्रेमामृतकी रस-धारा अवश्य ही बहती रहनी चाहिये। प्रेमके बिना—पराभक्तिके बिना केवल ब्रह्मभूत होनेसे ही भगवान्के यथार्थ स्वरूपका तत्त्वत: ज्ञान नहीं होता।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५४-५५)

'ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नचित्तवाला पुरुष न किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी इच्छा करता है, तब सब भूतोंमें समभावसे स्थित वह पुरुष मेरी (परमात्माकी) 'पराभक्ति'को प्राप्त करता है। उस पराभक्तिके द्वारा मुझ (परमात्मा)-को तत्त्वसे भलीभाँति जानता है। इस प्रकार मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ, उस मुझको भक्तिद्वारा तत्त्वसे जानकर वह तुरंत ही मुझमें प्रवेश कर जाता है।'

अतएव प्रेमसे भगवान्का स्मरण करते हुए उन्हें आत्मसमर्पण करनेकी भावनाको प्रबल इच्छा-शक्तिके द्वारा दिनोंदिन बढ़ाना चाहिये। आत्मसर्मपणकी इच्छा ज्यों-ज्यों बलवती होगी, त्यों-ही-त्यों परमात्माके दरबारका दरवाजा आप-से-आप खुलता रहेगा और अन्तमें हृदयस्थित श्रीविष्णुचरणसे भव-भय-नाशिनी अलौकिक सुधा-धारा उत्पन्न होकर ज्ञान, वैराग्य और प्रेमरूप त्रिविध धारामें परिणत हो समस्त मन-प्राणको भगवद्रूपके प्रवाहमें बहा देगी। फिर जगत्का रूप तुरंत ही बदल जायगा। फिर हमें दीख पड़ेगा—सर्वस्व हरिका, दीख पड़ेंगे—सर्वत्र हरि, हरिकी नित्यलीला और उस लीलामें भी केवल हरि ही—'**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।**' (गीता ७। ७)

यही मुक्तिका स्वरूप है, यही साधनका पर्यवसान है, यही परमगति है, इसीको जानने-समझनेवाले आत्माराम भक्त बड़े दुर्लभ हैं—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥**' (गीता ७। १९)

भगवत्कथामृतकी मङ्गलमयता

(श्रीशंकरलालजी लढ़िया)

संसारमें सर्वाधिक मङ्गलमयी कल्याणकारिणी वस्तु भगवान्‌की कथा ही है। सम्पूर्ण भागवत और प्राय: सभी पुराण भगवत्कथाकी महिमासे ही ओतप्रोत हैं और प्रकारान्तरसे सब भगवत्कथाएँ हैं, ये भगवत्-लीलामृतका ही वर्णन करती हैं। भागवतके अन्तमें कहा गया है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ४९)

अर्थात् जिस वचनके द्वारा भगवान्‌के परम पवित्र यशका गान होता है, वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है, इससे अनन्तकालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्यमात्रका सम्पूर्ण शोक चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है। भागवतके एक दूसरे स्थलमें इसकी पुष्टि इस प्रकार की गयी है—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

(श्रीमद्भा० १०। १। ४)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने ठीक इसका शब्दश: अनुवाद करते हुए लिखा है—

सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥

× × ×

जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥
भव सागर चह पार जो पावा। राम कथा ता कहँ दृढ़ नावा॥
बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥
श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं॥
ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सोहाती॥
जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरि कथाँ न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान॥

इसका संक्षिप्त भाव यह है कि समस्त आशा-तृष्णासे मुक्त—जीवन्मुक्त तथा समाधि-सिद्ध सनक, सनन्दन, नारद आदि मुनि अहर्निश भगवल्लीलाका ही श्रवण-कीर्तन करते रहते हैं। संसार-समुद्रको पार करनेके लिये भगवत्कथा ही सर्वाधिक दृढ़ नौका है। सुननेमें सबके लिये श्रवण तथा मन और हृदयको आह्लादित करनेवाला है। ज्ञान-विज्ञानको बढ़ानेवाला है। भला ऐसे भगवान्‌के गुणानुवादको महामूर्ख भाग्यहीन आत्मघाती व्यक्तिको छोड़कर दूसरा कौन हो सकता है। जो भगवत्-लीलामृतमें अनुराग न करे, वस्तुत: उसका हृदय पत्थर ही है। समूचे भागवतमें ऐसे श्लोक भरे पड़े हैं। प्रसंगवश यहाँ एक आकर्षक एवं भावपूर्ण अन्य श्लोक द्रष्टव्य है—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रया:।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवा:
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥

(श्रीमद्भा० ५। १९। २४)

'जहाँ भगवत्कथाकी अमृतमयी सरिता नहीं बहती, जहाँ उसके उद्‌गम स्रोत (कहनेवाले) भगवद्भक्त साधुजन निवास नहीं करते और जहाँ नृत्य-गीतादिके साथ महोत्सवोंमें भगवान् यज्ञ-पुरुषकी पूजा-अर्चा नहीं की जाती—वह चाहे ब्रह्मलोक ही क्यों न हो, उसका सेवन नहीं करना चाहिये।'

जिस सत्संगकी सभी शास्त्रोंमें सर्वोत्तमता प्रतिपादित की गयी है, वह भी मङ्गलमय भगवच्चरित्र कथन-श्रवण आदिके कारण ही है। भागवतमें ही आया है—

कथा हरिकथोदर्का: सतां स्यु: सदसि ध्रुवम्॥

(श्रीमद्भा० २। ३। १४)

संतोंकी सभामें ऐसी ही बातें होती हैं, जिनका पर्यवसान पूर्णरूपेण भगवान्‌के मङ्गलमय चरित्रमें ही होता है, अत: भगवान्‌का मङ्गलमय चरित्र ही सत्संगका सारमय नवनीत है। इसीसे संसारका सदा सच्चा कल्याण होता है और प्राणिमात्रको भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्यकी प्राप्ति होती है।

सर्वश्रेष्ठ हिन्दूधर्म और उसके ह्रासका कारण

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

सर्वश्रेष्ठ धर्म

संसारमें मुख्यरूपसे चार धर्म प्रचलित हैं—हिन्दूधर्म (सनातनधर्म), मुस्लिमधर्म, बौद्धधर्म और ईसाईधर्म। इन चारों धर्मोंमेंसे एक-एक धर्मको माननेवाले करोड़ों मनुष्य हैं। इन चारों धर्मोंमें भी अवान्तर कई धर्म हैं। हिन्दूधर्मको छोड़कर शेष तीनों धर्मोंके मूलमें धर्म चलानेवाला कोई व्यक्ति मिलेगा; जैसे—मुस्लिमधर्मके मूलमें मुहम्मद साहब, बौद्धधर्मके मूलमें गौतम बुद्ध और ईसाईधर्मके मूलमें ईसामसीह मिलेंगे। परंतु हिन्दूधर्मके मूलमें कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा। कारण कि हिन्दूधर्म किसी व्यक्तिके द्वारा चलाया हुआ धर्म नहीं है, प्रत्युत यह अनादिकालसे चला आ रहा है। जैसे भगवान् सनातन (शाश्वत) हैं, ऐसे ही हिन्दूधर्म भी सनातन है। इसलिये हिन्दूधर्मको 'सनातनधर्म' भी कहते हैं। भगवान्ने भी इस सनातनधर्मको अपना स्वरूप बताया है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं......शाश्वतस्य च धर्मस्य॰**' (गीता १४। २७)। जिस युगमें जब-जब इस सनातनधर्मका ह्रास होता है, हानि होती है, तब-तब भगवान् अवतार लेकर इसकी संस्थापना करते हैं*। तात्पर्य है कि भगवान् भी इसकी संस्थापना, रक्षा करनेके लिये ही अवतार लेते हैं, इसको बनाने अथवा उत्पन्न करनेके लिये नहीं। अर्जुनने भी भगवान्को सनातनधर्मका रक्षक बताया है—'**त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता**' (गीता ११। १८)।

एक उपज होती है और एक खोज होती है। जो वस्तु पहले मौजूद न हो, उसकी उपज होती है; और जो वस्तु पहलेसे ही मौजूद हो, उसकी खोज होती है। मुस्लिम, बौद्ध और ईसाई—ये तीनों ही धर्म व्यक्तिके मस्तिष्कको उपज हैं। परंतु सनातन हिन्दूधर्म किसी व्यक्तिके मस्तिष्ककी उपज नहीं है, प्रत्युत यह विभिन्न ऋषियोंके द्वारा किया गया अन्वेषण (खोज) है—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**'। अतः हिन्दूधर्मके मूलमें किसी व्यक्तिविशेषका नाम नहीं लिया जा सकता। यह अनादि, अनन्त और शाश्वत है। अन्य सभी धर्म तथा मत-मतान्तर भी इसी हिन्दूधर्मसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये उन धर्मोंमें मनुष्योंके कल्याणके लिये जो साधन बताये गये हैं, उनको भी हिन्दूधर्मकी ही देन मानना चाहिये। अतः उन धर्मोंमें बताये गये अनुष्ठानोंका भी निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर पालन किया जाय तो कल्याण होनेमें संदेह नहीं करना चाहिये†। प्राणिमात्रके कल्याणके लिये जितना गहरा विचार हिन्दूधर्ममें किया गया है, उतना और किसी धर्ममें नहीं मिलता। हिन्दूधर्मके सभी सिद्धान्त पूर्णतया वैज्ञानिक और कल्याण करनेवाले हैं। अतः हिन्दूधर्म सर्वश्रेष्ठ है।

हिन्दुओंकी वृद्धि आवश्यक क्यों?

हिन्दूधर्ममें मुक्ति, तत्त्वज्ञान, कल्याण, परमशान्ति, परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति जितनी सुगमतासे बतायी गयी है, उतनी सुगमतासे प्राप्तिकी बात ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध, यहूदी, पारसी आदि किसी भी धर्ममें नहीं सुनी गयी है। इसलिये मैं चाहता हूँ कि हिन्दुओंकी वृद्धि हो। कारण कि हिन्दूधर्मके अलौकिक, विलक्षण ग्रन्थोंकी बातोंको हिन्दुओंके सिवाय और कौन सुनेगा और उनका आदर करेगा?

मुसलमानोंने तो हिन्दूधर्मके असंख्य अच्छे-अच्छे ग्रन्थोंको जला डाला। इसलिये आज वेदोंकी पूरी संहिता नहीं मिलती, सभी शास्त्र नहीं मिलते। इस कारण कितनी

---

*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ (गीता ४। ७-८)

† प्रत्येक धर्ममें कुधर्म, अधर्म और परधर्म—ये तीनों होते हैं। दूसरेके अनिष्टका भाव, कूटनीति आदि 'कुधर्म' है, यज्ञमें पशुबलि देना आदि 'अधर्म' है और जो अपने लिये निषिद्ध है, ऐसा दूसरे वर्ण आदिका धर्म 'परधर्म' है। कुधर्म, अधर्म और परधर्म—इन तीनोंसे कल्याण नहीं होता। कल्याण उस धर्मसे होता है, जिसमें स्वार्थ और अभिमानके त्यागपूर्वक अपना तथा दूसरेका वर्तमान और भविष्यमें हित होता हो।

विलक्षण-विलक्षण विद्याएँ नष्ट हो गयीं, कला-कौशल नष्ट हो गये, जिससे केवल हिन्दुओंको ही नहीं, संसारमात्रको लाभ पहुँचता। अब मुसलमानोंकी संख्या बढ़ रही है और हिन्दुओंकी संख्या घट रही है तो आगे चलकर क्या दशा होगी? हिन्दुओंमें कोई-न-कोई तो हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंको पढ़ेगा, पर जो हिन्दुओंके ग्रन्थोंको जला-जलाकर हमामका पानी गरम करते रहे, उन मुसलमानोंसे क्या यह आशा रखें कि वे हिन्दुओंके ग्रन्थोंको पढ़ेंगे? जो हिन्दुओंका धर्म-परिवर्तन करके उनको मुसलमान या ईसाई बनानेमें लगे हुए हैं, उनसे क्या यह आशा की जाय कि वे हिन्दुओंके ग्रन्थोंका आदर करेंगे? असम्भव है। इसी दृष्टिसे मैं हिन्दुओंमें परिवार-नियोजनका विरोध किया करता हूँ। वास्तवमें मेरा यह उद्देश्य बिलकुल नहीं है कि हिन्दुओंकी संख्या बढ़ जाय, जिससे उनको राज्य मिल जाय। मेरा उद्देश्य यह है कि मनुष्यका जल्दी और सुगमतासे कल्याण हो जाय। मैं कल्याणका पक्षपाती हूँ, राज्यका पक्षपाती नहीं।

मेरे मनमें मुसलमानोंके प्रति किंचिन्मात्र भी द्वेष नहीं है। परंतु वे हिन्दुओंका नाश करना चाहते हैं, इसलिये उनकी क्रिया मेरेको अच्छी नहीं लगती। कोई मेरेसे वैर, द्वेष रखनेवाला हो, मेरा बुरा करनेवाला हो, वह भी अगर मेरेसे अपने कल्याणकी बात पूछे तो मैं उसको वैसे ही बड़े प्रेमसे कल्याणका उपाय बताऊँगा, जैसे मैं अपनेमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवालेको बताया करता हूँ। अगर कोई मुसलमान हृदयसे अपने कल्याणका उपाय पूछे तो मैं सबसे पहले उसको बताऊँगा, पीछे हिन्दूको बताऊँगा। मेरा कभी किसीसे भेदभाव रखनेका विचार है ही नहीं।

जीवमात्र परमात्माका अंश है। अतः मेरा जो स्वरूप है, वही-का-वही स्वरूप मुसलमानोंका भी है। जैसे मेरा स्वरूप परमात्माका अंश है, ऐसे ही मुसलमानोंका स्वरूप भी परमात्माका अंश है। अगर मैं उनसे वैर करता हूँ तो वास्तवमें अपने स्वरूपसे तथा अपने इष्टसे वैर करता हूँ। कारण कि जो दूसरे सम्प्रदायकी निन्दा करते हैं, वे वास्तवमें अपने सिद्धान्तका अपमान करते हैं। जैसे, कोई विष्णुका भक्त है और वह शंकरकी निन्दा करता है तो वह समझता है कि विष्णुकी महिमा बढ़ा रहा हूँ और मेरा विष्णुमें अनन्यभाव है। परंतु वास्तवमें शंकरकी निन्दा करनेसे यह सिद्ध होता है कि शंकर और शंकरके भक्तोंमें विष्णु नहीं है। अतः दूसरेके इष्टदेवकी निन्दा करनेवाला वास्तवमें अपनी ही हानि करता है, अपने ही इष्टदेवको कमजोर सिद्ध करता है। ऐसे ही अगर मैं मुसलमानोंकी निन्दा करूँगा तो उनमें मेरा परमात्मा नहीं है—यह सिद्ध होगा। इसलिये मुसलमान मेरे निजस्वरूप, आत्मस्वरूप, अभिन्नस्वरूप हैं। परंतु मुसलमान हिन्दुओंकी हत्या करते हैं, उनकी स्त्रियोंका अपहरण करते हैं, उनके ग्रन्थोंको जलाते हैं, उनके मन्दिरोंको तोड़ते हैं, उनकी गायोंकी हत्या करते हैं—सब प्रकारसे हिन्दुओंका नाश-ही-नाश करते हैं, यह क्रिया मुझे बहुत बुरी लगती है।

जब देशमें मुसलमानोंका राज्य हुआ, तब उन्होंने कितने हिन्दुओंको मारा, कितनी स्त्रियोंका अपहरण किया, कितने मन्दिरोंको तोड़ा, हिन्दुओंपर कितना अत्याचार किया—इसका कोई पारावार नहीं है। चित्तौड़में मुसलमानोंने इतने हिन्दुओंकी हत्या की थी कि केवल उनके जनेऊ साढ़े चौहत्तर मन इकट्ठे हुए थे! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो जनेऊ धारण करते हैं, पर शूद्र आदि जनेऊ धारण नहीं करते। ऐसी स्थितिमें कितने हिन्दू मारे गये, इसकी कोई गणना नहीं! लोग अबतक चिट्ठियोंपर साढ़े चौहत्तरका अंक (७४ ॥)—इस प्रकार लिखा करते थे, जिसका अभिप्राय यह होता था कि जो इस चिट्ठीको खोलकर पढ़ेगा, उसको चित्तौड़के नरसंहारका पाप लगेगा। विचार करें, अगर देशमें पुनः मुसलमानोंकी बहुलता हो गयी और उनका राज्य हो गया तो फिर क्या दशा होगी? वोट-प्रणालीमें जिसकी संख्या अधिक होती है, उसीकी विजय होती है, उसीका राज्य होता है। इसलिये देशमें हिन्दुओंकी वृद्धि अत्यन्त आवश्यक है। इसमें केवल हिन्दुओंका ही नहीं, प्रत्युत सभी धर्मोंके लोगोंका हित निहित है; क्योंकि हिन्दूधर्म प्राणिमात्रका हित चाहता है। हिन्दू ही 'विश्व-कल्याण-यज्ञ'के आयोजन करता है। 'विश्वका कल्याण हो'—यह नारा भी हिन्दू ही लगाता है। घर-घरमें **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे**

भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥'—ऐसी प्रार्थना भी हिन्दू ही करता है। **'वासुदेवः सर्वम्'**, 'सब जग ईश्वररूप है'—ऐसी शिक्षा भी हिन्दू ही देता है।

हिन्दुओंके ह्रासका मुख्य कारण

पिछली जनगणनाके परिणामके अनुसार सन् १९८१—१९९१के बीच भारतमें मुसलमानोंकी जनसंख्या ३२.७६ प्रतिशत और हिन्दुओंकी जनसंख्या २२.७८ प्रतिशत बढ़ी है। इस बातसे देशका हित चाहनेवाली हिन्दू-संस्थाओंका चिन्तित होना स्वाभाविक है। उन संस्थाओंका विचार है कि देशमें मुसलमानोंकी संख्यामें वृद्धि होनेका मुख्य कारण 'धर्मान्तरण' है अर्थात् प्रतिवर्ष बहुत बड़ी संख्यामें हिन्दू लोभवश अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बन जाते हैं, जिससे मुसलमानोंकी संख्या बढ़ रही है। अतः धर्माचार्योंको, साधु-संतोंको यथासम्भव धर्मान्तरण रोकनेका और धर्मान्तरित हुए हिन्दुओंको वापिस हिन्दूधर्ममें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। परंतु वास्तविक बात दूसरी ही है! हिन्दुओंकी संख्या कम होनेका मुख्य कारण 'परिवार-नियोजन' है। इस तरफ हिन्दू-संस्थाओंकी दृष्टि नहीं जाती तो यह बड़े आश्चर्य एवं खेदकी बात है।

परिवार-नियोजन अधिकतर हिन्दू ही करते हैं और यह हिन्दुओंपर ही जबर्दस्ती लागू किया जाता है। दूसरी बात, कानूनकी दृष्टिसे हिन्दू एकसे अधिक विवाह नहीं कर सकता, जबकि मुसलमानोंको चार विवाह करनेकी छूट है। इसलिये हिन्दू तो कहते हैं—'हम दो, हमारे दो', पर मुसलमान कहते हैं—'हम पाँच, हमारे पचीस'! जो ईसाई या मुसलमान राज्य पानेके लोभसे अपनी संख्या बढ़ानेमें लगे हुए हैं और इसके लिये हिन्दुओंका धर्म-परिवर्तन भी कर रहे हैं, उनसे क्या यह आशा रखी जा सकती है कि वे परिवार-नियोजनके द्वारा अपनी जनसंख्या बढ़नेसे रोकेंगे?

परम्परासे मैंने एक बात सुनी है कि कुछ समय पहले दिल्लीकी एक मस्जिदमें मुसलमानोंकी सभा हुई। उसमें एक मुस्लिम नेताने कहा कि मुसलमानोंको अधिक बच्चे पैदा करने चाहिये। यह सुनकर एक मुसलमान बोला कि 'हम गरीब हैं, अधिक बच्चोंका पालन कैसे करेंगे?' तो उस नेताने उत्तर दिया कि 'अभी आपलोग थोड़ा कष्ट सह लो, पीछे हिन्दुओंकी सम्पत्ति हमारी ही तो होगी?' उसके कथनका अभिप्राय यह था कि गरीब हिन्दुओंको तो हम युक्तिसे मुसलमान बना लेंगे और धनी हिन्दू परिवार-नियोजन करके धीरे-धीरे अपने-आप खत्म हो जायँगे। आजकल वोटका जमाना है। जिसकी संख्या अधिक होगी, उसीका राज्य होगा।

मैं लगभग उन्तीस-तीस वर्षोंसे परिवार-नियोजनके विरुद्ध बोल रहा हूँ। परंतु अभीतक हिन्दू-संस्थाओंने इस विषयपर थोड़ा भी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया अथवा उनको मेरी बात जँची ही नहीं! परिवार-नियोजनके द्वारा परिश्रम करके, समय खर्च करके, रुपये खर्च करके, तरह-तरहके उपायोंके द्वारा लाखों-करोड़ोंकी संख्यामें हिन्दुओंको पैदा होनेसे रोका जा रहा है। परंतु इस तरफ ध्यान न देकर हिन्दुओंकी कम होती जनसंख्या और मुसलमानोंकी बढ़ती जनसंख्यापर चिन्ता प्रकट की जा रही है—यह आश्चर्यकी बात है। अगर हिन्दुओंकी घटती जन्मदर (अल्पमत) चिन्ताका विषय है, तो फिर परिवार-नियोजनके द्वारा घरमें खुली हिन्दुओंकी खानको बंद करनेकी चेष्टा क्यों की जा रही है? अगर परिवार-नियोजन (कम जनसंख्या) अभीष्ट है तो फिर धर्मान्तरित लोगोंको पुनः हिन्दू बनाकर हिन्दुओंकी जनसंख्या बढ़ानेका परिश्रम क्यों किया जा रहा है?

धर्मान्तरित हिन्दुओंको पुनः हिन्दूधर्ममें लानेमें अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, परिश्रम करना पड़ता है, खर्चेके लिये बहुत रुपयोंकी व्यवस्था करनी पड़ती है, बहुत समय लगाना पड़ता है। धर्मान्तरित लोग वापिस हिन्दू बन भी जायँ तो उनसे हिन्दुओंको कोई विशेष लाभ नहीं होता। कारण कि जिनका अन्तःकरण इतना अशुद्ध है कि अपने सुखभोग, स्वार्थके लिये अपने धर्मका भी त्याग कर देते हैं, वे यदि वापिस हिन्दूधर्ममें आ भी जायँ तो क्या निहाल करेंगे? परंतु जो हिन्दू जन्म ले रहे हैं, उनको न रोकनेमें कोई कठिनता नहीं, कोई परिश्रम नहीं, कोई खर्चा नहीं। धर्मान्तरण रोकनेके लिये जो धन खर्च किया जाता

है, वह धन हिन्दू बालकोंके पालन-पोषण, शिक्षा आदिमें लगाया जा सकता है। जो हिन्दुओंके घरोंमें जन्म लेंगे, उनमें हिन्दू धर्मके संस्कार स्वाभाविक एवं स्थायी-रूपसे पड़ेंगे। धर्मान्तरित लोगोंको वापिस हिन्दू बनाना अपने हाथकी बात भी नहीं है। जो अपने हाथकी बात नहीं है, उसके लिये उद्योग करना और जो (हिन्दुओंको जन्म देना) अपने हाथकी बात है, उसको रोकनेका उद्योग करना बुद्धिमानीका काम नहीं है।

वास्तवमें परिवार-नियोजन-कार्यक्रमसे हिन्दुओंका जितना नुकसान हुआ है, उतना नुकसान मुसलमानों और ईसाइयोंने भी कभी नहीं किया और वे कर सकेंगे भी नहीं! जितने हिन्दू धर्मान्तरित हुए हैं, उससे कई गुना अधिक हिन्दू जन्म लेनेसे रोके गये हैं। जनवरी ८, १९९१ में समाचार-पत्रोंमें छपा था कि देशमें परिवार-नियोजन-कार्यक्रमसे अबतक लगभग बारह करोड़ बच्चोंका जन्म रोका गया है। यह जानकारी तत्कालीन स्वास्थ्य-मन्त्रीने राज्यसभामें दी थी। उस समय तो परिवार-नियोजन-कार्यक्रममें बहुत अधिक तेजी नहीं थी। उसके बादके वर्षोंमें इस कार्यक्रममें बहुत तेजी आयी है। एक बच्चेका भी जन्म रोकनेसे आगे उससे होनेवाली संतानोंका जन्म भी स्वतः रुक जाता है। अतः धर्मान्तरणके घाटेकी पूर्ति तो हो सकती है, पर परिवार-नियोजनके घाटेकी पूर्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती, असम्भव ही है।

धर्मान्तरित लोग तो वापिस हिन्दूधर्ममें आ सकते हैं, पर जिनका जन्म रोका गया है, वे वापिस हिन्दुओंके यहाँ जन्म न लेकर मुसलमानों और ईसाइयोंके यहाँ ही जन्मेंगे। कारण कि भगवान्ने कृपापूर्वक जिन जीवोंको अपना कल्याण करनेके लिये मनुष्यशरीर दिया है, उनको हिन्दूलोग अपने यहाँ नहीं आने देंगे तो फिर वे मुसलमानों और ईसाइयोंके यहाँ ही जन्मेंगे। अगर हिन्दू उनके विशेष ऋणानुबन्धसे अपने यहाँ होनेवाले जन्मको रोकेंगे तो वे सामान्य ऋणानुबन्धसे विधर्मियोंके यहाँ जन्मेंगे। कारण कि हिन्दुओंका ज्यादा सम्बन्ध मुसलमानों और ईसाइयोंसे रहता है; उनकी बनायी वस्तुओंसे वे सुख-आराम लेते हैं; अतः उनके साथ ऋणानुबन्ध रहनेसे वहीं उनका जन्म होगा। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यशरीरमें आनेवाले जीवोंको अपने यहाँ आनेसे रोककर हिन्दूलोग मुसलमानों और ईसाइयोंकी संख्याको ही तीव्रगतिसे बढ़ा रहे हैं। इसलिये वास्तवमें परिवार-नियोजनके द्वारा हिन्दूलोग मूलरूपसे मुसलमानों और ईसाइयोंकी ही संख्या बढ़ानेका उद्योग कर रहे हैं। संतति-निरोध करके वे असली (जन्मसे ही) मुसलमान और ईसाई पैदा करनेमें सहायता दे रहे हैं और नकली (धर्मान्तरण करके) मुसलमान और ईसाई बननेवालोंको रोकनेका प्रयास कर रहे हैं। कितने आश्चर्यकी बात है!

कृत्रिम संतति-निरोधसे हानि

सब दृष्टियोंसे प्राणी-पदार्थोंके उत्पादन, वृद्धि और संरक्षणमें लाभ-ही-लाभ है और उनके ह्रास अथवा नाशमें हानि-ही-हानि है। किसी भी प्राणी और पदार्थका ह्रास अथवा नाश समष्टि शक्ति (ईश्वर अथवा प्रकृति)-के अधीन है, व्यष्टि मनुष्यके अधीन नहीं है। ईश्वर अथवा प्रकृतिके विधानमें हस्तक्षेप करना मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है, जिसका परिणाम भयंकर विनाशकारी होगा।

पालतू पशुओंमें कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, गधा, ऊँट और जंगली पशुओंमें सियार, लोमड़ी आदि असंख्य जातिके पशु हैं, जो परिवार-नियोजन नहीं करते। कुत्ते, बिल्ली, सूअर आदिके एक-एक बारमें अनेक बच्चे होते हैं। परंतु परिवार-नियोजन न करनेसे क्या उनकी संख्या बढ़ गयी? क्या उन्होंने बहुत-सी जगह रोक ली? फिर उनकी संख्याका नियन्त्रण कौन करता है? जो उनकी संख्याका नियन्त्रण करता है, वही मनुष्योंकी संख्याका भी नियन्त्रण करता है।

भोग भोगनेसे और ऑपरेशनसे, कृत्रिम गर्भपातसे शरीर स्वाभाविक कमजोर होता है तथा आयुका ह्रास होता है। अतः जल्दी मरनेके दो रामबाण उपाय हैं—भोग भोगना और ऑपरेशन (नसबंदी आदि), गर्भपात आदि करवाना। आश्चर्यकी बात है कि मरना तो चाहते नहीं, पर उद्योग मरनेका ही कर रहे हैं! घरमें आग लगाकर हर्षित होते हैं कि अहो! कितना बढ़िया प्रकाश हो रहा है कि हाथकी एक-एक रेखा साफ दीख रही है! जब परिणाम सामने आयेगा, तब होश होगा!

मनुष्यको अपना शरीर और रुपये—दोनों बहुत प्यारे लगते हैं और इनको वह बहुत महत्त्व देता है। गर्भपात करवानेसे शरीर भले ही कमजोर हो जाय और रुपये भले ही खर्च हो जायँ, फिर भी गर्भपातरूपी महान् पाप करते हैं—यह कितने पतनका चिह्न है! मनुष्य रुपये पैदा करता है, रुपये मनुष्यको पैदा नहीं करते। उन रुपयोंको खर्च करके उनके उत्पादक (मनुष्य)-का नाश कर देना कितनी बेसमझी है!

गर्भ-स्थापन कर सकनेके सिवाय कोई पुरुषत्व नहीं है और गर्भ-धारण कर सकनेके सिवाय कोई स्त्रीत्व नहीं है। पुरुषत्वके बिना पुरुष और स्त्रीत्वके बिना स्त्री निस्तत्त्व, निःसार है। पुरुष और स्त्रीमें जो तत्त्व, सार है, उसीको वर्तमानमें नष्ट कर रहे हैं! अगर पुरुषमें पुरुषत्व न रहे और स्त्रीमें स्त्रीत्व न रहे तो वे मात्र भोगी ही रहे, मनुष्य रहे ही नहीं। पुरुष भोगी बनकर लम्पट हो गया और स्त्री भोग्या बनकर वेश्या हो गयी! पुरुष पिता न बनकर लम्पट बन जाय और स्त्री माता न बनकर वेश्या बन जाय—इससे अधिक पतन और क्या हो सकता है? मनुष्य यदि मनुष्यको पैदा न कर सके तो वह मनुष्य क्या रहा, एक नारकीय जीव हो गया। उससे तो पशु अच्छे हैं, जो पशुओंको पैदा तो कर सकते हैं!

गीतामें आसुरी मनुष्योंके लिये आया है—

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

(१६। ११)

'आसुरी-सम्पदावाले मनुष्य पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहते हैं और 'जो कुछ है, वह इतना ही है'—ऐसा निश्चय करनेवाले होते हैं।'

आजकल ऐसे ही आसुरी लोगोंकी प्रधानता हो रही है! उनका यह भाव रहता है कि देशका चाहे नाश हो जाय, पर हम सुख भोग लें और संग्रह कर लें। वे लोग अपने सुखके लिये अपनी संतानका भी नाश कर देते हैं। उनकी केवल वर्तमानके सुखपर ही दृष्टि है, भविष्यमें भले ही दुःख पाना पड़े! परलोकमें कितना भयंकर दुःख पाना पड़ेगा, इसका तो कहना ही क्या है, इस लोकमें कितना दुःख भोगना पड़ेगा, इसकी भी परवाह नहीं है। जिसका मरना निश्चित है, उसके भरोसे संतति-निरोध करा लेते हैं, कितनी बेसमझीकी बात है! अभी एक-दो संतान है, वह अगर मर जाय तो क्या दशा होगी—इस तरफ खयाल ही नहीं है।

परिवार-नियोजन-कार्यक्रमसे लोगोंका चरित्र भ्रष्ट हो रहा है। संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंका प्रचार होनेसे समाजमें व्यभिचारकी वृद्धि हो रही है। कुँआरी लड़कियों और विधवाओंको भी गर्भ रोकने अथवा गिरानेका उपाय मिलनेसे उनका भी पतन हो रहा है। अगर सरकार परिवार-नियोजन करवाना ही चाहती है तो उसे लोगोंको भोगासक्तिके लिये प्रोत्साहित न करके संयम रखने, ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। लोगोंमें पहलेसे ही भोगासक्तिकी आग लगी हुई है, फिर नसबंदी, निरोध आदि कृत्रिम उपायोंके प्रचारसे उस आगमें और घी डालना कहाँतक उचित है? अगर संयम, ब्रह्मचर्य आदिका प्रचार किया जाय तो लोगोंका स्वास्थ्य भी सुधरेगा, वे भोगी, प्रमादी, चरित्रहीन, अकर्मण्य न बनकर सच्चरित्र और परिश्रमी बनेंगे, जिससे देश भीतरसे खोखला न होकर मजबूत बनेगा। विचार करें, चरित्र मूल्यवान् है या पैसा? अनेक लोगोंने धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोंका भी त्याग कर दिया तो धर्म मूल्यवान् हुआ या शरीर?* एक प्रसिद्ध कहावत है—'धन गया तो कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, चरित्र गया तो सब कुछ गया।' चरित्र-नाशसे बढ़कर देशका और पतन क्या होगा?

---

* न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥ (महाभारत, स्वर्गा० ५। ६३)

'कामनासे, धनसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी अपने धर्मका त्याग न करे; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु (राग) अनित्य है।'

धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः—

मनुस्मृति—मानवधर्मशास्त्र

[विशेषाङ्क पृ०-सं० २०८ से आगे]

तीसरा अध्याय

वेदाध्ययनके अनन्तर समावर्तन-संस्कार किया जाना चाहिये। ब्रह्मचर्यावस्थामें ब्रह्मचारीको अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इसके बाद तीन वेदोंका या दो वेदोंका अथवा एक वेदका ही अध्ययन कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। उसे अपने धर्मोका ऐसा अनुष्ठान करना चाहिये कि वह प्रसिद्ध हो जाय। उसके बाद पितासे (या आचार्यसे) वेदाध्ययन कर पुष्प-मालासे अलंकृत हो मङ्गलमय उत्कृष्ट आसनपर बैठ जाय। तब उसके पिता या आचार्य मधुपर्क देकर उसका सम्मान करें।

समावर्तनके बाद विवाह-संस्कार

इसके बाद गुरुसे आज्ञा प्राप्त करके अपने गृह्यसूक्तके अनुसार समावर्तन-संस्कार कर अपने वर्णकी अच्छे लक्षणोंसे युक्त कन्यासे विवाह करे[1]। वह कन्या माता या पिताकी सात पीढ़ीतककी न हो और अपने गोत्रकी भी न हो। ऐसी ही कन्या द्विजातियोंके निमित्त अग्न्याधानादि यज्ञ-कर्म या वंशवृद्धिके लिये प्रशंसनीय मानी गयी है।

विवाहमें दस त्याज्य कुल

विवाहमें दस कुलोंका परित्याग कर देना चाहिये। दस त्याज्य कुल ये हैं—(१) जातकर्म आदि संस्कारोंसे रहित, (२) जिसमें पुरुष संतति न होती हो, (३) जिसमें वेदोंका पठन-पाठन न होता हो, (४) जिस कुलके लोगोंके शरीरमें अत्यधिक रोम हों, (५) जिस कुलमें बवासीरका रोग हो, (६) राजयक्ष्मा हो, (७) मंदाग्नि हो, (८) अपस्मार (मृगी)-का रोग हो, (९) श्वेतकुष्ठ और (१०) गलित कुष्ठ हो।

अयोग्य कन्या

जिस कन्याका केश भूरा हो, अधिक या कम अङ्गवाली हो, नित्य रुग्ण रहती हो, रोमसे रहित हो, अधिक रोमवाली हो, कठोर बोलनेवाली हो, भूरी आँखोंवाली हो, ऐसी कन्यासे विवाह न करे।

योग्य कन्या

जिस कन्यासे विवाह करना हो उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना आवश्यक है—

(१) नाक, कान, आँख आदि अङ्गोंसे हीन न हो, (२) सौम्य नामवाली हो, (३) हंस और हाथीकी भाँति मन्दगामिनी हो, (४) पतले दाँतोंवाली हो और (५) सुकुमार शरीरवाली हो[2]। (२—१०)

विवाहके आठ भेद

(१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस और (८) अत्यन्त अधम पैशाच[3]।

आठोंके गुण-दोष

जिस वर्णका जो विवाह धर्मसे युक्त है, जिस विवाहके जो इष्ट और अनिष्ट फल हैं और उन-उन विवाहोंसे उत्पन्न संततिमें जो गुण या दोष आते हैं, वे बातें बतायी जा रही हैं—ब्राह्मणके लिये ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व—ये छः विवाह विहित हैं। क्षत्रियके लिये अन्तवाले आसुर, गान्धर्व, पैशाच और राक्षस—ये चार विवाह विहित हैं। वैश्यके लिये आसुर, गान्धर्व और पैशाच—ये तीन विवाह विहित हैं। इन विवाहोंमें ब्राह्मणके लिये ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य एवं आर्ष—ये चार विवाह प्रशस्त हैं। क्षत्रियके लिये एक राक्षस-विवाह अधिक प्रशस्त माना गया है। वैश्य और शूद्रके लिये आसुर विवाहको प्रशस्त माना गया है। अन्तवाले जो पाँच प्रकारके [प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच] विवाह हैं, इनमेंसे तीन प्रकारके [प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस] विवाह धर्मयुक्त हैं और आसुर एवं पैशाच—ये दो विवाह अधर्मयुक्त हैं। अतः आसुर एवं पैशाच—इन दो विवाहोंको कभी नहीं

१-गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ (मनु० ३। ४)

२-अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्। तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥ (मनु० ३। १०)

३-ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ (मनु० ३। २१)

करना चाहिये। क्षत्रियोंके लिये पैशाच तथा राक्षस-विवाह पृथक्-पृथक् या मिश्रित अच्छे कहे गये हैं। (२१—२६)

विवाहोंके लक्षण

(१) ब्राह्म विवाहका लक्षण—वेदविद् और आचारवान् वरको अपने यहाँ स्वयं बुलाकर सत्कारपूर्वक वस्त्र और भूषणसे अलंकृत कर उसे कन्या प्रदान करना 'ब्राह्म विवाह' है।

(२) दैव विवाहका लक्षण—ज्योतिष्टोम आदि यज्ञके प्रारम्भ हो जानेपर विधिसे कर्म करनेवाले ऋत्विक्को अलंकृत कर उसे कन्यादान करना 'दैव विवाह' कहलाता है।

(३) आर्ष विवाहका लक्षण—कन्याको देनेके लिये वरसे दो गायें लेकर शास्त्रोक्त-विधिसे कन्या-दान करना 'आर्ष विवाह' कहलाता है।

(४) प्राजापत्य विवाहका लक्षण—'वधू और वर तुम दोनों एक साथ मिलकर धर्मकी रक्षा करो' ऐसा कहकर और वरका पूजन कर उसे जो कन्या प्रदान की जाती है उसे 'प्राजापत्य विवाह' कहा जाता है।

(५) आसुर विवाहका लक्षण—कन्याके पिता, चाचा या कन्या आदिको शक्तिके अनुसार धन देकर अपनी इच्छासे उस कन्याको स्वीकार करना 'आसुर विवाह' कहलाता है।

(६) गान्धर्व विवाहका लक्षण—कन्या और पुरुषका परस्पर प्रेमसे जो आलिंगन आदि-रूप संयोग है, उसे 'गान्धर्व विवाह' कहते हैं।

(७) राक्षस विवाहका लक्षण—बलात् कन्याका हरण करना 'राक्षस विवाह' है। [इस हरणमें यदि पिता आदि उपेक्षा कर जायँ तब मार-पीटकी आवश्यकता नहीं पड़ती। किंतु यदि कन्यापक्षके लोग युद्ध करनेके लिये उद्यत हो जायँ तो उनका हनन अपेक्षित है। इस तरह कन्यापक्षके लोगोंको मारकर या उनका अंग-भंग कर गृह आदि तोड़कर चिल्लाती-रोती हुई कन्याका हरण करना 'राक्षस विवाह' कहा जाता है।]

(८) पैशाच विवाहका लक्षण—जो कन्या सोयी हो, मदिराके नशेमें हो और अपनी शील-रक्षाकी उपेक्षा करती हो, उसके साथ अंग-संग करना 'पैशाच विवाह' कहा जाता है, जो अति निन्दित है। (२७—३४)

ब्राह्मणके लिये जल लेकर संकल्पके साथ कन्यादान करना प्रशस्त है। अन्य वर्णोंका कन्या-दान परस्पर इच्छाके अनुसार वचनमात्रसे भी हो सकता है और जलपूर्वक भी[1]॥ ३५॥

विवाहोंके भिन्न-भिन्न गुण

(१) ब्राह्म विवाहकी विधिसे विवाहित कन्यासे उत्पन्न होनेवाला पुत्र पुण्यात्मा होता है। वह अपने वंशकी पिता आदि दस पीढ़ी पहलेके और पुत्र आदि दस पीढ़ी बादके लोगोंका तथा अपनेको भी [इस प्रकार इक्कीस पीढ़ीको] पापसे छुड़ा देता है।

(२) दैव विवाहकी विधिके अनुसार विवाहित कन्यासे उत्पन्न पुत्र अपने वंशके सात पीढ़ी पहलेके लोगोंको और सात पीढ़ी बादवाले लोगोंको तथा अपनेको [इस प्रकार पंद्रह पीढ़ी] तार देता है।

(३) आर्ष विवाहकी विधिसे विवाहित कन्याका पुत्र अपने वंशकी तीन पीढ़ी पहलेवाले तथा तीन पीढ़ी बादवाले वंशजोंका एवं अपना भी [इस प्रकार सात पीढ़ीका] उद्धार कर देता है।

(४) प्राजापत्य विवाहकी विधिसे विवाहित कन्याका पुत्र छः पीढ़ी पहले और छः पीढ़ी आगेके वंशजोंको तथा अपनेको [इस प्रकार तेरह पीढ़ीको] तार देता है। (३७-३८)

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य—इन चार विवाहोंमें ही ब्रह्मवर्चस्वी और शिष्टोंके प्रिय पुत्र उत्पन्न होते हैं। इन पुत्रोंमें सौन्दर्य, सात्त्विक गुण और दया आदि भरे रहते हैं। ये धनवान्, यशस्वी, भोगसम्पन्न, धर्मात्मा और शतायु होते हैं। बचे हुए जो आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच—ये चार विवाह हैं, इनसे उत्पन्न पुत्र क्रूरकर्मा, झूठ बोलनेवाले, वेद और यज्ञादि धर्मके विरोधी होते हैं। इन आठोंमें जो अनिन्दित विवाह हैं, उनसे अनिन्दित संतानें उत्पन्न होती हैं

१-अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते। इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया॥ (मनु० ३। ३५)

और जो निन्दित विवाह हैं, उनसे निन्दित संतानें उत्पन्न होती हैं। इसलिये निन्दित विवाहोंको छोड़ दे[१]। (३९—४२)

विवाहितके कर्तव्य

ऋतुकालमें अपनी पत्नीके पास अवश्य जाना चाहिये। [नहीं तो भ्रूणहत्याका पाप होता है।] निरन्तर अपनी पत्नीमें ही संतुष्ट रहे। अर्थात् दूसरेकी स्त्रीके पास न जाय। ऋतुकालमें भी अमावास्या आदि पर्वके दिनोंमें पत्नीके पास न जाय। रतिकी इच्छासे भी पर्व-दिनोंका वर्जन करे[२]। ऋतुकालकी अवधि बताते हुए कहा गया है कि रजोदर्शनके दिनसे सोलह दिनतक ऋतुकालकी अवधि है। इन सोलह दिनोंमें सज्जनोंके द्वारा निन्दित प्रारम्भकी चार रात्रियाँ भी सम्मिलित हैं। उन सोलह रात्रियोंमें पहली प्रारम्भके चार रात्रियोंके साथ-साथ एकादशी और त्रयोदशी भी निन्दित हैं। अवशिष्ट दस रात्रियाँ अच्छी मानी गयी हैं। इन दस रात्रियोंमें युग्म—छठी, आठवीं तथा दसवीं आदि रात्रियोंमें स्त्रीके पास जानेसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है और पाँचवीं, सातवीं, नवीं आदि विषम रात्रियोंमें कन्या उत्पन्न होती है। इसलिये पुत्र चाहनेवालेको चाहिये कि युग्म रात्रियोंमें स्त्रीके पास जाय। पुरुषमें यदि वीर्यका आधिक्य होता है तो विषम रात्रियोंमें भी पुत्र उत्पन्न होता है और यदि स्त्रीमें रज अधिक होता है तो सम रात्रियोंमें भी कन्या होती है। स्त्री और पुरुष दोनोंमें यदि वीर्यकी मात्रा सम हो तो संतति नपुंसक होती है। ऋतुकालमें जो छः रात्रियाँ निन्दित बतायी गयी हैं तथा अमावास्या, पूर्णिमा आदि पर्वको छोड़कर शेष दो रात्रियोंमें ऋतुगमन करनेवाला पुरुष चाहे जिस आश्रममें निवास करता हो वह ब्रह्मचारी ही माना जाता है। वस्तुतः यह वानप्रस्थाश्रमके लिये ही कहा गया है। (४५—५०)

कन्याके अभिभावकोंके कर्तव्य

कन्याका पिता वरपक्षवालोंसे थोड़ा भी धन न ले, क्योंकि लोभसे धन लेनेवाला मनुष्य संतानको बेचनेवाला माना जाता है[३]।

स्त्री-पुत्रीका धन न ले

स्त्रीका पति या उसका पिता यदि स्त्रीको दिये गये [सवारी] वस्त्र, [आभूषण आदि] धन ले लेते हैं तो वे नरकमें जाते हैं। कुछ आचार्योंने आर्ष विवाहमें जो एक जोड़ा गाय लेनेके लिये कहा है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि थोड़ा या अधिक कुछ भी धन लेना कन्याको बेचना ही है। मनुस्मृति (३। २९)-में आर्ष विवाहके प्रसंगमें कहा गया है कि वरपक्षवालोंसे गो-मिथुन लेकर कन्याका विवाह करना 'आर्ष विवाह' है। प्रस्तुत श्लोकमें आपाततः उसका खण्डन प्रतीत होता है। समन्वय यह है कि एक गो-मिथुन उसी कन्याको देनेके लिये लिया जाय तो कन्या-विक्रयका दोष नहीं है। हाँ, यदि कन्या-पक्षवाले उन दो गौओंको कन्याको न देकर अपने उपयोगमें लेते हैं तो कन्या-विक्रयी माने जाते हैं। [इसी बातको आगेके श्लोकमें मनुजी कह रहे हैं।] कन्याकी प्रसन्नताके लिये वर-पक्षद्वारा दिया जानेवाला गो-मिथुन यदि कन्याके माता-पिता अपने उपयोगमें नहीं लेते, अपितु कन्याको ही दे देते हैं, तब वे कन्याविक्रयी नहीं कहे जायँगे। क्योंकि उन गौओंसे या उस धनसे कन्याका पूजन करके कन्यापर दया दिखाते हैं। (५१—५४)

नारीका सम्मान करें

नारीके दोनों पक्षके पिता, भाई, पति, देवर आदिको चाहिये कि वे विवाहके बाद भी उसका सत्कार करें और वस्त्र, आभूषणसे उसे अलंकृत करते रहें। जिस कुलमें स्त्रियोंकी पूजा होती है, उस कुलपर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुलमें इनकी पूजा नहीं होती, उस कुलमें की गयी याग आदि सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं[४]। जिस कुलमें स्त्रियाँ शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है और जिस कुलमें स्त्रियाँ शोक नहीं करतीं अर्थात् प्रसन्न रहती हैं वह कुल धन आदिसे निरन्तर वृद्धिको प्राप्त करता रहता है। जिन घरोंकी नारियाँ अपूजित होकर शाप देती हैं, वे घर अभिचारसे हत होनेके समान, सब ओरसे

१-अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा। निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत्॥ (मनु० ३। ४२)

२-ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ (मनु० ३। ४५)

३-न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि। गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥ (मनु० ३। ५१)

४-यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ (मनु० ३। ५६)

नष्ट हो जाते हैं। इसलिये ऐश्वर्य चाहनेवाले पुरुषोंका कर्तव्य है कि किसी कौमुदी (आश्विन तथा कार्तिक पूर्णिमा) आदि पर्वों एवं यज्ञोपवीत आदि उत्सवोंपर भूषण, भोजन और आच्छादनसे निरन्तर उनका सम्मान करें। जिस कुलमें पत्नीसे पति संतुष्ट रहता है और पतिसे पत्नी संतुष्ट रहती है, उसी कुलमें निरन्तर कल्याण होता रहता है[१]। यदि स्त्री वस्त्र और आभूषण आदि शोभाजनक पदार्थोंसे सुसज्जित नहीं होती है तो वह अपने पतिको हर्षित नहीं कर पाती। हर्षित न होनेसे पति वंश-वृद्धिमें प्रवृत्त नहीं होता। वस्त्र-आभूषण आदिसे जिस कुलमें स्त्री प्रसन्न रहती है, वह कुल भी सुशोभित होता है। यदि स्त्री वस्त्र-आभूषणादिसे प्रसन्न नहीं की जाती तो वह कुल मलिन हो जाता है। (५५—६२)

कुलके अपकर्षक कर्म

आसुर आदि निन्दित विवाहोंसे, जातकर्म आदि संस्कारोंके विलुप्त हो जानेसे, वेदका स्वाध्याय छोड़ देनेसे और ब्राह्मणकी पूजा न करनेसे प्रख्यात कुल भी अपकृष्ट—हेय हो जाते हैं। चित्रकर्म आदि शिल्पों तथा ललितकलाओंसे, सूदपर धन लगानेसे, केवल शूद्रासे उत्पन्न संतानसे और गौ, घोड़ा, सवारी आदिके खरीदने-बेचनेसे, खेतीसे, राजाकी नौकरीसे, यज्ञके अनधिकारियोंका यज्ञ करानेसे, श्रौत और स्मार्त कामोंमें नास्तिकता रहनेसे तथा वेदाध्ययन छोड़ देनेसे अच्छे कुल भी विनष्ट हो जाते हैं। (६३—६५)

कुलके उत्कर्षक कर्म

जिनमें धन थोड़ा हो, किंतु वेदाध्ययन और अनुष्ठानका बाहुल्य हो जाय, तब वे कुल जल्दी ही बहुत ही ख्यात हो जाते हैं[२]। (६६)

पञ्चमहायज्ञ

विवाहके समयमें जो अग्नि स्थापित की गयी है, उस अग्निमें विधिपूर्वक प्रातः-सायं हवन आदि गृह्यकर्म, पञ्चमहायज्ञ और पाक भी तैयार कर ले। गृहस्थके लिये पाँच हिंसाके स्थान ये हैं—(१) चूल्हा, (२) चक्की, (३) झाड़ू, (४) ओखली-मूसल और (५) घड़ा। [इन पाँचोंके व्यवहारसे चींटीसे लेकर सूक्ष्म जंतुओंकी अनजानमें भी हिंसा होती रहती है। इसलिये इन पाँचोंको पञ्चसूना (पाँच हिंसाके स्थान) कहा जाता है[३]।] इन पाँचों हिंसाओंकी निवृत्तिके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके निमित्त पञ्चमहायज्ञोंका विधान किया है। वे पञ्चमहायज्ञ ये हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ, (२) पितृयज्ञ, (३) देवयज्ञ, (४) भूतयज्ञ और (५) नृयज्ञ। इनमें अध्ययन-अध्यापन करना ब्रह्मयज्ञ, तर्पण करना पितृयज्ञ, हवन करना देवयज्ञ, बलिवैश्वदेव करना भूतयज्ञ और अतिथि-पूजन करना नृयज्ञ है[४]। यथाशक्ति गृहस्थ यदि इन पञ्चमहायज्ञोंको करते रहें, छोड़ें नहीं तो पञ्चसूनाके दोषोंसे लिप्त नहीं होते। जो गृहस्थ देवता, अतिथि, सेवक, माता-पिता तथा अपनेको अन्नसे भरण-पोषण नहीं करता, वह साँस लेता हुआ भी मुर्दा है। कुछ मुनिजन अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्म्यहुत और प्राशित—इन पाँच कर्मोंको पञ्चमहायज्ञ मानते हैं। [वस्तुतः अहुत आदि नाम-मात्रका अंग है] यहाँ 'अहुत' शब्दसे ब्रह्मयज्ञ-रूप जप, 'हुत' शब्दसे देवयज्ञ नामक होम, 'प्रहुत' शब्दसे भूतयज्ञ नामक भूतबलि, 'ब्राह्म्यहुत' शब्दसे मनुष्ययज्ञ और 'प्राशित' शब्दसे पितृयज्ञ समझें। [यदि दारिद्र्य आदि दोषसे अतिथि-भोजन आदि कार्य करनेमें गृहस्थ समर्थ नहीं हो तब वह] ब्रह्मयज्ञ-रूप वेदपाठमें और दैव कर्मरूप होममें संलग्न हो जाय। क्योंकि इन दोनोंसे गृहस्थ जड़-जंगम समस्त जगत्‌को धारण करता है। अतः विधिपूर्वक किया गया हवन सूर्यको प्राप्त होता है। सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाका जन्म तथा भरण-पोषण आदि होता है[५]। (६७—७६)

गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा

जिस प्रकार वायुका आश्रयण कर सभी प्राणी जीवित

१-संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ (मनु० ३। ६०)
२-मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि। कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः॥ (मनु० ३। ६६)
३-पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ (मनु० ३। ६८)
४-अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनु० ३। ७०)
५-अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनु० ३। ७६)

रहते हैं, उसी तरह गृहस्थाश्रमका आश्रयण कर सभी आश्रमी निर्वाह करते हैं,[१] क्योंकि ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रम गृहस्थाश्रमीसे ही वेदाध्ययन और अन्नको प्राप्त करते हैं। इसलिये गृहस्थाश्रमी ही सर्वश्रेष्ठ है[२]। अतः अक्षय स्वर्ग और सांसारिक सुख चाहनेवाला मनुष्य प्रयत्नके साथ गृहस्थाश्रमका आश्रयण करे। जो असंयमी हैं, वे गृहस्थाश्रमको नहीं चला सकते। (७७—७९)

गृहस्थाश्रमी पञ्चमहायज्ञ अवश्य करें

ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि—ये सब लोग गृहस्थसे अपनी तृप्तिकी आशा करते हैं। अतः शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार गृहस्थको ये कर्म करने चाहिये—(१) वेदपाठसे ऋषियोंकी, (२) विधिपूर्वक होमके द्वारा देवताओंकी, (३) श्राद्धोंसे पितरोंकी, (४) अन्नोंसे अतिथियोंकी और (५) बलिकर्मसे भूतोंकी तृप्ति करनी चाहिये। अन्न आदिसे, जलसे, दूधसे, कंद-मूलसे और फलसे पितरोंकी तृप्तिके लिये प्रतिदिन श्राद्ध करना चाहिये। पञ्चयज्ञमें पितरोंके उद्देश्यसे एक भी ब्राह्मणको अवश्य भोजन कराये। पर वैश्वदेवके उद्देश्यसे ब्राह्मणको भोजन करानेकी आवश्यकता नहीं है। (८०—८४)

हवन-विधि

प्रत्येक द्विजका कर्तव्य है कि वह गार्हस्थ्य-अग्निमें सिद्ध अन्नका विधिपूर्वक देवताओंके लिये इस प्रकार हवन करे। पहले '**अग्नये स्वाहा**' और '**सोमाय स्वाहा**' कहकर निरपेक्ष देवताओंका हवन करके '**अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा**' कहकर समस्त देवताओंके लिये हवन करे। फिर '**विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा, कुह्वै स्वाहा, अनुमत्यै स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा**' कहकर हवन करे।

बलि-विधि

इस प्रकार देवताओंका ध्यान करते हुए हवन करनेके बाद पूरब आदि सभी दिशाओंमें प्रदक्षिण-क्रमसे सानुग पुरुषोंके साथ इन्द्र, यम, वरुण और सोमको बलि दे। जैसे पूर्वमें—'**इन्द्राय नमः**', '**इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः**'। दक्षिणमें—'**यमाय नमः**', '**यमपुरुषेभ्यो नमः**,' पश्चिममें—'**वरुणाय नमः**', **वरुणपुरुषेभ्यो नमः**। उत्तरमें—**सोमाय नमः**, **सोमपुरुषेभ्यो नमः**', कहकर बलि दे। द्वारपर—'**मरुद्भ्यो नमः**' कहकर वायुके लिये बलि दे, जलमें—'**उद्भ्यो नमः**' कहकर तथा ओखली-मूसलपर—'**वनस्पतिभ्यो नमः**' कहकर बलि दे। भवनके शिरःप्रदेशमें—उत्तर-पूर्व-दिशा [ईशान-कोण]-में श्रीके लिये, भवनके चरण-प्रान्तमें—दक्षिण-पश्चिम दिशा (नैर्ऋत्यकोण)-में भद्रकालीके लिये, ब्रह्मा और वास्तोष्पतिके लिये—घरके मध्यमें बलि दे। विश्वेदेवोंके लिये आकाशकी ओर फेंक कर निशाचर एवं दिवाचर जीवोंके लिये भी आकाशमें ही बलि दे। भवनके ऊपरी छतपर या बलि देनेवालेकी पीछेकी भूमिपर सर्वात्मक जीवके लिये बलि दे। इसके बाद बचे हुए अन्नको पितरोंके लिये दक्षिण दिशामें '**स्वधा**' कहकर बलि दे। पात्रमें लगे हुए अन्नको कुत्ता, पतित, चांडाल, पापसे उत्पन्न रोगवाले, कौआ, कीड़ा—इन सभीके लिये पृथ्वीपर धीरेसे रख दे। जो इस प्रकार अन्नदानादिसे सभी जीवोंकी प्रतिदिन पूजा करता है, वह अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है[३]। (८५—९३)

बलिकर्मके बादके कृत्य

[क] अतिथि-भोजन—बलि-कर्म करनेके बाद अतिथिको भोजन कराये और विधिपूर्वक संन्यासी और ब्रह्मचारीको भिक्षा दे।

[ख] भिक्षादान—[एक कौरको भिक्षा कहते हैं। अगर सम्भव हो तो इससे अधिक भी दे।] भिक्षा देनेका बहुत महत्त्व है। गृहस्थ द्विज गुरुको गाय देकर जो फल प्राप्त करता है, वह गृहस्थ विधिपूर्वक भिक्षा देकर प्राप्त कर लेता है। यदि अन्न अधिक न हो तो ग्रासमात्र भिक्षाको ही व्यंजन आदिसे सुस्वादु बनाकर भिक्षा दे। उतना भी अन्न न हो तो जलसे भरे पात्रको किसी वेदाध्यायी ब्राह्मणको दे। दान देनेके लिये वेदाध्यायी ही सत्पात्र है। यदि

१-यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ (मनु० ३। ७७)

२-तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही (मनु० ३। ७८)

३-एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति। स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति पथर्जुना॥ (मनु० ३। ९३)

वेदाध्यायी ब्राह्मणको न देकर किसी अनधिकारी ब्राह्मणको देवताओंके उद्देश्यसे हव्य दिया गया और पितरोंके उद्देश्यसे कव्य दिया गया तो दोनों नष्ट हो जाते हैं। विद्या और तपस्यासे उद्दीप्त ब्राह्मणके मुखरूपी अग्निमें खिलाया गया अन्न दुस्तर भय एवं बड़े-बड़े पापोंसे भी बचा लेता है[१]। (९४—९८)

[ग] अतिथि-सत्कार—आये हुए अतिथिको आसन, जल तथा व्यंजन आदिके साथ सत्कारपूर्वक अन्न देना चाहिये[२]। शिलोञ्छवृत्तिसे रहनेवाले और पञ्चाग्निमें हवन करनेवाले द्विजके घरपर भी कोई अतिथि आये और वह उनसे सत्कार न प्राप्त करे, तब वह अतिथि शिलोञ्छसे और पञ्चाग्निसे मिलनेवाले फलोंको ले लेता है। इसलिये अतिथिका सत्कार अवश्य करे। यदि खिलानेकी शक्ति न हो तो सुलभ चार चीजोंसे अतिथिका सत्कार करना चाहिये—(१) तृण, (२) जमीन, (३) जल और (४) मधुर वचन। ये चारों वस्तुएँ सज्जनोंके घरमें अवश्य सुलभ हैं। इनका कभी अभाव नहीं होता[३]। (९९—१०१)

किसे अतिथि समझें?

अतिथि उसे समझना चाहिये जो एक रात ठहरनेवाला हो और जिसके आने तथा ठहरनेकी कोई नियत तिथि न हो **[न विद्यते द्वितीया तिथिर्यस्य सः]**।[४]

इन लोगोंको अतिथि न समझे—जो एक गाँवका रहनेवाला हो और जो हास-परिहाससे जीविका चलाता हो—ये दोनों भार्या तथा अग्निसे युक्त हों तो भी उनको अतिथि नहीं समझना चाहिये। कुछ नासमझ व्यक्ति दूसरे-दूसरे गाँवमें जाकर भोजनके लोभसे अतिथि बन जाते हैं। वे बहुत बड़ा पाप करते हैं। उस पापसे उनको अन्न देनेवालेके यहाँ पशु बनना पड़ता है। (१०२—१०४)

सायंकालमें आये अतिथिका महत्त्व

जो अतिथि सूर्यास्त होनेपर आ जाय उसको सूर्योढ कहते हैं। उस सूर्योढ अतिथिके आ जानेपर उसको लौटाना नहीं चाहिये। वह समयपर आये या असमयपर उसे भोजन कराना आवश्यक है। जो वस्तु अतिथिको न खिलायी गयी हो, उस वस्तुको गृहस्थको स्वयं भी नहीं खाना चाहिये। क्योंकि भोजन आदिसे अतिथिका सत्कार करना धन, आयु, यश तथा स्वर्गके लिये हितकर है। (१०५-१०६)

अतिथि-सेवामें तारतम्य अपेक्षित

यदि बहुत-से अतिथि आ जायँ तो आसन, विश्राम, स्थान, शय्या, उनके पीछे-पीछे उनका अनुसरण और सेवा—ये सब सत्कार उत्कृष्ट लोगोंके लिये उत्कृष्ट तथा मध्यमके लिये मध्यम और उनसे कमवालोंके लिये कम करना चाहिये। सबके साथ सम व्यवहार नहीं करना चाहिये। अतिथि-भोजन-पर्यन्ततक वैश्वदेव हो जानेके बाद यदि कहीं दूसरा अतिथि आ जाय तो उस अतिथिके लिये पुनः पकाकर खिलाये। किंतु इस पाकमें बलि अपेक्षित नहीं। अतिथिके रूपमें आया हुआ ब्राह्मण 'मुझे भोजन अवश्य मिल जाय' इस विचारसे अपना कुल तथा गोत्र न बताये। यदि वह इस निषिद्ध कर्मको करता है तो उसे अपना ही वमन खानेवाला माना जाता है। ब्राह्मणके घरपर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मित्र, बन्धु-बान्धव और गुरु—ये लोग अतिथिकी कोटिमें नहीं माने जाते। अतिथि न होनेपर भी घर आये क्षत्रिय आदिको भोजन तो कराना ही चाहिये। (१०७—११३)

अतिथिसे भी पहले भोजन पानेके अधिकारी

अतिथिके भोजनके पहले नवविवाहिता बहुओं, अविवाहित कन्याओं, गर्भिणी स्त्रियों और रोगियोंको भोजन करा देना चाहिये[५]। यह विचार न करे कि अतिथिके भोजनके पहले इन्हें भोजन कैसे करायें।

गृहस्थ पहले भोजन न करे

जो गृहस्थाश्रमी अतिथिसे लेकर नौकर तकको खिलानेके पहले भोजन कर लेता है, मरनेके बाद उसे कुत्ते, गीध आदि खाते हैं, वह इस बातको नहीं जानता। [इसलिये मनुजी

१-विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु। निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात्॥ (मनु० ३। ९८)
२-सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके। अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥ (मनु० ३। ९९)
३-तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (मनु० ३। १०१)
४-एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः। अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते॥ (मनु० ३। १०२)
५-सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः। अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन्॥ (मनु० ३। ११४)

'गृहस्थ भोजन कब करे' इस बातको फिरसे स्पष्ट कर देते हैं कि] ब्राह्मणों, स्वजनों, अतिथियों और सेवकोंको भोजन करा लेनेके बाद ही उनसे बचे हुए अन्नको गृहस्थाश्रमी पति-पत्नी खायें। देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, पितरों और घरमें स्थित देवताओंकी पूजा कर लेनेके बाद ही अतिथि आदिके खिलानेसे बचे अन्नको खाय। (११५-११७)

विशिष्ट अतिथिकी विशिष्ट पूजा

यदि राजा, ऋत्विक्, स्नातक, गुरु, दामाद, ससुर और मामा—ये लोग एक वर्षके बाद घरपर आ जायँ तो इनका मधुपर्कसे पूजन करे। यदि राजा और वेदपाठी यज्ञमें आ जायँ तो मधुपर्कसे उनकी पूजा करे। यदि यज्ञमें न आये हों तो मधुपर्कसे उनकी पूजा अपेक्षित नहीं है। (११९-१२०)

सायंकाल अमन्त्रक बलि

गृहस्थकी पत्नी सायंकालमें पके हुए अन्नसे बिना मन्त्रके ही बलि दे। यह बलिवैश्वदेव सायंकाल और प्रातः-काल करना चाहिये, ऐसा शास्त्रका आदेश है[1]। (१२१) (ला०मि०)

[सम्पूर्ण मनुस्मृतिका सारांश साधारण अंकोंमें प्रकाशित करना सम्भव न होनेके कारण आगे इसे पुस्तक-रूपमें यथासाध्य प्रकाशित करनेका विचार किया जा रहा है।]

आख्यान—

भार्याधीनः शुभोदयः

[एक ब्राह्मणकी कथा]

धर्मशास्त्रने नारी जातिको पूजनीय माना है[2]। जिस घरमें स्त्रियोंकी पूजा होती है, वहाँ देवता, पितर और मनुष्य सभी आनन्द प्राप्त करते हैं[3]। जो पूजनीय हैं, उनका अनादर करना बहुत भयावह होता है, इसीलिये पिताके कुलमें तथा श्वशुरके कुलमें नारी जातिका सर्वथा सम्मान होना ही चाहिये। बृहत्पराशरस्मृतिने (नारी जातिकी पूजाके लिये) स्पष्ट आदेश दे दिया है—

नापमान्याः स्त्रियः सद्भिः पतिश्वशुरदेवरैः।
भ्रात्रा पित्रा च मात्रा च तथा बन्धुभिरेव च॥

(बृ०परा० ६। ४६)

धर्मशास्त्रने सावधान कर दिया है कि जिस कुलमें या जिस घरमें नारी जातिकी पूजा नहीं होती है, उस कुलमें या उस घरमें किये जानेवाले सारे सत्कर्म निष्फल हो जाते हैं—

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनु० ३। ५६)

अनादर पाकर नारियाँ जिस घरको शाप दे देती हैं, वह घर इस तरहसे नष्ट हो जाता है, जैसे कृत्याने उसको तहस-नहस कर डाला हो। (मनु० ३। ५८) इसलिये धर्मशास्त्रका आदेश है कि नारियोंकी पूजा निरन्तर करते रहना चाहिये—

तस्मादेताः सदा पूज्याः॥ (मनु० ३। ५९)

नारीके सम्मानसे घरमें प्रतिदिन नये-नये कल्याणका उदय होता है—

भार्याधीनः शुभोदयः॥ (बृ० परा० ६। ७०)

यहाँ मार्कण्डेयपुराणकी एक कथा दी जा रही है। इसमें एक ब्राह्मण अपनी दुश्शील पत्नीको भी जबतक सम्मान देता रहा और उसकी सुरक्षा करता रहा, तबतक यज्ञमें उसको निरन्तर सफलता मिलती रही और जिस रातको वह अपनी पत्नीकी सुरक्षा न कर सका, तबसे यज्ञमें उसको सफलता नहीं मिली। इस तरहसे उसका शुभोदय बाधित हो गया।

जिस तरह एक पत्नीके लिये विशील और गुणहीन पति भी आदरणीय होता है, उसी तरह एक पतिके लिये विशील और गुणहीन पत्नी भी आदरणीय ही होती है—

दुःशीलापि तथा भार्या पोषणीया नरेश्वर।

(मार्क०पु० ६९। ५९)

राजा उत्तम महाभागवत ध्रुवके छोटे भाई थे। इनकी

१-सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्। वैश्वदेवं हि नामैतत् सायंप्रातर्विधीयते॥ (मनु० ३। १२१)
२-पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ (मनु० ३। ५५)
३-स्त्रियश्च यत्र पूज्यन्ते सर्वदा भूषणादिभिः। देवाः पितृमनुष्याश्च मोदन्ते तत्र वेश्मनि॥ (बृ० परा० ६। ४४)

माताका नाम सुरुचि था। अपने कुलके अनुरूप उत्तम भी बड़े धर्मात्मा और महात्मा थे। उत्तमका विवाह बहुलासे हुआ था। राजा उत्तम अपनी पत्नीको बहुत प्यार करते थे। अपनी पत्नीमें उनका अनुराग गाढ़ा होता चला गया। संयोगसे इनकी पत्नी राजाके प्रेमको समझ न सकी। इसलिये राजाके प्रिय वचन भी उसके कानोंको कड़वे लगते थे। उनके द्वारा किये हुए सम्मानसे वह झुँझला उठती थी। राजाकी दी हुई माला और आभरणोंको अवहेलनाकी दृष्टिसे देखती थी और उनका तिरस्कार करती थी। पतिके प्रति रानीके अनुकूल न होनेपर भी पतिका प्रेम उसके प्रति और बढ़ता ही चला गया।

एक बार दूसरे-दूसरे राजाओंके समक्ष उनकी पत्नीने राजाज्ञाकी अवहेलना की। माण्डलिकोंके सामने पत्नीके द्वारा की हुई इस अवहेलनासे राजा लज्जित हो गये। क्रोधसे भी भर गये। इसी समय द्वारपालको बुलाकर कहा कि यह निरन्तर मेरा निरादर किया करती है, अतः इस दुष्टाको ले जाकर निर्जन वनमें छोड़ आओ।

रानी निर्जन वनमें छोड़ दी गयी। राजाके इस व्यवहारसे रानीको कोई दुःख नहीं हुआ, प्रसन्नता ही हुई।

राजा उत्तम प्रेमका महत्त्व जानते थे। उनका अपनी पत्नीके प्रति प्रेम कम नहीं हुआ। अपनी पत्नीका स्मरण करते रहते थे। इस स्थितिमें भी उन्होंने प्रजापालनरूपी कर्तव्यको शिथिल नहीं होने दिया।

एक दिन उनके पास एक ब्राह्मण देवता आये और दुःखित हृदयसे बोले—'मैं क्लेशमें पड़ गया हूँ। राजाके अतिरिक्त मेरे क्लेशको और कोई नहीं हटा सकता। मैं रातमें सो रहा था। घरका दरवाजा बंद था। मेरी पत्नी भी सो रही थी। इसी बीच कोई आया और उसने बिना दरवाजा खोले ही मेरी पत्नीका हरण कर लिया। आप मेरी पत्नीको ला दें।' राजा बोले—'ब्रह्मन्! आपकी भार्याका किसने अपहरण किया है और कहाँ रखा है, जबतक इस बातका पता न लग जाय, तबतक उनको वापस लाना कठिन है। आप अपनी पत्नीका हुलिया बताइये।' ब्राह्मणने कहा—'राजन्! मेरी पत्नीकी आँखें बहुत ही कठोर हैं। वह बहुत लम्बी है, किंतु उसकी भुजाएँ छोटी हैं। वह अत्यन्त कुरूप है। उसका स्वभाव भी बहुत ही कठोर है।' राजा ब्राह्मणकी भार्याका ऐसा भयावना हुलिया सुनकर सहम गये। उन्होंने कहा—'ब्रह्मन्! ऐसे बुरे लक्षणोंवाली भार्यासे आपका क्या प्रयोजन? मैं आपका विवाह किसी योग्य कन्यासे करा दूँगा।' ब्राह्मणने कहा—'राजन्! जब वह मेरी भार्या बन चुकी है तब मेरा कर्तव्य है कि उसकी अच्छी प्रकारसे रक्षा करूँ। विधि-विधानसे मेरे साथ उसका विवाह हुआ है। अतः उसका त्याग अधर्म है, उसकी रक्षा करना ही मेरा कर्तव्य है और उसीकी रक्षाके लिये मैं आपकी सहायता चाहता हूँ। भार्यासे विहीन होनेके कारण प्रतिदिन मेरे धर्मकी हानि होती जा रही है। मेरा अभ्युदय रुक गया है। अभ्युदयमें कोई-न-कोई रुकावट आ ही जाती है। इस तरह मुझे पतित भी होना पड़ेगा।'

ब्राह्मणकी ऐसी बात सुनकर महाराज उत्तम ब्राह्मणकी पत्नीको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक मुनिके पास पहुँचे। राजाको आया हुआ देखकर मुनि शीघ्र उठे और उन्होंने राजाका सम्मान किया तथा शिष्यसे कहा—'अर्घ्य ले आओ।'

यह सुनकर शिष्यने मुनिसे कहा कि 'ये राजा अर्घ्यके पात्र हैं या नहीं यह विचार कर आप मुझे आज्ञा दें।' इसके बाद मुनिने केवल सम्भाषण और आसन-प्रदानके द्वारा राजाका सम्मान किया। राजाने मुनिसे पूछा कि 'आखिर मुझमें ऐसी क्या कमी आ गयी है कि आपने मुझे अर्घ्यके योग्य नहीं समझा?' मुनिने कहा—'आपने अपनी विवाहिता पत्नीका त्याग कर दिया है। यह आपसे एक बहुत बड़ा अधर्म हो गया है। जिस समय आपने भार्याका त्याग कर दिया, उस समय आपने अपने सब धर्मोंका भी त्याग कर दिया—

परित्यक्तस्तया सार्धं त्वया धर्मो नृपाखिलः।

(मार्क०पु० ६३। ६१)

इसलिये आप अर्घ्यके योग्य नहीं रह गये हैं। धर्मशास्त्रका कहना है कि पत्नीके लिये शीलरहित पतिका अनुवर्ती होना जितना आवश्यक है उतना ही पतिको भी दुःशील पत्नीके लिये होना आवश्यक है। देखो, ब्राह्मणकी पत्नी भी ब्राह्मणके प्रतिकूल है, फिर भी वह उसकी सुरक्षाके लिये प्रयास कर रहा है।

महाराज उत्तम यह सुनकर लज्जित हुए और उन्होंने ब्राह्मणकी पत्नीका वृत्तान्त जानना चाहा। ऋषिने कहा—'बलाक नामक एक राक्षसने उसका हरण किया है। उसको

उत्पलावत नामक वनमें आप पायेंगे। वहाँ प्रस्थान कीजिये। उस ब्राह्मणको उसकी भार्यासे शीघ्र मिला दीजिये। नहीं तो उसका भी पाप प्रतिदिन दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता जायगा, जैसा कि आपका पाप बढ़ रहा है। (मार्क०पु० ६३। ६९)

राजा रथपर चढ़कर उत्पलावत वन पहुँचे। देखा कि ब्राह्मणने जैसा हुलिया बताया था, वैसे ही कुरूप शरीरवाली एक ब्राह्मणी बेल तोड़-तोड़कर खा रही है। राजाने समीप जाकर पूछा कि 'तुम इस वनमें कैसे आ गयी हो। तुम सुशर्मा नामक ब्राह्मणकी भार्या हो या नहीं, स्पष्ट कहो।' ब्राह्मणीने बताया कि 'जिनका आपने नाम लिया है, सचमुच मैं उन्हींकी पत्नी हूँ। एक दुरात्मा राक्षस रातको मुझे यहाँ हर लाया है।' राजाने उस राक्षसका पता जानना चाहा। ब्राह्मणीने बताया कि इसी वनके एक प्रान्तमें वह रहता है।' इसपर राजा राक्षसके पास पहुँच गये। राजाको देखते ही दूरसे ही मस्तक नवाकर उसने राजाका अभिनन्दन किया और कहा कि आपने बड़ा अनुग्रह किया जो मेरे घर पधारे हैं। मुझको आज्ञा दीजिये कि मैं आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ। राजाने कहा—'निशाचर! मैं यह जानना चाहता हूँ कि ब्राह्मणकी पत्नीको तुम क्यों हर लाये हो।' राक्षसने कहा—'मैं आदमखोर राक्षस नहीं हूँ। मैं या तो पुण्यका फल खाता हूँ या किसीके स्वभावको खा जाता हूँ। वे राक्षस दूसरे होते हैं जो मांस खाते हैं।' तब राजाने पूछा—'फिर इस ब्राह्मणीको क्यों हर लाये।' राक्षसने कहा—'इसका पतिदेव मन्त्रज्ञ है, जब यज्ञोंमें जाता हूँ, तब रक्षोघ्नमन्त्र पढ़कर वह मेरा उच्चाटन कर देता है। तब मैं वहाँसे भूखा ही लौट आता हूँ। मैं अपनी भूख मिटानेके लिये ब्राह्मणको धर्मच्युत करनेकी दृष्टिसे उसकी पत्नीको हर लाया हूँ। एक पतिका कर्तव्य है पत्नीकी रक्षा करना। यह धर्म अब ब्राह्मणसे हो नहीं रहा है। इसलिये अब उन यज्ञोंमें मेरा पेट भर जाया करता है।'

राजाने कहा—'भद्र! अभी तुमने कहा कि मैं स्वभाव खाता हूँ। मैं यह चाहता हूँ कि तुम इस ब्राह्मणीका दुष्ट स्वभाव खा डालो और इसे इसके पतिके पास पहुँचा दो।' निशाचरने राजाकी आज्ञाका पालन किया। उसके खराब स्वभावको खा गया और उसे घर भी पहुँचा आया। राजाने निशाचरको इस बातके लिये भी राजी कर लिया कि जब भी मैं तुझे स्मरण करूँ मेरे पास आ जाना। राजा अपनी प्रजाका कार्य सम्पन्न कर बहुत प्रसन्न हुए।

इसके बाद राजा मुनिके पास पहुँचे। उन्होंने जो अपनी पत्नीका त्याग कर पातित्य पाया था, उसका प्रतीकार पूछा। मुनिने बताया—'राजन्! तुम्हारी पत्नी जो तुम्हारे प्रतिकूल रहती है, इसमें कारण ग्रह-गोचर हैं। अब अपनी भार्यासे मिलकर धर्मयुक्त काम कीजिये। राजन्! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी यदि अपनी पत्नीको त्याग देता है तो वह कर्मानर्ह हो जाता है। जैसे पत्नीके लिये अपने पतिका त्याग अनुचित है, वैसे ही पतिके लिये पत्नीका त्याग भी अधर्म है—

अत्याज्यो हि यथा भर्ता स्त्रीणां भार्या तथा नृणाम्॥

(मार्क० ७१। ११)

नगरमें पहुँचकर राजाने ब्राह्मणको अपनी भार्याके साथ प्रसन्न देखा। ब्राह्मणने धन्यवाद देते हुए राजासे कहा—'आपने मेरी भार्या देकर मेरे धर्मकी रक्षा की है और रक्षा करना ही राजाका कर्तव्य है।' राजाने विनम्रतासे कहा—'ब्रह्मन्! आप तो अपना धर्म पालन कर कृतार्थ हो गये, किंतु मेरी पत्नी मेरे घरमें नहीं है। अतः मैं बहुत धर्मसंकटमें हूँ। मुनिके कथनानुसार मेरी पत्नी अभी जीवित है, उसका पातिव्रत्य भी सुरक्षित है। किंतु ग्रह-दोषसे वह सदा मेरे प्रतिकूल ही रहेगी, जो दुःखका ही कारण है। इसलिये आप कोई ऐसा उपाय करें, जिससे मेरी पत्नी मेरे अनुकूल रहे। ब्राह्मणने **'मित्रविन्दा'** नामक यज्ञ कराया, जिससे रानी पतिके अनुकूल हो गयी। अब राजाने निशाचरका स्मरण कर बुलाया, उसके द्वारा पाताललोकसे अपनी पत्नीको बुलवा लिया। इस तरह राजाने भी पत्नी-त्यागरूप पापसे छुटकारा पाया।

(मार्कण्डेयपुराण)

महर्षि अङ्गिराप्रणीत स्मृतियाँ

महर्षि अङ्गिरा ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। ब्रह्माजीके मुखसे इनका आविर्भाव हुआ—(**'अङ्गिरा मुखतो०'**, श्रीमद्भा० ३। १२। २४)। सृष्टिके विस्तार तथा अपनी प्रजाओंका पालन करनेके कारण ये प्रजापति भी कहलाते हैं। कर्दम ऋषिकी पुत्री श्रद्धासे इनका विवाह हुआ था। देवी श्रद्धासे इन्हें सिनीवाली, कुहू, राका तथा अनुमति नामकी चार दिव्य कन्याएँ प्राप्त हुईं। देवगुरु बृहस्पति, उतथ्य तथा संवर्त भी इन्हींके पुत्र हैं। महर्षि अङ्गिरा अथर्ववेदके प्रवर्तक कहे गये हैं, इसलिये ये 'अथर्वा' भी कहलाते हैं। वेदों तथा पुराणोंमें कल्पभेदसे इनके अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं, जिनमें इनके तप, ज्ञान, ध्यान, सदाचार एवं लोकोपकारके दर्शन होते हैं। इनकी गणना सप्तर्षियोंमें है। ये जीवको भक्ति-ज्ञान तथा सदाचारका उपदेश देकर सन्मार्गकी ओर प्रेरित करके भगवत्प्राप्तिकी ओर ले जाते हैं, यही इनके तप-ज्ञानका मुख्य लक्ष्य रहा है। इनकी संसारके प्राणियोंपर अपार कृपा है। वेदों, उपनिषदों तथा पुराणोंमें इनके बड़े ही दिव्य उपदेश ग्रथित हैं। मुण्डकोपनिषद्‌के ये ही प्रवक्ता हैं, उसमें इन्होंने महाशाल शौनकजीको ब्रह्मतत्त्वका उपदेश किया है और बतलाया है कि उस परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवात्माके हृदयकी गाँठ खुल जाती है। सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २। २। ८)

सत्यधर्मकी महिमा बतलाते हुए महर्षि अङ्गिरा कहते हैं कि सदासे सत्यकी ही विजय होती आयी है, झूठकी नहीं। क्योंकि परमात्मा भी सत्यस्वरूप हैं, अतः उनकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको सत्यरूपी धर्मपथका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। परमात्मातक पहुँचनेका जो देवयान नामक मार्ग है, वह सत्यसे ही प्रतिष्ठित है। असत्यके मार्गसे परमात्माको कोई प्राप्त नहीं कर सकता। असत्य-भाषण, दम्भ, कपट आदि आचरण पतनके मार्ग हैं—

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।

(मुण्डक० ३। १। ६)

ऐसे अनेकों मार्मिक उपदेश महर्षि अङ्गिराकी वाणियोंमें भरे पड़े हैं। इनका यदि किंचित् भी आचरण होने लगे तो जीवका परम कल्याण हो जाय।

महर्षि अङ्गिराके नामसे कई स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं, जिनमें मुख्यरूपसे धर्माचरण करनेपर विशेष बल देते हुए असत्-मार्गका परित्याग करनेकी सुन्दर शिक्षा दी गयी है। यहाँ उन स्मृतियोंका कुछ संक्षिप्त सार दिया जा रहा है—

(क) अङ्गिरास्मृति

'अङ्गिरास्मृति' लघुकाय-कलेवर है। इसमें केवल ७२ श्लोक हैं। मुख्यरूपसे इसमें गृहस्थाश्रम-धर्मका वर्णन है। साथ ही खाद्याखाद्यकी शुद्धि, द्रव्य-शुद्धि, प्रायश्चित्त, अन्नकी शुद्धता, नीलमें रँगा वस्त्र धारण करनेका निषेध, गोवधका प्रायश्चित्त इत्यादि बातोंका वर्णन है।

नीलमें रँगे वस्त्रका निषेध

आचार्य अङ्गिराजीका अभिमत है कि नीलमें रँगा हुआ वस्त्र धारण नहीं करना चाहिये। जो नीलमें रँगा हुआ वस्त्र पहनता है, उसके स्नान-दान, जप-होम, स्वाध्याय-पितृतर्पण और पञ्चमहायज्ञ—ये सभी व्यर्थ हो जाते हैं—

स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
वृथा तस्य महायज्ञा नीलीवस्त्रस्य धारणात्॥

(श्लोक १४)

यदि अज्ञानसे नीलमें रँगा वस्त्र पहन लिया गया हो तो एक अहोरात्र उपवास करके पञ्चगव्य-सेवनसे शुद्धि होती है—

अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति॥

गोवधका प्रायश्चित्त

महर्षि अङ्गिराने गोवधको महान् पाप बतलाया है और कहा है कि यदि भोजन देने, पानी पिलाने, औषधि तथा चिकित्साके समय विशुद्ध सेवाका भाव रहनेपर भी दैवयोगसे गाय मर जाती है तो भी उसके लिये गोहत्याका चौथाई प्रायश्चित्त करना चाहिये। यदि गायको, उसके शृङ्गारके

लिये आभूषणके रूपमें घंटा पहनाया गया हो और उस घंटेके निमित्तसे यदि गाय मर जाय तो गोहत्याके प्रायश्चित्तका आधा प्रायश्चित्त करना चाहिये[१]।

यदि लाठीके प्रहारसे गाय मूर्च्छित हो जाय या गिर पड़े तो प्रायश्चित्तस्वरूप आठ हजार गायत्रीमन्त्रका जप करनेसे शुद्धि हो जाती है—

मूर्च्छिते पतिते चापि गवि यष्टिप्रहारिते।
गायत्र्यष्टसहस्रं तु प्रायश्चित्तं विशोधनम्॥

(श्लोक ३४)

असमर्थ बालकको पाप नहीं लगता

महर्षि अङ्गिरा बताते हैं कि यदि किसी बालकसे कोई पाप हो गया हो और वह प्रायश्चित्त करनेमें असमर्थ हो तो ऐसी स्थितिमें यदि उस बालकके पिता अथवा गुरु उसके उद्देश्यसे प्रायश्चित्तका अनुष्ठान करते हैं तो वह बालक पापका भागी नहीं बनता—

असमर्थस्य बालस्य पिता वा यदि वा गुरुः।
यमुद्दिश्य चरेद्धर्मं पापं तस्य न विद्यते॥

(श्लोक ३२)

मनुष्यका किया पाप अन्नमें निवास करता है

महर्षि अङ्गिरा सावधान करते हुए कहते हैं कि मनुष्य जो दुष्कृत करता है, निन्दनीय कर्म करता है और उससे जो उसका पाप-फल बनता है, वह पाप उसके अन्नका आश्रय करके टिका रहता है, इसलिये ऐसे पापाचारी, दुष्कर्मीका अन्न ग्रहण करनेसे उसके पापका ही ग्रहण होता है, ऐसा अन्न भक्षण करनेसे वह भी पापाचारी बन जाता है, अतः सदा विशुद्ध न्यायोपार्जित और सदाचारीका अन्न ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि जैसा अन्न होगा, वैसा ही विचार भी स्थिर हो जाता है—

दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठति।
यो यस्यान्नं समश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम्॥

(श्लोक ५८)

पादुका किन स्थलोंपर न पहने

यज्ञशाला, गोशाला, देवमन्दिरों तथा ब्राह्मणोंके सांनिध्यमें, भोजन तथा जप करते समय, पादुका नहीं पहननी चाहिये—

अग्न्यागारे गवां गोष्ठे देवब्राह्मणसंनिधौ।
आहारे जपकाले च पादुकानां विसर्जनम्॥

(श्लोक ६१)

जो पतिव्रता नहीं है, उसका अन्न ग्रहण न करे

जो स्त्री अपने पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके उसके विपरीत आचरण करती है, उसे 'कामचारिणी' अर्थात् अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाली कहा गया है, ऐसी स्त्रीका अन्न या भोजन कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये—

भर्तृशासनमुल्लंघ्य या च स्त्री विप्रवर्तते।
तस्याश्चैव न भोक्तव्यं विज्ञेया कामचारिणी॥

(श्लोक ६९)

(ख) अङ्गिरास्मृति

एक दूसरी भी 'अङ्गिरास्मृति' प्राप्त होती है, जिसमें १६८ श्लोक हैं। इसमें तथा प्रथम वर्णित 'अङ्गिरास्मृति'में कुछ श्लोक प्रायः समान हैं। इसके प्रारम्भमें ही वर्णित है कि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवाले भरद्वाज आदि महर्षियोंके प्रश्नके उत्तरमें अमित तेजस्वी, महाद्युति महर्षि अङ्गिराने जो उन्हें उपदेश दिये, वे ही उपदेश महर्षि अङ्गिराके 'धर्मशास्त्र' या 'अङ्गिरास्मृति' के नामसे प्रसिद्ध हुए। इसमें मुख्यरूपसे चारों आश्रमों, चारों वर्णोंके धर्मोंका वर्णन हुआ है, साथ ही प्रायश्चित्त-विधि और प्रायश्चित्त-व्रतोंका वर्णन है।

पापका उत्तम प्रायश्चित्त

महर्षि अङ्गिराने सभी पापोंकी निवृत्तिका एक विशेष उपाय बतलाते हुए कहा है कि यदि पाप करनेवाला वेदज्ञ ब्राह्मण 'फिर ऐसा पाप कभी नहीं करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा

१-भोजने चैव पाने च तथा चौषधभेषजैः। एवं म्रियन्ते या गावः पादमेकं समाचरेत्॥
घण्टाभरणदोषेण यत्र गौर्विनिपीड्यते। चरेदर्धव्रतं तेषां भूषणार्थं हि तत्कृतम्॥ (श्लोक २५-२६)

करके बार-बार पश्चात्ताप करते हुए, मनमें उस पापकर्मके प्रति अत्यन्त ग्लानि प्रकट करता है और बराबर उस निन्द्य कर्मको स्मृति-पटलपर रखता है, बार-बार शोक करता है और फिर वह सदाके लिये ऐसे पापकर्मसे विरत होकर अच्छे कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है, तो उस पापसे उसे छुटकारा मिल जाता है। यथा—

कृत्वा पापं हि शोचन् वै ब्राह्मणो वेदपारगः।
स्मृत्यर्थं विन्दति योऽपि तस्मात् पापात् प्रमुच्यते॥
नैव कुर्यां पुनरिति निवृत्त्यात्मा भवेद्यदि।

(श्लोक ९९-१००)

देव-बलसे पापकर्ममें प्रवृत्त न हो

महर्षि अङ्गिरा मनुष्योंको सावधान करते हुए बताते हैं कि कोई भी व्यक्ति 'देवताओंके बल' एवं 'शास्त्रोंके बल' अथवा 'बादमें मैं इसका प्रायश्चित्त कर लूँगा' ऐसा समझकर पाप-कर्ममें प्रवृत्त न होवे, क्योंकि इस प्रकार करनेसे वह कर्म देवापराध, शास्त्रापराध अथवा प्रायश्चित्त-सम्बन्धी अपराध बन जाता है। निन्द्य कर्म चाहे अज्ञानमें बन पड़े या प्रमादसे हो जाय तो भी वह जला ही डालता है—

न देवबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत्।
अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा दहते कर्म नेतरत्॥

(श्लोक १०२)

मरणाशौच और जननाशौचका दोष-विचार

किसीकी मृत्यु हो जानेपर शव-जन्य सूतक होता है, उस मृत्युजन्य आशौचके मध्य यदि उस घरमें जननाशौच होता है तो मृत्यु-जन्य सूतकके समाप्त हो जानेपर जनन-जन्य सूतककी शुद्धि हो जाती है। मृताशौचके आगे जननाशौच नहीं लगता, किंतु जननाशौचसे मरणाशौचकी शुद्धि नहीं होती—

शवसूते समुत्पन्ने सूतकं तु भवेद्यदि।
शवेन शुध्यते सूतिर्न सूत्या शुध्यते शवम्॥

(श्लोक १६५)

(ग) अङ्गिरास्मृति

महर्षि अङ्गिराके नामसे दो बृहत् स्मृतियाँ भी प्राप्त हैं। जो 'पूर्वाङ्गिरसस्मृति' तथा 'उत्तराङ्गिरसस्मृति'के नामसे प्रसिद्ध हैं। 'पूर्वाङ्गिरसस्मृति'में ११३२ श्लोक हैं तथा 'उत्तराङ्गिरसस्मृति'में १२ अध्याय तथा १७५ श्लोक हैं। यहाँ संक्षेपमें दोनों स्मृतियोंकी कुछ बातें दी जा रही हैं—

(१) पूर्वाङ्गिरसस्मृति

इस स्मृतिमें मुख्यरूपसे धर्मका स्वरूप, व्याहृतियोंकी महिमा, औरस तथा दत्तक-पुत्र-मीमांसा, श्राद्धमें ग्राह्य एवं अग्राह्य वस्तुएँ, श्राद्धके भेद, श्राद्धके योग्य ब्राह्मण, श्राद्धदेश, श्राद्धप्रयोग, सपिण्डीकरण-विधान, श्राद्धमें उर्वारु (ककड़ी) एवं पनस (कटहल)-फलकी महिमा, महालय-श्राद्ध, श्राद्धदेव (विश्वेदेव) तथा अशौच-प्रक्रिया आदिका विस्तारसे वर्णन है। यहाँ संक्षेपमें कुछ विषय दिये जाते हैं—

अनाथ मृत व्यक्तिके संस्कारसे महान् पुण्यकी प्राप्ति

महर्षि अङ्गिरा बताते हैं कि यदि कोई अनाथ व्यक्ति मर गया हो तो ऐसे अनाथ प्रेत (मरे लावारिस व्यक्ति) जिसके आगे-पीछे कोई न हो, उसके कल्याणकी कामनासे यदि कोई किसी नदी आदिमें उसका जलप्रवाह अथवा दाह-संस्कार करा देता है तो उससे उस व्यक्तिका उद्धार तो हो ही जाता है, अन्तिम संस्कार करानेवाला व्यक्ति भी महान् पुण्यफलको प्राप्त करता है, उसे अश्वमेधयज्ञके समान महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है—

अनाथप्रेतसंस्कारादश्वमेधफलं लभेत्।

(श्लोक १४१)

वेद-पाठसे पापोंकी निवृत्ति

वेद साक्षात् नारायणस्वरूप हैं और निःसीम ज्ञानके भण्डार हैं, ऐसे उन वेदोंके पाठसे ब्राह्मण तत्काल ही सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं—

तादृशस्यास्य वेदस्य पठनात् सर्वकिल्बिषैः॥
सद्य एव विमुक्तः स्यात् पातकी नात्र संशयः।

(श्लोक १५९। १६०)

देवताओंको कैसा नैवेद्य निवेदित करे

देवताओंके लिये जिस पात्रमें नैवेद्य—पाक बनाया गया हो, उस पात्रमें निवेदित न करे बल्कि पृथक् पात्रमें निकाल

कर शुद्ध रीतिसे पवित्रतापूर्वक श्रद्धा-भक्तिसे निवेदित करे। जो असह्य हो—उष्ण अथवा अति उष्ण हो या बनाये गये पात्रमें ही रखकर मोहवश निवेदित किया गया हो तो ऐसी स्थितिमें वह व्यक्ति नरक प्राप्त करता है—

असह्योष्णं महोष्णं वा पक्वपात्रगमेव वा॥
यो निवेदयते मोहाद्देवाय नरकी भवेत्।

(श्लोक २४१-२४२)

निरन्तर आत्मकल्याणका चिन्तन करता रहे

विद्वानोंने इस शरीरको जलके बुलबुलेकी भाँति क्षणभंगुर एवं नाशवान् बतलाया है। 'अगले क्षण जीवन बना रहेगा' इसका कोई प्रमाण नहीं है अर्थात् प्राणियोंका जीवन प्रतिक्षण विनाशके समीप जा रहा है, 'अगले ही क्षण क्या हो जायगा' यह किसीको नहीं मालूम, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह निरन्तर यह चिन्तन करता रहे कि किस प्रकार, किस उपायसे उसका कल्याण हो। और जब उसे यह मालूम हो जाय कि 'इस उपायसे मेरा सच्चा कल्याण हो सकता है' तो फिर उसीके साधनमें लग जाय और कुछ भी न करे—

जलबुद्बुदसंकाशं वर्ष्मैतत् कथितं बुधैः।
न हि प्रमाणं जन्तूनामुत्तरक्षणजीवने॥
तस्मादात्महितं नित्यं चिन्तयन्नेव तच्चरेत्।

(श्लोक ३१५-३१६)

(२) उत्तराङ्गिरसस्मृति

जैसा कि इसके नामसे स्पष्ट है कि यह आङ्गिरस-स्मृतिका उत्तर भाग है। 'पूर्वाङ्गिरस' अध्यायोंमें उपनिबद्ध नहीं है, किंतु इसमें छोटे-छोटे १२ अध्याय हैं। यहाँ इस स्मृतिके कुछ विषयोंको दिया जाता है—

धर्मशास्त्रोंकी प्रामाणिकता

इस स्मृतिके प्रारम्भमें ही यह बताया गया है कि दिव्य ज्ञान, तपस्या तथा सदाचारसम्पन्न ऋषियोंद्वारा पूर्वकालमें धर्माचरणके लिये जिस आचारसंहिता-रूप उत्तम धर्मशास्त्रका निदर्शन किया गया है, सभी प्राणियोंके लिये वह धर्मशास्त्र ही धर्म-कर्मके निर्णायक रूपमें सर्वथा प्रामाणिक है। अतः सभी लोगोंको चाहिये कि तदनुरूप ही अपना आचार-विचार एवं आहार-विहार नियन्त्रित करें। उन महात्माओंके वचनोंका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। महर्षि अङ्गिरा सभीको सावधान करते हुए यह भी कहते हैं कि यद्यपि बुद्धिवादी विद्वान् धर्मशास्त्रोंमें वर्णित विधानोंके अतिरिक्त भी कुछ धर्ममर्यादा दे सकते हैं, किंतु वह मर्यादा और उनका वह कर्म उनके अपने अभिप्रायके अनुरूप होनेके कारण (मनमाना होनेके कारण) तथा विधि-विधानसे विपरीत होनेके कारण बालकोंकी क्रीडाके समान निरर्थक ही है, अतः धर्म-कर्मके निर्णयमें धर्मशास्त्रोंका निर्णय ही सर्वमान्य है न कि किसी बुद्धिवादी व्यक्तिका अभिमत।[1]

किये हुए पापको कभी छिपाये नहीं

यदि मनुष्यसे कोई पाप हो गया हो या वह कोई पाप करता हो तो उसे कदापि छिपाना नहीं चाहिये, क्योंकि छिपानेसे वह पाप बढ़ता जाता है। पाप चाहे छोटा हो या बड़ा, उसे विनम्रपूर्वक धर्मके सूक्ष्म तत्त्वको जाननेवाली धर्मपरिषद्में अवश्य बता देना चाहिये, इसीमें उसकी भलाई है; क्योंकि धर्मज्ञ विद्वान् पापकर्ताके पापोंको बिना बताये भी अच्छी तरह जानते हैं और वे पापकर्ताके वास्तविक वैद्य हैं, जिस प्रकार वैद्य अपनी ओषधिके द्वारा दुःखित रोगीको पूर्ण स्वस्थ बना देते हैं, वैसे ही धर्मज्ञ व्यक्ति पापकर्ताको उचित उपायोंके द्वारा पापसे मुक्त कर देते हैं।[2]

धर्म-परिषद्में पापका सत्यापन करनेसे पाप-मुक्ति

[सत्य-भाषणकी महिमा]

सत्यकी मर्यादामें स्थिर रहनेसे एवं सत्-मार्गका आश्रयण

१-यत्पूर्वमृषिभिः प्रोक्तं धर्मशास्त्रमनुत्तमम्। तत्प्रमाणं तु सर्वेषां लोकधर्मानुवर्णनम्॥
न हि तेषामतिक्रम्य वचनानि महात्मनाम्। प्रज्ञानैरपि विद्वद्भिः शक्यमन्यत् प्रभाषितुम्॥
स्वाभिप्रायकृतं कर्म विधिविज्ञानवर्जितम्। क्रीडाकर्मेव बालानां तत्सर्वं स्यान्निरर्थकम्॥
(उत्तराङ्गिरस० १। ८—१०)

२-कृत्वा पापं न गूहेत गुह्यमानं तु वर्धते। स्वल्पं वाथ प्रभूतं वा धर्मविद्भ्यो निवेदयेत्॥
ते हि पापकृतां वैद्या बोद्धारश्चैव पाप्मनाम्। दुःखस्यैव यथा वैद्या सिद्धिमन्तो रुजायताम्॥
(२। ४-५)

करनेसे ही राजा प्रतिष्ठित रहता है। सत्य (नियम)-के पालनसे सूर्य प्रकाशित रहते हैं, सत्यके बलपर ही अग्नि प्रज्वलित होती है, तीनों लोक भी सत्यकी मर्यादामें ही प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार सब कुछ सत्यमें ही प्रतिष्ठित है और सत्य ही परम गति है। व्यक्ति यदि सत्य-भाषण करता है तो वह निश्चय ही निरन्तर सुख प्राप्त करता है और यदि वह असत्यका आश्रय लेता है तो कष्ट पाता है। पापी व्यक्ति यदि पाप छिपाकर असत्य बोलता है तो वह किसी भी प्रकार शुद्ध नहीं हो सकता—

यदि चेद्वक्ष्यते सत्यं नियतं प्राप्यते सुखम्।
यद्गृहीतो ह्यसत्येन न च शुध्येत कर्हिचित्॥

(३। ३)

शुद्धिकी इच्छा चाहनेवाले मानवोंको चाहिये कि वे आदि, मध्य तथा अन्त—सभी समयोंमें सत्य ही बोलें, असत्य कदापि नहीं।

धर्म-परिषद्को चाहिये कि पापी व्यक्ति उस सभामें यदि सब कुछ सत्य-सत्य बतला देता है तो वह विचार करके प्रायश्चित्त-विधानका निर्णय दे और कहे कि—

शृणुष्व भो इदं विप्र यत्त आदिश्यते व्रतम्।
तत्तद्यत्नेन कर्तव्यमन्यथा ते वृथा भवेत्॥
यदा च ते भवेच्चीर्णं तदा शुद्धिप्रकाशनम्।

(३। १०-११)

हे विप्र! सुनो! तुम्हारे लिये जो इस धर्मसभाद्वारा प्रायश्चित्त करनेका निर्णय लिया गया है, उसका तुम ठीक प्रकारसे यत्नपूर्वक पालन करो, जब तुम्हारा प्रायश्चित्त-व्रत पूर्ण हो जायगा, तो तुम पापसे मुक्त होकर शुद्ध हो जाओगे। और यदि तुम इसके विपरीत कुछ दूसरा ही करते हो तो वह सब वृथा ही होगा।

प्रायश्चित्त करनेपर पाप कहाँ चला जाता है?

'पापी व्यक्तिका पाप प्रायश्चित्त कर लेनेपर कहाँ चला जाता है अथवा किसका आश्रय लेकर रहता है', इस प्रश्नके उत्तरमें इस स्मृतिमें बतलाया गया है कि वह पाप न तो कर्ताको लगता है और न प्रायश्चित्त बतलानेवाली धर्मपरिषद्को, बल्कि वह पाप उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार हवा और सूर्यकी किरणोंसे जल विलीन हो जाता है—

नैव गच्छति कर्तारं नैव गच्छति पार्षदम्।
मारुतार्कांशुसंयोगाज्जलवत् सम्प्रशीर्यते॥

(६। १०)

बिना जाने प्रायश्चित्त न बतलाये

यदि कोई प्रायश्चित्त पूछनेके लिये आये व्यक्तिको बिना कुछ जाने ही, धर्मशास्त्रका आश्रय लिये बिना ही मनः-कल्पित प्रायश्चित्त-विधान बतला देता है (अथवा जानते हुए भी ठीक प्रायश्चित्त न बतलाकर अन्यथा ही बतलाता है), ऐसी स्थितिमें उस पापी व्यक्तिका वह पाप सौ गुना होकर प्रायश्चित्त बतलानेवालेके पास ही चला जाता है—

यत्तु दत्तमजानद्भिः प्रायश्चित्तं समागतैः।
तत्पापं शतधा भूत्वा दातॄनेवोपतिष्ठति॥

(६। १५)

ब्राह्मण-महिमा

इस स्मृतिके अन्तिम अध्यायमें विशेष रूपसे ब्राह्मणोंकी महिमा निरूपित है और ब्राह्मणोंको देवता तथा पितरोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि ब्राह्मणोंकी प्रसन्नतापर ही देवों तथा पितरोंकी प्रसन्नता निहित रहती है। ब्राह्मणमें सभी देवता प्रतिष्ठित रहते हैं और ब्राह्मणोंकी चरणधूलि परम पवित्र है। ब्राह्मणोंकी चरणरजकी महिमामें कहा गया है—समस्त सम्पत्तियोंको प्राप्त करानेमें हेतुभूत, उपस्थित हुए विपत्ति-जालके लिये धूमकेतुके समान, इस अपार संसार-समुद्रको पार करनेके लिये सेतुरूप—ब्राह्मणोंके पाँवोंकी धूलिराशि मुझे पवित्र करे—

समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतवः
समुत्थितापत्कुलधूमकेतवः।
अपारसंसारसमुद्रसेतवः
पुनन्तु मां ब्राह्मणपादपांसवः॥

(१२। १६)

गोरक्षकको ही अपना जन-प्रतिनिधि चुनें

आख्यान—

अन्नदोष

[एक लघु कथा]

धर्मशास्त्रने अन्नके दोषपर गहरा विचार व्यक्त किया है, क्योंकि अन्नसे ही हमारा तन और मन बनता है। जैसा अन्न होगा वैसा ही हमारा संस्कार बनेगा। पराया अन्न बहुत ही भयप्रद होता है, क्योंकि मनुष्यका दुष्कर्म या पाप उसके अन्नमें ही निवास करता है। अत: ऐसे व्यक्तिका अन्न जो ग्रहण करता है, वह उसके पापको ही ग्रहण करता है—

दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठति।
यो यस्यान्नं समश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम्॥

(आङ्गिरस० ५८)

राजाका अन्न अधिक दूषित होता है, क्योंकि राजाके पास समस्त प्राणियोंका अन्न किसी-न-किसी तरह पहुँचता ही रहता है। इसीलिये आङ्गिरसस्मृति (७२)-में कहा गया है कि राजाका अन्न तेजको खा डालता है—

'राजान्नं हरते तेज:'

कैयटका अन्नदोषसे बचाव

कश्मीर देशके रहनेवाले कैयट अन्नके दोषसे पूर्ण परिचित थे। राजाके अन्नको वे बहुत भयावह मानते थे। इसीलिये कैयट स्वयं रस्सी बटते थे और उसे बेचकर जो पैसा मिलता था, उसीसे गुजर करते थे।

जब वे अध्ययन कर रहे थे, तब उन्होंने महाभाष्यपर बहुत-सी कुण्डलनाएँ लगी देखीं। भाष्यका जो अंश बुद्धिगम्य नहीं होता था, उसपर कुण्डलाकार हरताल पोत दिया जाता था, जिससे गुरु उतना अंश छोड़कर विद्यार्थियोंको पढ़ायें। वे कुण्डलनाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी तरह चलती चली आ रही थीं। यह बात कैयटको बहुत खटकती थी। वे चाहते थे कि गम्भीर मननकर इन कुण्डलनाओंको तोड़ दिया जाय। यह तभी सम्भव था जब बुद्धिमें प्रखरता आये और उसमें तमोगुणका प्रवेश न हो। और यह तभी सम्भव था जब अन्न-दोषसे बचा जाय। यही कारण है कि कैयट अपने श्रमसे रस्सी बेचकर अपना जीवन चलाते थे।

कैयटके विद्या-साधनाकी सुगंधसे कश्मीरका कण-कण सुरभित हो रहा था। लोग इन्हें अपनी कन्या देनेके लिये आतुर थे। किंतु कैयट विवाहके पक्षमें न थे। रस्सी बटकर खानेवाला विद्वान् गृहस्थीका बोझ कैसे चला सकता था। फिर भी एक विदुषी कन्याने उनका वरण कर लिया। उसने अपने पितासे कहलवाया था कि 'मैं विवाह कर उनकी साधनामें सहायिका बन जाऊँगी। कम-से-कम रस्सी बटने, बेचने और भोजन बनानेके समयको तो मैं बचा ही लूँगी।' ऐसी सद्गृहिणीके मिल जानेसे कैयटकी साधनामें अनवरतता आयी और उन्होंने महाभाष्यकी सारी कुण्डलनाएँ तोड़ डालीं।

व्याकरण-जगत्में इससे प्रसन्नताकी लहर दौड़ी। काशीके कुछ वैयाकरण कैयटसे मिलने कश्मीर पहुँचे। कैयटसे मिलकर उन्हें संतोष और प्रसन्नता हुई, किंतु विद्वानोंको कैयटकी विपन्नता खली। उनके घरमें तो अभाव-ही-अभावका साम्राज्य था। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था कि जब इन्हें पानी पिलानेके लिये गुड़की आवश्यकता हुई, तब कैयटकी धर्मभार्याने मूँजकी रस्सीका प्रयोग कर उसे किसी तरहसे जुटाया था। काशीके विद्वानोंने समझा कि कश्मीर-नरेशकी अनभिज्ञतासे कैयटके घरमें अभावका यह साम्राज्य है। पण्डित लोग सीधे कश्मीर-नरेशके पास पहुँचे। उन्होंने कैयटके विद्वत्ताकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की और उलाहनाभरे शब्दोंमें कहा कि 'इतने बड़े तपस्वी विद्वान्‌की आपसे उपेक्षा हो रही है!'

कश्मीर-नरेशने हाथ जोड़कर कहा—'विद्वज्जनो! कैयटकी आभासे ही आज सारा कश्मीर जगमगा रहा है, यह मैं जानता हूँ। उनका तो इतना आदर करता हूँ कि जब मैं उनके दर्शनोंके लिये जाता हूँ तो रथ आदिको बहुत दूर छोड़ देता हूँ। पैदल ही उनके पास जाता हूँ। बहुत प्रार्थना करता हूँ कि मुझे सेवाका अवसर दे दें, किंतु उनका सदासे ही यही उत्तर रहा है कि 'आपकी भूमिपर मैं हूँ, यही आपकी बहुत बड़ी सेवा है। आपके अन्न आदि लेनेसे हमारे कार्यमें विघ्न होगा, इसीलिये मैं इसको नहीं लेता और मेरी इच्छा है कि अब आगे आप अपनी सेवाकी यह बात मुझसे न कहें, नहीं तो मैं आपके राज्यको छोड़कर कहीं अन्यत्र चला जाऊँगा।' कश्मीर-नरेशने काशीके विद्वानोंका सम्मान करते हुए कहा कि 'मैं नहीं चाहता हूँ कि मेरे राज्यसे सूर्य चला जाय और कश्मीरमें अन्धकारका साम्राज्य हो जाय।'

राजाकी बातसे काशीके विद्वान् कैयटके अन्न-सम्बन्धी गहरी सतर्कता देखकर चकित हो गये। उनके मुखसे निकल गया—'अहो! कुण्डलना तोड़नेमें कैयट तभी तो सफल हुए हैं।' (ला० मि०)
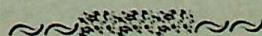
यज्ञ

भारतीय संस्कृति और श्रुति-स्मृतियोंमें यज्ञोंकी अपार महिमा निरूपित है। यज्ञोंके द्वारा विश्वात्मा प्रभुको संतृप्त करनेकी विधि बतलायी गयी है। अतः जो जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें यज्ञ-यागादि शुभ कर्म अवश्य करने चाहिये। वेद, जो परमात्माके निःश्वासभूत हैं, उनकी मुख्य प्रवृत्ति यज्ञोंके अनुष्ठान-विधानमें है। यज्ञोंद्वारा समुद्भूत पर्जन्य—वृष्टि आदिसे संसारका पालन करते हैं। इस प्रकार परमात्मा यज्ञोंके सहारे ही विश्वका संरक्षण करते हैं। यज्ञकर्ताको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

ऋग्वेदका आरम्भ ही यज्ञके समस्त उपकरणोंके स्मरणसे होता है—'**ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।**' यजुर्वेद शब्द ही यज्ञप्रतिपादक ग्रन्थका वाचक है। इसके प्रथम मन्त्र '**इषे त्वोर्जे०**' का विनियोग दर्श-पौर्णमास-यागके पलाश-शाखा-छेदन-विधिमें होता है। '**देवा यज्ञमतन्वत**' (यजु० १९। १२), '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त०**' (यजु० १९। १६), इन वेदमन्त्रों और '**यज्ञोऽध्ययनं दानम्**' (छान्दोग्य०), '**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक्०**' (मनु० ३। ७६), '**इज्याध्ययनदानानि०**' (याज्ञवल्क्य० १। ५। ११८) आदि वचनोंसे 'यज्ञ' धर्मका सर्वश्रेष्ठ प्रथम अङ्ग या स्कन्ध है।

श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायके १० से १५ तकके श्लोकोंमें यज्ञपर ही संसारको आधृत कहा है और इसमें वेद तथा परमात्माकी प्रतिष्ठा कही है।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

(३। १०)

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंकी सृष्टि कर उनसे कहा—'तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो।' गीतामें तो भगवान्ने यहाँतक कहा है कि यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये अन्न पकाते हैं, वे पापको ही खाते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

इसलिये भगवान्ने कहा—'**तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**' (गीता ३। १५)। सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सर्वदा यज्ञमें प्रतिष्ठित हैं। शरीर और अन्तः-करणकी शुद्धि तथा जीवनमें दिव्यताके आधानके लिये भी यज्ञकी आवश्यकता है—'**महायज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।**' आचार्य जैमिनिका सम्पूर्ण मीमांसा-दर्शन, जो सभी दर्शनोंकी अपेक्षा बहुत बड़ा है, केवल यज्ञके अनुष्ठान-विधानका ही ज्ञापक है और अन्य सभी धर्म यज्ञके उपकारक या अङ्गमात्र हैं। उनकी दृष्टिमें केवल यज्ञ ही धर्म है और उनका प्रथम सूत्र '**अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः**' की प्रतिज्ञा कर केवल यज्ञों और उनकी विधियोंका ही प्रतिपादन करता है। कात्यायन आदि श्रौत-सूत्रकारोंने भी अपने प्रथम सूत्र '**अथ यज्ञं व्याख्यास्यामः**' कहकर '**द्रव्यदेवतात्यागः**' इस परिभाषासे द्रव्यात्मक, देवतात्मक और त्यागक्रियात्मक—ये तीन यज्ञके लक्षण बताये हैं। द्रव्योंमें सोमरस, पुरोडाश, घृत, दधि, यवागू, हविष, ओदन, तण्डुल, फल, जल—इन दस पदार्थोंकी गणना की गयी है। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि वेदमन्त्रोक्त अनेक देवता हैं। क्रियामें समूचे यज्ञके अनुष्ठानकी प्रक्रिया उद्दिष्ट है, जिसमें ऋत्विग्वरण, मण्डपाच्छादन, वेदीकरण, स्रुवा आदि यज्ञपात्रोंका सम्मार्जन, यज्ञदीक्षाग्रहण, अग्नि-स्थापन, प्रतिष्ठा और समिदाधान, आज्यभागाहुति, प्रधानयाग, स्विष्टकृद्-हवन, बर्हिहोम, प्रणीताविमोक, पूर्णाहुतिहोम तथा तर्पण-मार्जन आदि अनेक क्रियाएँ सम्मिलित हैं।

वस्तुतः जिस अन्तर्वेदीय सदनुष्ठानद्वारा इन्द्रादिदेवगण प्रसन्न हों, स्वर्गादिकी प्राप्ति सुलभ हो, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हों और सम्पूर्ण संसारका कल्याण हो, वह अनुष्ठान 'यज्ञ' कहलाता है। मत्स्यपुराणमें यज्ञका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते॥

'जिस कर्मविशेषमें देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विक् एवं दक्षिणा—इन पाँच उपादानोंका संयोग हो उसे 'यज्ञ' कहा जाता है।'

वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों तथा आश्वलायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़ और पारस्कर आदि सूत्र-ग्रन्थों तथा स्मृतियोंमें यज्ञके अनेकों भेद-प्रभेद बताये गये हैं, परंतु मुख्यरूपसे इनका समाहार तीन प्रकारकी संस्थाओं—हविर्यज्ञ-संस्था, सोमयज्ञ-संस्था और पाकयज्ञ-संस्थाके अन्तर्गत हो जाता है। फिर एक-एकमें सात-सात यज्ञ सम्मिलित हैं। संक्षेपमें इनका परिचय इस प्रकार है—

१-हविर्यज्ञ-संस्था—मुख्य हविर्यज्ञके रूपमें ७ यज्ञ-प्रकारोंका उल्लेख मिलता है, इनमेंसे एक-एक यज्ञके कई-कई भेद बतलाये गये हैं। पहला यज्ञ '**अग्न्याधेय**' है, जिसे ब्राह्मण वसन्त ऋतुमें, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतुमें, वैश्य वर्षा ऋतुमें तथा कृत्तिका, रोहिणी आदि नक्षत्रोंमें प्रारम्भ करते हैं। इस यज्ञमें कई इष्टियाँ होती हैं और यह १३ रात्रियोंतक चलता है। घृत तथा दुग्धके द्वारा प्रतिदिन किये जानेवाले हवनको '**अग्निहोत्र**' कहा जाता है। इसीका एक भेद पिण्ड-पितृ-यज्ञ भी है। जिसका सम्पूर्ण विधान श्राद्धके समान होता है। इस क्रममें तीसरे मुख्य हविर्यज्ञके रूपमें '**दर्श-पौर्णमास**'का उल्लेख मिलता है, जो अमावास्या एवं पूर्णिमाको सम्पन्न किया जाता है। इसमें अग्नि और विष्णुको आहुतियाँ दी जाती हैं। हविर्यज्ञका चौथा भेद '**आग्रायण**' है, इसमें साँवा नामक धान्यविशेषसे चरु बनाकर चन्द्रमाको आहुतियाँ दी जाती हैं। इसीके आयुष्यकामेष्टि, पुत्रकामेष्टि और मित्रविन्दा आदि भेद हैं।

इसी प्रकार वैश्वानरी, कारीरि, पवित्री, व्रात्यपती आदि अनेक इष्टियाँ हैं, जिनके लिये पुराणोंमें कहा गया है कि उन्हें विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न करनेसे कर्ताकी दस पीढ़ियोंका उद्धार हो जाता है। पाँचवाँ हविर्यज्ञ '**चातुर्मास्य**' है, जो चार-चार मासोंमें अनुष्ठेय है। इसके चार भेदोंका उल्लेख मिलता है, जो वैश्वदेवीय, वरुण-प्रघास, शाकमेध और शुनासीरीयके नामसे जाने जाते हैं। छठा हविर्यज्ञ '**निरूढपशुबन्ध**' है। यह प्रतिवत्सर वर्षा ऋतुमें किया जाता है। इसमें इन्द्र और अग्निके नामसे हवन होता है। यह '**पशुयाग**' कहलाता है। हविर्यज्ञका सातवाँ अन्तिम प्रकार '**सौत्रामणि**' है। यह भी पशुयागके अन्तर्गत ही है। इसके विषयमें भागवतमें कई निर्देश दिये गये हैं। विस्तार-भयके कारण यहाँ हविर्यज्ञोंको मात्र संक्षिप्त रूपोंमें संकेतित किया है। विस्तृत जानकारीके लिये धर्मसूत्रों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थोंका अवलोकन समीचीन होगा।

२-सोमयज्ञ-संस्था—यह आर्योंका अत्यन्त प्रसिद्ध याग रहा है। इसे कालावधिके आधारपर एकाह, अहीन और सम—इन तीन रूपोंमें देखा गया है। अग्निमें सोमलताके रसकी आहुति देनेके कारण यह '**सोमयाग**' कहलाता है। सोमयज्ञ-संस्थाके अन्तर्गत १६ ऋत्विजोंका उल्लेख आश्वलायन श्रौतसूत्र ४-१६ में इस प्रकार मिलता है—होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र, पोता, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य एवं १७ वाँ यजमान व्यक्ति।

सोमयज्ञ-संस्थाके मुख्य सात प्रकारोंमें अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्यामकी गणना होती है। इनके अन्य बहुतसे उपभेद भी हैं, जिनमेंसे एक मासकी अवधितक चलनेवाले यज्ञ उशन:स्तोम, गोस्तोम, भूमिस्तोम, वनस्पतिसव, बृहस्पतिसव, गौतमस्तोम, उपहव्य, चान्द्रमसी इष्टि, सौरी इष्टि आदि हैं। सूर्यस्तुत यज्ञ और विश्वस्तुत यज्ञ यशकी कामनासे, गोसव और पञ्चशारदीय पशुओंकी कामनासे तथा वाजपेय यज्ञ आधिपत्यकी कामनासे किया जाता है। इनमें वाजपेय यज्ञ महत्त्वपूर्ण है। इस यज्ञकी १७ दीक्षाएँ होती हैं। यह उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा तिथिको आरम्भ होता है। इस यज्ञको सम्पादित करनेसे राजा सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है, ऐसा पुराणोंमें कहा गया है। पाण्डुके पुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया था, जिसका विस्तृत वर्णन भागवतपुराणके दशम स्कन्ध तथा अन्य पुराणों एवं महाभारतादि ग्रन्थोंमें भी प्राप्त होता है। पुराणोंमें विश्वजित् यज्ञको सारी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला बताया गया है। इसे सूर्यवंशी राजा रघुने किया था। पद्मपुराणमें विस्तारके साथ यह घटना आती है। इसी प्रकार 'ज्योति' नामका एकाह यज्ञ ऋद्धिको

कामनासे किया जाता है। भ्रातृत्व-भावकी प्राप्तिके लिये 'विषुवत् सोम' नामक यज्ञ, स्वर्गकामनासे 'आंगिरस यज्ञ', आयुकी कामनासे 'आयु-यज्ञ' और पुष्टिकी इच्छासे 'जामदग्न्य-यज्ञ'का अनुष्ठान किया जाता है। यह यज्ञ ४ दिनोंतक चलता है।

शरद् ऋतुमें ५-५ दिनोंके 'सार्वसेन देव', 'पञ्चशारदीय' और 'व्रतबन्ध' नामक यज्ञ किये जाते हैं। जिनसे क्रमशः सेना तथा पशु, बन्धु-बान्धव, आयु एवं वाक्-शक्तिकी वृद्धि होती है। ६ दिनतक चलनेवाले यज्ञोंमें विशेषरूपसे 'पृष्ठ्यावलम्ब' और 'अभ्यासक्त' आदि उत्तम हैं। अन्नादिकी कामनासे अनुष्ठेय सप्तरात्र यज्ञोंमें 'ऋषि-सप्तरात्र', 'प्राजापत्य', 'पवमानव्रत' और 'जामदग्न्य' आदि प्रधान हैं। 'जनकसप्तरात्र यज्ञ' ऋद्धिकी कामनासे किया जाता है। अष्टरात्रोंमें महाव्रत ही मुख्य है। नवरात्रोंमें 'पृष्ठ्य' और त्रिकटुककी गणना होती है। दशरात्रोंमें आठ यज्ञ करणीय माने गये हैं, जिनमें 'अध्यर्ध', 'चतुष्टोम', 'त्रिककुप्', 'कुसुरुबिन्दु' आदि मुख्य हैं। ऋद्धिकी कामनासे किया जानेवाला 'पुण्डरीक' यज्ञ दो प्रकारका होता है। यह नवरात्र एवं दशरात्र दोनों ही प्रकारका होता है। मत्स्यपुराणके अ० ५३के २५ से २७ तकके श्लोकोंमें, कार्तिक पूर्णिमाकी तिथिमें मार्कण्डेयपुराणका दान करनेसे इस यज्ञके फलको प्राप्त करनेकी बात कही गयी है।

द्वादशाह यज्ञोंमें 'भरत-द्वादशाह' मुख्य है; वैसे सामान्यरूपसे द्वादशाह यज्ञ ४ बताये गये हैं, जो पृथक्-पृथक् संस्थाओंमें प्रयुक्त होते हैं। जो सभी कामनाओंको प्राप्त करके विश्वजयी होना चाहता है, उसे 'अश्वमेध यज्ञ' करना चाहिये, जो सभी यज्ञोंका राजा है। श्रौतसूत्रोंमें शताधिक पृष्ठोंमें इसके विधानका वर्णन है। एक वर्षतक चलनेवाले इस यज्ञमें एक यज्ञीय अश्व छोड़ा जाता है और उसके पीछे राजाकी सेना चलती है। वह जबतक लौटकर वापस नहीं आता, तबतक 'पारिप्लव' आख्यान चलते हैं। इस क्रममें दस-दस दिनोंपर पहले दिन ऋग्वेद, वैवस्वत मनुका आख्यान, दूसरे दिन यजुर्वेद और पितरोंका आख्यान, तीसरे दिन अथर्ववेद और वरुणादित्यका पौराणिक आख्यान, चौथे दिन आंगिरस (अथर्वण) वेद, विष्णु और चन्द्रमाका आख्यान, पाँचवें दिन भिषज्वेद और कद्रू-विनताका आख्यान, छठे-सातवें दिन असुरोंका आख्यान और आठवें दिन मत्स्यपुराणका आख्यान तथा कई पुराणोंका पाठ होता है।

इसी प्रकार दस-दस दिनोंपर उसी क्रमसे पाठ चलते हुए ३६० दिनोंके बाद दीक्षा होती है। इस तरहसे उसके बाद भी कई मासतक यह यज्ञ चलता रहता है। पुराणोंके अनुसार महाराज दशरथने राम आदिके जन्मकी कामनासे प्रायः तीन वर्षोंतक यह यज्ञ किया था, जिसमें इस यज्ञके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण यज्ञोंको भी क्रमशः सम्पादित किया गया था।

३-पाकयज्ञ-संस्था—पाकयज्ञके अन्तर्गत सप्त संस्थाओंका उल्लेख मिलता है, जो क्रमशः अष्टका, पार्वणश्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एवं आश्वयुजीके नामसे जानी जाती है। पाकयज्ञ-संस्थाओंमें पहला अष्टकाश्राद्ध है। कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ—इन चार मासोंके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथियाँ अष्टका कही जाती हैं। पर अष्टकाश्राद्ध मार्गशीर्ष, पौष और माघ—इन तीन मासोंकी कृष्णाष्टमियोंपर ही सम्पन्न होता है। इनमें पितरोंका श्राद्ध करनेका बहुत बड़ा माहात्म्य है। इसमें स्थालीपाक, आज्याहुतिपूर्वक पितरोंके श्राद्ध होते हैं।

पर्व-पर्वपर या पितरोंकी निधन-तिथिपर और महीने-महीनेपर होनेवाले श्राद्ध 'पार्वण' कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त एकोद्दिष्ट, आभ्युदयिक आदि श्राद्ध भी होते हैं, जिन्हें पाकयज्ञोंमें गिना गया है। श्रावणी पूर्णिमाको होनेवाले सर्पबलि, गृह्यकर्म और वैदिक क्रियाओंको रक्षाबन्धनसहित श्रावणी कर्ममें गिना गया है, इन्हें चौथा पाकयज्ञ कहा गया है। पारस्कर गृह्यसूत्रके तृतीय काण्डकी द्वितीय कण्डिकाके अनुसार आग्रहायणी कर्म पाँचवीं पाक-यज्ञ-संस्था है। उसमें सर्पबलि, स्थालीपाकपूर्वक श्रावणीके समान ही आज्याहुति और स्विष्टकृत्-हवन एवं भूशयनका कार्य होता है। चैत्रीमें शूलगव-कर्म (वृषोत्सर्ग) किया जाता है। पारस्कर गृह्यसूत्रके तृतीय काण्डकी आठवीं कण्डिकाके अनुसार शूलगव-यज्ञ स्वर्ग, पुत्र, धन, पशु, यश एवं आयु प्रदान करनेवाला है। इसमें पशुपति रुद्रके लिये वृषभ (साँड़) छोड़े जानेका आदेश है। इसी दिन

स्थालीपाकपूर्वक विधिवत् हवन भी किया जाता है।

सातवीं पाकयज्ञ-संस्था आश्वयुजी कर्म है। इसका वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्रके द्वितीय काण्डकी १६ वीं कण्डिकामें विस्तारके साथ हुआ है। इसका पूरा नाम 'पृषातक यज्ञ' है। इसमें ऐन्द्री हविष्यका दधि-मधुसे सम्मिश्रण कर इन्द्र, इन्द्राणी तथा अश्विनीकुमारोंके नामसे आश्विन-पूर्णिमाको हवन किया जाता है। उस दिन गायों और बछड़ोंको विशेषरूपसे एक साथ ही रखा जाता है। ब्राह्मणोंको भोजन करा देनेके उपरान्त इस कर्मकी समाप्ति होती है।

यद्यपि साधन-सम्पन्न व्यक्ति इन्हें अब भी करते हैं, परंतु वर्तमानमें इनमेंसे कुछ बड़े-बड़े यज्ञोंका सम्पादन सर्वसामान्यके लिये सम्भव नहीं है। साथ ही कलियुगमें अश्वमेधादि कुछ यज्ञोंका निषेध भी है। वर्तमानमें रुद्रयाग, महारुद्रयाग, अतिरुद्रयाग, विष्णुयाग, सूर्ययाग, गणेशयाग, लक्ष्मीयाग, शतचण्डीयाग, सहस्रचण्डीयाग, लक्षचण्डीयाग, महाशान्तियाग, कोटिहोम, भागवतसप्ताहयज्ञ आदि विशेष प्रचलित हैं।

ये यज्ञ सकाम भी किये जाते हैं और निष्काम भी। अग्नि, भविष्य, मत्स्य आदि पुराणोंमें जो यज्ञों तथा उनकी विधि आदिका विस्तृत तथा स्पष्ट विवरण मिलता है, वह वेद और कल्पसूत्रों (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र आदि)-पर आधृत है। अनेक राजाओं आदिके चरित्र-वर्णनमें विविध यज्ञानुष्ठानोंके सुन्दर आख्यान-उपाख्यान भी पुराणोंमें उपलब्ध होते हैं। इन यज्ञोंसे परमपुरुष नारायणकी ही आराधना होती है। श्रीमद्भागवत (४। १४। १८-१९)-में स्पष्ट वर्णित है—

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः॥
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥

जिसके राज्य अथवा नगरमें वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करनेवाले पुरुष स्वधर्म-पालनके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं, हे महाभाग! भगवान् अपनी वेद-शास्त्ररूपी आज्ञाका पालन करनेवाले उस राजासे प्रसन्न रहते हैं; क्योंकि वे ही सारे विश्वकी आत्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके रक्षक हैं। पद्मपुराणके सृष्टिखण्ड (३। १२४)-में स्पष्ट कहा गया है कि यज्ञसे देवताओंका आप्यायन अथवा पोषण होता है। यज्ञद्वारा वृष्टि होनेसे मनुष्योंका पालन होता है, इस प्रकार संसारका पालन-पोषण करनेके कारण ही यज्ञ कल्याणके हेतु कहे गये हैं—

यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः।
आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याणहेतवः॥

शास्त्रोंने यज्ञोंके यथासम्भव सम्पादनपर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञोंका फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक भी है। इनके अनुष्ठानसे अभीष्ट कामनाओंकी प्राप्ति ही नहीं हुई है, प्रत्युत उनका सर्वाङ्गीण अभ्युदय भी हुआ है। अतः इनका सम्पादन अवश्यकरणीय है।

राम-नामकी महिमा

(श्रीप्रकाश 'सूना')

रामका नाम बड़ा सुखकारी॥
सुखमें, दुखमें नाम जपे जा यह तो है हितकारी।
हे रघुनंदन! हे सीतापति! दे दो सुखकी थारी॥
हर नैयाका वही खेवैया शरण पड़ेकी तारी।
राम-नाम रस पी ले बंदे! इसकी महिमा न्यारी॥
पंछीको इक दिन उड़ जाना पंछी तो नभ-चारी।
भवन सजा प्रभु रामका अद्भुत 'सूना' बन दरबारी॥

अमृत-बिन्दु

जबतक तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता, तबतक सब प्राणी कैदी हैं। कैदीका लक्षण है—पापकर्म करे अपनी मरजीसे और दु:ख भोगे दूसरेकी मरजीसे।

× × ×

भीतरमें लोभ न हो तो आवश्यक वस्तु अपने-आप प्राप्त होती है; क्योंकि लोभ ही वस्तुकी प्राप्तिमें बाधक है।

× × ×

बड़ा वास्तवमें वही है, जो दूसरोंको बड़ा बनाता है। जो दूसरोंको छोटा बनाता है, वह खुद छोटा है, गुलाम है।

× × ×

संतोषसे काम, क्रोध और लोभ तीनों नष्ट हो जाते हैं।

× × ×

सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि मनुष्योंका जीवन दूसरोंके लिये है, अपने लिये नहीं।

× × ×

यदि सभी मनुष्य अपना-अपना सुख चाहेंगे तो सभी दु:खी हो जायँगे और दूसरेका सुख चाहेंगे तो सभी सुखी हो जायँगे।

× × ×

अपने लिये सुख चाहना आसुरी, राक्षसी वृत्ति है।

× × ×

किसी भी व्यक्तिका निरादर नहीं करना चाहिये। निरादर करनेसे वास्तवमें अपना ही निरादर होता है। कारण कि सब जगत् ईश्वररूप है।

× × ×

भारतवर्षमें जन्म लेकर भी मनुष्य भगवान्में न लगे—यह बड़े आश्चर्य और दु:खकी बात है! क्योंकि भारतवर्षमें जन्म मुक्त होनेके लिये ही होता है। इसलिये देवता भी भारतवर्षमें जन्म चाहते हैं।

× × ×

मनुष्य खुद तो भोगी बनता है, पर दूसरोंको त्यागी देखना चाहता है—यह अन्याय है। यदि उसे त्यागी अच्छा लगता है तो वह खुद त्यागी क्यों नहीं बनता?

× × ×

संसारकी जिस वस्तुको हम बड़ा महत्त्व देते हैं, उसका काम यही है कि वह हमें परमात्मप्राप्ति नहीं होने देगी और खुद रहेगी नहीं!

× × ×

अपने सुखसे सुखी होनेवाला कोई भी मनुष्य योगी नहीं होता।

× × ×

पहले पाप कर लें, पीछे प्रायश्चित्त कर लेंगे—इस प्रकार जान-बूझकर किये गये पाप प्रायश्चित्तसे नष्ट नहीं होते।

× × ×

अन्तमें अकेला ही जाना पड़ेगा, इसलिये पहलेसे ही अकेला हो जाय अर्थात् वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे असंग हो जाय,इनका आश्रय न ले।

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गोलोकवासी संत श्रीबालकृष्णदासजी महाराज

इस धराधामकी शोभा भगवत्प्राण महापुरुषोंके कारण ही है। उन्हींके पावन पादपद्मोंके पुण्यस्पर्शसे मेदिनी अपनेको कृतकृत्य मानती है। जहाँ वे एक क्षण भी रहते हैं, वे ही स्थान संसारासक्त जीवोंको शान्ति प्रदान करनेवाले पुण्यक्षेत्र हो जाते हैं, उन्हींके कारण तीर्थोंको तीर्थत्व प्राप्त होता है, उनके दर्शनमात्रसे जीवोंकी कल्मषराशि भस्मसात् हो जाती है।

यद्यपि इस कठोर कलिकालमें सच्चे संतोंका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ ही नहीं, प्राय: अलभ्य भी होता जा रहा है तथापि जबतक धरणीमें वन, पर्वत एवं विविध जीवोंको धारण करनेकी शक्ति है, तबतक उनका अभाव तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि वस्तुत: उन्हींके तपोबलसे यह शक्ति प्राप्त है, अवश्य ही ऐसे महानुभाव अत्यन्त विरल हैं। 'परम संत श्रीबालकृष्णदासजी महाराज' ऐसे ही एक दुर्लभ रत्न थे। श्रीव्रजमण्डल साक्षात् श्रीश्यामसुन्दरकी क्रीडास्थली है, उसमें स्वभावत: ही अनेक भजननिष्ठ महानुभाव विराजते हैं। यहाँ भगवान्‌की देवदुर्लभ रूप-माधुरी, अद्‌भुत लीला-माधुरी और जनमनहारिणी गुण-माधुरी अनायास ही सरल-हृदय अधिकारियोंको भगवद्भजनमें नियुक्त कर देती है। उनसे आकृष्ट होकर अनेक भावुक भक्त अपने सर्वस्वको प्रभुकी त्रिभङ्गललित छबिपर निछावर कर सामान्य जीवन जीकर अहर्निश उनके सुमधुर नाम और रूपका चिन्तन करते हुए भगवद्-रसका आस्वादन करते हैं। महात्मा बालकृष्णदासजी ऐसे भगवत्प्राण महात्माओंमें मुकुटमणि थे। उनकी-जैसी भजन-ध्याननिष्ठा इस समय दुर्लभ ही है। व्रजमें अपने साधनके दिनोंमें ये 'दक्षिण स्वामी' के नामसे भी प्रसिद्ध थे।

मैसूरके मेलकोटा (तिरुनारायणपुरम्) ग्राममें वि०सं० १९७५ मार्गशीर्ष मासके शुक्लपक्षकी पावन एकादशी तदनुसार २९ नवम्बर सन् १९१८ में केरल देशके नरेश प्रसिद्ध भक्त संत कुलशेखर आलवारके वंशमें आपका जन्म हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीकृष्णन् आयंगार था, जो अवान्तरकालमें 'पार्थसारथी आयंगार' के नामसे विख्यात हुए। आपका भी प्रारम्भिक नाम था—श्रीसंपत्‌कुमार आयंगार। परिवारका सम्पूर्ण वातावरण भक्तिभावसे पूरित था। अत: इनके शैशव मनपर धार्मिक संस्कार प्रारम्भसे ही पड़ते रहे। बाल्यावस्थासे ही धार्मिक ग्रन्थोंके अध्ययनमें विशेष रुचि थी। परमहंस श्रीरामकृष्णके प्रवचन और जीवनवृत्त इनके आकर्षण और प्रेरणाके मुख्य केन्द्र थे।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा तुमकूरमें हुई। १७ वर्षकी आयुमें मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की तथा बेंगलौरमें इंटरमीडिएट परीक्षामें प्रवेश लिया। कुछ दिनोंके पश्चात् एक ऐसी घटना हुई जिसने इनके जीवनकी धाराको ही बदल दिया। सन् १९३७ में नवम्बरका महीना था, रात्रिका समय था। संपत्‌जीको सहसा परमहंस भगवान् श्रीरामकृष्णका साक्षात्कार हुआ। उन्होंने अपने भाई और बहनको जगाया तथा कहा—'देखो रामकृष्ण आये हैं। मुझे वे बुला रहे हैं, अब मैं जाऊँगा' और उसी क्षण मध्य रात्रिमें गृह त्याग कर दिया। सर्वप्रथम संपत्‌कुमार बेंगलौरसे हैदराबाद होते हुए काशी पधारे। कुछ समय काशीमें निवास किया। इसके बाद आप गङ्गोत्तरी, बदरिकाश्रम, हरिद्वार, तिब्बत, पशुपतिनाथ क्षेत्र (काठमांडू) आदि तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे। अन्तमें श्रीवृन्दावनधाममें आपका मन रम गया। वहाँ श्रीसंपत्‌कुमारजी श्रीरामानुजाचार्यजीके पास श्रीमद्भागवतका अध्ययन करने लगे। बालयोगी, दक्षिण स्वामी आदि नामोंसे ख्यात संपत्‌कुमारजीका नया नाम हुआ 'श्रीबालकृष्णदास'। आप पण्डित बाबाके सम्पर्कमें आये और उनके सत्संगसे लाभान्वित हुए। गोविन्दलीलामृतके अनुसार बाबाने अष्टकालीन लीलाका रहस्य आपको प्रकाशित किया था। महाराज बालकृष्णदासजी यद्यपि श्रीसम्प्रदायमें दीक्षित थे, तथापि उनको साम्प्रदायिक आग्रह नहीं था। उद्देश्य केवल एक था—श्रीकृष्ण-प्राप्ति।

वे व्रजमण्डलमें मुक्तरीतिसे विचरण करते, लीला-ध्यानमें लीन रहते, महामन्त्रका जप करते और रासलीलामें दिव्य दर्शनकी अनुभूति प्राप्त करते। कुछ दिनों आपने हरदेवजीके मन्दिरमें निवास किया, फिर श्रीरंगजीकी वाटिकामें बुर्जकी एक कुटियामें रहने लगे। मथुरा, नन्दगाँव, बरसाना, गोकुलमें—विभिन्न स्थानों तथा गुफाओंमें भजन किया। एक

सिद्ध पुरुषके संकेतसे यशोदा-सरोवरके समीप रहकर साढ़े तीन लाख जप नित्यश: करते रहे। तितिक्षा एवं वैराग्यकी वृत्ति अत्यन्त प्रखर थी। देहाध्यास छूट गया था, इनपर अनेक सिद्धोंकी कृपा थी।

पिछले कई वर्षोंसे आप रुग्णावस्थामें चल रहे थे। इस अवस्थामें भी आपकी दिनचर्या, भजन और ध्यान यथासम्भव पूर्ववत् ही था। आपके भक्तोंके द्वारा सेवा-शुश्रूषा और देख-रेखमें तो कोई कमी थी नहीं, किंतु करालकालसे किसीका भी वश नहीं चलता। अन्तमें वह समय उपस्थित हो ही गया और आपने संवत् २०५२ ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी (२४ मई १९९५ ई०)-में इस नश्वर शरीरको त्यागकर नित्यलीलामें प्रवेश किया। आपके वियोगसे श्रीवृन्दावनधामके वैष्णवोंको और आपके भक्तोंको आन्तरिक आघात पहुँचा।

यद्यपि इस समय आपके स्थानकी पूर्ति करनेवाले कोई अन्य महानुभाव दिखायी नहीं देते, तथापि आपके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करनेसे ही अनेक भक्तजन भगवत्कृपाके अधिकारी बन सकेंगे—इसमें संदेह नहीं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

श्रीरामरक्षास्तोत्रके पाठने गोमाताका कष्ट दूर किया

घटना लगभग चार वर्ष पुरानी है। गरमीके दिन थे। चैत्र मासके दोपहरका समय था। मेरी माँ हमेशा ही घरमें गाय रखती आयी हैं। उनकी भावना है कि गायके बिना घर बिलकुल सूना-सूना प्रतीत होता है, प्रात:काल उठते ही सर्वप्रथम गायकी सेवा-शुश्रूषामें लग जाना वें अपना प्रथम कर्तव्य मानती हैं, उसके बाद ही दूसरे कार्योंको करती हैं।

उन दिनों घरमें जो गौ माता थी, उसके बछड़ा होनेवाला था। लेकिन घटनाके दिन गौ माता प्रात:कालसे ही कुछ अनमनी थी, कुछ खाया भी नहीं था।

दोपहरका समय हो आया, माँके कहनेपर मैं एक जानकार व्यक्तिको बुलाकर लाया जो गायोंके बारेमें जानकारी रखते थे। उन्होंने आते ही कहा कि गायके पेटमें जो बच्चा है वह फिर नहीं रहा है। पूछनेपर उन्होंने कुछ क्वाथ आदि बताये, परंतु उससे गायको कोई विशेष आराम नहीं पहुँचा। समीपके पशु-चिकित्सक आज कहीं बाहर गये हुए थे।

सायंकालतक गायको न तो बच्चा हुआ और न ही आराम। ऐसी स्थितिमें जानकार व्यक्तिने बताया कि बड़ी रस्सीसे गायको बाँधकर लिटाना होगा और तब हाथसे देखना पड़ेगा कि पेटमें जो बच्चा है, वह जिंदा है या नहीं। ऐसा सुनते ही मेरी आँखोंके सामने अँधेरा-सा छा गया। गायकी ऐसी दुर्दशा देखनी पड़ेगी, इस कल्पनासे भय-सा लगने लगा। माँकी आँखोंसे अश्रुधारा बह चली, अब क्या होगा। दो-चार व्यक्ति और भी एकत्र हो गये। हम तो किंकर्तव्यविमूढ़ होकर एक-दूसरेका मुँह देखने लगे। इस विषयमें कुछ जानकारी तो थी नहीं, इसलिये रस्सीसे बाँधनेके लिये न हाँ कर सके और न ना कर सके। थोड़ी ही देरमें पड़ोसी एक बड़ी-सी सफेद रस्सी ले आये और फिर उससे गायको बाँधनेकी तैयारी होने लगी।

हम मन-ही-मन परमात्माको याद करते हुए कहने लगे—हे नाथ, हे गोविन्द! गौ माताकी यह दशा क्यों कर रहे हो, हे व्रजराजनन्दन! कोई और उपाय क्यों नहीं सुझाते।

दैवयोग देखिये, इधर जिन जानकार व्यक्तिको हम बुलाकर लाये थे, उनके घर एक मेहमान आ गये और मेहमानसे जब कहा गया कि वे गायको देखनेके लिये गये हुए हैं तो वे तुरंत ही हमारे घर आ पहुँचे। यहाँ जानकार व्यक्तिद्वारा जब गायको रस्सीसे बाँधनेकी तैयारी चल रही थी, तभी मेहमान बोल पड़े—'थोड़ा-सा ठहर जाओ।' उन्होंने मुझे बुलाया और कहा—तुम पूजा कहाँ करते हो? इसपर मैं अपने घरके उस स्थानपर उन्हें ले आया, जहाँ भगवान्की पूजा होती है। उन्होंने मुझसे कहा कि माताजीकी यहाँपर जोत (ज्योति) लो। तथा इसी निमित्त रामरक्षास्तोत्रका पाठ

करो। हमने तुरंत माताजी (देवी)-की जोत ली और वहीं बैठ गया।

रामरक्षास्तोत्र मुझे कण्ठस्थ था ही। मैं मन-ही-मन रामरक्षास्तोत्रका पाठ करने लगा और उधर परमात्माकी कृपासे गौ माता अपने-आप ही बैठ गयी थी तथा थोड़ी ही देरमें उसने एक सुन्दर-से बछड़ेको जन्म दिया। यह सब मेरे पीछे हुआ।

पाठ करके जब मैं बाहर आया तो वह दृश्य देखकर गद्‌गद हो गया और भगवान्‌की कृपाको सोचने लगा। मुझे लगा कि रामरक्षास्तोत्र-पाठ और गोविन्दकी प्रार्थनाका ही यह प्रभाव हुआ कि ठीक समयपर भगवत्प्रेरणासे वे मेहमान वहाँ आ पहुँचे, नहीं तो गायको बाँधकर गिरानेकी सारी तैयारियाँ हो ही चुकी थीं। भगवान्‌ने आज हमारी लाज रख ली, गायकी ऐसी दुर्दशा देखनेसे हमको बचा लिया।

'गोविन्दाय नमस्तस्मै गोपालाय नमो नमः'

—परमेश्वरलाल गौड़, एम्०ए०

(२)

भगवत्कृपापर विश्वास

मेरी पुत्री विवाह-योग्य हो गयी थी। हमलोग एक वर्षसे उसके लिये सुयोग्य वरकी तलाश कर रहे थे, परंतु बात बनते-बनते कहीं भी नहीं बन पाती थी, इस कारण मैं और मेरे पति बहुत चिन्तित थे। क्या किया जाय, कुछ समझमें नहीं आ रहा था। हमलोगोंके सारे प्रयत्न विफल-से हो गये थे। मेरी पुत्री भी अपनेको ही माता-पिताकी चिन्ताका कारण समझते हुए मन-ही-मन घुटी जा रही थी। ऐसे ही कुछ दिन बीते।

एक दिन 'कल्याण' के एक साधारण अङ्कमें 'पढ़ो, समझो और करो' स्तम्भके अन्तर्गत 'भगवान्‌ने स्वप्नमें आदेश दिया' शीर्षकसे छपी हुई घटना पढ़नेको मिली। उसे पढ़कर मुझे लगा कि मेरे लिये ही यह प्रसंग छपा है। घटनामें विवरण था कि अपनी पुत्रीके विवाहके लिये उन महानुभावने '*हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥*'—इस षोडश नाम महामन्त्रका ३१ माला जप प्रतिदिन किया था, जिससे शीघ्र ही उनकी पुत्रीका विवाह सम्पन्न हो गया। भगवान्‌की ऐसी प्रेरणा हुई कि इस मन्त्र-जपमें मेरी पूरी आस्था हो गयी और पुत्रीके विवाहके लिये एकमात्र यही उपाय मेरी समझमें आया। मैंने सोचा मैं तो गृहस्थीके जालमें फँसी हुई हूँ, मुझसे जप हो पायेगा कि नहीं, परंतु कन्याका समयपर विवाह होना बहुत जरूरी था। इसलिये मैं पूर्ण श्रद्धा-विश्वासके साथ ३१ बार उपर्युक्त षोडश नामकी माला जपने लगी। साथ ही मनमें मैंने अपने आराध्य भगवान्‌से प्रार्थना की कि 'हे भगवान्! एक महीनेमें तुम्हें इस कन्याकी सगाई करानी पड़ेगी।' यह निर्णय कर मैं पूर्ण आश्वस्त हो गयी और पूर्ण विश्वाससे माला जपती रही, मेरे पतिको भी मेरे निश्चयसे प्रसन्नता हुई और वे भगवान्‌का सम्बल लेकर वरके लिये कोशिश करते रहे।

आपको शायद आश्चर्य होगा या विश्वास न हो पर सत्य यही है कि प्रभुकी कृपा और पूर्ण विश्वाससे एक महीनेका समय जैसे ही पूरा हुआ, वैसे ही कन्याके लिये सुयोग्य वर मिल गया। पाँच महीनेसे जो बात टलती जा रही थी, भगवान्‌की दयासे वह कार्य क्षणमें सम्पन्न हो गया। कैसे और किस प्रकार विवाह हो गया, यह आज स्मरण आता है तो इसमें प्रभुकी कृपाका ही बल दिखलायी पड़ता है। आज पुत्री अपने ससुरालमें आनन्दपूर्वक है।

यह सब हमारे आराध्य श्रीबाँकेबिहारीजी और श्रीराधाजीकी कृपासे ही हो पाया। मेरा यह निश्चय दृढ़ हो गया कि भगवन्नामका आश्रय सभी संकटोंको निश्चित दूर करता है।

—पद्मा अग्रवाल

(३)

कैंसरके रोगियोंके लिये नयी आशा

गायके गोमूत्रसे बहुतसे जटिल रोग ठीक हो सकते हैं। उनमें कैंसर भी गोमूत्रके सेवनसे ठीक होता है। कैंसरग्रस्त एक व्यक्तिका उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है।

श्रीविनायक नरसिंह कुलकर्णी, मु०+पो० सारोला [काटी] तालुका बार्शी, जिला-सोलापुर [महाराष्ट्र] उम्र ६३ वर्षकी, जीभ और टाँसिलका कैंसर था। सोलापुरके निकट सिद्धेश्वर कैंसर अस्पतालमें उन्हें डॉक्टरोंने १८ तथा १२ कुल ३० रेडिएशनके सेंक लेनेको कहा। अप्रैल १९९२ में उन्होंने

सेंक लेना आरम्भ किया। ११ सेंक लेते-लेते उन्हें भयंकर पीड़ाका अनुभव हुआ। श्रीकुलकर्णीने सोचा कि सेंककी पीड़ा सहन करनेसे तो बिना उपचार कराये मरना अच्छा है। इसके बाद अस्पतालसे वे अपने गाँव चले गये। जब घरपर आये, उस समय उनके शरीरकी स्थिति बहुत नाजुक थी। उन्हें बहुत ही कमजोरी अनुभव हो रही थी तथा चार कदम चलना भी मुश्किल था। भोजनमें तरल पदार्थ ही ले सकते थे। रोटीका छोटा-सा टुकड़ा बहुत मुश्किलसे खा पाते थे।

श्रीविनायक कुलकर्णीने एक प्राचीन पुस्तकमें गायके मूत्र, गोबर, दही, दूध तथा घीसे बने पञ्चगव्यके बारेमें पढ़ा। जिसके अनुसार पञ्चगव्य नित्य लेनेसे शरीरकी भीतरी शुद्धि हो जाती है। श्रीकुलकर्णीने पञ्चगव्यकी पाँच वस्तुओंमेंसे केवल देशी गायका गोमूत्र १०० ग्राम तथा एक सुपारी-जितना ताजा गोबर लेकर दोनोंको अच्छी तरहसे मिलाकर स्वच्छ वस्त्रसे छानकर पीना आरम्भ किया। उन्होंने गोबर तथा गोमूत्रके घोलको सुबह मंजन इत्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर लेना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे श्रीकुलकर्णीकी कमजोरी दूर होने लगी। रोटीके टुकड़ेको जहाँ पहले खानेमें कठिनाई अनुभव होती थी, वहीं अब सरलतापूर्वक खाने लगे। धीरे-धीरे भोजनकी मात्रामें वृद्धि करते गये। निरन्तर चार महीनेतक गोमूत्र तथा गोबरका सेवन करनेके बाद उन्होंने साधारण व्यक्तिकी तरह पूरा भोजन लेना प्रारम्भ कर दिया। उनके गलेकी गाँठें खत्म हो गयी थीं। स्वास्थ्यमें आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया। पहले जहाँ चार कदम चलना मुश्किल था, वहाँ अब वे पाँच किलोमीटर पैदल चलने लगे। श्रीकुलकर्णीने अपने परिचित चिकित्सकको सोलापुरमें दिखाया। चिकित्सकने बाहरी लक्षणोंके आधारपर कैंसर मुक्त होनेकी बात बतायी। मैं उनसे ३० नवम्बर १९९५ को उनके गाँवपर मिलने गया था। श्रीकुलकर्णी तिरसठ सालकी उम्रमें पूर्णतया स्वस्थ दिखायी दे रहे थे।

गोमूत्र तथा गोबरसे शरीरके सारे रोगोंका इलाज राजवैद्य रेवाशंकरजी त्रिवेदी, रटलाई [झालावाड़, राजस्थान] करते हैं। यह ध्यान रहे कि औषधिके लिये गोमूत्र तथा गोबर देशी गायका ही लेना चाहिये। अच्छा चारा या घास खानेवाली स्वस्थ देशी गायका ही गोमूत्र तथा गोबर लेना चाहिये।

प्रख्यात गोभक्त श्रीनेडेपकाका, गाँव पुसद, जिला यवतमालके अनुसार देशी गायकी पीठपर तथा गलेपर पंद्रह मिनट हाथ फेरनेसे रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) नियन्त्रणमें आता है तथा हृदय-सम्बन्धी रोग धीरे-धीरे ठीक हो जाते हैं।

गायके ताजे गोबरसे स्नान करनेपर सिरके बाल काले होते हैं। चर्मरोग—दाद, खाज, खुजली तथा सोराइसीस दूर होते हैं एवं रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) नियन्त्रित हो जाता है। शरीरमें ताजगी महसूस होती है। साबुनसे स्नानकी आवश्यकता नहीं रहती है। गोबरकी गंध नाकमें पहुँचनेसे टी०बी० के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। त्वचाकी मूल चिकनाई बनी रहती है। साबुनसे नहानेपर त्वचाकी मूल चिकनाई नष्ट हो जाती है।

'श्रीनेडेपकाका'का एक हाथ किसी बीमारीके कारण बेकार हो गया था। डॉक्टरोंने ऑपरेशन करानेकी सलाह दी। उन्हें अपने घरपर गायके गोबरके ढेरको किसी कारणवश खुद ही साफ करना पड़ा। गोबरके निरन्तर सम्पर्कमें रहनेके कारण उनके निर्जीव हाथमें चेतना आने लगी। यह अनुभव होते ही काकाने गोबरके ४-५ किलोके ढेर बनाकर हाथपर गोबरका सेंक आरम्भ किया। कुछ ही दिनोंमें उनका हाथ नब्बे प्रतिशत ठीक हो गया।

गाय-बैल-साँडके गोबरके सूखे कंडेमें थोड़ा गायका घी डालकर जलानेसे आस-पासका वातावरण शुद्ध होकर रोग-निवारण होता है। अगरबत्तियोंमें बाँसकी काँड़ी तथा पेट्रोकेमिकल पदार्थ होनेके कारण वातावरण दूषित होता है, इस तरहसे गोमाताके दूध, घी तथा दहीसे अनेक रोग दूर होते हैं। प्रसिद्ध भागवत-कथा-वाचक पूज्य किशोरजी व्यासकी एक आँखमें काफी खराबी आ गयी थी। गायका शुद्ध घी उन्होंने नाकमें ४-५ बूँद नित्य डालना आरम्भ किया। गायके घीकी मालिश सिरमें तथा पैरके तलवेमें की, इससे उनकी आँखकी बीमारी एक महीनेमें दूर हो गयी। अतः अत्यन्त मनोयोगपूर्वक गोमाताकी रक्षामें ही मानव-समाजकी रक्षा निहित है।

—श्रीलक्ष्मीनारायणजी चांडक

मनन करने योग्य

स्वप्नवत्ता

'कोई बचाओ रे! देवदत्तको साँपने डँस लिया!'

'काला साँप है। अभी मारो मत! बरुआको बुलाओ!'

'बौड़मदासको खबर करो! जहर फैलता जा रहा है। जल्दी करो!'

कुछ लोग बौड़मदास सँपेरेको बुलाने दौड़े तो कुछ काटे हुए स्थानसे ऊपर पैरमें रस्सीके बंध लगानेमें जुट गये।

'अरे, सुखरामको तो खबर करो! बेटा मौतके मुँहमें है और बाप खलिहानपर घोड़े बेचकर सो रहा है। अभी तो आधी रात भी नहीं बीती है।'—देवदत्तकी दादीने घबराये हुए स्वरमें कहा तो रघुआ किसान तेज कदमोंसे खलिहानकी ओर चल दिया।

किंतु जो विधाताको मंजूर था, वही हुआ। न बौड़मदास सँपेरा कुछ कर सका, न कोई टोना-टोटका काम आया। देवदत्त इहलीला समाप्त करके अनन्तकी यात्रापर जा चुका था। सभी स्तब्ध रह गये। परिवारीजनोंका करुण क्रन्दन कठोर-से-कठोर हृदयको भी द्रवित करनेके लिये काफी था।

मृतक देवदत्तका पिता था—सुखराम किसान। सुखरामकी गुजर-बसर अपनी खेती-बाड़ीसे बखूबी हो रही थी। उसकी पत्नी सुखिया और अठारह-वर्षीय इकलौता युवा पुत्र देवदत्त पूरी तरह संतुष्ट और प्रसन्न थे। साथमें बस, सुखरामकी बूढ़ी माँ रहती थी, जो अपने बेटे-पोतेके सुखमें सुखी थी।

उस दिन सुखराम अपने खलिहानमें बैलोंको लेकर आया था—दँवरी करनेके लिये। गेहूँके बँधे गट्ठरोंको उसने खोल दिया। दिनभर बैलोंको उनपर घुमाता रहा। डंठलोंसे दाने और भूसा अलग-अलग हो गये तो ओसाई करके भूसे और दानोंके अलग-अलग ढेर लगा दिये। फिर थका-माँदा वह रातको खलिहानमें ही सो गया।

सुखरामने यों तो जीवनमें अनगिनत सपने देखे थे। पर उस रात-जैसा सपना पहले कभी नहीं देखा था। सपना जितना अजीब था, उतना ही सुखद भी। सपनेमें उसने देखा कि वह बहुत बड़ा राजा हो गया है और उसकी पत्नी सुखिया महारानी बन गयी है। उसकी माँ भी रानी-माँ बनी अति प्रसन्न है। धीरे-धीरे, राजा बने सुखरामके—एक-एक करके सात पुत्र हुए, जो राजकुमार कहलाये। सातों राजकुमार पढ़-लिखकर सभी प्रकारसे योग्य हो गये। फिर उन सभीका विवाह भी हो गया। धन-वैभवसे भरा-पूरा राजमहल था—कहीं किसी प्रकारका कोई अभाव और कष्ट नहीं। सभी ओर समृद्धि-सम्पन्नता। सपनेमें राजा बना सुखराम अपना प्रभुत्व देखकर मन-ही-मन बड़ा ही आनन्दित हो रहा था। तभी अचानक खलिहानमें कुछ आवाज हुई। उस आवाजसे उसकी नींद उचट गयी और उसका वह सुखद सपना टूट गया। वह आँखें मलता हुआ उठ बैठा और चारों ओर निगाह दौड़ाकर देखने लगा। उसे न अपना राज्य दिखायी दिया और न ही सपरिवार सातों राजकुमार। सुखराम हक्का-बक्का होकर देखता रह गया। समझ गया—'मैं सपना देख रहा था।'

उसके घर तो प्रारब्धवश एक दूसरा ही घटना-क्रम चल रहा था, उसके इकलौते पुत्र देवदत्तकी, विषधरके दंशसे अकाल मृत्यु हो गयी थी। घरसे खलिहान दूर था। जबतक रघुआ किसान उसे बुलाने वहाँ पहुँचा, वह प्रकृतिस्थ हुआ अपने सपनेपर ही विचार कर रहा था। जब रघुआने उसे सारी घटना बतायी तो वह तत्क्षण घर आया। उसने देखा कि उसकी पत्नी सुखिया छाती पीट-पीटकर विलाप कर रही है। उसकी माँ भी दुःखसे बेसुध-सी पड़ी है। पास-पड़ोसके अधिकाधिक लोग एकत्रित हैं और देवदत्तकी माँका करुण क्रन्दन सुनकर वे भी प्रायः रो रहे हैं। कुछ लोग देवदत्तके शवको कपड़ेमें बाँधकर चितापर ले जानेकी तैयारी कर रहे हैं। सुखियाका विलाप सुनकर तो सबका हृदय विदीर्ण हुआ जाता था।

किंतु सुखरामके घर पहुँचनेपर, जब वहाँ उपस्थित लोगोंकी दृष्टि उसपर पड़ी तो उन्हें यह देखकर बड़ा ही

आश्चर्य हुआ कि हमलोग, जो उसके पुत्रके कुछ भी नहीं हैं, सो तो रो रहे हैं—और यह, उसका बाप होकर भी बिलकुल चुपचाप है। उसकी मुखाकृतिसे भी वह शोकमग्न नहीं दिखायी पड़ता था। यह बात न तो किसीके गले उतरी और न सहन ही हुई। जब उनसे रहा न गया तो उनमेंसे किसी एकने पूछा—

'भाई सुखराम! क्या बात है? तुम इतने शान्त क्यों दिखायी दे रहे हो?'

'ऐसा पिता तो हमने आजतक न देखा, न सुना—जो अपने एकमात्र युवा पुत्रकी अकाल मृत्युपर दुःखी न हो। तुम तो ऐसे कठोर कभी न थे, सुखराम! देवदत्त कभी बीमार भी होता था तो बड़े ही चिंतित और परेशान हो जाया करते थे। इतना बड़ा परिवर्तन अचानक कैसे आया तुम्हारे अंदर?'

सुखरामपर जब प्रश्नोंकी बौछार हुई तो जैसे उसे कुछ होश-सा आया। लेकिन यह क्या! एकाएक वह हँसने क्यों लगा! उसकी गम्भीरता, उसकी उदासीनता हास्यमें परिणत क्यों हो गयी। विक्षिप्तकी तरह वह हँसता ही जा रहा था। वह हँसी भी मंद नहीं थी—अट्टहास-जैसी थी।

यह देख लोगोंने समझा, सुखरामको गहरा सदमा पहुँचा है; तभी तो अबतक वह खोया-खोया-सा अजीब निगाहोंसे देख रहा था और अब उसे पागलपनका दौरा पड़ गया है। लोगोंने उसकी असाधारण हँसीको उसके गहरे दुःखका सूचक समझा। उसकी पत्नी और माँ भी उसकी हालत देखकर अपना दुःख भूल गयीं और एकटक उसीकी ओर देखने लगीं।

थोड़ी देरमें जब सुखरामकी हँसी रुकी, तब उसने उपस्थित सभी लोगोंकी ओर बड़ी ही अर्थ-भरी दृष्टिसे देखा और फिर उलटे उन्हींसे प्रश्न किया—

'मैं अपने सात राजकुमारोंके लिये रोऊँ या इस एकके लिये?'

सुखरामका प्रश्न सुनकर लोग तत्काल समझ नहीं पाये कि वह कह क्या रहा है। उसका वाक्य किसी विक्षिप्तके प्रलाप-जैसा लगा इन सभीको।

पर, एक व्यक्तिने पूछ ही लिया—'सुखराम! यह तुम क्या कह रहे हो? हमारी समझमें कुछ भी नहीं आ रहा है। लगता है, लड़केके दुःखमें तुम्हारा मानसिक संतुलन बिगड़ गया है। भला, तुम्हारे कौनसे सात राजकुमार थे, जिनके लिये कह रहे हो कि वे अब नहीं रहे?'

तब सुखरामने अपना अजीबोगरीब सपना उन्हें विस्तारपूर्वक सुनाया और फिर बोला—

'अभी करीब एक ही घंटा पहले, मैं बहुत बड़ा राजा था—सम्राट् था। मेरे सर्वगुणसम्पन्न सात राजकुमार थे। अपने भरे-पूरे परिवारके साथ मैं अपने भारी राज-पाटका सुख भोग रहा था। और अब न मेरा वह राज्य-वैभव है, न राज-परिवार। जैसे मेरे वे सात पुत्र अब नहीं हैं, वैसे ही मैं समझ गया हूँ कि मेरा एक पुत्र—यह देवदत्त भी नहीं रहा! भला, मैं शोक किसका करूँ और किसका नहीं?'

वस्तुतः यही 'स्वप्नवत्ता'का बोध है—आत्मज्ञान! आत्माके प्रकाशित होते ही सांसारिक पुत्र स्वप्न-पुत्रोंके समान आभासित होने लगता है। जल-बुद्बुदवत् नश्वर एवं क्षणिक है यह जीवन! मिथ्या कहें या सत्य—जो स्वप्न हम निद्रावस्थामें देखते हैं, वह छोटा होता है और हमारा यह जीवन एक बड़ा सपना है। हमें यह ज्ञान नहीं है कि हम क्षणिक स्वप्न देख रहे हैं, अज्ञानवश हमको तो वह वास्तविक ही प्रतीत होता है। जागनेपर ही भान होता है कि हम स्वप्न-संसारमें विचरण कर रहे थे। इसी प्रकार आत्मज्ञान होनेपर इस जीवनकी वास्तविकताका बोध होता है और तब समस्त व्यापार स्वप्नवत् हो जाता है।

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

—श्रीबालकृष्णजी गर्ग
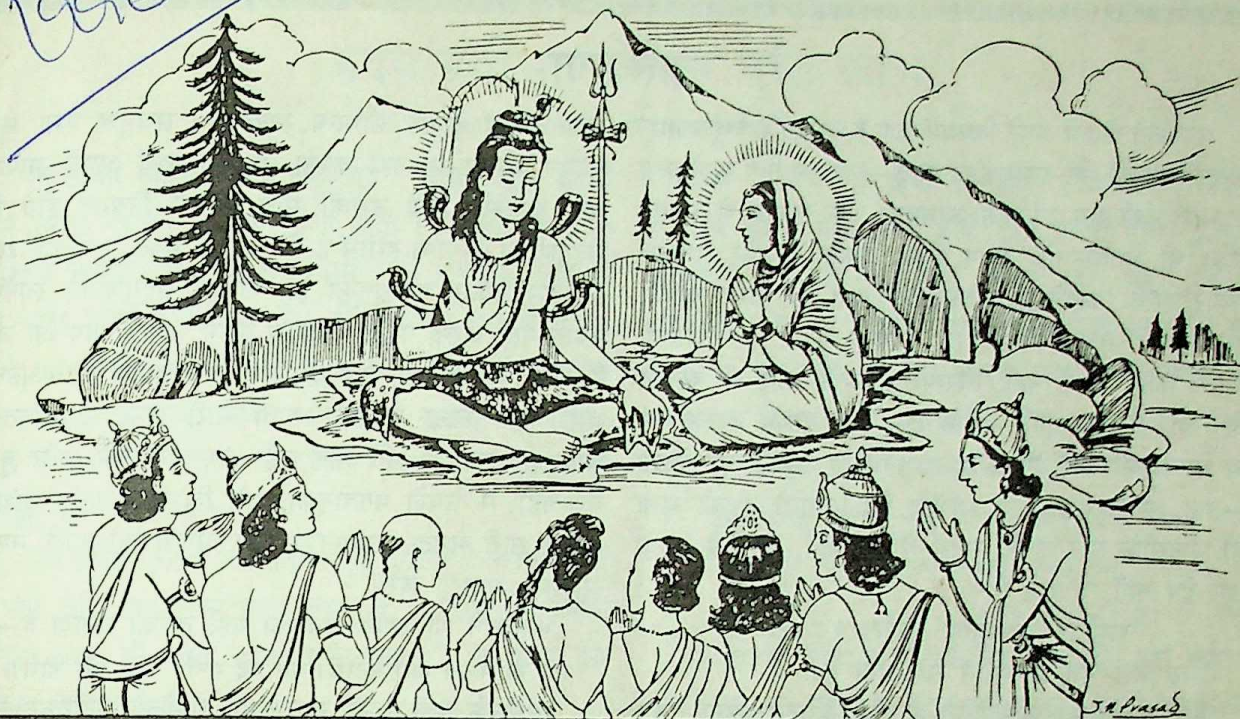
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

वर्ष ७० | गोरखपुर, सौर कार्तिक, वि० सं० २०५३, श्रीकृष्ण-सं० ५२२२, अक्टूबर १९९६ ई० | संख्या १० | पूर्ण संख्या ८३९

भगवान् बालकृष्ण

अथ श्रीमदुद्यानसंवीतहैमस्थलोद्भासिरत्नस्फुरन्मण्डपान्तः।
लसत्कल्पवृक्षोदितोद्दीप्तरत्नस्थलाधिष्ठिताम्भोजपीठाधिरूढम्॥
महानीलनीलाभमत्यन्तबालं गुडस्निग्धवक्त्रान्तविस्रस्तकेशम्।
अलिव्रातपर्याकुलोत्फुल्लपद्मप्रमुग्धाननं श्रीमदिन्दीवराक्षम्॥

(स्कन्दपु०, वै० खं० १६। २-३)

'शोभाशाली उद्यानसे घिरी हुई एक सुवर्णमयी स्थली है। उसमें जगमगाते हुए रत्नोंका बना हुआ एक प्रकाशमान मण्डप है। उसके भीतर कल्पवृक्ष शोभा पा रहा है। उसके नीचे उद्दीप्त रत्नमय सिंहासन है, जिसके ऊपर कमलका आसन है। उसके ऊपर बालगोपाल श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण विराजमान हैं। उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति महानील-मणिके समान श्याम है। उनकी अत्यन्त बाल्यावस्था है। मुखके समीपतक चिकने, काले घुँघराले बाल बिखरे हुए हैं। उनसे मुग्ध मुखारविन्दकी ऐसी शोभा हो रही है, मानो खिले हुए कमलपर भ्रमरोंके समूह छा रहे हों। उनके नेत्र नील कमलके समान परम सुन्दर हैं।'

कल्याण

भगवान्‌ने गीतामें अपने विषयमें कहा है-'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' अर्थात् मैं सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद्—अकारण हित करनेवाला हूँ। भगवान्‌की इस उक्तिके आधारपर एक नगण्य-से-नगण्य व्यक्ति भी भगवान्‌को 'अपना' कह सकता है और सचमुच भगवान् उसके 'अपने' हैं। जिससे हम बात नहीं करना चाहते, जिसे समाज तुच्छ मानता है, नगण्य मानता है—जिसकी संसारमें कोई गिनती नहीं, जिसपर संसारका कोई भी व्यक्ति दृष्टि नहीं डालना चाहता—ऐसा दीन-हीन-नगण्य व्यक्ति भी जब भगवान्‌की ओर देखता है, तब भगवान् उसकी ओर देखते हैं—यह भगवान्‌का सहज स्वभाव है। किसीसे उनको घृणा नहीं, किसीके प्रति उनके मनमें वैषम्य नहीं, किसीसे उनके मनमें द्वेष नहीं, वे सम हैं—

'**समोऽहं सर्वभूतेषु**' (गीता ९। २९)

'मेरा सर्व भूत-प्राणियोंमें सम भाव है।'

किंतु समस्त भूत-प्राणियोंमेंसे जो कोई भी उनसे कहेगा—'हम तुम्हारे', भगवान् उसके लिये कहेंगे—'हाँ! हाँ! तुम हमारे।' इतना ही नहीं, वे एक बात और साथमें कह देंगे—'तुम हमारे हो तो हम तुम्हारे हैं।'

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।

—ये भगवान् विष्णुके वचन हैं—'साधु (भक्त) मेरा हृदय है और मैं उनका हृदय हूँ।' भगवान् इतना कहकर ही विराम नहीं ले लेते, वे अपनेको कितने छोटे दायरेमें ले आते हैं—

'**मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।**

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६८)

'मेरे सिवा किसी दूसरेको वे नहीं जानते और उनके सिवा किसी दूसरेको रंचक मात्र भी मैं नहीं जानता।'

कितना अपनत्व है, कितनी आत्मीयता है! सचमुच भगवान्‌का ऐसा ही उदार स्वभाव है। उन्हें जो चाहो सो बना सकते हो—बाप बना लो, माँ बना लो, भाई बना लो, बेटा बना लो, पति बना लो, मालिक बना लो—यहाँतक कि 'चाकर' बना लो; वे सब कुछ बननेको प्रस्तुत हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

ऐसो को उदार जग माहीं।

बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥

सचमुच ऐसा उदार कौन है, ऐसा दयालु दूसरा कौन है, जो बिना सेवाके केवल 'हम तुम्हारे हैं'—कहनेमात्रसे घोषणा कर डाले, 'हाँ, हाँ तुम हमारे हो और हम तुम्हारे हैं।'

जो भगवान्‌का हो जाता है, भगवान् जिसके हो जाते हैं, सारे सद्‌गुण अपने-आप उसमें आने लगते हैं—सद्‌गुण उसकी सेवा करनेमें अपना सौभाग्य मानते हैं। सचमुच ऐसा भक्त सद्‌गुणोंकी अपेक्षा नहीं करता, सद्‌गुण स्वयं अपने-आपको धन्य बनानेके लिये उसकी सेवा करनेमें नियुक्त होते हैं। सद्‌गुणोंका सौभाग्य इसीमें है कि वे ऐसे भक्तकी सेवामें रहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌का हो जानेपर सद्‌गुणोंको लानेका प्रयत्न नहीं करना पड़ता, सद्‌गुण उसमें अपने-आप आ जाते हैं और फिर भगवान् कह देते हैं—'हम तुम्हारे हैं।' अतएव बस, यही करना है कि अपनी सारी ममता-आसक्तिको भगवान्‌में लगा दें और कह उठें—'भगवान् मेरे, और कुछ मेरा नहीं; मैं केवल भगवान्‌का, और किसीका नहीं।' अर्थात् अपनी सारी ममता भगवान्‌पर और भगवान्‌की सारी ममता अपनेपर अनुभव करें।

भगवान्‌ने भी अपने भजनका यही तरीका बताया है—

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

'संसारके प्रति अपने ममत्वरूपी धागोंको बटोरकर और उन सबकी एक डोरी बटकर उसके द्वारा जो अपने मनको मेरे चरणोंमें बाँध देता है—सारे सांसारिक सम्बन्धोंका केन्द्र मुझे बना लेता है, वह मेरे हृदयमें बस जाता है।' हम भगवान्‌की इस वाणीपर विश्वास करें और भगवान्‌को अपना बना लें। जीवन जा रहा है; कब मृत्यु हो जाय—कुछ पता नहीं। अतएव निरन्तर तैयार रहना चाहिये और तैयारी यही है कि 'हम भगवान्‌के हो जायँ—***होहि राम को।***' इतना हुआ कि भगवान् तो अपनानेको तैयार हैं। भगवान्‌के साथ यह सम्बन्ध नया नहीं जोड़ना है; हमारा और उनका यह सम्बन्ध नित्य है, सनातन है। सचमुच भगवान् ही हमारे हैं और हम भगवान्‌के ही हैं; पर इस सम्बन्धको हमने भुला रखा है। पुरुष जो 'स्वस्थ' था, वह 'प्रकृतिस्थ' हो गया—अर्थात् मायामें स्थित होकर उसने अपने नित्य सम्बन्धको भुला दिया है। बस, हम अपने उस नित्य सम्बन्धको याद कर लें और पुकार उठें—'नाथ! हम तो भूल ही गये थे—तुम तो हमारे थे ही और हमारे ही रहोगे। अब हम इस सम्बन्धको नहीं भूलेंगे। अब तुम हमें मत भूलो और हम तुम्हें नहीं भूलें।' हम रात-दिन भगवान्‌को यही कहें और बार-बार मन-ही-मन इसकी ही आवृत्ति करें—'हम भगवान्‌के! हम भगवान्‌के! हम भगवान्‌के! भगवान् हमारे! भगवान् हमारे! भगवान् हमारे!!!' जगत्‌का 'हमारा-हमारा' सब झूठा है। 'यह घर हमारा, यह मकान हमारा, यह शरीर हमारा'—यह सब झूठा है। वास्तवमें कोई भी हमारा नहीं है, केवल भगवान् हमारे हैं'। हम इसीकी रात-दिन आवृत्ति करें—'भगवान् हमारे हैं।' यही परम साधन है।—'**शिव**'

हृदय द्रवीभूत होनेपर तुरंत लाभ

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

किसीका किसीके प्रति जब हृदय पिघल जाता है तो उस समय उसकी वैसी ही दशा होती है, जैसी चपड़े या लाखके पिघलनेपर होती है। पिघले हुए चपड़ेमें जैसा भी रंग डाल दिया जाय, वह वैसे ही रंगवाला बन जाता है। यदि वह चपड़ा बिना पिघला हुआ हो तो उसपर चाहे कुछ भी डाल दिया जाय उसका कोई खास असर नहीं पड़ता। इसी तरह किसीका हृदय जब पिघल जाता है तब बहुत ही अच्छा रंग चढ़ता है।

हमें हरिका यानी भगवान्‌का रंग चढ़ाना है। भगवान्‌की कृपासे यदि आदमीका हृदय व्याकुल हो जाय तो उसका जीवन बहुत ही बदल जाय। प्रश्न उठता है कि हृदय इस प्रकार कैसे पिघले?

इसका उपाय यह है कि जिन पुरुषोंका हृदय भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें पिघला है, उनके चरित्रको करुणाभाव या प्रेमभावसे याद करे। ऐसा करनेसे हृदय एकदम पिघल जाता है और करुणाभावसे उनका चरित्र देखनेसे विरहकी व्याकुलतामें भी हृदय पिघल जाता है। जैसे श्रीरामचन्द्रजी और भरतजीके चरित्र हैं, विशेषकर उनके मिलाप-प्रसंगका दृश्य सामने आते ही अपने-आप अश्रुपात होने लगता है। माता-पिताके भक्त श्रवणकुमारका प्रसंग आनेसे हृदय एकदम पिघल जाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वनगमनका प्रकरण आनेपर करुणाभाव जाग्रत् होकर हृदय पिघल जाता है। रुक्मिणीजीका भगवान्‌के विरहमें विलाप-प्रकरण तथा गोपियोंका भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें रोनेका प्रसंग उपस्थित होनेपर हृदय पिघल जाता है। सुदामा और भगवान् श्रीकृष्णके मिलापका, उनके प्रेम-प्रसंगका तथा सुतीक्ष्ण और भगवान् रामके मिलनका प्रकरण आनेपर हृदय पिघल जाता है—ये जब याद आते हैं तब हृदय पिघल जाता है। इस प्रकारके भक्ति और करुणाभावके बहुतसे प्रसंग अपने शास्त्रोंमें—गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें आते हैं, उन्हें याद करना चाहिये। भगवान्‌की एवं भरतजीकी लीला याद करनी चाहिये। करुणाभावसे परिपूर्ण भरतजीका भगवान् रामके साथ वनमें पहली बारका मिलाप और दूसरी बार भगवान्‌के वनसे वापस आनेके समयका मिलाप—ये दोनों ही बहुत उच्चकोटिके मिलाप हैं। उस समय भरतजीकी ऐसी दशा प्रतीत होती है मानो करुणाभावसे व्याकुल होकर उनका हृदय बहुत अधिक द्रवित हो गया हो। उसे याद करनेसे ठीक वैसा ही भाव मनुष्यका हो जाय तो उस समय अच्छा रंग चढ़ता है। हनुमान्‌जी जिस समय भरतजीके पास आये उस समयका वर्णन करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

(रा० च० मा० ७। १ (क))

रामजीका विरह एक प्रकारसे सागर है, उस सागरमें भरतजीका मन मगन हो गया, डूब गया। इतनी व्याकुलता बढ़ गयी कि मानो अभी प्राण चले जायँगे। ऐसी स्थितिमें ब्राह्मणका रूप धारणकर हनुमान्‌जी ठीक वैसे ही आ पहुँचे जैसे किसी डूबते हुए प्राणीके लिये नौका आ पहुँचे। इसी प्रकार हनुमान्‌जी महाराज वहाँ भरतजीके प्राण बचानेके लिये नौका-रूप हो गये। उस समय भरतजी किस प्रकार व्याकुल हो रहे थे, उसका वर्णन इस प्रकार है—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात॥

(रा० च० मा० ७। १ (ख))

उस समय भरतजी कुशके आसनपर बैठे हैं, उनका शरीर कृश हो गया है, जटाओंका ही मुकुट है, नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है और रघुनाथजीका नाम—'राम-राम' जप रहे हैं, ऐसी स्थिति देखकर हनुमान्‌जी एकदम मुग्ध हो गये और उनके शरीरमें रोमांच हो गया। हनुमान्‌जी बोले कि 'जिनके नामका आप जप कर रहे हैं, जिनके नामकी रटन लगा रहे हैं वे श्रीरघुनाथजी, सीताजी और लक्ष्मणजीसहित आ पहुँचे हैं। इतना सुनते ही भरतजीकी ऐसी स्थिति हो गयी मानो उनके प्राण बच गये। इसके बाद भरतजी हनुमान्‌जीसे पूछते हैं—'भैया! आप कौन हैं?' यह बड़ा अच्छा भाव है। इस तरहके भावोंकी बातें पुस्तकोंमें पढ़ें, याद करें, सुनें और कहें तो करुणाभाव जाग्रत् हो जाय और हृदय पिघल जाय, बिलकुल द्रवीभूत हो जाय और

नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगे। भरतजीका चरित्र अनोखा है। इसलिये समय-समयपर भरतजीका चरित्र पढ़ना चाहिये, सुनना चाहिये। जिस समय मन या हृदय एकदम पिघल जाता है, उस समय हृदयमें धारण किये गये भाव स्थायी रूपसे सुस्थिर हो जाते हैं। इसलिये भगवान्‌के प्रति प्रेम और श्रद्धा अपने हृदयमें स्थापित करके—रोम-रोममें परिपूर्ण करके अपना जीवन बदल जाय इसके लिये हमें करुणाभावसे समय-समयपर भगवान्‌के लिये रोना चाहिये, व्याकुल होना चाहिये, इसके लिये लगन होनी चाहिये। पर देखा जाता है ऐसी लगन प्राय: नहीं होती। नारायणमें यदि ऐसी लगन लग जाय तो उसी लगनको लगन कहते हैं—

लगन लगन सब कोइ कहे लगन कहावे सोय।
नारायण वा लगन में तन मन दीजे खोय॥

लगन असली होनी चाहिये। प्रेममें मगन होकर भगवान्‌का भजन लगनसे करे और भगवान्‌के आगे करुणाभावसे रोता रहे—'हे नाथ! हे हरि! हे गोविन्द! हे वासुदेव! हे नारायण! मुझे तो केवल आपका ही सहारा है, मेरा आपके बिना और कोई आधार नहीं है। प्रभु! मेरेमें न ज्ञान है, न भक्ति है, न वैराग्य है और न प्रेम ही है। मेरेमें कुछ भी तो नहीं है। मैं तो केवल आपकी शरण हूँ, वह भी केवल वचनमात्रसे। प्रभु! मैं हृदयसे आपकी शरण होना चाहता हूँ, किंतु मन बहुत पाजी है। मानता नहीं, इसलिये आप ही दया करके मुझे सब प्रकारसे अपनी शरणमें लें। इस तरहके करुणाभावसे भगवान्‌के सामने रोवें, प्रार्थना करें तो यह सबसे बढ़कर भाव है।

भजनमें भगवान्‌के नामका कीर्तन एक स्वर, एक तालसे यदि किया जाय तो इतना प्रिय लगता है कि मन कहता है—कीर्तन ही होता रहे। ऐसे कीर्तनमें सात्त्विक एवं अलौकिक रस आता है जो परमात्माकी प्राप्तिमें बहुत ही सहायक है। इससे भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है, अन्त:करण शुद्ध होता है इसमें लाभ-ही-लाभ है। अत: हमें इस प्रकारसे समय-समयपर कीर्तन करते रहना चाहिये। कीर्तन करनेके समय ऐसा भाव करे कि मानो भगवान् यहाँ आ पहुँचे। भगवान्‌ने भक्तकी टेर सुनी और टेर सुनकर यहाँ आ पहुँचे। मनमें यह सोचे कि भगवान् वास्तवमें ही आ गये और आकाशमें स्थित होकर हम सबके ऊपर गुणोंकी वर्षा कर रहे हैं। भगवान्‌में अनन्त गुण हैं, उनके एक-एक गुण असीम हैं, उनकी कोई सीमा नहीं है। जैसे क्षमा, दया, शान्ति, ज्ञान, वैराग्य, समता, संतोष एवं प्रेम आदि सभी गुण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् दयाके सागर हैं, प्रेमके पुंज हैं। जैसे किसीके ऊपर सागर उड़ेल दिया जाय तो उसके चारों तरफ जल-ही-जल दृष्टिगोचर होगा। उसी प्रकार मानो भगवान्‌ने दयाका सागर हमारे ऊपर उड़ेल दिया है और हम दयामें एकदम मग्न हो गये हैं। हमारा मन, हमारी बुद्धि, इन्द्रियाँ—रोम-रोम तथा जर्रा-जर्रा दयासे परिपूर्ण हो गया है। उस दयाका दर्शन करके फिर आनन्दकी सीमा ही नहीं रहती। उस समय यही लगने लगता है कि अहो, हम तो ऐसी बात कभी नहीं समझे थे कि भगवान्‌की इतनी भारी दया है। भगवान्‌की उस दयाका दर्शन करके खूब मुग्ध होना चाहिये और फिर प्रेमकी तरफ देखे। प्रेम दयासे भी बढ़कर है। सोचे—देखो, भगवान् मुझसे कितना प्रेम कर रहे हैं, हम उसके लायक ही नहीं, किंतु भगवान् मुझ अयोग्य, अनधिकारी तथा अपात्रपर भी कितनी असीम दया कर रहे हैं।

भगवान् केवल पात्रके ऊपर ही दया और प्रेम करते हों, ऐसी बात नहीं है। वे अपात्र और कुपात्रपर भी दया करते हैं, क्योंकि जब मेरे-जैसे मनुष्यपर भी इतनी दया कर सकते हैं तो फिर जो पात्र होते हैं, उनकी तो बात ही क्या है? इस प्रकार विचार करे कि न तो मुझमें ज्ञान है, न प्रेम है, न भक्ति है, कुछ भी नहीं है। अपनी ऐसी स्थिति होनेपर भी मैं दयाका पात्र समझा जाता हूँ, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। अपने दोषों, अपराधों, पापों तथा अवगुणोंको याद करके भगवान्‌के सम्मुख दिल खोलकर रोना चाहिये। जैसे छोटा बच्चा माँके आनेमें विलम्ब होनेपर खूब रोता है और जब माँ आ जाती है तो श्वास भरकर दम भरनेकी चेष्टा करता है, माँ उसे उठाकर अपने हृदयसे लगा लेती है। इसी प्रकार भगवान् आकर उसे उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं। जैसे भरतजी महाराजको भगवान् रामने उठाकर हृदयसे लगा लिया था। इसी प्रकार भगवान्

भक्तको हृदयसे लगा लेते हैं। भगवान्‌का विरुद, स्वभाव अलौकिक है। यदि वह समझमें आ जाय तो हृदयमें आनन्द समाये ही नहीं। भगवान्‌का स्वभाव, प्रभाव और भाव सभी अलौकिक हैं। उनकी तरफ खयाल करनेसे प्रसन्नता, आनन्द और शान्तिकी सीमा नहीं रहती। विचार होता है कि अहो! कहाँ तो मैं एक तुच्छ! और कहाँ भगवान्! उनका और हमारा सम्बन्ध कैसा? किंतु भगवान् बड़े दयालु और प्रेमी हैं, इसलिये वे सम्बन्ध कायम रखते हैं। हम तो भगवान्‌को भूल ही गये थे, किंतु वे हमें नहीं भूले। भगवान्‌को याद करके और उनके स्वरूपको, गुणोंको देख-देखकर मुग्ध होता रहे। यदि कोई उनके नामका स्मरण करके मुग्ध हो जाय तो भगवान् बहुत शीघ्र ही दर्शन देकर उसका कल्याण कर सकते हैं। भगवान्‌के नाम और रूपकी स्मृतिसे जीवका कल्याण हो सकता है और साथमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति शामिल हो जाय, फिर तो कहना ही क्या है? भगवान् सदा-सर्वदा सब जगह व्यापक हैं। सूक्ष्म होनेसे हम लोगोंको नहीं दीखते, किंतु जिनकी सूक्ष्म बुद्धि है, उन्हें दीखते हैं। इन सब बातोंको याद करके हमलोगोंको भी वैसा ही बनना चाहिये। भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। एकदम प्रेम और आनन्दसे भरी हुई है। भगवान्‌के प्रत्येक चरित्रमें नीति और धर्मका दर्शन करना चाहिये, साथ ही गुण और प्रभावका भी दर्शन करना चाहिये। उसका तत्त्व और रहस्य समझना चाहिये। भगवान्‌की किसी भी लीलाको याद करके उसमें जो अनन्त गुण भरे हुए हैं, उनके अपरिमित प्रभावकी तरफ देख-देखकर मुग्ध होना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने बालिको मारते समय अपना रूप प्रकट कर दिया और उसके सम्मुख आ गये। उस समय बालिकी क्या दशा है, जब उसने रामकी ओर देखा तब—

हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥
धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

(रा० च० मा० ४। ९। ४—६)

अहो! बालिके हृदयमें प्रीति तो है, पर वचन कठोर है। कहता है—हे नाथ! आपने धर्मकी मर्यादा बाँधनेके लिये अवतार लिया है, किंतु आपने उसके विपरीत काम किया। जैसे व्याध लुक-छिपकर शिकार करता है, उसी प्रकार आपने मुझे मार डाला। इसमें हेतु क्या है? आप समदर्शी हैं, किंतु आपकी समदर्शिता कहाँ गयी? बालि भगवान्‌को समदर्शी मानता है पर यहाँ उनपर आक्षेप करता है, और पूछता है—'हे नाथ! क्या मैं आपका वैरी हूँ और सुग्रीव आपका प्यारा है? मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने मुझे किस दोषके कारण मारा! भगवान्‌के प्रति बालिका वचन कठोर है, फिर भगवान् भी उसके प्रश्नके अनुसार ही उत्तर देते हैं—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥

(रा० च० मा० ४। ९। ७-८)

अरे दुष्ट! छोटे भाईकी स्त्री, बहिन, पुत्रवधू और पुत्री—ये चारों एक समान हैं। इन्हें यदि कोई बुरी निगाहसे देखे, पाप-भावनासे देखे तो उसका वध करनेवालेको कोई पाप नहीं लगता। तुमने ऐसा ही जघन्य कार्य किया, इसीलिये मैंने तुम्हें मारा। दूसरी बात अरे शठ, अरे पापी, अरे मूर्ख, अरे अभिमानी! उस सुग्रीवको मेरी भुजाके बलके आश्रित समझकर भी तुमने मारना चाहा—

मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥

(रा० च० मा० ४। ९। १०)

बालिने पहले कहा था कि मैं आपका वैरी, सुग्रीव आपका प्यारा, आपमें तो सम भावना चाहिये, किंतु आपमें समभाव नहीं है। मैं तो यह समझता था कि भगवान् संसारके हितके लिये अवतार लेते हैं, वे समदर्शी हैं, किंतु बात इससे विपरीत निकली। ये उसके कठोर वचन थे। जब सुग्रीवकी गर्जना सुनकर बालि चला तो उसकी पत्नी ताराने उसके चरण पकड़कर कहा कि हे स्वामी! आज वह जिनके बलको पाकर गरज रहा है, वे राजा दशरथजीके पुत्र राम और लक्ष्मण हैं, वे युद्धमें कालको भी जीत सकते हैं—

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

(रा० च० मा० ४। ७। २८-२९)

बालि भी समझ गया और कहा—

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥

(रा० च० मा० ४। ७)

भयभीत प्रिये, तू मेरी बात सुन। भगवान् श्रीरघुनाथजी

समदर्शी हैं, उनके लिये सुग्रीवमें और मेरेमें कोई भेद नहीं है और कदाचित् वे मुझे मार भी डालेंगे तो मैं सनाथ हो जाऊँगा। अत: सब प्रकारसे मेरे लिये लाभ-ही-लाभ है। इतना कहकर बालि तेजीके साथ जाकर सुग्रीवसे भिड़ गया। इस प्रकार बालिने जो भी कहा भगवान् सब सुनते रहे। अन्तमें बालि कहता है—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥

(रा० च० मा० ४। ९)

हे राम! आप मेरी बात सुनें, हे स्वामी, हे उत्तम मार्गमें चलनेवाले, आपके सम्मुख मेरी चतुराई नहीं चल सकती। हे प्रभु! क्या अभी भी मैं पापी ही रहा? अन्तकालके समय जब आप उपस्थित हैं तब भी क्या मैं पापी रहा? इतनेमें ही भगवान्‌का हृदय पिघल गया। पिघले क्या वे पानी-पानी हो गये। परिणाम क्या हुआ—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥

(रा० च० मा० ४। १०। १)

इसी प्रकारसे हमलोगोंका हृदय पिघलना चाहिये। भगवान्‌ने अति कोमल वाणी सुननेके साथ ही अपना हाथ उसके मस्तकपर रख दिया। पहले वाणी अति कठोर थी, इस समय वाणी एकदम कोमल हो गयी। उसके हृदयका भाव तो पहले भी अच्छा था अब और भी शुद्ध हो गया। भगवान्‌के वचनोंको सुनकर उसके हृदयमें भावोंकी जागृति हो गयी। बालि भी एकदम पानी-पानी हो गया और भगवान् भी एकदम पानी-पानी हो गये। अति कोमल वाणी कौन-सी है? बालि कहता है—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥

(रा० च० मा० ४। ९)

-इस दोहेमें करुणाभाव और प्रेम-भाव भर दिया। इसमें बालिके हृदयका भाव वाणीके भावमें बदल गया। पहले कठोर बात यह कही कि आपने धर्मकी मर्यादाके लिये अवतार लिया, किंतु क्या धर्मकी मर्यादा यही है कि आपने जैसे व्याध छिपकर मृगको मारता है, उसी प्रकार आपने मुझे मारा, क्या यही न्याय है? सुग्रीव आपका प्यारा है और मैं आपका शत्रु?—यह थी कठोर वाणी। फिर पूछा कि आपने मुझे किसलिये मारा? यद्यपि रामचरितमानसमें बालिने इतने कठोर वचन नहीं कहे हैं, पर वाल्मीकिरामायणमें अभिमानके भी वचन तथा इससे और कठोर वचन भी कहे हैं। वहाँका प्रकरण यदि देखा जाय तो वहाँ बालि कहता है—हे राम! हम वानर जातिवाले हिंसक नहीं हैं। यदि हम दूसरे प्राणियोंकी हिंसा करते, तब आप हमें मारते तो ठीक था और दूसरी बात यह कि आपने मुझे छिपकर मारा। यदि आपको मारना ही था तो ललकार कर सम्मुख आकर मारते। यदि आप मेरे सम्मुख आकर मारते तो मैं आपको यमलोक भेज देता। इसके अलावा एक बात मैं आपसे और पूछता हूँ कि जब सभामें लोग आपसे पूछेंगे कि बालिको आपने किस प्रकार मारा? उस समय आप क्या कहेंगे? आपने सुग्रीवका पक्ष लेकर मुझे मारा, क्योंकि आपकी सीताको रावण हरकर ले गया है और उसे सुग्रीवकी सहायतासे आप छुड़ाना चाहते हैं। यदि यह बात आप मुझसे पहले कह देते कि मेरी स्त्रीको रावण हरकर ले गया है और तुम उसे ला दो तो मैं रावणसहित उसे लाकर आपके सामने उपस्थित कर देता। इस प्रकार अभिमानभरा कठोर वचन बोला। इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—अरे बालि! देवतालोग मनुष्यलोकमें फिर रहे हैं इस तत्त्वको तू नहीं जानता, इसीलिये मुझ निर्दोषके ऊपर दोष लगा रहा है। यह रहस्यभरी गुप्त बात सुनकर बालि समझ गया और अपना अपराध मान लिया। ये सब बातें वाल्मीकि-रामायणकी हैं। तुलसीकृत रामायणका प्रकरण इस प्रकार है—बालिका वचन सुनकर रामने अपने कोमल करोंसे बालिका सिर स्पर्श करके कहा—'मैं तुम्हारे प्राणोंको रख दूँ और अजर-अमर बना दूँ।'—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करौं तनु राखहु प्राना। बालि कहा सुनु कृपानिधाना॥

(रा० च० मा० ४। १०। १-२)

इसपर बालिने कहा—हे कृपानिधान! मेरी भी थोड़ी बात सुन लें—

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥

(रा० च० मा० ४। १०। ३)

मुनि लोग जन्म-जन्ममें यानी अनेक जन्मोंमें प्रयत्न करते हैं, फिर भी अन्त-समयमें उनके मुखसे राम-नाम नहीं निकलता। मतलब यह कि जब जन्म-जन्मतक यत्न करनेवाले मुनियोंके द्वारा अन्त-समयमें 'राम'नामका उच्चारण नहीं हो पाता तो फिर आप तो साक्षात् मेरे समक्ष हैं, ऐसा संयोग दुबारा कभी बन पड़ेगा? 'कहि' के स्थानपर यदि 'कहीं' कह दें तो दूसरा ही अर्थ हो जाता है। 'कहीं' का यह अर्थ है कि अन्त-कालमें भगवान् कहीं नहीं आते। लेकिन यह अर्थ उचित नहीं लगता, क्योंकि भगवान् आते तो हैं—*'अंत राम कहि'*—मरनेके समय यद्यपि आपके नामका मुखसे उच्चारण नहीं हो पाता फिर भी 'राम-राम' कहता हुआ जो यहाँसे विदा होता है, वह फिर लौटकर वापस नहीं आता। आपके नामकी महिमा इस प्रकारकी है। इतना ही नहीं और भी कहते हैं—

जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥
(रा० च० मा० ४। १०। ४-५)

जिस नामके बलपर शिवजी महाराज काशीमें सबको एक समान भावसे अविनाशिनी गति देते हैं आपका वही साक्षात् स्वरूप जिसकी अभी महिमा गायी, जिसके नामकी महिमा गायी—वे ही श्रीराम आज मेरे नेत्रोंके सामने विराजमान हो रहे हैं। प्रभु! क्या फिर कभी इस प्रकारकी झाँकी बनानेसे, कोशिश करनेसे, प्रयत्न करनेसे बन सकती है? फिर भी आप मुझसे कह रहे हैं कि तुम कहो तो तुम्हारे शरीरको अमर बना दूँ। प्रभु, ऐसा कौन मूर्ख होगा, अपने घरमें कल्पवृक्षको काटकर उसकी जगह बबूलका, काँटोंका वृक्ष लगायेगा। अब तो प्रभु मेरी आपसे यही प्रार्थना है—

जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥

मैं अपने कर्मोंके अनुसार जिस-किसी भी योनिमें जन्म लूँ, सदैव आपके चरणोंमें मेरा दृढ़ प्रेम बना रहे। मैं आपसे यही वरदान माँगता हूँ। मेरे ही-जैसा बलवाला और विनययुक्त मेरे पुत्र अंगदको आप अपना सेवक बना लीजिये। इस प्रकार कहते-कहते उसने अपने प्राणोंका त्याग कर दिया, उसे कोई कष्ट नहीं हुआ। जैसे गजराजको अपने गलेकी माला गिरनेका पता न चले। उसी प्रकार उसने अपने प्राणोंका त्याग कर दिया और भगवान्ने उसे अपने परमधाम भेज दिया। बालिकी तो यह माँग थी कि मेरा जिस-किसी भी योनिमें जन्म हो, आपमें प्रबल प्रेम होना ही चाहिये। बालिकी तरफसे यह कहना बड़ा उत्तम है और भगवान्की तरफसे यह करना ही उचित है। इस प्रकार भगवान्की कथामें जो नीति और धर्म भरा हुआ है, उसे देखना चाहिये। नीति तो यह है कि जब उसने पूछा कि आपने किस हेतु मुझे मारा तो भगवान्ने उत्तर दिया कि तू बड़ा भारी पापी है इसीलिये मैंने तुम्हें मारा। यह धर्मकी भी बात है और नीतिकी भी बात है।

जब उसने यह कहा कि जैसे व्याध छिपकर शिकार करता है, वैसे ही आपने मुझे मार डाला तो ऐसा कहकर बालि भगवान्पर आक्षेप करता है। इसका उत्तर भगवान्ने इस प्रकार दिया—हे अधम! नीच! मेरी भुजाके बलके आश्रित जानकर भी तू सुग्रीवको मारना चाहता था। ये सब धर्म और नीतिकी बातें हैं। इसमें धर्म और नीतिकी ही बातें नहीं भरी हैं गुण भी भरे हुए हैं। यदि प्रत्येक चौपाईकी तरफ खयाल करके देखा जाय तो उनमें प्रेम एकदम परिपूर्ण है। यानी उसमें दया और प्रेम भरा हुआ है। भगवान्का बर्ताव चाहे किसीके साथ हो, दयापूर्ण है, प्रेमपूर्ण है, आसक्तिरहित है और बहुत ही उच्चश्रेणीका है। उसमें सारे गुण और सारे प्रभाव भरे हैं। गुण इस प्रकार हैं, जैसे बालिके मस्तकपर हाथ रख दिया और कहा कि मैं तुमको अजर-अमर बना दूँ, इसमें प्रभाव भी है। कोई मनुष्य किसीको जीवन नहीं दे सकता, केवल भगवान् ही ऐसा कर सकते हैं। यह उनका प्रभाव है। उसने यद्यपि यह माँग की थी कि कर्मोंके अनुसार मैं जिस योनिमें भी जन्म लूँ, मेरा आपके चरणोंमें प्रेम हो। फिर भी बालिको भगवान्ने अपने धाममें भेज दिया। यही तो प्रभाव है। आप और हम थोड़े ही किसीको भेज सकते हैं। भगवान् चाहे जहाँ भेज सकते हैं, भगवान् असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। वे बड़े प्रभावशाली हैं। भगवान्ने उसकी माँगसे भी ज्यादा उसे लाभ दिया। इसमें भी प्रभाव भरा हुआ है।
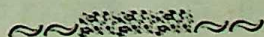
कलियुगका महान् साधन—भगवन्नाम

(महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

विशालविश्वस्य विधानबीजं वरं वरेण्यं विधिविष्णुशर्वैः।
वसुन्धरावारिविमानवह्निवायुस्वरूपं प्रणवं विवन्दे॥
नमस्तुभ्यं भगवते विशुद्धज्ञानमूर्तये।
आत्मारामाय रामाय सीतारामाय वेधसे॥

बालक-वृद्ध, युवक-युवती, ब्राह्मण-चाण्डाल, पापी-पुण्यवान्, पण्डित-मूर्ख प्रत्येकसे यदि स्वतन्त्ररूपेण पृथक्-पृथक् पूछा जाय कि 'आप क्या चाहते हैं?' तो सभी एक ही उत्तर देंगे। पण्डित जो बोलेगा, मूर्ख भी वही कहेगा। पापी जो उत्तर देगा, पुण्यवान् भी वही उत्तर देगा। अखिल जीव-समुदाय क्या चाहता है? किसके पीछे कल्प-कल्पान्तर, युग-युगान्तर, जन्म-जन्मान्तर उन्मत्तकी भाँति भटक रहा है? वह परम वस्तु क्या है, जिसके लिये सभी आकुल हैं? आनन्द! आनन्द क्यों चाहिये?

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। (तैत्ति० उप० ३।६।१)

'आनन्दसे ही ये भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, आनन्दमें ही जीते हैं और अन्तमें प्रयाण करके आनन्दमें ही लीन हो जाते हैं।' प्राणिमात्रको जबतक वह परमानन्द नहीं प्राप्त होता, तबतक आवागमनसे निवृत्ति नहीं होती। जानमें, अनजानमें सभी लोग उस अभिलषित आनन्दकी खोज कर रहे हैं। सब इसी चिन्तामें हैं कि वह आनन्द किस प्रकार मिल सकता है। जिस कष्टसाध्य दारुण समयमें हमने जन्म ग्रहण किया है, उसमें आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है? इसका उपाय क्या है?

एक बार कुछ मुनियोंके मनमें यह प्रश्न उपस्थित हुआ—'किस कालमें थोड़ा भी धर्म अधिक फल प्रदान करता है?' वे लोग इस बातकी स्वयं मीमांसा न कर सकनेके कारण भगवान् वेदव्यासके आश्रममें जा पहुँचे। उस समय व्यासजी स्नान कर रहे थे। मुनिलोग उनकी प्रतीक्षा करने लगे। व्यासजीने 'कलि धन्य है!' यह कहकर पहली डुबकी लगायी, 'धन्य शूद्र!' कहकर दूसरी डुबकी और पश्चात् 'धन्या नारी!' कहते हुए तीसरी डुबकी लगायी तथा पानीसे निकलकर मुनियोंके पास आये। मुनियोंने उनका अभिवादन किया। व्यासजीकी अनुमतिके अनुसार सबने आसन ग्रहण किया। उसके बाद आसनपर बैठे व्यासजीने उनसे पूछा—

'मुनिश्रेष्ठो! आप लोगोंका आगमन किस प्रयोजनसे हुआ है?' तब मुनियोंने कहा—'भगवन्! पहले आप यह बतलाइये कि 'कलि धन्य!', 'धन्य शूद्र' एवं 'धन्या नारी' यह कहकर आपने डुबकी क्यों लगायी?' इसका उत्तर देते हुए व्यासजी बोले—

यत् कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ॥

(विष्णुपुराण ६।१।१५)

'सत्ययुगमें दस वर्षतक यज्ञ, दान और तप करनेसे जो फल होता है, त्रेतामें वही एक वर्ष करनेपर जो फल होता है तथा द्वापरमें एक मास यज्ञ-दान और तपका जो फल होता है, वही फल कलियुगमें एक अहोरात्रमें प्राप्त हो जाता है।'

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपुराण ६।१।१७)

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५२)

'सत्ययुगमें ध्यानके द्वारा, त्रेतायुगमें यज्ञके द्वारा तथा द्वापरमें पूजार्चनाके द्वारा जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें केवल हरिकीर्तनके द्वारा प्राप्त होता है।' वह फल सबके द्वारा अभीप्सित परमानन्द है। उस परमानन्दमय श्रीभगवान्‌को प्राप्त करनेका सर्व-सुगम उपाय कलियुगमें केवल भगवन्नाम-संकीर्तन है। कलियुगकी इसी महत्ताके कारण मैंने 'कलि धन्य' कहकर पहली डुबकी लगायी।

मुनिलोग बोले—'आपने धन्य शूद्र! क्यों कहा?' व्यासजीने उत्तर दिया—'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका वेदविहित कर्मोंमें अधिकार है। वे लोग कलियुगमें वैदिक

कर्मोंका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेमें समर्थ न हुए तो प्रत्यवायके भागी होंगे। परंतु शूद्रके लिये किसी वेद-विहित कर्मका अधिकार न होनेके कारण, वह केवल उपर्युक्त तीन वर्णोंकी सेवा करके ही उत्तम गतिको प्राप्त कर लेगा। इसी कारण मैंने 'धन्य शूद्र' कहा।'

मुनियोंने फिर पूछा—'आपने धन्या नारी! क्यों कहा?' व्यासजीने उत्तर दिया कि 'द्विज सदा वेद-विहित कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करके जो फल प्राप्त करते हैं, वही फल स्त्री पतिकी सेवामात्रसे सहज ही प्राप्त करनेमें समर्थ होती है।'

'नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञः'—स्त्रीके लिये पृथक् यज्ञ, दान, तप नहीं है। नारी केवल पातिव्रत्यका अवलम्बन करके धन्य होती है। **'सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा'**—सतियोंके पादपद्मकी धूलिसे पृथ्वी तत्काल पवित्र हो जाती है। पातिव्रत्य—पति-परायणताका व्रत अन्य देशोंमें दुर्लभप्राय है। अध्यात्म-राज्यके मुकुटमणि वेदशासित भारतका वैशिष्ट्य है—पति-नारायण-व्रत, सतीत्व अथवा पातिव्रत्य। इसी सतीत्वके बलसे सावित्री अपने मृत स्वामीको पुनः जीवित वापस ले आयी थी। पतिव्रता शाण्डिलीके पतिको माण्डव्य मुनिका यह शाप होनेपर कि 'सूर्योदय होते ही तुम्हारा देहान्त हो जायगा।' शाण्डिलीका सतीत्व जाग उठा और उसने कह दिया कि 'यदि ऐसी बात है तो अब सूर्योदय होगा ही नहीं।' पतिव्रताकी बातका उल्लङ्घन करके सूर्य उदित न हो सके। नारी पति-भक्तिके बलसे असाध्यको भी साध्य कर दिखाती है। उस महाशक्ति जातिकी वह शक्ति आज भी अक्षुण्ण है। तो गया क्या है? गया है पति-नारायण-व्रत! यदि फिर भारतमें यह पति-नारायण-व्रत लौट आये तो महाशक्ति जातिकी समस्त शक्ति उद्बुद्ध हो उठेगी। सती नारीमें जन्म-जन्मान्तरकी स्मृति अविलुप्त रहती है। वह असम्भवको सम्भव कर दिखानेमें समर्थ होती है। नारियोंकी इसी दिव्य शक्ति-सम्पन्नताके कारण मैने—'धन्या नारी' कहा था।

तत्पश्चात् व्यासजीने मुनियोंसे पुनः पूछा—'आप लोग यहाँ किस उद्देश्यसे आये हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'हम जिस उद्देश्यसे यहाँ आये थे, आपने अलौकिक संयोगसे प्रसंगवश वही बतला दिया।' इतना कहकर मुनिलोग अपने-अपने स्थानको चले गये।

कलियुगका साधन है नाम-संकीर्तन। केवल पुराणोंमें ही यह बात कही गयी हो, ऐसी बात नहीं है। कलिसंतरणोपनिषद्में भी नाम-जपका उल्लेख मिलता है।

द्वापरके अन्तमें एक दिन नारद मुनि ब्रह्माजीके पास गये और बोले—'पृथ्वीका पर्यटन करते हुए किस प्रकार कलिसे उत्तीर्ण हो सकूँगा?' इसका उत्तर देते हुए ब्रह्माजी बोले—'केवल भगवान् आदिपुरुष नारायणका नामोच्चारण करके संसारसे उत्तीर्ण हो जाओगे।' नारदजीने पूछा—'वह नाम क्या है?' प्रजापति बोले—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्।
नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥

(कलिसं० उप०)

'*हरे राम हरे राम०*'—ये सोलह नाम कलिके पापोंका नाश करनेवाले हैं, इनकी अपेक्षा श्रेष्ठ उपाय सम्पूर्ण वेदोंमें कहीं नहीं दीखता।'

मेघके हट जानेके बाद जैसे रविं-रश्मिका प्रकाश होता है, उसी प्रकार इन सोलह नामोंके द्वारा सोलह कलाओंके[1] हट जानेपर **'प्रकाशते परं ब्रह्म'**—परब्रह्मका प्रकाश होता है।

नारदजीने पूछा—'**कोऽस्य विधिरिति?**'—इसकी विधि क्या है? ब्रह्माजी बोले—'**नास्य विधिरिति**'—इसकी कोई विधि नहीं है।

सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन् ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति। यदास्य षोडशीकस्य सार्धत्रिकोटीर्जपति

१-षोडश कलाएँ इस प्रकार हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, क्षिति, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तपस्या, मन्त्र, कर्म, सारे लोक और नाम।

तदा ब्रह्महत्यां तरति। तरति वीरहत्याम्। स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। पितृदेवमनुष्याणामपकारात् पूतो भवति। सर्वधर्मपरित्यागपापात् सद्यः शुचितामाप्नुयात्। सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत्। (कलिसं० उप०)

'सर्वदा शुचि-अशुचि—किसी भी अवस्थामें उच्चारण करनेसे ब्राह्मण सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य (मोक्ष)-को प्राप्त होता है। इसका साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्याके पापसे उत्तीर्ण हो जाता है। वीरहत्यासे मुक्ति पा जाता है। स्वर्णकी चोरीके पापसे पवित्र हो जाता है। पितर-देव-मनुष्योंके अपकारसे पवित्र हो जाता है। सर्व धर्मोंके परित्यागके पापसे तत्काल शुचिता प्राप्त करता है। सद्यः मुक्त हो जाता है। सद्यः मुक्त हो जाता है।'

कलि-संतरणोपनिषद्में वेद-विहित कर्मोंसे वञ्चित कलिके ब्राह्मणोंके लिये भगवान् हिरण्यगर्भने इस नाम-मन्त्रका उपदेश नारदजीको दिया।

उपनिषदुक्त धर्ममें द्विजातिमात्रका अधिकार होते हुए भी भगवान् प्रजापतिने इसमें स्पष्टरूपसे कहा है कि यह मन्त्र केवल ब्राह्मणके लिये है। यह बात 'ब्राह्मण' शब्दके प्रयोगके द्वारा स्पष्ट हो जाती है। यह मन्त्र सभी वर्णोंके द्वारा गाये जाने और जप किये जाने योग्य है, यह कहनेसे 'ब्राह्मण' पदकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

आर्योंके समस्त नाम वेदमूलक हैं, राम-कृष्ण आदि नाम भी वेदमें उपदिष्ट हुए हैं, यदि ऐसा कहें तो ठीक न होगा। महाभारत, रामायण, तन्त्र, अष्टादश महापुराण आदिमें अविकलरूपसे बहुत-से उपनिषद्-मन्त्र कथित हुए हैं। परंतु उनका पुराणादिमें कथन होनेके कारण स्मृतियोंमें परिगणित होकर वे शूद्रोंके भी ग्रहण-योग्य हो जाते हैं। परंतु—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—यह मन्त्र ठीक इसी प्रकारसे किसी तन्त्र या पुराण-ग्रन्थमें उक्त न होनेके कारण इस मन्त्रका एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण है—यह विद्वान् लोग कहा करते हैं[१]। राधातन्त्रमें यह मन्त्र भगवती त्रिपुरादेवीके द्वारा भगवान् वासुदेवके प्रति इस प्रकारसे कहा गया है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

भगवतीने कर्ण-शुद्धिके लिये इस मन्त्रका उपदेश किया है। कर्ण शुद्ध हुए बिना अनाहत नाद सुनायी नहीं पड़ता। अनाहत नाद प्राप्त हुए बिना महाविद्याकी उपासनाका अधिकार नहीं प्राप्त होता। इस भावसे अर्थात् कर्ण-शुद्धिके लिये मन्त्रका उपदेश होनेके कारण आचाण्डाल सभी इस मन्त्रके अधिकारी हो गये हैं और इसमें मन्त्रकी सारी शक्ति निहित है।

योगसार-तन्त्रमें भगवान् शंकरने देह-शुद्धिके लिये भगवती पार्वतीको यही मन्त्र बतलाया है। ब्रह्माण्डपुराणके राधा-हृदयमें भी यह मन्त्र—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इसी प्रकार कथित हुआ है।

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारों युगोंके चार तारक ब्रह्मरूप नाम हैं। जैसे—

सत्ययुगमें—

नारायणपरा वेदा नारायणपराक्षराः।
नारायणपरा मुक्तिर्नारायणपरा गतिः॥

१-यह मन्त्र वैदिक उपनिषद्में होनेसे तथा इसमें 'ब्राह्मण' शब्द आ जानेसे कुछ महानुभावोंका यह मत कि यह केवल ब्राह्मणोंके लिये ही है, उचित है, किंतु एक बहुत उच्च स्तरके महात्माने बताया था कि भगवान्के राम-कृष्ण आदि सभी नाम वेदमूलक होनेसे मन्त्र हैं और जहाँ मन्त्र-बुद्धि है, वहाँ अधिकारानुसार विधि-निषेध आवश्यक है, परंतु उन्हीं नामोंका यदि केवल नाम-बुद्धिसे जप-कीर्तन किया जाय तो फिर न किसी विधि-निषेधकी आवश्यकता है और न वह किसी भी वर्ण-जातिके लिये वर्ज्य ही होता है। अतएव 'हरे', 'राम', 'कृष्ण'—इन तीन पदोंकी आवृत्तिरूप सोलह नामोंका जप-कीर्तन नाम-बुद्धिसे 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इसी रूपमें सभी वर्णों एवं जातियोंके सभी नर-नारी कर सकते हैं। इसलिये जहाँ, जिस प्रान्त या सम्प्रदायमें इसका जिस रूपमें जप या कीर्तन होता हो उसमें परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'नाम'-बुद्धिसे जप-कीर्तन करनेमें कोई भी आपत्ति नहीं है।—**सम्पादक**

त्रेतायुगमें—

राम नारायणानन्त मुकुन्द मधुसूदन।
कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुण्ठ वामन॥

द्वापरयुगमें—

हरे मुरारे मधुकैटभारे
गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे।
यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो
निराश्रयं मां जगदीश रक्ष॥

कलियुगमें—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

केवल वैष्णव ही नहीं, शाक्त, सौर, गाणपत्य—सभी इस मन्त्रको अपने-अपने इष्टदेवताका नाममन्त्र समझ सकते हैं। राधातन्त्रमें त्रिपुरादेवीद्वारा इस मन्त्रार्थका कथन इस प्रकार किया गया है—

हकारस्तु सुतश्रेष्ठ शिवः साक्षान्न संशयः।
रेफस्तु त्रिपुरा देवी दशमूर्तिमयी सदा॥
एकारं च भगं विद्यात् साक्षाद्योनिं तपोधन।

'हे पुत्रश्रेष्ठ! 'ह'का अर्थ है साक्षात् शिव, रेफ त्रिपुरादेवी हैं, 'ए'कार (सृष्टिकी) कारणस्वरूपा है।'हरे'का अर्थ है शिव-शक्ति। 'हृ' धातुके आगे 'इ' प्रत्यय लगानेसे 'हरि' शब्द निष्पन्न होता है। 'हृ' धातुका अर्थ है हरण करना। सुधीजनोंका कहना है कि जो पाप हरण करता है, वही हरि है। इसी प्रकार जो ताप, चिन्ता, क्लेश, पुनर्जन्म, एवं भूभार आदि हरण करते हैं, वे ही हरि हैं। इस कारण 'हरि' नामसे वैष्णव विष्णुको, शाक्त शक्तिको, शैव शिवको, सौर सूर्यको, गाणपत्य गणपतिको समझ सकते हैं। जो संसारको हर लेते हैं—वे हरि नारायण हैं, जो अज्ञानको हर लेते हैं—वे हरि शिव हैं, दुर्गतिको हरण करनेवाली हरि दुर्गा हैं, जो तम-अन्धकारका हरण करते हैं—वे हरि सूर्य हैं, और जो विघ्न हरण करते हैं—वे हरि गणपति हैं। इस प्रकार 'हरे' यह पद पञ्चोपासकोंके अपने-अपने इष्टदेवताके सम्बोधनका सार्वभौम पद है।

'**भक्तानां पापादिदोषान् कृषति निवारयतीति कृष्णः**'—जो भक्तोंके पापादि दोषोंका निवारण करता है, वह 'कृष्ण' है। '**तेषां दुर्लभानपि पुरुषार्थान् आकर्षयति प्रापयति इति वा कृष्णः**'—उनके अति दुर्लभ पुरुषार्थोंका प्रापक होनेके कारण वह 'कृष्ण' कहलाता है। '**कर्षति आत्मनि सर्वलोकान् इति कृष्णः, प्रलये इति शेषः**'—प्रलयकालमें सारे लोकोंको जो आत्मामें आकर्षण करता है, वह 'कृष्ण' है। '**कर्षति अरीन् इति वा कृष्णः**'—जो शत्रुओंका कर्षण (संहार) करता है, वह 'कृष्ण' है। मनुष्योंका पाप-कर्षण करनेके कारण भी वह 'कृष्ण' कहलाता है।

कृषिश्च परमानन्दे णश्च तद्दास्यकर्मणि।
तयोर्दाता हि यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः॥

'कृषि' शब्दका अर्थ है परमानन्द; 'ण'का अर्थ है उनका दास्य। जो देव इन दोनोंका ही दाता है, वह 'कृष्ण' है।'

इस प्रकार कृष्ण शब्दके द्वारा शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य आदि सभी अपने-अपने देवताको समझ सकते हैं।

'रम' धातु क्रीडार्थक है, उससे 'राम' शब्द सिद्ध होता है। '**रमन्ते लोका अत्र इति रामः**'—समस्त लोक इनमें रमण करते हैं, अतएव इनका नाम राम है। '**रमयति लोकान् इति वा रामः**'—सब लोकोंको आनन्द प्रदान करते हैं, अतएव इनका नाम 'राम' है। '**रमयति मोदयति सर्वान् इति रामः**'—सबको आनन्दित करते रहते हैं, इसलिये वे 'राम' कहलाते हैं। समस्त भूतोंको जन्म, स्थिति और नाशके द्वारा क्रीडा कराते हैं इसलिये वे 'राम' हैं। इस प्रकार 'राम' शब्दके द्वारा भी शाक्त शक्तिको, शैव शिवको, सौर सूर्यको तथा गाणपत्य गणेशको समझ सकते हैं। पञ्चोपासकोंके अपने-अपने इष्टदेवताका नाम राम है। इसलिये यह महामन्त्र पञ्चोपासकोंके लिये सदैव गान करने योग्य, जपने योग्य है।

इस महामन्त्रके प्रथम प्रचारक श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु हैं। उन्होंने इसका प्रचार सभी वर्णोंके लोगोंके लिये किया है।

पूज्यपाद श्रीगुरुदेव श्री १०८ श्रीमद्दाशरथिदेव योगेश्वर अन्तर्लोकसे अनुमोदन प्राप्त करके इसके प्रचारमें प्रवृत्त हुए थे। महामन्त्रकी बात तो अलग रहे, श्रीभगवन्नामकी अपूर्व

महिमा श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

श्रद्धया हेलया नाम रटन्ति मम जन्तवः।
तेषां नाम सदा पार्थ वर्तते हृदये मम॥

'हे अर्जुन! श्रद्धासे अथवा अवज्ञासे भी जो लोग मेरा नाम रटते हैं, उनका नाम सदा मेरे हृदयमें बसा रहता है।'

हेलासे अर्थात् अभक्तिपूर्वक नाम लेनेपर कैसे कार्य हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए मनीषी महापुरुष कहते हैं कि वस्तु-शक्ति कभी श्रद्धा-अश्रद्धाकी अपेक्षा नहीं करती। नाइट्रिक एसिड् अश्रद्धापूर्वक भी शरीरपर गिरानेसे शरीरको जला देता है, घृणापूर्वक आगमें हाथ डालनेसे भी हाथ जल जाता है। अश्रद्धापूर्वक विष खानेसे भी जब मृत्यु अनिवार्य है, तब श्रीभगवान्का नाम किसी प्रकारसे ग्रहण करनेपर भी मनुष्य कृतार्थ क्यों न होगा। जितने भी नाम उच्चारण करोगे या श्रवण करोगे, वे सारे नाम रक्तमें, मांसमें, अस्थिमें, मेदमें, मज्जामें मिल जायँगे और शरीर नाममय हो जायगा।

एक दिन श्रीवृन्दावनधाममें यमुनामें श्रीप्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी स्नान करनेके लिये उतरे। पैरमें कुछ लगा। देखते हैं कि यह एक मनुष्यका हाथ है! उसपर लिखा है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

जिस महापुरुषकी वह हड्डी थी, उसने इतना नाम लिया था कि हड्डीमें वह लिख गया था।

महाराष्ट्र देशमें चोखामेला नामक एक महार (हरिजन) निरन्तर 'विट्ठल, विट्ठल' जप किया करते थे। श्रीभगवान् उनके आकुल आह्वानसे स्थिर न रह सके। उन्होंने आकर भक्तको दर्शन दिया तथा उसके कार्यमें सहायता करने लगे। वह राज-मिस्त्रीका काम जानता था। एक दिन चार-पाँच राज-मिस्त्रियोंके साथ वह एक ऊँची दीवार तैयार कर रहा था। वह दीवार दैवयोगसे गिर पड़ी। दीवारसे दबकर चोखामेला और दूसरे राज-मिस्त्री मर गये। उन दिनों पंढरपुरमें प्रख्यात भक्त नामदेवजी रहते थे। वे चोखामेलाके दीवारसे दबकर मरनेकी बात सुनकर वहाँ जा पहुँचे और जैसे ही वहाँकी ईंटे हटानी शुरू कीं तो देखते क्या हैं कि सभी राज-मिस्त्रियोंका मांस सड़ गया है, केवल कंकाल बचे हुए हैं। कौन-सा कंकाल चोखामेलाका है—यह निश्चय न कर सकनेके कारण वे एक-एक कंकालके पास कान लगाकर सुनने लगे। एक कंकालसे सुस्पष्ट 'विट्ठल-विट्ठल' नाम सुनायी पड़ा। वह कंकाल चोखामेलाका है, यह निश्चय करके उन्होंने उसे वहाँ समाधि दे दी। नामने कंकालतकपर अधिकार कर लिया था, कंकाल भी 'विट्ठल' नामका उच्चारण कर रहा था। जनाबाईके उपले 'कृष्ण' नामका उच्चारण करते थे, कौन महाराष्ट्रवासी इस बातको नहीं जानता।

नाम-कीर्तन कलियुगका एकमात्र साधन है, यह सभी शास्त्र एक स्वरसे घोषणा कर रहे हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्नार० पु० १। ४१। १५)

'हरिका नाम, हरिका नाम, केवल हरिका नाम—कलियुगमें हरिनामके सिवा अन्य कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

केवल नाम-संकीर्तनके द्वारा मनुष्य किस प्रकार कृतार्थ हो सकता है, अब इसपर विचार करें।

शब्दसे जगत्की सृष्टि होती है, यह वेदने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। श्रुतिमें शब्दको 'प्राण-स्पन्दन' नाम दिया गया है। सब कुछ शब्दसे उत्पन्न है। वही शब्द-ब्रह्म मानव-शरीरके अन्तर्गत मूलाधारमें परा, नाभिमें पश्यन्ती, हृदयमें मध्यमा और मुखमें वैखरी-रूपसे क्रीडा करता है। संसारकी रचनाका मूल सूत्र है—'**बहु स्यां प्रजायेयेति।**' 'मैं बहुत बनूँगा, प्रकृष्ट रूपमें पैदा होऊँगा। सृष्ट्युन्मुखी गति होनेपर वैखरी वाक् संसारकी रचना करती है। जन्म-जन्मान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ जीव जब बहिर्मुखताकी ज्वालासे व्याकुल होकर केन्द्रकी ओर लौटना चाहता है, तब उसको शास्त्र वाक्का अवलम्बन करके ही केन्द्रमें लौट आनेका निर्देश करते हैं। वैखरी वाक्के द्वारा नाम-संकीर्तन करते-करते जब जिह्वा और कण्ठ कृतार्थ हो जाते हैं, तब वाक् मध्यमामें अर्थात् हृदयमें उपस्थित होती है। उस समय

शरीरमें कम्प, रोमाञ्च तथा देहावेश होता है, अर्थात् शरीर दाहिने-बायें, आगे-पीछे कम्पायमान होता है, सिर मेरुदण्डके भीतर सन्-सन् करता है तथा ऐसे ही और भी बहुत-से लक्षण प्रकट होते हैं, क्रमशः ज्योति और नाद आकर उपस्थित होते हैं। अलौकिक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका आविर्भाव होनेपर लौकिक रूप-रस आदिके प्रति उपेक्षा हो जाती है। भीतर लाल, नीले, पीले, श्वेत आदि अत्युज्ज्वल आलोकके प्रकाशसे साधक आनन्दसागरमें डूब जाता है। कोटि-कोटि प्रकारकी ज्योति है तथा अरबों-खरबों प्रकारके नाद हैं। इन सबका निर्णय करनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है। मेघ-गर्जन, समुद्र-कल्लोल-ध्वनि, भ्रमर-ध्वनि, मधुकर-गुञ्जन, वेणु-वीणा-तन्त्री-नाद तथा मृदङ्ग-करताल आदिके अनेक नाद हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती। 'जय गुरु' नाद, 'गुरु गुरु' नाद, 'सोऽहम्' नाद, 'ॐ नाद' इन सबका अनुभव करता है। जब अविराम **'सोऽहम्'** नाद चलने लगता है, तब उस नादको रोकनेकी सामर्थ्य साधकमें नहीं रहती। अन्ततोगत्वा वह 'ॐ' नादमें डूब जाता है।

जब नाद और ज्योतिका आविर्भाव होता है, तब साधकमें भगवद्दर्शनकी तीव्र आकांक्षा पैदा होती है और वह सर्वत्यागी हो जाता है। अनन्यभावसे भक्तके द्वारा श्रीभगवान्का चिन्तन होते रहनेपर फिर भगवान्से रहा नहीं जाता। वे भक्तको उसके प्रार्थित रूपमें दर्शन देते हैं, वर देते हैं। इष्ट-अङ्गमें मन्त्रका लय हो जाता है, तब वह जीवन्मुक्त हो जाता है। तबतक वह जीवित रहता है, सुषुम्णामें नादमय होकर ॐकार-क्रीडा करता रहता है। वह जगत्-कल्याणका व्रत लेकर आनन्दसे प्रारब्ध-क्षय करके परमानन्दधाममें उपस्थित होता है। वह जल-स्थल, आकाश, मनुष्य-पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग—जो कुछ देखता है, सर्वत्र ही उसे भगवत्स्फूर्ति होती रहती है।—*'जहाँ नेत्र जाय, तहाँ कृष्णमय दीखे।'* उसके लिये 'वासुदेवः **सर्वम्**'—जगत् वासुदेवमय हो जाता है।

मन्त्रयोगी, हठयोगी, लययोगी, पातञ्जलयोगी, वैष्णव, शाक्त, शैव और गाणपत्य—सबकी काम्य वस्तु है ज्योति एवं नाद। नादको छोड़कर शान्ति-लाभ करनेका दूसरा पथ नहीं है। सभी अन्तमें नादको प्राप्त होते हैं। समस्त साधनोंका अन्त नादमें—अनाहत ध्वनिकी प्राप्तिमें है। अनाहत ध्वनि प्राप्त करनेके लिये साधकलोग सब कुछ त्यागकर आहार-विहारका संयम करते हैं और साधन-पथमें अग्रसर होते हैं। साधन-पथकी समस्त विघ्न-बाधाओंका अतिक्रमण करके वे नादकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं।

नाम-संकीर्तनकारीको और कुछ नहीं करना पड़ता, केवल नाम-संकीर्तन करते-करते स्वयं नाद आकर उसके सामने उपस्थित होता है और साधकको आलोकमें, पुलकमें, आनन्दमें डुबा देता है, भगवद्दर्शन करा देता है। इसीलिये शास्त्र उच्च स्वरसे कहते हैं—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ५२)

मानसकार गोस्वामीजी भी इसी तथ्यको इस प्रकार कहते हैं—

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

(रा० च० मा० ७। १०२ ख)

अर्थात् सत्ययुग, त्रेता और द्वापरमें जो गति पूजा, यज्ञ और योगसे होती है, वही गति कलियुगमें लोग केवल भगवान्के नामसे पा जाते हैं।

कलिमें कल्याणका मार्ग है—नाम-संकीर्तन। कलियुगमें नामका प्रताप सायुज्यप्रद है। अतः प्राणिमात्रको सदैव नाम-जपमें संलग्न रहना चाहिये, तभी संसार-सागरसे मुक्ति सम्भव है—

सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥

(रा० च० मा० ७। १०३। ७)

सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

मानव-जीवन भगवान्‌का बननेके लिये प्राप्त हुआ है। हम वास्तवमें भगवान्‌के हैं, पर हमने अपनेको काम-क्रोध आदिका गुलाम बना रखा है। यही मूर्खता है। जो भगवान्‌का बना, उसका जीवन सार्थक; जो जगत्‌का बना, उसका जीवन सार्थक नहीं, निरर्थक।

किसी भी साधनासे हो, किसी भी प्रकारसे हो, करना है एक ही काम—भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग। भगवान्‌के चरणोंमें उत्तरोत्तर अनुराग बढ़ता रहे, इसीमें जीवनकी सार्थकता है। अतएव भगवान्‌के प्रति प्रेमकी लालसा जगानी चाहिये। इसके लिये प्रेमस्वरूप भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये और जहाँतक बने, प्रेम प्राप्त करनेके लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

सच्चे मनसे, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌से माँगनेपर कोई भी संकट रह नहीं सकता। प्रार्थनाके समय मनमें यह भाव होना चाहिये कि 'भगवान् मेरा यह संकट दूर कर दें' और प्रार्थनामें आर्तभाव होना चाहिये तथा यह विश्वास होना चाहिये कि 'इस संकटको भगवान् दूर कर ही देंगे।' जो भगवान्‌से भगवान्‌का प्रेम ही चाहते हैं, वे तो सर्वोत्तम हैं; पर जो पापमें रत हैं, पापसे पैसा बटोरते हैं, वे यदि भगवान्‌से कुछ माँगें तो यह बुरा नहीं है। जगत्‌से, पापपूर्वक माँगनेकी अपेक्षा भगवान्‌से माँगना कहीं श्रेयस्कर है।

नाम-जपसे जो भी ऊँची-से-ऊँची स्थिति अन्य किसी साधनसे प्राप्त हो सकती है, वह प्राप्त हो जाती है—यह मेरा विश्वास है।

साधककी वृत्ति उत्तरोत्तर भगवान्‌के नाम-रूप-गुण-चिन्तनमें ही लगती जाय। आरम्भमें वृत्ति दूसरी ओर जाती है; पर उसमें यह सावधानी रखनी चाहिये कि वह या तो उधर जाय ही नहीं और यदि जाय तो भगवान्‌की सेवाकी भावनासे ही। भगवान्‌की सेवाकी भावनाके अतिरिक्त दूसरे किसी भी भावसे वृत्तिका जाना नीचे स्तरका है।

मन वृत्तियोंका समूह है। वृत्ति जब एक विषयमें जाकर उसके रूपकी हो जाती है, तब उसको 'ध्यान' कहते हैं।

भगवान्‌के प्रति कई भाव हो सकते हैं। सर्वसाधारणके लिये सीधा सरल भाव है—भगवान्‌के प्रति स्वामीका भाव। 'भगवान् मेरे स्वामी, मैं उनका दास'-यह सर्वथा एवं सर्वदा निर्दोष भाव है; इसमें कहीं भी पतनकी गुंजाइश नहीं है।

दूसरा भाव है—भगवान्‌को अपना सखा मानना। यह भाव दास्य-भावसे ऊँचा है। इस भावमें मानसिक रूपसे सदा-सर्वत्र भगवान्‌के साथ रहे और भगवान्‌की लीलाका चिन्तन करे। इसमें भगवान्‌के बालस्वरूपका या पार्थसखारूपका चिन्तन करे।

तीसरा भाव है—भगवान्‌को अपना बालक मानकर उनकी लीलाको देखे, अर्थात् भगवान्‌के प्रति वात्सल्यभाव। भगवान्‌ने बालपनेमें जो-जो लीलाएँ की हैं, उन-उन लीलाओंका चिन्तन करे। बस, भगवान्‌की उन लीलाओंके प्रति मनमें अनुराग हो तथा उन्हें सर्वथा सत्य माने।

चौथा भाव है—मधुर भाव, अर्थात् भगवान्‌को अपने प्रियतमरूपमें अनुभव करे। 'गोपी-भाव' इसीका नाम है। गोपी-भावके कई स्तर हैं, जिनमें मञ्जरी-भाव सर्वोत्तम है। श्रीराधा-माधव मञ्जरीके इष्ट हैं और श्रीराधामाधवके सुखका आयोजन करना मञ्जरीका जीवन। मञ्जरीपर श्रीराधारानीकी सबसे बड़ी कृपा रहती है और इसीसे श्रीकृष्ण उसपर कृपा करनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं।

इससे भी एक ऊँचा भाव है—श्रीराधामाधवने मुझे अपनेमें विलीन कर लिया है, उन्होंने अपने अङ्गोंमें मुझे प्रवेश करा लिया है। वहाँ पहले श्रीराधामाधवकी एकता अनुभव होती है, पीछे साधककी एकता हो जाती है।

साधककी यह वृत्ति रहती है कि वह भोगियोंसे सर्वथा उलटा चलता है। भोगी साधककी वृत्तिको समझते नहीं और वे उसे भ्रमित मानते हैं; पर साधक उनकी इस मान्यतासे उद्वेग नहीं करता, वह अन्तरमें प्रसन्न होता है।

साधक और भोगीके दृष्टिकोणमें बड़ा अन्तर होता है। भोगी भोगोंमें ही जागता-सोता है और साधक भोगोंके त्यागमें ही जागता-सोता है।

साधकका यह स्वरूप है कि वह भोगोंसे स्वाभाविक अपनी चित्तवृत्तिको हटाये।

भोगी जिन चीजोंको चाहता है तथा ग्रहण करता है—सुखके लिये, साधक उन चीजोंके ग्रहणसे घबराता है। उसे उन चीजोंके ग्रहणमें दुःख अनुभव होता है। भोगीको मान अमृतके समान लगता है और साधकको मान विषके

समान। भोगीको प्रशंसा बड़ी सुखकर प्रतीत होती है और साधकको प्रशंसा अग्निके सदृश।

साधकका आदर्श त्याग है, भोग नहीं। इसीसे साधक भोगीद्वारा प्रलोभन दिये जानेपर भी भोगको स्वीकार नहीं करता।

वृन्दावन-वासका बड़ा माहात्म्य है, पर वृन्दावनमें केवल रहना वृन्दावनवास नहीं है; वृन्दावनवासका अर्थ है—जीवनका श्रीकृष्णमय हो जाना।

भगवान्पर हमारा विश्वास दृढ़ हुआ कि नहीं, इसकी कसौटी है—भगवान्के प्रत्येक विधानमें मङ्गलबुद्धि हुई कि नहीं तथा दु:खमें भगवान्का संस्पर्श अनुभव होता है कि नहीं। जबतक भगवान्के किसी भी विधानसे मनपर विषाद-चिन्ता आती है, तबतक यह स्पष्ट है कि हमारा भगवान्पर विश्वास दृढ़ नहीं हुआ है।

जितने भी भगवत्प्राप्त महापुरुष हुए हैं, उन सबकी स्थितियाँ पृथक्-पृथक् हैं; पर तत्त्वत: सभीने एक ही सत्यको प्राप्त किया है। साधनकालमें मार्गकी भिन्नता रहती है—जैसे किसीमें ज्ञान प्रधान होता है, किसीमें भक्ति, किसीमें निष्काम कर्म तथा किसीमें योग-साधन। पर सबका प्राप्तव्य एक ही भगवान् है। अतएव महापुरुष सभी साधनोंका आदर करते हैं; पर जिस साधनद्वारा वे वहाँतक पहुँचे हैं, उसीका वे विशेषरूपमें समर्थन करते हैं, कारण, उस साधनका उन्हें व्यावहारिक ज्ञान अधिक है।

जगत्का कोई भी सौन्दर्य न स्थायी है और न वर्धनशील; वह अनित्य है, विनाशी है, क्षणभङ्गुर है, अपूर्ण है। भगवान्का सौन्दर्य नित्य है तथा पूर्णतम होते हुए भी नित्य वर्धनशील है।

भगवान्के आश्रयके लिये आवश्यकता है—दैन्यकी। 'दैन्य'का अर्थ है—अभिमान-शून्यता। हममें नाना प्रकारके अभिमान भरे हैं—जैसे धनका अभिमान, पदका अभिमान, साधनका अभिमान, ज्ञानका अभिमान, त्यागका अभिमान, सेवा करनेका अभिमान आदि। जहाँ-जहाँ अभिमानका उदय होता है, वहाँ-वहाँ भगवान्की विस्मृति हो जाती है। पर भक्तोंका यह अभिमान कि 'मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं, भगवान्की मुझपर अपार कृपा है'—वास्तवमें अभिमान नहीं है। यह एक परम सात्त्विक मान्यता है, जो साधनाका आधार है।

भगवान्की सब शक्तियोंमें कृपाशक्ति प्रधान है। जहाँ उनकी कृपाशक्ति चरितार्थ होती है, वहाँ उनकी अन्य सब शक्तियाँ कृपाशक्तिके अनुगत होकर कार्य करती हैं। हमारा अभिमान भगवान्की कृपाका अनुभव नहीं होने देता। अतएव सबसे पहले अपने अहंकारका ही शमन करना है।

संसारका सौन्दर्य सर्वथा मिथ्या है, पर सुखकी छिपी आशासे हम संसारके मिथ्या सौन्दर्यके प्रति लुब्ध हो रहे हैं। संसारके किसी भी प्राणी-पदार्थमें सौन्दर्य नहीं है—इस सत्यपर विश्वास करके हम अपनी भ्रान्तिसे जितनी जल्दी छुट्टी पा लें, उसीमें हमारा भला है।

कोई अपनी किसी साधनासे भगवान्को खरीदना चाहे तो यह उसकी मूर्खताके सिवा और कुछ नहीं है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसके विनिमयमें भगवान् मिल सकें। भगवान् मिलते हैं अपनी सहज कृपासे ही। कृपापर विश्वास नहीं तथा कृपाको ग्रहण करनेका दैन्य नहीं है। ऐसी स्थितिमें कैसे काम बने? 'मैंने अभिमानका त्याग कर दिया, मुझमें अभिमान नहीं है'—इन उक्तियोंमें भी अभिमानकी सत्ता विद्यमान है।

'दैन्य' भक्तकी शोभा है। यह उसका पहला लक्षण है। भक्त अपनेको सर्वथा अकिंचन—अभावग्रस्त पाता है और भगवान्को यही चाहिये। बस, भगवान् ऐसे भक्तके सामने प्रकट हो जाते हैं।

भगवान्का बल निरन्तर हमारे पास रहनेपर भी सक्रिय नहीं होता, इसका कारण है कि हम उसे स्वीकार नहीं करते। जब भी हम भगवान्के बलका अनुभव करने लगेंगे, तभी वह बल सक्रिय हो जायगा और हम निहाल हो जायँगे।

हमारी भोगोंमें सुखकी आस्था इतनी दृढ़मूल हो रही है कि वैराग्यके शब्दोंसे वह दूर नहीं होती। किसी महान् विपत्तिका प्रहार तथा भगवान् अथवा उनके किसी प्रेमीजनकी कृपा ही इस आस्थाको दूर कर सकते हैं।

शरणागत वही हो पाता है, जो दीन है। जिसे अपनी बुद्धि, सामर्थ्य, योग्यताका अभिमान है, वह किसीके शरण क्यों होना चाहेगा। जब अपना सारा बल, बलोंकी आशा-भरोसा टूट जाते हैं, तब वह भगवान्की ओर ताकता है और उनका आश्रय चाहता है।

भगवच्चरित तथा भगवल्लीला

(श्रीरामकृष्ण रामानुजदासजी 'श्रीसन्तजी महाराज')

ब्रह्म अग्निकी तरह निराकार है। जब लकड़ी जलती है तो लकड़ीके आकारमें वह अग्नि प्रतिभासित होती है। ब्रह्म आनन्दरूप, निराकार तथा व्यापक है। 'व्यापक'का अर्थ कहीं अभाव नहीं और निराकारका तात्पर्य कोई एक आकार नहीं है।

ब्रह्मतत्त्व तथा भगवत्तत्त्व एक ही तत्त्व है। श्रीमद्भागवत (१। २। १)-में कहा भी गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

हमारे देशका यह सौभाग्य है कि भगवान् हमारे ही पावन देश भारतमें अवतार ग्रहण कर भगवच्चरित तथा भगवल्लीला करते हैं। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी जन्मभूमि होनेका ऐतिहासिक गौरव हमारे ही देशको प्राप्त है। इस देशका गौरव बताते हुए कहा गया है—

भारतवर्ष हमारा प्यारा, अखिल विश्वसे न्यारा।
सब साधनसे रहे समुन्नत, भगवन्! देश हमारा॥

('कल्याण' हिन्दू-संस्कृति-अङ्क, पृ० २)

यहाँके ऋषियोंने भगवच्चरित तथा भगवल्लीलाके विषयपर अनेक विधियोंसे विचार किया है। ये दोनों विषय अगाध और अनन्त हैं। इनपर गहन चिन्तन करनेपर यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों तत्त्वत: एक ही हैं, परंतु विद्वानोंने इन दोनोंमें अन्तर भी दर्शाया है। भगवल्लीला—प्रेम और आनन्द-प्रधान है, जबकि भगवच्चरित—लोक-शिक्षा-प्रधान है। भगवल्लीलामें प्रेम-भावकी प्रधानताके कारण मस्ती तथा तन्मयता अधिक रहती है, परंतु भगवच्चरितमें मर्यादाकी प्रधानताके कारण दण्डका विधान भी देखा जाता है। भगवच्चरित धर्मशास्त्रोंके विधि-निषेधरूप नियमोंमें आबद्ध है, जबकि भगवल्लीला विधि-निषेधके नियमोंसे सर्वथा परे होती है। भारतीय संस्कृतिके विशेषज्ञ स्वामी श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज भगवल्लीलाके प्रसंगमें स्पष्टत: लिखते हैं—

'लीला मात्रविलासेच्छा'

अर्थात् लीला केवल व्यापार मात्र है। यद्यपि यह सहज और स्वाभाविक होती है तथापि यह अत्यन्त गहन तत्त्व है। इसे बड़े-बड़े महापुरुष एवं ज्ञानी भी नहीं समझ पाते हैं और उन्हें भी मोह प्राप्त हो जाता है—'**कवयोऽप्यत्र मोहिता:**।' श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला एक ऐसा ही गहन तत्त्व है। सूरदासजी कहते हैं कि माखनचोर श्रीकृष्णकी मोहिनी छबि देखकर गोपियाँ मोहित हो जाती हैं, कारण, माखन-चोरीके साथ-साथ उनका मन भी चुरा लिया जाता है। हाथमें माखन लिये और मुखपर दहीका लेप किये लीलापुरुषोत्तम श्यामसुन्दरको देखकर गोपियोंको अपना मन वशमें रखना कठिन हो जाता है। वे एक-दूसरेसे माखनचोरीकी मधुर लीलाका स्मरण करती हुई कहती हैं कि 'अरी सखि! तू जानती नहीं? कितने दिनोंसे यह हमारी अभिलाषा थी कि कभी मुरलीमनोहर कृष्ण-कन्हैयाको अपने घरमें माखन खाते हुए देखूँ। उनकी सुन्दर छबि-सुधा-धारासे अपनी आँखोंकी असह्य जलन मिटाऊँ।'

सूरदासजी अपनी 'सूर-विनयपत्रिका'के विनय-पदोंमें कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाको कौन समझ सकता है? बड़े-बड़े उच्च कुलीनोंका पतन देखा जाता है और नीच कहलानेवाले पावन बनते हुए देखे जाते हैं। पूतनाको माताकी गति भगवान् श्रीकृष्ण देते हैं। उनकी कृपामयी लीलाका रहस्य कौन जान सकता है? उनकी लीला, उनका अनुग्रह अत्यन्त ही गूढ़ एवं अपरम्पार है।

भक्त नन्ददासजी कहते हैं कि जो ब्रह्म अनादि-सनातन है, घट-घटमें व्याप्त है तथा जो आगम-निगमसे परे है, वही ब्रह्मका सगुणरूप श्रीकृष्ण-कन्हैया, माँ यशोदाकी गोदमें खेल रहा है, नन्दके आँगनमें दौड़ रहा है और गोपियोंके साथ आनन्दकी लीला कर रहा है। इस रहस्यमयी लीलाके उद्देश्यका प्रकटन नहीं किया जा सकता है।

दूसरी ओर भगवच्चरितका कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। भगवान् रामका चरित प्रधान है, परंतु भगवान् कृष्णकी लीला प्रधान है। श्रीशुकदेवजी तथा सनक-सनन्दन-जैसे महापुरुषोंने भी भगवल्लीलाको अगम्य बताया है। भगवान्

रामने अपने चरितद्वारा चरित्र-निर्माणकी ही मूल शिक्षा दी है। महर्षि वाल्मीकि तथा संत तुलसीदासजीके दृष्टिकोणमें अन्तर हो सकता है। किंतु यह केवल दृष्टि-भेदका अन्तर है। दोनों दृष्टियोंमें एक ही सत्यका निरूपण है। महर्षि वाल्मीकि तथा अनुपम संत श्रीतुलसीदासजीने एक ही सत्यको दो रूपोंमें प्रस्तुत किया है। महर्षि वाल्मीकिने मानव-कल्याणके लिये चरित्र-निर्माणका संदेश सीधे दिया है और यह सिद्ध किया है कि कोई चरित्रवान् ही सच्चा भक्त कहला सकता है। राम तथा हनुमान् अपने चरित्रद्वारा वास्तवमें चरित्र-निर्माणकी ही मूल शिक्षा देते हैं।

तुलसीदासजीके जीवनमें भक्तिकी ही प्रधानता थी और इसलिये उन्होंने भक्तिकी साधनाद्वारा चरित्र-निर्माणका संदेश दिया है। भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें भक्तिके द्वारा चरित्र-निर्माणका संदेश दिया है, देखिये—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

अर्थात् कोई अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी भजनके द्वारा चरित्र-निर्माणकर साधु बन जाता है। भगवान् भजन करनेवालेको सद्बुद्धि प्रदान करते हैं और सद्बुद्धि प्राप्त होनेपर भक्त अपना चरित्र-निर्माण अवश्य कर लेता है, जैसे भजनके द्वारा रत्नाकर डाकू महर्षि वाल्मीकि बन जाता है। भगवान् तो स्वयं कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

अतः भजनद्वारा भी चरित्र-निर्माण अवश्य होता है।

इस प्रकार भगवान् श्रीरामका चरित वास्तवमें चरित्र-निर्माण करनेकी शिक्षा देता है। उनकी भिन्न-भिन्न कथाओंसे उनके दिव्य गुणों एवं आचारोंका दिग्दर्शन कराकर हमें गुणों तथा दिव्य आचरण धारण करनेकी प्रेरणा दी जाती है। यह भी सत्य है कि उनकी भक्तिसे हमारे चरित्रमें दिव्यता आती है। यही संदेश देनेके लिये तुलसीदासजीने लिखा है—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥

(रा० च० मा० १। १९२)

अर्थात् विप्र, धेनु, सुर और संतका हित मानवोंके नेता चरित्रवान् धर्मस्वरूप श्रीरामजीकी तरह ही कोई कर सकता है।

इस प्रकार भगवच्चरित तथा भगवल्लीलाका विभिन्न महापुरुषोंने अपने-अपने ढंगसे यत्र-तत्र सर्वत्र वर्णन किया है, परंतु सबका लक्ष्य भारतकी गौरवमयी संस्कृतिको उजागर करना ही रहा है। मनुष्यकी पशुता मिटाकर उसे मानव बनाना और फिर उसे ईश्वरकी ओर अग्रसर करना भारतीय संस्कृतिकी विशेषता है। मानववादके सिद्धान्तकी घोषणा सबसे पहले भारतीय ऋषियोंने की और पुनः भगवत्तत्त्वकी व्याख्या भी इन्हीं ऋषियोंने की। अतः भगवच्चरित तथा भगवल्लीलाद्वारा मानवधर्म तथा भागवतधर्म दोनोंकी प्रेरणा दी गयी है। इन्हें भलीभाँति समझनेके लिये प्रभुके नामका आश्रय लेना चाहिये तथा प्रभुके ही नामका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना चाहिये।

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम॥

ध्यायेज्जगन्मोहनम्

अंसालम्बितवामकुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं किञ्चित्कुञ्चितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारेक्षणम्।
आलोलाङ्गुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा मूले कल्पतरोस्त्रिभंगललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम्॥

जो कन्धेतक लटकनेवाले मनोहर कुण्डल धारण किये हैं, जिनकी भ्रूलताएँ धनुषकी भाँति खिंची हुई हैं, जिनके अधरपल्लव अति कोमल, सुन्दर और किञ्चित् कुञ्चित हैं (क्योंकि वे उनसे मुरली बजा रहे हैं), जिनके नेत्र बाँके और विशाल हैं और जो कल्पतरु (कदम्ब)-के नीचे मनहरण त्रिभङ्गरूपसे खड़े आनन्दके साथ चञ्चल कोमल अंङ्गुलियोंको वंशीपर फिराते हुए उसे बजा रहे हैं, ऐसे जगन्मोहन, मनमोहन, श्यामसुन्दरका ध्यान करना चाहिये।

साधकोंके प्रति—

सत्-असत्‌का विवेक

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ७६६ से आगे]

(१०)

दोषोंका भाव विद्यमान नहीं है और निर्दोषताका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् दोषोंकी सत्ता है ही नहीं और निर्दोषता स्वत:सिद्ध है। कोई भी दोष स्थायी नहीं रहता, आता-जाता है और उसके आने-जानेका ज्ञान जिसको होता है, वह (निर्दोष तत्त्व) स्थायी रहता है। तात्पर्य है कि दोषोंका ज्ञान दोषीको नहीं होता, प्रत्युत निर्दोषको होता है। दोषोंके आने-जानेका ज्ञान तो सबको होता है, पर अपने आने-जानेका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता; क्योंकि दोष असत् हैं और हमारा निर्दोष स्वरूप सत् है। हमारेमें दोष हैं—ऐसा मानना ही दोषोंको निमन्त्रण देना है, उनको अपनेमें स्थापन करना है। अगर दोष हमारेमें होते तो फिर जैसे हम निरन्तर रहते हैं, ऐसे ही वे भी निरन्तर रहते और उनका कभी अभाव नहीं होता। दूसरी बात, अगर दोष हमारेमें होते तो हम सर्वांशमें दोषी होते, सबके लिये दोषी होते और सदाके लिये दोषी होते। परंतु कोई भी मनुष्य सर्वांशमें दोषी नहीं होता, सबके लिये दोषी नहीं होता और सदाके लिये दोषी नहीं होता।

दोषोंको सत्ता हमने ही दी है, इसलिये दोषोंका आना-जाना हमें दीखता है। अगर दोषोंकी सत्ता न मानें तो दोष हैं ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'**। जैसे सूर्यमें अमावस्याकी रात नहीं आ सकती, ऐसे ही नित्य स्वरूपमें अनित्य दोष नहीं आ सकते। जैसे परमात्मा निर्दोष हैं—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५। १९), ऐसे ही उनका अंश जीवात्मा भी निर्दोष है—**'अविकार्योऽयमुच्यते'** (गीता २। २५) *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥'* (मानस, उत्तर० ११७। १)।

अपनेमें दोषोंकी स्थापना हमने ही की है। हमने ही उनको सत्ता देकर दृढ़ किया है। अतः दोषोंको सत्ता न देकर अपनेमें निर्दोषताकी स्थापना करना अर्थात् निर्दोषताका अनुभव करना हमारा कर्तव्य है। अपनेमें निर्दोषताका अनुभव करना ही तत्त्वज्ञान है, जीवन्मुक्ति है।

(११)

हमारी सत्ता किसी वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति और विनाश होता है, प्रत्येक व्यक्तिका जन्म (संयोग) और मरण (वियोग) होता है एवं प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। परंतु इन तीनोंको जाननेवाली हमारी चिन्मय सत्ताका कभी उत्पत्ति-विनाश, जन्म-मरण (संयोग-वियोग) और आरम्भ-अन्त नहीं होता। वह सत्ता नित्य-निरन्तर स्वतः ज्यों-की-त्यों रहती है। उस सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'**। उस सत्तामें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिके अनुभवका नाम ही जीवन्मुक्ति है।

मनुष्यको यह वहम रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनेपर, अमुक व्यक्तिके मिलनेपर तथा अमुक क्रियाको करनेपर मैं स्वाधीन (मुक्त) हो जाऊँगा। परंतु ऐसी कोई वस्तु, व्यक्ति और क्रिया है ही नहीं, जिससे मनुष्य स्वाधीन हो जाय। वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे असंग होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला अनुभव करनेका स्वभाव बनाये। यह मनुष्यमात्रका अनुभव है कि सुषुप्तिके समय वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना भी हम स्वतः रहते ही हैं। जब जाग्रत्‌में भी हम इनके बिना रहनेका स्वभाव बना लेंगे, तब हम स्वाधीन अर्थात् मुक्त हो जायँगे। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका सम्बन्ध ही हमें स्वाधीन नहीं होने देता और हमारे न चाहते हुए भी हमें पराधीन बना देता है।

हमें विचार करना चाहिये कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सदा हमारे पास रहेगी और हम सदा उसके पास रहेंगे? ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो सदा हमारे साथ रहेगा और हम सदा उसके साथ रहेंगे? ऐसी कौन-सी क्रिया है,

जिसको हम सदा करते रहेंगे और जो सदा हमसे होती रहेगी? सदाके लिये हमारे साथ न कोई वस्तु रहेगी, न कोई व्यक्ति रहेगा और न कोई क्रिया रहेगी। एक दिन हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे रहित होना ही पड़ेगा। अगर हम वर्तमानमें ही उनके वियोगको स्वीकार कर लें, उनसे असंग हो जायँ तो जीवन्मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

विचार करें, वस्तु पासमें रहते हुए भी हम रहते हैं और वस्तु पासमें न रहते हुए भी हम वही रहते हैं। व्यक्ति साथमें रहते हुए भी हम रहते हैं और व्यक्ति साथमें न रहते हुए भी हम वही रहते हैं। क्रिया करते समय भी हम रहते हैं और क्रिया न करते समय भी हम वही रहते हैं। इन दोनों अवस्थाओंका अनुभव सबको है। इससे सिद्ध होता है कि हमारा अस्तित्व (होनापन) वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। हम वस्तुकी उत्पत्तिको भी देखते हैं और विनाशको भी देखते हैं, व्यक्तिके संयोगको भी देखते हैं और वियोगको भी देखते हैं, क्रियाके आरम्भको भी देखते हैं और अन्तको भी देखते हैं। वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—तीनोंके अभावका तो हमें अनुभव होता है, पर अपने अभावका अनुभव हमें कभी नहीं होता। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका संयोग अनित्य है, पर वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करनेसे नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सर्वत्र परिपूर्ण उस परमात्मसत्तामें स्वतः स्थिति हो जाती है, जिसके लिये गीताने कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। (गीता ९। ४)

'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।'

(१२)

असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है—इसका तात्पर्य है कि जो भी सत्ता दीखती है, वह असत्‌की न होकर सत्-तत्त्वकी ही है। इस सत्ताको अस्वीकार कोई कर ही नहीं सकता। कोई परमात्माकी सत्ता मानता है, कोई आत्माकी सत्ता मानता है और कोई जगत्‌की सत्ता मानता है। अगर कोई कहे कि मैं किसीकी भी सत्ता नहीं मानता तो वह अपनी सत्ता तो मानता ही है! तात्पर्य यह है कि किसी-न-किसी रूपमें सत्-तत्त्व ('है')-की सत्ताको सभी स्वीकार करते हैं, भले ही वे उसका नाम कुछ भी रख दें। सत्ताका त्याग कोई कर सकता ही नहीं। कारण कि सत्ताका निषेध करनेसे अपना निषेध हो जायगा, जबकि अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

(१३)

जिसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् जो प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें विद्यमान है, उस तत्त्वकी प्राप्ति कुछ करनेसे नहीं होती। कारण कि जो विद्यमान है, उसकी अप्राप्ति होती ही नहीं। हम कुछ करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह भाव देहाभिमानको पुष्ट करनेवाला है। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है; अतः क्रिया करनेसे उसीकी प्राप्ति होगी, जो विद्यमान नहीं है। परंतु प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रत्येक प्राणीमें क्रियाका वेग रहता है, जो उसको क्रियारहित नहीं होने देता*। क्रियाका वेग शान्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि जो नहीं करना चाहिये, उसको न करें और जो करना चाहिये, उसको निर्मम तथा निष्काम होकर करें अर्थात् अपने लिये कुछ न करें, प्रत्युत केवल दूसरेके हितके लिये ही करें†। अपने लिये करनेसे क्रियाका वेग कभी समाप्त नहीं होगा; क्योंकि अपना स्वरूप नित्य है और कर्म अनित्य हैं। अतः दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे क्रियाका वेग शान्त

*न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता ३। ५)

'कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि (प्रकृतिके) परवश हुए सब प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म कराते हैं।'

†न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता ३। ४)

'मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है।'

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। (गीता ६। ३)

'जो योग (समता)-में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण है।'

होकर प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और सब देश, काल आदिमें विद्यमान सत्-तत्त्व प्रकट हो जायगा, उसका अनुभव हो जायगा।

(१४)

साधक भूत और भविष्यकी जिन वस्तुओं, व्यक्तियों और क्रियाओंको महत्त्व देता है, उनका चिन्तन बिना किये और बिना चाहे स्वतः होता रहता है। उस स्वतः होनेवाले चिन्तनको मिटानेके लिये साधक परमात्माका चिन्तन करता है। परंतु यह सिद्धान्त है कि होनेवाले चिन्तनको किये गये चिन्तनसे नहीं मिटाया जा सकता। चिन्तन करनेसे करनेके नये संस्कार पड़ते हैं, जिससे वह नष्ट नहीं होता, प्रत्युत और पुष्ट होता है। स्वतः होनेवाला चिन्तन स्वतः होनेवाले चिन्तनसे अथवा चुप होनेसे ही मिट सकता है। तात्पर्य है कि सत्-तत्त्वका अनुभव होनेपर, निष्काम होनेपर, बोध होनेपर, प्रेम होनेपर संसारका स्वतः होनेवाला चिन्तन मिट जाता है। चुप होनेका तात्पर्य है कि साधक स्वतः होनेवाले चिन्तनकी उपेक्षा कर दे अर्थात् उसको न ठीक समझे, न बेठीक समझे और न अपनेमें समझे तथा अपनी तरफसे कोई नया चिन्तन भी न करे। वह न चिन्तन करनेसे मतलब रखे, न चिन्तन नहीं करनेसे मतलब रखे। वह न तो किये जानेवालेका कर्ता बने और न होनेवालेका भोक्ता बने। ऐसा करनेसे साधक धीरे-धीरे अचिन्त्य हो जायगा। परंतु अचिन्त्य होनेका भी सुख नहीं लेना है। ऐसा होनेपर साधक चिन्तन करने और चिन्तन होने—दोनोंसे रहित हो जायगा; क्योंकि करनेमें कर्मेन्द्रियोंका और होनेमें अन्तः-करणका सम्बन्ध होनेसे करना और होना—दोनों ही अनित्य हैं। करने और होनेसे रहित होनेपर 'है' (सत्-तत्त्व)-में अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जायगा।

(१५)

असत्का भाव विद्यमान नहीं है अर्थात् असत्का भाव निरन्तर अभावमें बदल रहा है। परंतु 'असत्का भाव विद्यमान नहीं है'—इस बातका ज्ञान अभावमें नहीं बदलता। इस ज्ञानमें हमारी स्थिति स्वतःसिद्ध है। देह तो निरन्तर अभावमें बदल रहा है; अतः देह नहीं है, प्रत्युत देही (स्वरूप) ही है। देहीकी सत्ता देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे सर्वथा अतीत है।

असत्का भाव निरन्तर अभावमें जा रहा है; अतः असत् नहीं है, प्रत्युत सत् ही है। असत्की केवल मान्यता है। असत्की यह मान्यता ही सत्की स्वीकृति नहीं होने देती। गलत मान्यता सही मान्यता करनेसे मिट जाती है। वास्तवमें न सही मान्यता है, न गलत मान्यता है, केवल सत्तामात्र है।

जैसे हाथ, पैर, नासिका आदि शरीरके अंग हैं, ऐसे असत् सत्का अंग भी नहीं है। जो बहनेवाला और विकारी होता है, वह अंग नहीं होता*; जैसे—कफ, मूत्र आदि बहनेवाले और फोड़ा आदि विकारी होनेसे शरीरके अंग नहीं होते। ऐसे ही असत् बहनेवाला और विकारी होनेके कारण सत्का अंग नहीं है।

(१६)

भूतकाल और भविष्यकालकी घटना जितनी दूर दीखती है, उतनी ही दूर वर्तमान भी है। जैसे भूत और भविष्यसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही वर्तमानसे भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। जब सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर भूत, भविष्य और वर्तमानमें क्या फर्क हुआ? ये तीनों कालके अन्तर्गत हैं, जबकि हमारा स्वरूप कालसे अतीत है। कालका तो खण्ड होता है, पर स्वरूप (सत्ता) अखण्ड है। शरीरको अपना स्वरूप माननेसे ही भूत, भविष्य और वर्तमानमें फर्क दीखता है। वास्तवमें भूत, भविष्य और वर्तमान विद्यमान है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'**।

(१७)

संसारमें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'अभाव' मुख्य रहता है। परमात्मामें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'भाव' मुख्य रहता है। संसारमें 'अभाव'के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं और परमात्मामें 'भाव'के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें 'नित्यवियोग'के अन्तर्गत संयोग-वियोग हैं और परमात्मामें 'नित्ययोग'के अन्तर्गत योग-वियोग (मिलन-विरह) है। अतः संसारमें अभाव ही रहा और परमात्मामें भाव ही रहा।

असत्का भाव नहीं है और सत्का अभाव नहीं है;

---

*अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्। अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥

अत: सत् स्वत: विद्यमान है। जो स्वत: विद्यमान है, वही परमात्मा हैं। जो पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा और अभी नहींमें जा रहा है, उसे सत्ता देना, महत्ता देना और उससे सम्बन्ध जोड़ना ही खास बाधा है। अत: उसे सत्ता न दे, महत्ता न दे और उससे सम्बन्ध न जोड़े अर्थात् उसे अपना न माने। जिसका कभी अभाव नहीं होता, उसको ही सत्ता दे, उसको ही महत्ता दे और उसीको अपना माने। जो नहीं है, उसका महत्त्व कैसा? महत्त्व तो उसीका है, जो है और वही अपना है।

जो नहीं है, उससे तटस्थ, बेपरवाह, निर्लेप, निरपेक्ष, उदासीन, विमुख होना है; उससे चिपकना नहीं है। वास्तवमें हम असत् (वस्तु, व्यक्ति और क्रिया)-से निर्लेप हैं; क्योंकि हम उसके भाव-अभावको, उत्पत्ति-विनाशको, संयोग-वियोगको और आदि-अन्तको जानते हैं। इस प्रकार अपनेको निर्लेप अनुभव करके चुप हो जायँ तो स्वत:सिद्ध सत्ता (सत्-तत्त्व)-का स्पष्ट अनुभव हो जायगा। वास्तवमें सत्-तत्त्व स्वत:सिद्ध है, केवल असत्से विमुख होना है। अगर हम असत्को अस्वीकार कर दें तो वह रहेगा ही नहीं; क्योंकि वह है ही नहीं, उसमें रहनेकी ताकत ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भाव:**'।

श्रीमद्भागवतमें आया है—'**अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्त:**' (१०। १४। २८) 'संतलोग संसारका त्याग करते हुए परमात्मतत्त्वकी खोज करते हैं'। खोजनेसे वह चीज मिलती है, जो पहले ही मौजूद हो। उसको खोजनेका उपाय है—जो मौजूद नहीं है, उसको छोड़ते जाना। छोड़नेका तात्पर्य है—उसकी सत्ता और महत्ता न मानना तथा उससे अपना सम्बन्ध न मानना, उसको अस्वीकार करना। (समाप्त)

निज निज कर्म (धर्म) निरत श्रुति रीती

(श्रीरामपदारथसिंहजी)

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम और जगदाचार्य श्रीलक्ष्मणजीके मध्य एक लघु पर बहुत ही बोधपूर्ण और साधकोपयोगी वार्ताका सुन्दर प्रसंग है। उसमें श्रीभगवान्ने विविध विषयोंपर व्याख्यानके साथ भक्तिके साधनोंका क्रम बतलाते हुए दूसरा साधन कहा है—*'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती'* (रा० च० मा० ३। १६। ६)। इस पंक्तिमें श्रीभगवान्के दो उपदेश हैं—(१) साधकोंको अपने-अपने कर्ममें निरत रहना चाहिये और (२) निज कर्मका निर्धारण वेदोक्त-रीतिसे करना चाहिये।

निजधर्म, स्वधर्म, स्वकर्म और सहजकर्म आदि शब्द समानार्थक हैं। सामान्यत: सभी मनुष्योंके लिये जो कर्म कर्तव्य हैं, वे सामान्य धर्म हैं और व्यक्तिविशेषके लिये जो कर्म कर्तव्य हैं, वे उस व्यक्तिके लिये निज धर्म या विशेष धर्म हैं। सभी मनुष्योंको चाहिये कि वे किसीको दु:ख न दें, सत्य बोलें, किसीका धन हरण न करें, देह और आत्मासे सदैव पवित्र रहें तथा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रखें। ये सामान्य धर्म हैं। सृष्टिके सभी मानवोंके पूर्वज सर्वजनहितकारी शास्त्रके प्रणेता महाराज मनुने चारों वर्णोंके सामासिक धर्म—सामान्य धर्मोंको बतलाते हुए कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु:॥

(मनु० १०। ६३)

इन सार्वजनिक कर्तव्योंको श्रीमद्भागवतमें प्रकारान्तरसे सार्ववर्णिक धर्मके नामसे कहा गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिक:॥

(११। १७। २१)

अर्थात् चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लिये साधारण धर्म यह है कि मन, वाणी और शरीरसे किसीकी हिंसा न करें, सत्यपर दृढ़ रहें, चोरी न करें, काम, क्रोध तथा लोभसे बचें और जिन कार्योंसे प्राणिमात्रको सदैव प्रसन्नता होती हो एवं उनका सर्वविध कल्याण होता हो वही कार्य करें।

अतएव मानवमात्रको इन धर्मोंका पालन तत्परतासे

करना चाहिये; क्योंकि जो जिस सीमातक इनका पालन करता है, वह उस सीमातक मानवताके समीप है और वही स्वधर्म-पालनका श्रेष्ठ अनुष्ठाता है।

निजधर्म प्रत्येक व्यक्तिका निजी दायित्व है। प्रत्येक मनुष्यका परिवार, समाज और राष्ट्रसे जन्मजात सम्बन्ध होता है। उस सम्बन्धके अनुरूप उसका जो व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रिय कर्तव्य होता है वह उसका निजधर्म है। पिताका पुत्रके प्रति जो कर्तव्य है वह पिताका निजधर्म है। पुत्रका पिताके प्रति जो कर्तव्य है वह पुत्रका निजधर्म है। पूर्वजन्मके गुण-कर्मानुसार ही प्राणियोंका ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं अन्य योनियोंमें जन्म होता है। भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवालोंके भिन्न-भिन्न सहज-स्वभावज कर्म होते हैं। वे ही स्वभावज कर्म उनके निजधर्म कहलाते हैं। शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ब्राह्मणोंके विशिष्टरूपमें स्वभावज कर्म हैं। अत: ये उनके निजधर्म हैं। इसी प्रकार शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान और शासकत्व-भाव क्षत्रियोंके, कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्योंके तथा सेवा शूद्रोंके स्वभावज कर्म होनेसे उनके निजधर्म हैं। एक वर्णके लिये जो निजधर्म है, दूसरे वर्णके लिये वह परधर्म है। भगवान् श्रीरामके उपदेशमें *'निज निज कर्म'* का प्रयोग वर्णाश्रमके अवश्य करणीय कर्मोंके (धर्मोंके) अर्थमें हुआ है। श्रीरामचरितमानसमें अन्यत्र भी यह प्रयोग इसी अर्थमें किया गया है। भगवान् श्रीरामने वर्णधर्मोंके पालनको भक्ति-साधनाका एक अपरिहार्य अंग कहा है। उनका कथन है कि पहले विप्र-चरणोंमें पूर्ण प्रीति रखकर अपने-अपने वर्णोचित कर्तव्योंका भलीभाँति पालन किया जाय तो विषयोंसे वैराग्य होगा, तत्पश्चात् भागवतधर्म अर्थात् भगवद्भक्तिमें अनुराग उत्पन्न होगा—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

(रा० च० मा० ३। १६। ६-७)

भगवद्भक्ति परम धर्म है। उसकी सिद्धि स्वधर्म-पालनसे होती है। भक्तिवन्त प्राणी भगवान्‌को प्राणप्रिय होते हैं, चाहे वे निम्नातिनिम्न श्रेणीके ही क्यों न हों, ऐसी स्वयं प्रभु श्रीरामकी वाणी है—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

(रा० च० मा० ७। ८६। १०)

भगवान् अपने भक्तके वशमें रहते हैं—*'तात निरंतर बस मैं ताकें'* (रा० च० मा० ३। १६। १२)। श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे अपनेको वशीभूत करनेका भक्तिके रूपमें जो उपाय बताया है, उसका श्रीगणेश स्वधर्माचरणसे ही होता है। अत: भक्तिसाधनाकी दृष्टिसे इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। इसे अभ्युदय और नि:श्रेयसका स्रोत कहा गया है। इस बातकी सत्यताका प्रमाण श्रीरामराज्यका आख्यान है।

श्रीरामराज्यमें जो अटूट सामाजिक सौहार्द विद्यमान था, उसका कारण यही था कि समाजके सभी वर्णोंके लोग वेदोक्त रीतिसे तत्परतापूर्वक स्वधर्माचरण करते थे। मानसमें प्रमाण पठनीय है—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती॥

(रा० च० मा० ७। २१। २)

अपने-अपने कर्तव्योंमें निष्ठा रखनेवाले लोगोंको लोकप्रियता प्राप्त होती है—**'प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिता:।'** (अत्रिसं० १२)। श्रीरामराज्यमें सब स्वधर्मनिष्ठ थे, अत: सबको सब प्रिय थे। किसीको कोई अप्रिय नहीं था। श्रीवाल्मीकीय रामायणसे विदित होता है कि श्रीरामराज्यमें सभी वर्णोंके लोग लोभरहित थे। एक वर्णके लोगोंको दूसरे वर्णके लोगोंके कर्मसे कोई लोभ नहीं था। सब लोग अपने ही वर्णोचित कर्मोंसे संतुष्ट थे—

ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: शूद्रा लोभविवर्जिता:।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टा: स्वैरेव कर्मभि:॥

(६। १२८। १०४)

उस समय चारों वर्णों और आश्रमोंके लोग स्वधर्माचरणके परिणामस्वरूप निर्भय, नीरोग, नि:शोक और सदा सुखी थे—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

(रा० च० मा० ७। २०)

निजधर्म-निष्ठताके फलस्वरूप इहलोकमें किसीको कोई कठिनाई नहीं थी। सबको अभ्युदय अधिकृत था।

सभी नर-नारी श्रीरामभक्तिमें रत थे और नि:श्रेयस-स्वरूप परमगतिके अधिकारी बन गये थे—

राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥

(रा० च० मा० ७। २१। ४)

स्वधर्मनिष्ठ लोग इस लोकमें रहते हुए ही निष्पाप और निर्मल होकर इच्छानुसार विशुद्ध ज्ञान अथवा श्रीहरिभक्तिको प्राप्त कर लेते हैं, ऐसा वचन श्रीमद्भागवतमें भी स्वयं श्रीभगवान्‌का है—

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

(११। २०। ११)

श्रीभगवान् *'ग्यान अखंड एक सीताबर'* (रा० च० मा० ७। ७८। ४) हैं। उन्हींको स्वधर्मपालनके माहात्म्यका पूर्ण ज्ञान है। अतएव उन्होंने सभी वर्णोंके हितकी दृष्टिसे निज-निज धर्ममें तत्पर रहनेका उपदेश किया और इसे अभ्युदय एवं नि:श्रेयसका रहस्य बताया।

स्वधर्म गुणहीन भी हो तब भी सुष्ठु-अनुष्ठित परधर्मसे श्रेष्ठ ही होता है। अतः मरणपर्यन्त स्वधर्म-पालनमें ही कल्याण है। परधर्म भयावह होता है।* लेकिन चित्तके मोहाविष्ट होनेसे प्रायः स्वधर्मका त्याग और परधर्म-ग्रहण किया जाता है। इससे कुछ सुख-सुविधा, पद-प्रतिष्ठा आदिकी प्राप्ति प्रतीत होती है, पर वे सब विषय-संयोगसे प्राप्त होनेवाले सुख अन्ततः दुःखके ही कारण होते हैं—**'दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५। २२) वर्णधर्मसे उदासीनता और उसमें व्याप्त विपर्ययका कुपरिणाम प्रत्यक्ष है। वर्तमान समयमें अशान्ति, दुराचार और सामाजिक कलहका सामना करना पड़ रहा है।

भगवान् श्रीरामने वर्णधर्मके पालनमें सबका हित देख उसके पालनका उपदेश किया और स्वयं अपने सम्पूर्ण लीलाकालमें उसकी रक्षाका उद्योग किया। विश्वामित्रजीने उन्हें चातुर्वर्ण्यके हितकी बात कहकर ही ताड़का-वधके लिये तैयार किया था—

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना॥

(वा० रा० १। २५। १७)

अर्थात् नरोत्तम! स्त्री-हत्याका विचार कर दया न दिखाना। एक राजपुत्रको चातुर्वर्ण्यके हितार्थ स्त्री-हत्या भी करनी पड़े तो करे, मुँह न मोड़े। चातुर्वर्ण्यकी रक्षामें कटिबद्ध रहना भगवान् श्रीरामके स्वरूपकी पहचान बन गयी थी। अतएव जब सीताजीने अशोकवाटिकामें हनुमान्‌जीसे भगवान् श्रीरामकी रूपाकृति पूछी जिससे उन्हें नर और वानरके बीच परिचयका विश्वास हो सके, तब हनुमान्‌जीने उनकी केवल आकृति ही नहीं बतलायी, बल्कि उनसे अपने पूर्ण परिचय और निकटताके प्रमाणमें उनकी प्रकृति भी बतलायी और कहा—'हे भामिनि! श्रीरामचन्द्रजी चातुर्वर्ण्यकी रक्षा करते रहते हैं—

रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता।

(वा० रा० ५। ३५। ११)

सम्पूर्ण विश्व प्रभु श्रीरामद्वारा ही निर्मित है। सभी प्राणियोंपर उनकी समान दया है। श्रीलक्ष्मणजीके व्याजसे उन्होंने सभी मनुष्योंको उनके संस्कारोचित स्वधर्मका उपदेश किया है, जिससे वे उनके अभिमुख हो सकें। स्वधर्म-पालनका प्रयोजन भगवान्‌के अभिमुख होना ही है।

आत्मोन्नयनके लिये स्वधर्म-पालन परम आवश्यक है। पर प्रश्न होता है कि उसका निर्धारण कैसे किया जाय। कर्मकी गति बड़ी गहन होती है। क्या कर्म है, क्या अकर्म है—यह निर्णय करनेमें बुद्धिमान् व्यक्ति भी मोहित हो जाया करते हैं—**'कवयोऽप्यत्र मोहिताः'** (गीता ४। १६)। स्वधर्मके निर्धारणमें अपने मन या बुद्धिको प्रमाण माननेसे निर्दोष निर्णयकी क्षीण सम्भावना रहती है। अतः भगवान् श्रीरामने वेदको प्रमाण माननेका उपदेश किया है। श्रीभगवान्‌का अभिमत है कि मनमाने ढंगसे धर्मनिष्ठ बनना साधना नहीं है, बल्कि वेदविहित रीतिसे निजधर्ममें तत्पर रहना साधना है। धर्मके विषयमें धर्मशास्त्र ही प्रमाण होंगे। प्रत्येक विषयका पृथक्-पृथक् प्रमाण होता है। शब्दके निर्णयमें कान प्रमाण है नाक नहीं। इसी प्रकार कार्याकार्यके

---

*श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ (गीता ३। ३५)

निर्णयमें शास्त्र ही प्रमाण हैं—'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ**' (गीता १७। २४)। अपना मन नहीं। अखिल धर्मोंका मूल वेद है। धर्मजिज्ञासामें परम प्रमाण वही है—'**धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः**' (मनु० २। १३)। महाराज मनुका भी भेषज-तुल्य वचन है कि श्रुति-प्रमाणसे स्वधर्मका निश्चय कर उसका अनुष्ठान करना चाहिये—

'**श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥**'

(मनु० २। ८)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने स्वधर्म-निर्धारणके सम्बन्धमें वेदको प्रमाण माननेकी मर्यादा स्थापित की है। उन्हें अपना कोई नया मत मनवानेका हठ नहीं। उन्होंने श्रुति-वर्णित अपने-अपने धर्माचरणका आग्रह किया। वेदकी अतुलित महिमा है। भगवान् श्रीरामने श्रुतिरीतिके अनुसार निजधर्ममें तत्पर रहनेका उपदेश कर यह संकेत किया कि धर्म-सम्बन्धी वचन वेद-शास्त्रोंसे सम्मत होनेपर ही माने जायँ, मनमाने मार्गका आचरण उचित नहीं। हमें यह ध्यानमें रखना चाहिये कि श्रुति और संत महात्माओंके बताये मार्गपर चलनेसे सबको सब सुख प्राप्त होता है—

जो मारग श्रुति-साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥

(विनय-पत्रिका १३६)

इसलिये जीवमात्रको वेद-विहित स्वकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए निरन्तर परमेश्वर-पूजनमें निरत रहना चाहिये, क्योंकि अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है—

'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**'

अभ्यासकी आवश्यकता

१-अभ्यासके द्वारा चित्तको शान्त करो, विषयोंका चिन्तन करना मनको आहार प्रदान करना है। संकल्पपूर्वक पदार्थोंका स्मरण करनेसे ही पतन हो जाता है।

२-किसीके सम्बन्धमें विचार या स्मरण करना उसका संग करना ही है। संगसे वस्तु समीपताका रूप धारण कर लेती है तथा संगका त्याग करनेसे त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं।

३-चित्तमें शुद्ध विचारोंको भरो, शुभ विचारोंके साथ खेल करो और उन्हींके साथ जीवन बिताओ।

४-सारा अभ्यास मनसे सम्बन्ध रखता है। भगवत्तत्त्व समझनेके लिये मनका अभ्यास अपेक्षित है। केवल शारीरिक तपसे कुछ नहीं होगा। शारीरिक तपसे देहबुद्धि कम होती है और शरीरकी आसक्तिमें भी शिथिलता आ जाती है। इस प्रकारका अभ्यास स्थूल चित्तवालोंके लिये है।

५-वाणीका तप भी आवश्यक है। लोग प्रायः अभ्यासमें वाणीकी साधना भूल जाते हैं। मैं तो कहता हूँ केवल सत्यभाषणसे ही आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। किंतु सत्यमें सरलता भी निहित है। सरलता सत्यसे पृथक् नहीं।

६-आवश्यकता ऐसे अभ्यासकी है, जिसमें वाणीका उद्वेग न हो। जिस वाणीमें कटुता है, उद्विग्नता है, चञ्चलता है, वह वाणी अभ्याससे रहित है। जो व्यक्ति वाणीद्वारा चित्तमें विक्षोभ पैदा कर देता है, वह सत्यके यथार्थ स्वरूपसे बहुत दूर चला जाता है। इसलिये यदि किसीको समझाया जाय तो मधुर वाक्योंसे ही समझाना चाहिये। यदि शत्रुको भी किसी प्रकारकी सूचना देनी हो तो मीठे शब्दोंसे ही सूचना देनी चाहिये।

७-शारीरिक तपद्वारा देह-बुद्धिका नाश कर दो।

८-वाणीके तपद्वारा सरलता, सुशीलता, पवित्रता एवं मधुरता आदि कोमल एवं शान्त सद्गुणोंको प्राप्त करो।

९-मानस तपद्वारा मनमें भरे हुए सारे संकल्पोंका नाश कर दो। सारी वासनाओंका क्षय कर दो। कोई भी वासना क्यों न हो, उसका तिरस्कार कर दो। वासनारत मनुष्योंके संसर्गमें कभी मत जाओ।

१०-आवश्यकता है निरन्तर अभ्यास करते रहनेकी। बिना अभ्यासके कुछ भी नहीं हो सकता। अभ्यास और वैराग्यरहित जीवन व्यर्थ है।

११-विचार करो, समस्त दृश्य-जगत् संकल्पसे पूर्ण है। जैसा संकल्प करोगे, ठीक उसी भाँति दृष्टिगोचर होने

लगेगा। संकल्प समुद्रके जलकी बूँदके समान है। अनन्त संकल्पसमूह ही संसार है। वास्तवमें संकल्पसे भिन्न कुछ भी नहीं है। ऐसा विचार करके विश्वप्रपञ्चकी आसक्तिका नाश कर दो।

१२-सबसे प्रबल विघ्न तो तुम्हारी वासनाओंका स्फुरण ही है। ज्यों-ज्यों वासनाका क्षय होगा, त्यों-त्यों देहाध्यासकी कमी होती जायगी। देहाध्यास घोर जड़ता है। इस घोर जड़ताको दूर किये बिना आध्यात्मिक क्षेत्रमें उतरना कठिन होगा। इसके लिये न तो मनके साथ युद्ध करना होगा और न उसे किसी वस्तुका प्रलोभन देकर फुसलाना ही होगा। किंतु एक आवश्यक कार्य अवश्य पूरा करना होगा। वह है—मनमें भरे हुए नाना प्रकारके संकल्पोंका नाश। ज्यों ही तुम्हें इस कार्यमें सफलता होगी, त्यों ही सांसारिक प्रलोभन तुम्हारी ओर स्वत: ही आकर्षित होने लगेंगे। निरन्तर छ: महीनेकी निर्बल साधनासे भी संसारके प्रलोभन आने लगते हैं। इस अवस्थामें खूब सावधान रहना चाहिये।

१३-अभ्यासीसे प्रथम तो पाप होते ही नहीं। यदि प्रमादवश कोई हो भी जाता है तो तीव्र अभ्यासरूप अग्निमें तुरंत भस्म हो जाता है।

१४-सत्संग करे और अभ्यास न करे तो क्या लाभ है? जैसे कोई रामायण तो पढ़े, किंतु रामभक्त न हो अथवा श्रीमद्भागवतका पारायण करते हुए भी श्रीकृष्णचन्द्रका अनुयायी न हो।

१५-श्रद्धा, तत्परता और जितेन्द्रियता—इनमेंसे एकके भी अभावमें इष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव लक्ष्यकी सिद्धिके लिये तीनोंकी ही आवश्यकता है।

१६-सीखनेकी वस्तु भजन ही है, ब्रह्मविचार नहीं। विचार तो भजनके फलरूप स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। जो भजन करता है उसे कालान्तर या जन्मान्तरमें विचार हो ही जायगा। अत: विचारके लिये भजन नहीं छोड़ना चाहिये।

१७-मैंने महाराष्ट्र प्रान्तके एक बहुत बड़े विद्वान्से पूछा—'पण्डितजी! आपने तो शास्त्रका पूर्ण अध्ययन किया है, कुछ अपना अनुभव बताइये।' इसपर पण्डितजीने कहा—'निरन्तर अभ्यास करते रहने और पूर्णतया वासनारहित होनेपर ही अनुभव होता है; केवल शास्त्र पढ़ लेनेसे कुछ नहीं होता। जबतक वासना है, चित्तमें शान्ति आ नहीं सकती। वासनाका नाश होते ही चित्तमें शान्तिका उदय होगा। वासनारहित चित्त ही परमतत्त्वके चिन्तनका अधिकारी है।'

१८-पढ़ने-पढ़ानेसे कुछ नहीं होता। यह तो एक कला है, इसका ईश्वरसे सम्बन्ध नहीं है। यह जरूर है कि जडवादियोंकी अपेक्षा तो शास्त्र पढ़ने-पढ़ानेवालोंका जीवन भी अच्छा है। कम-से-कम शुभ संस्कार ही पड़ते हैं। इसीलिये शास्त्रकारोंने अभ्यासपर बहुत जोर दिया है। अभ्यास करो, इसीसे सफलता होगी। निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे ही परमतत्त्वकी उपलब्धि होती है। वासनायुक्त जीवनसे अभ्यास नहीं हो सकता। अत: आवश्यकता है—सबसे पहले वासना-त्याग करनेकी।

१९-मरनेके पश्चात् तो कुत्ते भी शान्त हो जाते हैं। हमें तो इस जीवनमें ही अन्तिम तत्त्व, अन्तिम पदकी प्राप्ति करनी है। अत: जीवन्मुक्त होनेके लिये निरन्तर अभ्यास करते रहो। यह जरूर है कि तुम्हें नित्य-प्रतिके अभ्यासमें, इस संघर्षमय नियन्त्रणमें कठिनाई होगी, बड़ी-बड़ी असुविधाओंका सामना करना होगा और उस समय तुम्हें सावधान रहना होगा।

२०-जिज्ञासु दो प्रकारके होते हैं—कृतोपास्ति और अकृतोपास्ति। कृतोपास्तिको ज्ञान होते ही दृढ़ हो जाता है, पर अकृतोपास्तिको दृढ़ नहीं होता। अत: उसे दृढ़ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अवश्य अभ्यास करना चाहिये।

२१-ध्यान स्थूल वस्तुओंके त्यागको कहते हैं। ईश्वर सूक्ष्म है और सूक्ष्म ही सूक्ष्मको प्राप्त कर सकता है। चित्त समाधिमें जानेसे सूक्ष्म हो जाता है। अत: ईश्वरप्राप्तिके लिये समाधि अवश्य करनी चाहिये।

२२-आनन्द लखनेसे होता है, सुनने-सुनानेसे नहीं होता। एक संतने कहा है—

सुनत-सुनत सो सुनि परे, बकत-बकत बकि जाय।
लखत-लखत सो लखि परे, उर आनन्द न समाय॥

२३-जबतक मनोराज्य हो; तबतक ज्ञानीको निरन्तर ब्रह्माकार-वृत्ति करते रहना चाहिये। जब मनोराज्य होना

बंद हो जाय तब उनका कोई कर्तव्य नहीं रहता।

२४-स्वरूप-बोध हो जानेपर जगत्को स्वसत्तासे अभिन्न अनुभव करे। यदि प्रपञ्चकी भिन्न सत्ता रहेगी तो उससे असंगता और उसका अत्यन्ताभाव नहीं हो सकेगा। अब उसके त्यागकी आवश्यकता नहीं है, उसे स्वसत्तासे अभिन्न देखता रहे। त्यागकी आवश्यकता तो उपासकको होती है, क्योंकि इष्टाकार-वृत्तिके लिये अन्यका त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

२५-संसारमें प्रथम तो वैराग्य होना ही कठिन है। यदि वैराग्य हो भी गया तो कर्मकाण्डका छूटना कठिन है। यदि कर्मकाण्डसे छुटकारा मिल गया तो काम-क्रोधादिसे छूटकर दैवी सम्पत्ति प्राप्त करना कठिन है। यदि दैवी सम्पत्ति भी आ गयी तो भी सद्गुरुका मिलना कठिन है। यदि सद्गुरु भी मिल जाय तो भी उनके वाक्यमें श्रद्धा होकर ज्ञान होना कठिन है। और यदि ज्ञान भी हो जाय तो भी ब्रह्माकार-वृत्तिका स्थिर रहना कठिन है। यह स्थिति तो केवल भगवत्कृपासे ही होती है, इसका कोई अन्य साधन नहीं है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० २१। ६)

२६-विषयकी शक्ति महान् है। यह ज्ञानी, भक्त और विद्वान्में भी क्षोभ उत्पन्न कर देता है। अत: विषयचिन्तन नहीं करना चाहिये। जो पुरुष इन्द्रियारामी होता है, उसका चित्त विषयोंमें आसक्त हो जाता है। अत: मैं तुझे सिद्धान्तकी बात बताता हूँ। तू विषयोंको जीतनेके लिये दृढ़ रह और सर्वदा विषयोंकी ओरसे सावधानी रख। इसके लिये दो ही बातें हैं—

(१) भगवदाकार-वृत्ति सर्वदा करता रहे।

(२) विषयोंसे सर्वदा वैराग्य रखे। विषयोंका आना तो प्रारब्धाधीन है, परंतु उन्हें भोगना अविचार या विषयासक्ति ही है।

२७-चित्तको देखते रहना चाहिये। जबतक भगवदाकार-वृत्ति नहीं होती, तबतक चित्तको कोई देख नहीं सकता। मन तो एक ही है। जब मन जपादिमें रहेगा तो कुछ ही दिनोंमें विषयासक्ति चित्तसे निकल जायगी, कारण कि एक मन तो एक ही जगह रह सकता है। गोपियोंने भी कहा था—*'ऊधो, मन न भये दस बीस'*।

२८-भगवदाकार-वृत्तिका अभ्यास साधक तो करता ही है, सिद्धकी शोभा भी इसे करते रहनेमें ही है। संयमसे तो दो-चार इन्द्रियोंके विषयोंका राग छूट सकता है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंका राग तो बिना भगवद्विग्रह या भगवत्स्वरूपसे राग हुए नहीं जा सकता।

२९-देखो, यह अभ्यासका ही प्रभाव है कि माँ-बहिनके समीप रहनेपर भी उनमें कामभाव नहीं होता; क्योंकि उनमें माँ-बहिनकी भावना दृढ़ हो जाती है। किंतु यदि परिचय न हो और साक्षात् अपनी बहिन या लड़की मिल जाय तब भी चित्तमें कामभाव आ सकता है, कारण कि उनमें बहिन या पुत्रीकी भावना दृढ़ नहीं हुई।

३०-जबतक दृढ़ता अर्थात् निष्ठा न हो, तबतक निदिध्यासन अर्थात् ध्यान करनेकी आवश्यकता है। जिस तरह विद्यार्थी पाठशालामें पढ़े हुए अपने पाठको यदि बार-बार नहीं दुहराता तो सफल नहीं हो सकता।

३१-चाहे आँखें खुली रखो, चाहे बंद, आवश्यकता है चेष्टाशून्य हो जानेकी। इस अभ्याससे सारी बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। अपने नित्यप्रतिके लौकिक अथवा पारमार्थिक कार्योंमें भी नियमनिष्ठासे काम लेना चाहिये। भोजन दोनों समय करो, परंतु आहार थोड़ा होना चाहिये।

३२-जबतक विचारका उदय नहीं होता, तबतक तो जिज्ञासुके लिये ज्ञान ही बड़ा है, किंतु ज्ञान हो जानेपर आत्मामें आसक्ति होना ही बड़ी बात है।

[श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश]

जो मनुष्य संसारको नाशवान् और भगवान्को सदाका साथी समझकर चलता है, वही उत्तम गति पाता है। जो नाशवान् चीजोंका मोह छोड़कर, संसारका भार प्रभुपर छोड़कर, भाररहित हो जाता है, वह सहज ही संसार-सागरसे तर जाता है।

धन्य हैं वे, जो नम्र हैं!

(पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

भगवती श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईश० उप० १)

अर्थात्—

अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है।

श्रीरामचरितमानसमें वर्णित है—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(मानस १। ७ (ग))

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(मानस १। ८। २)

धर्मग्रन्थोंके इन वचनोंका अभिप्राय क्या है?

यही कि सारा जगत् ईश्वरसे आच्छादित है। सर्वत्र उसीका विस्तार है। कण-कणमें, घट-घटमें उसीकी सत्ता जगमगा रही है।

पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु, वृक्ष, लता, पर्वत, सागर—सब हरिका ही रूप है। सब उसीका शरीर है।

जो व्यक्ति जड-चेतनमें, घट-घटमें, विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, गौ, कुत्ता, चींटी—सबमें उस परमात्माकी झाँकी देखता है, वही भक्त है, वही ज्ञानी है और वही समदर्शी है। जो प्रकृतिके कण-कणमें तथा प्रत्येक प्राणीके भीतर श्रीरामको देखता है, उसीका देखना यथार्थ है।

जब सर्वत्र सबमें श्रीराम ही रम रहे हैं तो कौन वन्दनीय नहीं है? कौन प्रणम्य नहीं है?

× × ×

वैदिक धर्म ही नम्रताका आदेश देता हो, ऐसी बात नहीं। सभी धर्म नम्रतापर जोर देते हैं। सभी धर्म मनुष्यसे यह अपेक्षा रखते हैं कि वह अहंकार न करे, घमंड न करे, ऐंठकर न बोले, अकड़कर न चले, अपनेको दूसरोंसे ऊँचा न समझे, अपने तन, मन, वचन और व्यवहारपर नियन्त्रण रखे, अंकुश रखे, झुककर चले, मीठा बोले और सद्व्यवहार करे।

× × ×

रामकृष्ण परमहंस।

चले जाते मेहतरोंके झोपड़ोंमें और वहाँ झाड़ू लगाने लगते।

कालीवाड़ीमें भिखारियोंकी जूठी पत्तलें उठाकर सिरपर रख लेते और उन्हें नदीमें फेंक आते।

क्यों?

नम्रताकी साधनाके लिये। अहंकारके निरसनके लिये। घमंडको, ब्राह्मणत्वके घमंडको दूर करनेके लिये। प्रभुके चरणारविन्दोंको खोजनेके लिये।

रवि बाबूने—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने 'गीताञ्जलि'में बताया है न उनका ठिकाना—

जे थाय थाके सवार अधम,
दीनेर हते दीन,
सेइखाने जे चरन तोमार राजे
सवार निचे, सवार पिछे, सब हारादेर माझे!

'जहाँ रहते हैं नीच-से-नीच, दीन-से-दीन, सबके पीछे रहनेवाले, सब कुछ खोये हुए—सर्वहारालोग—वहींपर विराजते हैं प्रभुके श्रीचरण!'

× × ×

'नंगे पैर क्यों चलते हो?'—बशर हाफीसे प्रश्न किया किसीने।

नंगे पैर चलनेसे ही उनका नाम पड़ गया था—'हाफी'।

बोले—'अल्लाहने कहा है कि मैंने इन्सानके लिये जमीनका फर्श बिछाया है। बादशाहके फर्शपर जूते पहनकर चलनेकी हिमाकत करनेवाला मैं कौन?'

पैर फैलाकर भी हाफी न बैठते—कहते—'दरबारमें भला कोई पैर फैलाकर बैठता है?'

जमीनपर थूकनेसे भी इस सूफी फकीरको परहेज था—'कितनी बुरी बात! खुदाके बिछाये फर्शपर थूकना!'

× × ×

चैतन्य महाप्रभु।

परम वैष्णव! हरिके परम भक्त।

एक जमाना था, जब पण्डितोंको शास्त्रार्थमें हरानेमें उन्हें बड़ा आनन्द आता था, पर जबसे भक्तिका चस्का लगा, तबसे वे बन गये नम्रताके अवतार!

हर एकसे कहते—'भैया! कीर्तन करो। भगवान्‌का कीर्तन करो, रात-दिन उसीमें लगे रहो।'

और कहते—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

(शिक्षाष्टक ३)

नम्र बन जाओ—तिनकेसे भी नम्र।

सहिष्णु बन जाओ—वृक्षोंकी तरह। आँधी, तूफान, गर्मी, सर्दी तुमपर कुछ असर न करे।

मान दो उन्हें, जिन्हें कोई मान नहीं देता। जिन्हें सब दुतकारते हैं, उनका भी तुम सम्मान करो।

तब तुम्हारा कीर्तन, हरिस्मरण सफल होगा।

× × ×

रहीम, उदारताकी मूर्ति।

दीनोंको अपनी दौलत लुटानेमें सिद्धहस्त।

पूछा किसीने—'खानखाना! दान भी देते हो और आँखें भी नीची? ऐसा क्यों?'

बोले—

देनहार कोउ और है भेजत सो दिन रैन।
लोग भरम हमपर धरैं यातें नीचे नैन॥

'भैया! देनेवाला तो कोई और है, वही रात-दिन भेजा करता है। लोग भ्रमवश यह समझते हैं कि मैं ही देता हूँ। इसीसे मेरी आँखें नीची रहती हैं।'

सचमुच दाता दान देते समय और नीचे झुक जाते हैं, जैसे फलोंसे लदे वृक्ष।

× × ×

वृन्दावनके स्वामी नारायणदास (२० अप्रैल १८८०—२३ जून १९६१) जब साधनाकालमें कुछ महीने लखनऊ ठहरे थे, तब उनका यह नियम था कि शामको गोमतीके तटपर जो भी मिल जाता—हिंदू हो या मुसलमान, सिख हो या ईसाई, ब्राह्मण हो या शूद्र—सबके पैर छूते-छूते घर लौटते।

अधीनताकी—नम्रताकी उनकी साधना यही थी।

× × ×

कबीरकी नम्रताका खाका कैसा बढ़िया है!

कहते हैं वे—

रोड़ा होइ रह बाट का तजि आपा अभिमान।
लोभ मोह तृष्णा तजै ताहि मिलै भगवान॥

आपा, अभिमान, लोभ, मोह, तृष्णा छोड़कर रोड़ा होकर रास्तेमें जा पड़। चाहे जो आकर तुझे ठोकर लगाकर चला जाय। तू रत्तीभर परवाह न कर।

यह है साधुकी, साधककी सहज स्थिति। कोई विशेषता नहीं, कोई अलगाव नहीं। कोई विशिष्ट घरौंदा नहीं।

परम सहज जीवन।

× × ×

'**भिक्षां देहि**' की फेरी लगाना भी एक कसौटी है नम्रताकी। कोई भीख देता है, कोई नहीं।

कोई गालियाँ देता है। जली-कटी सुनाता है। कहता है—'काम नहीं करता। आ गया है मानो हुंडी भुनाने। भागता है कि करूँ मरम्मत…'

भिक्षुक तो सभीको आशीष देता है, जो भीख दे उसे भी, न दे उसे भी—

भीख दे या न दे सखी तेरी खुशी,
हाथ दोनों उठाकर दुआ कर चले।

× × ×

सूफी संत जुनैदके पास साधनाका एक उम्मीदवार पहुँचा। नाम था उसका शिवली।

शिष्यको कसौटीपर कसकर ही संत दीक्षा देते हैं। शिवली पूछने लगा—क्या करूँ उस्ताद?

बोले—जा, गंधक बेच।

शिवली सालभर गंधक बेचता रहा।

'अब?'

बोले—अब दरवेश हो जा। भीख माँग।

शिवली सालभर भीख माँगता रहा।

जुनैद बोले—अब तू लोगोंकी दृष्टिमें कुछ नहीं रहा। कभी भी अपने मनको लोगोंकी ओर न ले जा और न किसी बातपर ध्यान दे।

अभीतक तूने जिन लोगोंका बुरा किया है, उनसे क्षमा माँग आ।

क्षमा माँगकर लौटनेपर जुनैदने शिवलीसे कहा—तेरे

मनमें अब भी नामवरीकी कुछ कामना शेष है। जा एक साल और भीख माँग।

शिवली रोज भीख माँगकर लाता। जुनैद उसे गरीबोंको बाँट देते और शिवलीको दूसरे दिन सबेरेतक भूखा रखते।

सालभर बाद उन्होंने इस शर्तपर शिवलीको शिष्य बनाना स्वीकार किया कि वह दूसरोंकी सेवा करे, सबकी सेवा करे।

सालभर बाद फिर पूछा—'अब तू क्या सोचता है अपने विषयमें?' शिवलीने कहा—अल्लाहने जितने जानदार प्राणी पैदा किये हैं, मैं अपनेको उन सबसे हकीर, तुच्छ समझता हूँ।

'शाबाश! अब हुआ तेरा ईमान पक्का!'

× × ×

बरफी जहाँसे तोड़िये, मीठी ही निकलेगी।

नम्रताकी हर प्रक्रिया मीठी, प्रेरक और लुभावनी होती है। धन्य हैं वे, जो नम्र हैं!

पर यह नम्रता अपने उपनाममें खादिम, खाकसार, नम्र, सेवक, विनीत आदि जोड़ लेनेसे नहीं आती। इसके लिये हृदयसे नम्र बनना पड़ता है, शून्य बनना पड़ता है।

जबतक मनुष्य अपनेको कुछ समझता है, जबतक उसके मनमें विद्या और बुद्धिका, धन और सम्पत्तिका, पद और प्रतिष्ठाका—किसी भी वस्तुका अहंकार है, घमंड है, गर्व है, गौरव है, तबतक नम्रता कहाँ?

बड़ी दुर्लभ वस्तु है नम्रता।
उसके लिये चाहिये त्याग और तपस्या।
उसके लिये चाहिये सेवा और उदारता।
उसके लिये चाहिये कष्ट-सहिष्णुता।
उसके लिये चाहिये इन्द्रिय-संयम और मनपर काबू।

पग-पगपर, कदम-कदमपर बाधाएँ आयेंगी। उनपर विजय प्राप्त करनेसे ही नम्रताकी प्राप्ति हो सकेगी।
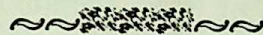
अमृत-घट छलकाती गौ माता!

(डॉ० श्रीमहेन्द्रजी मधुकर, एम्०ए० (द्वय), पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

हरे हरे तिनकोंपर अमृत-घट छलकाती गौ माता।
जब-जब कृष्ण बजाते मुरली लाड़ लड़ाती गौ माता॥
तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो, पृथ्वी-सा सब सहती हो,
मोक्ष न चाहे ऐसे बंधनमें बँधकर तुम रहती हो।
प्यासे जगमें सदा दूधकी नदी बहाती गौ माता,
जब-जब कृष्ण०॥
दो शृंग तुम्हारे मस्तकपर जैसे पर्वतके शिखर तने,
रोम-रोममें देव विराजें, अङ्ग-अङ्ग हैं तीर्थ बने।
ग्रीवाकी घंटी बजा-बजा क्रीडा कर जाती गौ माता,
जब-जब कृष्ण०॥
रुनुक झुनुक कर छोटा बछड़ा दौड़ रहा आँगन-आँगन,
पूँछ उठाए हाँफ रहा है, कभी छू रहा माँका थन।
सूँघ रही है, चाट रही है, हृदय जुड़ाती गौ माता,
जब-जब कृष्ण०॥
दूध पुकार रहा है तेरा आज दूधकी लाज रहे,
अब न कहीं गो-वध हो यह संकल्प, न तेरा रक्त बहे।
अश्रु भरी आँखोंसे मौन पुकार लगाती गौ माता,
जब-जब कृष्ण बजाते मुरली लाड़ लड़ाती गौ माता॥

धर्मशास्त्रका इतिहास

[धर्मशास्त्रके विषय]

(पद्मभूषण आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

[गताङ्क० पृ०-सं० ७७३ से आगे]

(३) स्मृतियोंके टीकाकार

स्मृतियोंमें मनुस्मृतिके तीन प्रसिद्ध टीकाकार हैं—(१) मेधातिथि, (२) गोविन्दराज, (३) कुल्लूकभट्ट। इनमें मेधातिथि प्राचीन टीकाकार हैं। इनका समय लगभग नवम शतीका आरम्भ है। दूसरे टीकाकार गोविन्दराजका समय ११वीं शतीके आस-पास है। तीसरे टीकाकार कुल्लूकभट्टकी टीकाका नाम मन्वर्थमुक्तावली है। इस टीकामें राजा भोज, गोविन्दराज, कल्पतरुकी चर्चा है, अत: वे ११५० ई०के परवर्ती ही होंगे। उन्होंने अपने विषयमें लिखा है कि वे बंगालके वारेन्द्रकुलमें भट्ट दिनकरके पुत्र थे।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके टीकाकारोंमें विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क और शूलपाणि प्रसिद्ध हैं। इनमें विश्वरूपकी टीकाका नाम 'बालक्रीडा' है। इसमें आचार एवं प्रायश्चित्तसे सम्बद्ध-विषयका सविस्तर वर्णन है। इस टीकामें विश्वरूप पूर्वमीमांसाके समर्थक प्रतीत होते हैं, किंतु दार्शनिक मतमें ये शंकराचार्यसे प्रभावित हैं। विश्वरूपने कुमारिलके श्लोकवार्तिकका उद्धरण दिया है और मिताक्षराने उन्हें एक प्रामाणिक भाष्यकार ही स्वीकार किया है, अत: उनका समय ७५० ई० से १००० ई० के बीच पड़ता है। संक्षेपमें शंकरजयमें विश्वरूप शांकरभाष्यके दो वार्तिकोंके लेखक कहे गये हैं, अत: उनका समय शंकरके बाद ८००—८२५ ई० सिद्ध होता है।

विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्यस्मृतिकी प्रसिद्ध टीका 'मिताक्षरा'के लेखक हैं। विज्ञानेश्वरने मिताक्षरामें अपनेसे पूर्वके प्रचलित मतोंके सारतत्त्वको ग्रहण किया है। आजके भारतीय व्यवहार (कानून)-में मिताक्षराका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रसिद्ध टीकाके अनेक भाष्यकार हैं, जिनमें विश्वेश्वर, नन्दपण्डित एवं बालम्भट्ट प्रसिद्ध हैं। मिताक्षरामें विश्वरूप, मेधातिथि एवं धारेश्वरके नाम आये हैं, अत: यह १०५० ई० के बादकी रचना है। देवण्णभट्टकृत स्मृतिचन्द्रिका (१२००ई०)-में मिताक्षराके सिद्धान्तोंकी आलोचना हुई है और लक्ष्मीधरकृत कल्पतरु (१२०० ई०)-में विज्ञानेश्वरका उल्लेख है, अत: विज्ञानेश्वरका समय १०७०—११०० ई० के बीच माना गया है।

अपरार्क याज्ञवल्क्यस्मृतिके तीसरे टीकाकार हैं, जिनकी टीकाका नाम 'अपरार्क-याज्ञवल्क्य-शास्त्र-निबन्ध' है। अपरार्कका समय ११००—१२०० ई० के मध्यमें सिद्ध होता है।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके चौथे टीकाकार शूलपाणि हैं, जिनकी टीकाका नाम 'दीपकलिका' है। इसमें कल्पतरु, मिताक्षरा, मेधातिथि एवं विश्वरूपके मतोंका उल्लेख है। इस टीकाके अतिरिक्त उनका एक अन्य धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ है 'स्मृतिविवेक'।

पराशरस्मृतिके टीकाकार दाक्षिणात्य माधवाचार्य हैं। इनकी टीकाका नाम 'पराशरमाधवीय' है। यह पराशरस्मृतिका भाष्य ही नहीं, प्रत्युत आचार-सम्बन्धी निबन्ध भी है। दक्षिण भारतके व्यवहारोंमें पराशरमाधवीयका अत्यधिक महत्त्व है। माधवाचार्य यजुर्वेदीय बौधायन चरणके भारद्वाजगोत्रके ब्राह्मण थे। ये वेदोंके भाष्यकार सायणके ज्येष्ठ भ्राता थे। संन्यासग्रहणके बाद माधव विद्यारण्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। इनका समय निर्विवादरूपसे १४ वीं शती माना जाता है।

नारदस्मृतिके टीकाकारका नाम 'असहाय' है। प्राप्त विवरणोंके अनुसार असहायने गौतमधर्मसूत्र तथा मनुस्मृतिपर भी टीकाएँ लिखी थीं। विश्वरूप एवं मेधातिथिने असहायका उल्लेख किया है, अत: असहाय कम-से-कम ७५० ई० से पूर्व हो चुके थे।

(४) निबन्ध-ग्रन्थ और निबन्धकार

मध्यकालमें अनेक विद्वानोंने धर्मशास्त्रीय—व्यवस्थाकी मर्यादा सुस्थिर करनेके लिये तथा धर्मशास्त्रीय निर्णयोंको और अधिक स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे अनेक निबन्ध-ग्रन्थोंका प्रणयन किया, जो मूलत: धर्मसूत्रों, स्मृतियों, पुराणों तथा

महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थोंके वचनोंपर आधारित हैं। इन निबन्ध-ग्रन्थोंमें उपर्युक्त आर्ष ग्रन्थोंमें आये विविध विषयोंका एकत्र संग्रह करके उसकी मीमांसा भी हुई है, जैसे श्राद्धपर सभी स्मृतियों तथा पुराणों आदिमें लम्बे प्रकरण आये हैं, उन सभी प्रकरणोंको निबन्धकारोंने अपने ग्रन्थमें एकत्र संग्रह कर दिया है। इससे यह सुविधा होती है कि सभी ग्रन्थोंकी बातें एक ग्रन्थमें ही देखनेको मिल जाती हैं। इस प्रकारसे श्राद्धप्रकाश, श्राद्धकाण्ड, दानकाण्ड, व्यवहारमयूख आदि स्वतन्त्र प्रकरणके ग्रन्थ प्रकाशमें आ गये। ये ही निबन्धग्रन्थ कहलाते हैं। महत्त्वकी दृष्टिसे ये मूल ग्रन्थोंसे किसी प्रकार कम नहीं हैं। इनके रचनाकार भी धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदिके प्रकाण्ड पण्डित थे। कई राज्याश्रयोंमें यह पण्डित-परम्परा पल्लवित-पुष्पित हुई। काशी, मिथिला तथा बंगालमें अनेक निबन्धकारोंने निबन्धग्रन्थोंकी रचना की। दाक्षिणात्य निबन्धग्रन्थोंकी परम्परा भी अत्यन्त गौरवशालिनी रही है। कुछ प्रमुख निबन्धकारों तथा उनके निबन्धग्रन्थोंका यहाँपर अत्यल्प विवरण दिया जा रहा है।

काशी, मिथिला तथा बंगालके धर्मशास्त्री

काशीके धर्मशास्त्री—(१) नारायणभट्ट—मध्ययुगमें काशीमें नारायणभट्टका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। ये महाराष्ट्रसे काशीमें आये थे। अपनी विद्वत्तासे ये जगद्गुरुकी उपाधिसे विभूषित हुए। इनका जन्म-समय १५१३ ई० है। इनके धर्मशास्त्रविषयक तीन ग्रन्थ हैं—अन्त्येष्टिपद्धति, प्रयोगरत्न तथा त्रिस्थलीसेतु।

(२) कमलाकरभट्ट—नारायणभट्टके पौत्र कमलाकरभट्ट उद्भट विद्वान् थे। इन्होंने लगभग २२ ग्रन्थोंकी रचना की है, जिनमें निर्णयसिन्धु, दानकमलाकर, व्रतकमलाकर, गोत्रप्रवरदर्पण, कर्मविपाकरत्न आदि मुख्य हैं। इनके ग्रन्थोंकी रचनाका समय १६१० ई० से १६४० ई० माना जाता है।

(३) नन्दपण्डित—ये बनारसके प्रसिद्ध धर्मशास्त्री थे, इन्होंने विष्णुधर्मसूत्रपर वैजयन्ती टीका तथा पराशरस्मृतिपर विद्वन्मनोहरा नामक उच्चकोटिकी टीका लिखी है। 'दत्तकमीमांसा' इनका मुख्य ग्रन्थ है।

(४) नीलकण्ठभट्ट—नीलकण्ठभट्ट नारायणभट्टके पौत्र एवं शंकरभट्टके पुत्र थे। इनके द्वारा लिखित निबन्धग्रन्थका नाम है—'भगवन्तभास्कर'। इसमें संस्कार, आचार-काल, श्राद्ध-नीति तथा व्यवहार आदि १२ प्रकरण हैं।

(५) नागोजिभट्ट—नागोजिभट्ट काशीके ही गौरव थे। इनके ग्रन्थोंमें आचारेन्दुशेखर, तिथीन्दुशेखर, तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, सापिण्ड्यदीपक आदि उल्लेखनीय हैं। इनका समय १८ वीं शतीका मध्य है।

मिथिलाके धर्मशास्त्री

(१) श्रीदत्त उपाध्याय—मध्ययुगीन, मैथिल धर्मशास्त्रीय निबन्धकारोंमें श्रीदत्त उपाध्याय अति प्राचीन हैं। इन्होंने आचारादर्श, छन्दोगाह्निक, समयप्रदीप तथा श्राद्धकल्प आदि अनेक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थोंकी रचना की। इनका समय १४ वीं शतीका प्रथम चरण माना जाता है।

(२) चण्डेश्वर—चण्डेश्वरद्वारा लिखित स्मृतिरत्नाकर एक विस्तृत निबन्धग्रन्थ है। जिसमें कृत्य, दान, व्यवहार, शुद्धि, पूजा, विवाह तथा गृहस्थ नामक सात अध्याय हैं। इसी प्रकार कृत्यचिन्तामणि, दानवाक्यावलि आदि भी इनके अनेक ग्रन्थ हैं। इनका समय भी १४ वीं शतीका प्रथम चरण है।

(३) हरिनाथ—इन्होंने स्मृतिसार नामक निबन्धग्रन्थका प्रणयन किया है।

(४) रुद्रधर—रुद्रधर मिथिलाके प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार रहे हैं, इनका समय १५ वीं शती है। इनके मुख्य ग्रन्थ हैं—शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक तथा पर्वकृत्य।

(५) मिसरु मिश्र—मिसरु मिश्रका विवादचन्द्र नामक प्रसिद्ध निबन्धग्रन्थ है। इनका समय १५ वीं शतीका मध्य भाग है।

(६) वाचस्पति मिश्र—इनका 'व्यवहार-चिन्तामणि' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इनके चिन्तामणि नामवाले ११ ग्रन्थोंका संकेत मिलता है, यथा—आचारचिन्तामणि, आह्निक चिन्तामणि, शुद्धिचिन्तामणि, कृत्यचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि आदि। इसके साथ ही तिथिनिर्णय, द्वैतनिर्णय, शुद्धिनिर्णय, कृत्यमहार्णव, आचारमहार्णव, व्यवहारमहार्णव तथा दानमहार्णव आदि भी इनके अनेक ग्रन्थ हैं।

बंगालके धर्मशास्त्री

(१) जीमूतवाहन—बंगालके धर्मशास्त्रकारोंमें जीमूतवाहनका विशेष स्थान है। इनका मुख्य ग्रन्थ है 'धर्मरत्न', जिसके तीन भाग हैं—कालविवेक, व्यवहारमातृका और दायभाग। दायभागमें हिन्दू कानूनोंका वर्णन है। इनका समय लगभग १२ वीं शती है।

(२) अनिरुद्ध—'हारलता' और 'पितृदयिता' अनिरुद्धके दो प्रसिद्ध निबन्धग्रन्थ हैं। इनमें विशेषरूपसे आचार एवं श्राद्धका वर्णन है।

(३) वल्लालसेन—वल्लालसेन बंगालके राजा थे। इनका 'दानसागर' प्रसिद्ध ग्रन्थ है, साथ ही आचारसागर, प्रतिष्ठासागर तथा अद्भुतसागर भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

(४) शूलपाणि—शूलपाणिने याज्ञवल्क्यस्मृतिकी टीका 'दीपकलिका' के अतिरिक्त एकादशीविवेक, तिथिविवेक, दत्तकविवेक, प्रायश्चित्तविवेक, दुर्गोत्सवविवेक, कालविवेक, श्राद्धविवेक तथा शुद्धिविवेक आदि कई ग्रन्थ रचे हैं, इन सभी विवेकग्रन्थोंका सम्मिलित नाम 'स्मृतिविवेक' है। इनका समय १३७५ ई० से १४६० ई० के मध्य है।

(५) रघुनन्दन—रघुनन्दन बंगालके प्रौढ धर्मशास्त्रकार थे। उन्होंने 'स्मृतितत्त्व' नामक बृहद्ग्रन्थका प्रणयन किया। इस ग्रन्थमें २८ तत्त्वोंका वर्णन है। इसके अतिरिक्त इन्होंने गयाश्राद्धपद्धति, रासयात्रापद्धति आदि ग्रन्थ लिखे हैं। इनका समय १४९०—१५७०ई०के मध्य है।

(६) जगन्नाथ तर्क-पंचानन—बंगालके धर्मशास्त्रकारोंमें जगन्नाथ तर्क-पंचानन सम्भवतः अन्तिम धर्मशास्त्रकार हैं। इन्होंने विवादभगार्णव नामक ग्रन्थ लिखा है। इनका समय १७ वीं शतीका उत्तरार्ध है।

अन्य निबन्धकार

निबन्धकारों एवं निबन्धग्रन्थोंकी बहुत लम्बी परम्परा है। सबका समायोजन अति कठिन है। भारतमें सभी क्षेत्रोंमें ग्रन्थ-लेखन एवं ग्रन्थसंकलनकी परम्परा रही है। अनेक राजा भी बड़े धार्मिक और संस्कृतके अनन्य प्रेमी रहे। उन्होंने दूर-दूरके देशोंसे विद्वानोंको बुलवाकर आदर-मान दिया और उनके सम्पूर्ण व्ययका वहन किया तथा उन्हें ग्रन्थरचनाके लिये प्रेरित किया। इस दृष्टिसे इन राजाओंका भी विशेष गौरव रहा है। कुछ निबन्धकारों और उनके ग्रन्थोंका संक्षिप्त विवरण यहाँ उपन्यस्त किया जा रहा है—

पं०लक्ष्मीधरभट्टका 'कृत्यकल्पतरु' एक ऐसा ही विशाल निबन्धग्रन्थ है जो गृहस्थकाण्ड, श्राद्धकाण्ड, व्यवहारकाण्ड, दानकाण्ड, प्रतिष्ठाकाण्ड तथा मोक्षकाण्ड—इस प्रकारसे अनेक काण्डोंमें विभक्त है। पं०लक्ष्मीधर गहड़वार नरेश गोविन्दचन्दके मन्त्री थे। 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' निबन्धग्रन्थोंकी शृंखलामें विशेष महत्त्वका है, इसके प्रणेता 'हेमाद्रि' हैं। इन्हींके नामसे ग्रन्थकी भी 'हेमाद्रि' यह प्रसिद्धि हो गयी। यह व्रतखण्ड, दानखण्ड, प्रायश्चित्तखण्ड आदि कई खण्डोंमें विभक्त है। हेमाद्रि देवगिरिके यादवराज महादेवके मन्त्री थे।

मुगलसम्राट् अकबरके मन्त्री टोडरमलने 'टोडरानन्द' नामक एक निबन्धग्रन्थ लिखा है। इसमें आचार-व्यवहार, दान, श्राद्ध, विवेक, प्रायश्चित्त आदि कई सौख्य हैं। पूरे ग्रन्थका नाम टोडरानन्द है। मित्रमिश्र 'वीरमित्रोदय' नामक विशाल निबन्धग्रन्थके प्रणेता हैं। यह ग्रन्थ कई प्रकरणोंमें विभक्त है। यथा—परिभाषाप्रकाश, संस्कारप्रकाश, आह्निकप्रकाश, पूजाप्रकाश, राजनीतिप्रकाश, दानप्रकाश, व्रतप्रकाश, लक्षणप्रकाश आदि। मित्रमिश्र महानरेश श्रीवीरसिंहदेवकी राजसभाके अत्यन्त मान्य पण्डित थे। इनका समय १७ वीं शताब्दी है। अनन्तदेव 'स्मृतिकौस्तुभ' ग्रन्थके रचयिता हैं। इस ग्रन्थको उन्होंने अपने आश्रयदाता कूर्माचलनरेश बाजबहादुरचन्दकी स्मृतिमें बनाया था। ऐसे ही 'धर्मसिन्धुसार' भी एक मुख्य ग्रन्थ है। जिसके रचयिता काशीनाथ उपाध्याय हैं। इनका समय १८ वीं शतीका उत्तरार्ध माना जाता है। इन्होंने प्रायश्चित्तेन्दुशेखर नामक एक अन्य ग्रन्थका भी प्रणयन किया। इस प्रकार अनेक निबन्धकारोंने समाजमें धर्मकी सुचारु व्यवस्था हो और सभी लोग धार्मिक निर्णयोंसे अपने धर्म-कर्मका परिज्ञान कर सकें, इस परामर्शको स्थिर करनेकी दृष्टिसे ग्रन्थ-रचना कर महान् उपकार किया है। [समाप्त]

वास्तविक सुन्दरता

(श्रीज्योतिषजी)

सद्‌गुरु-संगतिसे बुद्धि स्वीकार करती है कि जीवनकी सुन्दरता ही वास्तविक सुन्दरता है और जीवन सुन्दर होता है—सेवा, त्याग तथा प्रेमकी पूर्णतासे। हम अपनी अज्ञानतावश इस विनाशी देहको ही अपना स्वरूप मानकर सजाने-सँवारनेमें जुटे हैं। यह सदा न रहनेवाला देह अविनाशी जीवनका साधनमात्र है तथा इस विनाशी देहकी अवधि अविनाशी जीवनके मात्र एक दिन-रातके बराबर है। जीवन जन्म-मृत्युके बीच नहीं है। वास्तविक जीवन तो वहाँ है जहाँ मृत्युकी पहुँच ही नहीं—अर्थात् जीवन शाश्वत है, नाम-रूप सब मिथ्या है।

फिर देहकी सजावटके पीछे पागलपन क्यों?

कोई डॉक्टर बता रहे थे—एक दिन एक व्यक्ति चिकित्सा-कक्षमें आया, उसका चेहरा आधुनिक कृत्रिम पाउडर, वैसिलिन आदिके अत्यधिक प्रयोगसे विकृत हो चुका था। वह सौन्दर्यको पुनः वापस लानेकी चिकित्सा चाह रहा था। डॉक्टरने तुरंत उसे आधुनिक कृत्रिम पाउडर एवं वैसिलिन आदिका प्रयोग बंद करनेकी सलाह दी। फिर कुछ आयुर्वेदिक नुस्खे बताकर चेहरेकी रौनकको वापस लानेकी युक्ति बतायी।

कुछ हदतक तो कृत्रिम पाउडरकी अपेक्षा आयुर्वेदिक नुस्खे ठीक हैं, लेकिन वास्तवमें सब बेकार ही हैं। परमात्माके विधानसे हमें दिन-रातमें मात्र चौबीस घंटेका समय मिला है, जिसमें कुछ नित्य-कर्ममें बीत जाता है, कुछ संसारके कार्य-व्यवहारमें, थोड़ा-सा समय बचता है। बताइये, उसे भी यदि हम देहकी ही सजावट-बनावटमें लगा दें तो जीवनको कब सजा पायेंगे। जीवन तो अधूरा ही रह जायगा और फिर देहकी सुन्दरता तो नहीं चाहते हुए भी एक दिन नष्ट हो ही जायगी। हाथ खाली-का-खाली ही रह जायगा। सम्पूर्ण मानव-जीवन निरर्थक हो जायगा। नश्वरको सजा-सँवारकर हम अविनश्वरको विकृत कर देंगे।

एक बार भगवान् बुद्ध कहींसे गुजर रहे थे, रास्तेमें एक वेश्याका घर आ गया। उस वेश्याने बुद्धको बुलाया। बुद्ध तो भगवान् ठहरे, चाहे जो कोई बुला ले जाय, चले गये। वेश्याने बुद्धसे प्रेमानुरोध किया, बुद्धने उसे रोका और कहा 'आज नहीं, आज मैं आवश्यक कार्यसे जा रहा हूँ, दूसरे दिन वचन देता हूँ, अवश्य ही आ जाऊँगा।' इतना कहनेके बाद उन्होंने एक सुन्दर, आकर्षक, पका हुआ फल उस वेश्याको दे दिया और पुनः कहा—'इस फलको रख लो।' जब मैं वापस आ जाऊँ तब इसे दे देना, बड़ा ही सुन्दर है, बहुत दूर जाना है। कहाँतक ढोता फिरूँगा। बुद्ध चले गये। वेश्याने उसे रख लिया।

कई सप्ताह-बाद बुद्ध जब वापस आये तो वेश्यासे वह सुन्दर फल माँगा। भला पका फल इतने दिनोंतक कैसे रह सकता था? वेश्याने बताया वह तो कई दिन पूर्व ही सड़कर नष्ट हो गया है। बुद्धने उत्तर दिया—'जब वह सुन्दर मोहक फल सड़कर नष्ट हो गया तो तुम्हारे इस आकर्षक, मोहक रूपका क्या मूल्य?' यह भी एक दिन उसी तरह सड़कर नष्ट हो जायगा, देवि! कल्याण इसीमें है कि तुम अब भी अपना मार्ग बदल दो, अन्यथा रोनेके अलावा कुछ हाथ नहीं आयेगा। बादमें पश्चात्ताप न करना पड़े इसलिये पहले ही सँभल जाओ और स्थायी वास्तविक सुन्दरताको चेत लो।'

फिर क्या था बुद्धकी वाणी वेश्याके हृदयमें चुभ गयी। मानो उसकी आँखोंसे एकाएक मोहका पर्दा सरक गया। आँखें खुल गयीं। वह बुद्धके चरणोंमें गिर गयी। उसे अपने कर्मोंपर ग्लानि होने लगी। उसकी आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी। उसे अपने कर्मपर काफी पश्चात्ताप होने लगा। उसने बुद्धसे सन्मार्ग दर्शानेकी याचना की और बुद्धने उसका पथ-प्रदर्शन किया। फिर क्या कहना। बताया जाता है—उसका पतित जीवन सत्संग, सन्मार्ग, सेवा, त्याग एवं प्रेमकी पूर्णतासे पावन हो गया। धन्य-धन्य हो गया। वह पतिता देवी हो गयी। यथार्थ सुन्दरताके ज्ञान होनेपर जीवनमार्ग ही बदल गया। उस वेश्याको अपनी ही पूर्वकी सुन्दरता

अत्यन्त विद्रूप, भयानक और नरकगामी लगने लगी थी। सम्भवत: यह वास्तविक सुन्दरताके आभासमात्रकी परिणति थी। धन्य परमात्मा।

ठीक ही कहा है—

'यादृशी भवितव्यता बुद्धिर्भवति तादृशी।'

अर्थात् जैसी भवितव्यता होती है बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है।

हमारा न जाने कितना समय अनावश्यक सजावट-बनावटमें खर्च हो जाता होगा। इसे यदि सार्थक सजावटमें लगाया जाय तो हमारा जीवन भी सार्थक हो जायगा।

अब यह स्पष्ट है कि हम देहकी सजावट केवल अपने जीवनकी कमीको छिपानेके लिये ही करते हैं। बाह्य आकर्षणोंको जुटाकर जीवनकी कमीको ढकनेका प्रयास करते हैं। लेकिन मेरे आत्मन्! इससे काम नहीं चलेगा। कबतक इस तरहसे अपने-आपको धोखा देते रहेंगे? क्या सोनेके घड़ेमें विष रख देनेसे वह कभी अमृत हो सकेगा? अत: हमें अपनी कमीको दूर करना ही पड़ेगा। हम किसी भी कीमतपर बच नहीं सकते। इसलिये कि हमारे जीवनकी माँग कमी नहीं, अपितु पूर्णता है। अतएव हमें बाह्य आकर्षणोंसे दूर रहकर सेवा, त्याग, परोपकार एवं धर्माचरणसे प्रेमको पूर्ण कर जीवनको आकर्षक एवं पूर्ण बनाना ही होगा।

एक बार स्वामी विवेकानन्द ढीले-ढाले भारतीय वेशमें पदयात्रा कर रहे थे। रास्तेमें कोई विदेशी देखकर हँस पड़ा और कहने लगा—'तुम्हें इतनी भी अक्ल नहीं कि किस वेशमें बाहर चलना चाहिये।' स्वामीजीने उत्तर दिया—'तुम्हारे यहाँ व्यक्तित्वका निर्माण दर्जी करता है और हमारे भारतमें व्यक्तित्वका निर्माण चरित्रसे होता है। वहाँ व्यक्तित्वका कपड़ेसे कोई तालमेल नहीं है। विदेशी निरुत्तर होकर विवेकानन्दजीकी ओर देखता रह गया और अपना-सा मुँह लिये चला गया।

देहको सजानेके लिये वस्तुकी अपेक्षा होती है किंतु जीवनको सजानेके लिये किसी सांसारिक वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती, बल्कि सद्विचारोंमें सुदृढ़ताकी आवश्यकता है। शरीर वस्तुसे सजता है और जीवन सेवा, त्याग और प्रेमसे सजता है। देहकी सुन्दरता नहीं चाहनेपर भी एक दिन कुरूपतामें बदल जाती है, किंतु जीवनकी सुन्दरता जीवनको सदा-सदाके लिये सुन्दर और पूर्ण बना देती है। जीवन तृप्त हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है। जीवनमें प्रेमानन्दकी लहर व्याप्त हो जाती है। इसीलिये गोस्वामीजीने कहा है—

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥

जब जगत् ही सपना है तब जगत्में कोई राजा हो जाय तो कितनी देरके लिये।

आश्चर्य! महान् आश्चर्य! हम स्वयं सुखस्वरूप होकर सुखके पीछे उन्मत्तकी तरह पागल बनकर दौड़ रहे हैं। ***'कस्तूरी कुंडल बसै मृग ढूँढ़ै बन माहिं'।*** अरे भाई जीव तो ईश्वरका अंश है। (अत: स्वयं) वह अविनाशी, चेतन, निर्मल और स्वभावसे ही सुखकी राशि है।—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

इसलिये आत्मसाक्षात्कार कीजिये। अपने-आपमें भगवान्‌को देखिये—अद्वितीय सुखरूप वास्तविक सुन्दरताका दर्शन हो जायगा। क्योंकि—

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा॥

(रा०च०मा० ७। ११८। १-२)

'सोऽहमस्मि' 'वह ब्रह्म मैं हूँ' की यह जो अखण्ड (तैलधारावत् कभी न टूटनेवाली) वृत्ति है, वही (उस ज्ञानदीपककी) परम प्रचण्ड दीपशिखा (लौ) है। (इस प्रकार) जब आत्मानुभवके सुखका सुन्दर प्रकाश फैलता है, तब संसारके मूल भेदरूपी भ्रमका नाश हो जाता है।'

इस प्रकार भ्रमके नाश होनेपर ज्ञानके लौमात्रसे अविद्याके परिवार—मोह आदिका अपार अन्धकार मिट जाता है और वास्तविक सुन्दरताका प्रकाश स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है।

भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय

(श्रीकेशोरामजी अग्रवाल)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

यह श्रीगीताजीका दूसरे अध्यायका ४०वाँ श्लोक है। इसमें भगवत्प्राप्तिके साधन—कर्मयोगकी महिमा कही गयी है।

प्राय: लोगोंकी एक धारणा बनी हुई है कि भगवत्प्राप्ति करनी है तो मनुष्यको कहीं एकान्तमें अथवा जंगलमें जाकर भजन-ध्यान करना चाहिये। गृहस्थ रहते हुए व्यापारिक, सामाजिक कार्य करते हुए भगवत्प्राप्ति असम्भव है। प्राय: ऐसी ही धारणा अर्जुनकी हो गयी थी कि यदि मुझे अपना कल्याण करना है तो युद्ध करनेकी क्या आवश्यकता है। यह युद्ध तो पाप है, कारण, इसमें हमारे वंशजोंकी हत्या होगी। हमारे पितरोंको जल देनेवाला कोई नहीं रहेगा, वर्णसंकरता फैलनेकी सम्भावना हो जायगी। अत: युद्ध-जैसा पाप-कर्म न करके भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करते हुए अपना कल्याण करना ठीक है। (गीता २। ४-५)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको फटकारते हुए (स्वधर्मपालन-के लिये सावधान करते हुए) कहा—'तुम कायर हो' युद्ध करना तुम्हारा कर्तव्य है। युद्ध करते हुए तुम्हारा कल्याण हो सकता है। युद्धरूपी कर्तव्यका त्याग करनेसे तुम्हें पाप लगेगा तथा तुम्हारी अपकीर्ति होगी। अत: जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दु:खमें चित्तपर कोई विकार न लाकर सर्वथा समभाव रखते हुए युद्धरूपी कर्तव्य कर्म करो, जिससे तुम्हारा जन्म-मरण-बन्धनसे पिण्ड छूट जाय। (गीता २। ३८)

कर्म न करना अथवा कर्म करना—ये दोनों ही कल्याण होनेमें विशेष महत्त्व नहीं रखते, विशेषता है समभावकी। यह समभाव सांख्ययोगसे भी प्राप्त हो सकता है तथा कर्मयोगसे भी। सांख्ययोगसे समभाव लानेके लिये श्रीभगवान्ने अर्जुनको दूसरे अध्यायके ११ से ३० श्लोकतकका उपदेश देते हुए कहा शरीरी अथवा देही नित्य है, अविनाशी है। शरीर-देह संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं, नाशवान् हैं। संसार और शरीरको नाशवान् और असत् समझते ही केवल एक आत्माकी ही सत्ता रह जाती है। फिर संसारके पदार्थोंके आने-जानेसे साधकके अन्त:करणमें समता स्वाभाविकरूपसे आ जाती है।

यही समता हम सब व्यावहारिक तथा सामाजिक एवं आजीविका-सम्बन्धी सब कर्म करते हुए भी रख सकते हैं। इसके लिये आवश्यक हैं कि 'हमारा लक्ष्य एकमात्र परमात्मप्राप्तिका हो।'

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
(गीता २। ४१)

इसे समता कहें या निष्कामभाव एक ही बात है। इस निष्कामभावकी महिमा भगवान्ने गीता (२। ४०)-में कही है।

इसकी महिमाका बखान करते हुए भगवान्ने चार बातें विशेषरूपसे कही हैं। एक बात २। ३८में कही है—**'नैवं पापमवाप्स्यसि'** 'समभावसे कर्तव्य-पालन करते हुए तुझे किञ्चिन्मात्र भी पाप कभी नहीं लगेगा अर्थात् तेरा बन्धन नहीं रहेगा।' तीन बातें २। ४० में कही हैं। ये बातें विशेष ध्यान देकर समझनेकी हैं। सबसे पहले कहते हैं, इस साधनके बीजका नाश नहीं होता। जैसे साधकने विचार कर लिया कि मुझे निष्कामभावसे ही कर्तव्य कर्म करने हैं तो इस उद्देश्यका बीज जो अन्त:करणमें पड़ गया, वह अब नष्ट नहीं हो सकता। जैसे सांसारिक खेतीमें बीज बोनेपर वर्षा न होनेसे अथवा अन्य किसी हेतुसे बीज सर्वथा नष्ट हो जाता है, उस प्रकार यह निष्कामभावका उद्देश्य बनाकर बोया गया बीज नष्ट होनेवाला नहीं है, यह तो पनपता रहेगा। दूसरी बात यह है कि **'प्रत्यवायो न विद्यते'** अर्थात् उसे कर्तव्य कर्म न होनेका पाप नहीं लगता तथा कर्तव्य कर्मके होनेमें कोई दोष होनेसे उस दोषसे कोई उलटा फल नहीं आता। उदाहरणके तौरपर जैसे सकाम कर्म करते हुए किसी अनुष्ठानकी विधिमें भूल होनेसे अथवा मन्त्रके उच्चारणमें

गलती होनेसे किसी प्रकारका हानिकर—विपरीत फल निष्कामभावसे कर्म करनेवालेको नहीं प्राप्त होता। तीसरी बात जो सबसे महत्त्वकी है, वह यह है कि हमारा स्थायी निष्कामभाव नहीं भी हुआ है तो भी यदि हम केवल एक छोटा-सा कार्य निष्कामभावसे कर दें तो हमारा कल्याण निश्चित है। समझो एक व्यक्ति प्यासा है, हम उसे एक गिलास जल निष्कामभावसे पिला दें तो यह छोटी-सी क्रिया हमें महान् भयसे मुक्त कर देगी, यानी हमारे जन्म-मरणरूपी बन्धनसे मुक्त कर देगी। हम बड़े-बड़े सकाम अनुष्ठान लाखों रुपये लगाकर, समय लगाकर बड़ा भारी परिश्रम करके करते हैं। वे अनुष्ठान सफल हों अथवा न हों संदेह है तथा उनका फल भी भौतिक उद्देश्य होनेके कारण नाशवान् होता है। हम मनुष्य विवेकशील कहे जाते हैं। मनुष्य होकर हम अपना समय-शक्ति-धन ऐसे सकाम कर्मोंमें लगाते हैं, जिनसे हमें तुच्छ फल मिलता है; परंतु भगवान्ने हमें ऐसा उपाय बताया है कि थोड़ी-सी क्रिया निष्कामभावसे करके हम भगवत्प्राप्ति कर सकते हैं। हम यदि जानकर भी ऐसा नहीं करते हैं तो अपनी बुद्धिकी तुच्छताका ही परिचय देते हैं।

भगवान्ने गीता (२। ४९)-में सकाम कर्म करनेवालोंकी एक प्रकारसे भर्त्सना की है, उन्हें '**कृपणाः**' कहा है, यानी ऐसे पुरुष दयाके पात्र हैं।

भाइयोंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि हम गीताजीके उपर्युक्त श्लोकके भावोंको हृदयंगम करें और अपने जीवनमें लानेका प्रयास करें। यह भाव हमारा कल्याण करनेवाला है। गृहस्थ रहते हुए व्यावहारिक, सामाजिक सब प्रकारके शास्त्रविहित कर्म अपने वर्णाश्रमानुसार करते हुए बहुत सरलतासे भगवत्प्राप्ति कर सकते हैं। भगवत्प्राप्तिके लिये कर्मोंके त्यागकी जरा भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता तो भाव लानेकी है। यह भाव हरेक परिस्थितिमें हम ला सकते हैं। कर्म करनेसे ही हमें अपने सकाम अथवा निष्कामभावका ज्ञान होता है। इसलिये हमें कर्म करनेसे न हिचककर निष्कामभावपूर्वक उन्हें करनेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रायः कर्म न करनेमें शरीरको आराम देनेका भाव रहता है। यह साधकके लिये उचित नहीं। इसलिये भगवान्ने कर्मयोगमें '**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**' कर्म न करनेमें तेरी आसक्ति न हो (गीता २। ४७)। तथा कर्मयोगमें कर्म करना आवश्यक है (गीता ६। ३) आदि कहा है। अतः इन सब बातोंपर ध्यानपूर्वक मनन करके हमें, थोड़ी-सी भी क्रिया निष्कामभावसे हो जाय ऐसा प्रयास करना चाहिये, जिससे हम हमेशाके लिये जन्म-मृत्युसे छुटकारा पा जायँ। मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर परमानन्दको प्राप्त होना है। यह लक्ष्य बहुत सुगमतासे व्यावहारिक जीवनमें हम निष्कामभावद्वारा प्राप्त कर सकते हैं।

जौ मुरली नन्दलाल बजाई

रूखनते। रस चूवन लाग
झरैं झरना गिरिते सुखदाई।
घास चुगै न मृगा बनके
खग रीझ रहे धुनि जो सुनि पाई॥
देव गँधार बिलावल सारँग
की रिझकै जिह तान बसाई।
देव सबै मिलि देखत कौतुक
जौ मुरली नन्दलाल बजाई॥

—गुरु गोविन्दसिंहजी

टी० वी० एक घातक व्यसन

(श्रीहरदेवकृष्णजी)

आज सर्वत्र टेलीविजनके दुष्प्रभावका प्रकोप व्याप्त है। भौतिकवादी चकाचौंध एवं विलासी जीवनके दुश्चक्रमें उलझा हुआ मानव मानसिकरूपसे पंगु-सा हो गया है और यही कारण है कि आज प्रत्येक व्यक्ति टेलीविजनको अपने सामाजिक उच्चस्तरीय जीवनका मानक मान बैठा है। परिणामत: किसी घरमें धार्मिक ग्रन्थ चाहे न मिले पर टी० वी० अवश्य मिलेगी। क्योंकि ऐसी धारणा बन गयी है कि जिस घरमें यह बुद्धू बक्सा न हो, वह घर नहीं है और न तो उस घरमें रहनेवाले लोगोंका कोई जीवन-स्तर ही है। डिश एंटिनाकी सहायतासे विदेशी अश्लील कार्यक्रम धड़ल्लेसे देखे जा रहे हैं। सुबहसे लेकर देर राततक इसके कार्यक्रमोंसे समयकी हानि तो हो ही रही है, साथ ही प्राय: स्वास्थ्य भी खराब होता जा रहा है।

यह तो ज्ञात ही है कि टी० वी० पर ज्ञानवर्धक, प्रेरक और सार्थक कार्यक्रमोंका घोर अभाव है। आध्यात्मिक कार्यक्रम तो बिलकुल ही नहीं दिखाये जाते और जो दिखाये जाते हैं, उनमें फिल्मी मसाला डालकर मूल संदेशकी भावना ही लुप्त कर दी जाती है। विदेशी चैनलोंके तर्जपर अपना भारतीय दूरदर्शन भी उत्तेजक और नग्न दृश्य प्रस्तुत करने लगा है। विज्ञापनोंके द्वारा विलासपूर्ण जीवन जीनेकी प्रेरणा दी जाती है। अंडोंका प्रचार-प्रसार बड़ी निर्लज्जताके साथ किया जाता है। दूरदर्शनके माध्यमसे जन-सामान्यको दिग्भ्रमित किया जाता है कि अंडा 'शाकाहार' है, इसका प्राणी नहीं बनता। ज्यादा बहसमें न पड़ते हुए यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि अंडा कैसा भी हो वह बनता तो मुर्गीके रजसे ही है और उसीके मलद्वारसे बाहर आता है, तब तो यह तामसिक ही हुआ। अत: धार्मिक और संयमी व्यक्तिके लिये अंडा खानेकी बात तो दूर, देखना भी पाप है।

उपर्युक्त विज्ञापन इस बातका एक छोटा-सा उदाहरण है कि हमारा दूरदर्शन कैसे समाजकी स्थापना करना चाहता है। मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकारसे दूरदर्शन देखना हानिकारक है। टी० वी० का रूपहला संसार सिवाय भटकनके कुछ नहीं देता। अभी पिछले दिनों समाचार-पत्रोंमें यह खबर छपी थी कि 'बहुत देरतक टी० वी० के कार्यक्रम देखनेवाले बच्चोंमें मिर्गीका रोग अपनी जड़ें जमा चुका है। मस्तिष्क तथा आँखोंपर भी इसका दुष्प्रभाव हो रहा है। इन बच्चोंकी मानसिक क्षमता शून्य होती जा रही है। यही नहीं असंख्य उत्तेजनापरक कार्यक्रमोंको देखनेसे भी इन बच्चोंके भीतर कई तरहके विकार उत्पन्न होने आरम्भ हो चुके हैं।

अत: स्पष्ट है कि टेलीविजन मनुष्यके हर क्षेत्रमें पूर्णतया हस्तक्षेप करता हुआ सम्पूर्ण जीवनको अस्त-व्यस्त करता चला जा रहा है। जन-समाज इस टी० वी० से दुष्प्रभावित होकर बिलकुल दिग्भ्रान्त, किंकर्तव्यविमूढ़, विवेकशून्य, सामाजिक संचेतनाओंसे रहित एवं मानवीय संवेदनाओंसे शून्य होकर अपने कल्याणपरक आवश्यक कर्तव्योंसे पथभ्रष्ट होकर आध्यात्मिकता, धार्मिकता तथा नैतिक सदाचरणोंसे कोसों दूर होता जा रहा है, साथ-ही-साथ उसका मन एवं मस्तिष्क भी खोखला होता जा रहा है। इस प्रकार मानवमात्रकी जो सहज, स्वाभाविक प्रकृतिजन्य जीवन-शैली है, वह प्रतिपल विकृत होती जा रही है, मनुष्य टी० वी० द्वारा विद्युत्-प्रवाहकी तरह यन्त्रवत् संचालित होनेके लिये विवश-सा हो गया है। परिणामस्वरूप सात्त्विकता, आस्तिकता एवं विश्वकल्याणपरक भारतीय संस्कृतिकी अस्मिता खतरेमें पड़ गयी है।

इसलिये हमें विकासवादकी मूलभित्ति—**'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'** से पूर्णत: ओतप्रोत भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करते हुए व्यापक स्तरपर सद्ग्रन्थोंके अध्ययन, सत्संग एवं वैदिक मनीषाके धनी सुधीजनोंके प्रवचनोंसे नित्य-निरन्तर आध्यात्मिक उन्नति करते हुए प्राणिमात्रका जीवन सुखमय एवं शान्तिमय बनाना होगा, तभी विकासका मार्ग पूर्णतया प्रशस्त हो सकेगा और भारतको विश्वके अग्रणी देशोंमें प्रतिष्ठित किया जा सकेगा।

अब जिस माध्यमके इतने विध्वंसकारी कुप्रभाव देखनेमें आते हों, उसे तो घरमें रखना ही नहीं चाहिये। यदि घरकी शोभाके लिये इसे रखा गया हो तो केवल वही कार्यक्रम देखे जायँ जो उपयोगी और स्वस्थ मनोरञ्जनसे परिपूर्ण हों। ऊल-जलूल कार्यक्रम देखना भी एक प्रकारकी मूढ़ता है। इसमें समय नष्ट करनेके बजाय अच्छा यही रहेगा कि हम सद्ग्रन्थोंका अध्ययन करें, भजन-कीर्तनका आनन्द लें, भगवच्चर्चा करें। इस प्रकार शुभका ग्रहण

करते हुए परमपदकी प्राप्तिके लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये और टेलीविजनके विज्ञापनी-अन्धी दौड़से दूर होकर यदि आवश्यक हो तो केवल उन्हीं कार्यक्रमोंको देखें जिससे चारित्रिक उत्थान, समाज-कल्याण, परोपकार, सेवा तथा '**सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय**' समन्वित आध्यात्मिक भावनाओंका विकास हो एवं जो समाज, राष्ट्र तथा विश्वके उत्कर्षमें सदैव सहायक सिद्ध हो सकें। अस्तु!

जीवनका मूल्य समझें

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्०डी०)

'मेरी चूड़ियाँ! अरे, अभी तो उत्सवसे वापस आकर हाथ धोते समय वाश-बेसिनपर उन्हें रखा था। फिर न जाने कहाँ वे अचानक गायब हो गयीं। स्वर्णाभूषणोंका खोना या पाना दोनों ही अशुभ है। ध्यान न देनेके कारण बड़ी भारी हानि हो गयी! अब उन चूड़ियोंके महत्त्व और मूल्यका अनुभव हो रहा है।'

मेरी बेटी ऊपर लिखे वाक्य बोलती हुई इधर-उधर अपनी खोयी हुई सोनेकी मूल्यवान् चूड़ियाँ ढूँढ़ रही थी। कमरोंमें ढूँढ़ा, पुस्तकोंमें देखा, खिड़कियाँ टटोलीं, सबसे पूछताछ की, परंतु उस समय उन खोयी हुई सोनेकी चूड़ियोंका कहीं पता न चल सका।

बादमें ध्यानपूर्वक ढूँढ़नेपर उसी वाश-बेसिनके पानीके नीचे गिरनेवाले छेदमें चूड़ियाँ अटकी हुई मिलीं। कितना संतोष और उल्लास था उस क्षण! सत्य है किसी वस्तुके अभावमें ही उसका वास्तविक महत्त्व ज्ञात होता है। अतः ठीक ही कहा गया है—

उत्पन्नपश्चात्तापस्य बुद्धिर्भवति यादृशी।
तादृशी यदि पूर्वं स्यात् कस्य न स्यान्महोदयः॥ (चाणक्य)

अर्थात् 'किसी कर्मके करनेके बाद पछतानेवाले पुरुषको जैसी बुद्धि उत्पन्न होती है, यदि वैसी ही नीर-क्षीरविवेकिनी बुद्धि पहलेसे ही उपस्थित रहे, तो किसे महान् उन्नति प्राप्त नहीं होगी।' इसलिये पहले ही सोच-विचारकर काम करे तो हानिपर पछताना न पड़े।

प्रतिदिन हम अनवधानतावश न जाने कितनी वस्तुएँ खो देते हैं। हमारा समय, आयु, घंटे, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष, एक-एक क्षण इतने मूल्यवान् हैं कि एक बार खो जानेपर वे कभी भी वापस नहीं आ सकते। निरुद्देश्य जीवन व्यतीत हो जानेपर हर व्यक्तिको बुरी तरह हाथ मल-मलकर पछताना पड़ता है एवं आध्यात्मिक उन्नति बाधित हो जाती है।

अतः हमें समय रहते अपने जीवनका महत्त्व और मूल्य समझना चाहिये। शेष जीवनको अत्यन्त विचार-विमर्शके साथ स्थायी महत्त्वके कार्यों—जैसे परोपकार, जनसेवा, समाज-सेवा, पर्यावरणरक्षा, अज्ञान-निवारण, शिक्षा, धर्म, दान, सेवादि कार्यों एवं भगवद्भजनमें समर्पित कर देना चाहिये, जिससे सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही परमार्थका पर्याय बन जाय।

अमेरिकाका एक परम वैभवशाली धनिक जब मृत्युके निकट पहुँचा तो उसने अत्यन्त दीन होकर कहा था—

'यदि कोई मेरी उम्र एक वर्ष और बढ़ा दे तो उसे दस करोड़ रुपये दे सकता हूँ, मात्र एक वर्ष और जीनेकी इच्छा है। अहा! जीवन कितना सुन्दर है।'

पर ऐसा कोई भी चमत्कारी साधु-महात्मा अथवा वैद्य-चिकित्सक न मिला, जो उसकी आयुका एक वर्ष तो क्या, एक क्षण भी और बढ़ा सकता। यदि सचमुच कोई ऐसा आदमी जो उसकी उम्र बढ़ाने एवं जीवित रखनेका गुरुतर उत्तरदायित्व ग्रहण करता तो दस करोड़ क्या शायद वह दस अरब रुपये भी बदलेमें उसे देनेको तैयार हो जाता।

हमारा जीवन कितना मूल्यवान् है, इसका महत्त्व आदमी तब समझता है, जब मृत्युकी गोदमें पहुँचता है। अपने, बचपनसे मृत्युतकके लम्बे समयको कितने हलके दृष्टिकोण और व्यर्थके कार्योंमें बरबाद कर देता है, जब अपनी इस भारी भूलका पता चलता है, तो पश्चात्तापकी वेदना मनुष्यको हजारों साँप-बिच्छुओंके बराबर दुःख देती है। मृत्युके समय तड़फनेका यही कारण है।

आप यदि इस विषम वेदनासे मुक्त होना चाहते हैं तो इसपर ध्यान दीजिये कि मानव-जीवनका क्षण-प्रतिक्षण समाज और विश्व-हितमें सदुपयोग हो रहा है या नहीं। वह

कहीं व्यर्थके छोटे-छोटे कार्यों, विवादों, योजनाओं या परिवारके बोझ उठाये रखनेमें विनष्ट तो नहीं हो रहा है। परिवारकी जिम्मेदारियाँ बेमतलब ही आपने ओढ़ तो नहीं रखी हैं? ऋण लेने-देने या संतानके रोजगार, विवाहादिकी चिन्ता तो नहीं है?

अतएव पूर्णतया विचारकर अपने ऊपर पारिवारिक जिम्मेदारियोंका भार कम करना चाहिये। सारा उत्तरदायित्व अपने बच्चोंको सौंपना चाहिये। परिवारको स्वावलम्बी बनाना चाहिये। अपने स्वास्थ्य-रक्षाकी ओर ध्यान देना चाहिये। लोकसेवा या धर्मका कोई बड़ा कार्य करना चाहिये।

अवशिष्ट जीवनको व्यतीत करनेके लिये विवेकपूर्ण योजना बनाइये, जिसके द्वारा आपके शेष समयका उचित रीतिसे सदुपयोग होता रहे। जो आयु व्यतीत हो गयी, उसके लिये शोक मत कीजिये। उससे कोई लाभ नहीं। जो समय शेष रहा है, वह इतना मूल्यवान् है, इतना महत्त्वपूर्ण है कि सदुपयोग किये जानेपर वही आपको एक सफल मानव बना सकता है और ऐसा शुभ परिणाम पैदा कर सकता है, जिसपर गर्व करते हुए आप सुख-शान्तिपूर्वक संसारसे विदा हो सकें। याद रखिये—

पुनर्वित्तं पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः॥

(चाणक्यनीति)

अर्थात् खोया हुआ धन, आपका रूठा हुआ मित्र, घरसे बाहर भटकती हुई धर्मपत्नी, दूसरोंके द्वारा अपहृत सम्पत्ति—ये सब आपको फिर भी मिल सकते हैं, परंतु यह मूल्यवान् देवदुर्लभ शरीर बार-बार नहीं मिलता। यह एक बार मिला है, बस जनसेवा या धर्मकर्मके लिये! अतः सुर-दुर्लभ इस मानव-शरीरकी सार्थकता, महत्ता एवं मूल्यवत्ताको समझते हुए प्रत्येक क्षणका सद्व्यय अत्यन्त परीक्षणपूर्वक भगवत्स्मरणके साथ करना चाहिये।
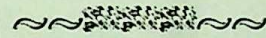
बालकके प्रति

(श्रीनन्दकिशोरजी झा, काव्यतीर्थ)

हे बालक, स्वजन-सुकृत-पालक, कुल-आलबालके वर प्रवाल!
व्यसनोंमें मत सन जाना तुम, निज कर्त्तव्योंका रखो ख्याल॥
माईके लाल वस्तुतः तुम, गुदड़ीके लाल स्वकुल-प्रदीप,
हो जनक-पुन्नरक-तारक तुम, कल्पना-राज्यके वर महीप;
तुमको ही तो करना होगा—वृद्धोंके अवनत उच्च भाल॥ हे बालक०॥
आये ज्यों ही इस भूपर तुम, हम पितर-ऋणोंसे हुए मुक्त,
अंधेरेमें दीखा प्रकाश, उल्लास-सुखोंसे हुए युक्त;
कंटकाकीर्ण दुखमय जीवन लघु दिखा उसी दिन वर विशाल॥ हे बालक०॥
निज वंश-वृक्षके भव्य बीच, शुभ आशाके अङ्कुर नवीन,
आँगनमें उगते तुम्हें देख हम रहे अकिञ्चन नहीं दीन;
प्रति पत्र परम रस दे-देकर तुम करो नित्य सबको निहाल॥ हे बालक०॥
जीवनमें सब ऋतुओंमें ही निशि-वासर खिलते कमल-फूल,
अवलोक तुम्हारा वर विकास निज ह्रास-नाश हम गये भूल;
तब लगा—हमें अब मार सकेगा कभी नहीं यह क्रूर काल॥ हे बालक०॥
ध्रुव-तुल्य तपस्यासे पाओ संसृतिमें स्थायी महा स्थान,
प्रह्लाद-सदृश निर्भरा भक्ति, शुकदेव-तुल्य अति विमल ज्ञान;
कुश-लव-सम इन्द्रिय-हय रोको गोपाल-तुल्य मन-विषम व्याल॥ हे बालक०॥
ऊपरसे पितर निहार रहे, परितः समाजकी लगी दृष्टि,
है एकमात्र तुमको करना संतुष्टि सभीकी, नयी सृष्टि;
पुरुषोत्तम-तुल्य पराक्रमसे पहनो उरमें वर विजय-माल॥ हे बालक०॥
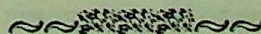
आख्यान—

अति सर्वत्र वर्जयेत्

अत्यन्यायमतिद्रोहमतिक्रौर्यं कलावपि।
अत्यक्रमं चात्यशास्त्रं न कुर्यान्न च कारयेत्॥
यदि कुर्वीत मोहेन सद्यो विलयमेष्यति॥

(आङ्गिरसस्मृति ९८-९९)

अर्थात् कलिमें भी अत्यधिक अन्याय, अत्यधिक द्रोह, अत्यधिक क्रूरता, अत्यधिक क्रमभङ्गता और अत्यधिक शास्त्रका उल्लंघन न करे और न कराये। यदि प्रमादवश कोई 'अति' कर देगा, तो उसका सर्वनाश निश्चित है।

कलियुगमें वे लोग भी धनी हैं जो अन्याय, द्रोह, क्रूरता, क्रमभङ्गता और शास्त्रविरुद्ध कर्म नहीं करते परंतु समय ऐसा है कि न चाहते हुए भी उनसे कुछ-न-कुछ अकृत्य हो ही जाते हैं। आङ्गिरसस्मृति कहती है कि इस विषमवादी घोर कलियुगमें भी इन पापोंके आधिक्यसे अवश्य बचना ही चाहिये, नहीं तो विनाश निश्चित है। आङ्गिरसस्मृतिके इसी प्रसंगसे सम्बन्धित एक सत्य घटना प्रस्तुत की जाती है—

सत्तर वर्ष पूर्वकी यह घटना है। एक सज्जनने पिताजीसे पाँच सौ रुपये लिये। उस समय वे सज्जन भले थे। पिताजीके हितैषियोंमें थे। रुपये लेनेके बाद उन्होंने हैंडनोट लिख देनेकी बात कही। पिताजीने कहा कि 'आप विपत्तिमें हैं। इसलिये इसे यों ही ले जायँ। ब्याजसे मेरा मतलब नहीं है। परंतु हाँ, जब पैसे हो जायँ तो लौटा दीजियेगा।' किंतु वे सज्जन दो व्यक्तियोंके साथ हैंडनोट लिखवाकर स्वयं लेते आये। गवाहमें उन दोनोंके हस्ताक्षर थे तथा स्वयं अपने भी हस्ताक्षर कर सिद्ध कर दिया था कि हमने इतना रुपया लिया है। तीसरे वर्ष हैंडनोट नहीं बदला जाय तो वह व्यर्थ हो जाता है। इसलिये वे तीसरे वर्ष उन दोनों गवाहोंके साथ आते और हैंडनोट बदल देते थे। इस तरह अगले बारह वर्षोंतक हैंडनोट बदलते गये किंतु अभी भले आदमीकी भलमनसाहत नहीं बदली थी। वे पहलेकी तरह भले-के-भले ही रहे।

इसके बाद उनका अवैध सम्बन्ध किसी पराई स्त्रीके साथ हो गया। एक बार जो नैतिक पतन हुआ तो वह बढ़ता ही गया और अपनी पराकाष्ठातक पहुँच गया। शास्त्रके विरुद्ध परस्त्रीको तो रख ही लिये थे। अन्यायपर भी उतर आये। उनके मनमें आया कि पैसोंको अब पण्डितजीको न लौटाया जाय। इसलिये अगली बार हैंडनोट बदलने नहीं आये। पिताजीने समयसे पहले उन्हें याद दिलाना कर्तव्य समझा, किंतु वे भले आदमी अब बदल चुके थे। उनके हृदयमें मैत्रीकी जगह क्रूरताने स्थान बना लिया था। वे क्रोधमें आकर कहने लगे—'आपने जाली हैंडनोट बना लिया है। गवाह भी जाली हैं। दोनों गवाह बयान देनेवाले हैं कि ये हस्ताक्षर हमारे नहीं हैं। जाली हस्ताक्षर हैं। आप मुकदमा करके देखें, मैं मजा चखा दूँगा।'

पिताजीने कहा—'आप मेरे मित्र हैं। यदि रुपया न देनेकी स्थितिमें हों तो अभी मत दें। पहलेवाला मैत्री भाव न तोड़ें। उसे बनाये रखें।' किंतु वे सज्जन यह सुनकर और आग-बबूला हो गये। गाली बकते हुए चले गये। इसके बाद प्रत्येक दिन सायंकालको वे उस परायी औरतको मेरे घर भेजते थे और उसके द्वारा पाँच बातोंको सुनवाकर घरभरको परेशानीमें डाल देते थे। वे बातें हैं—'(१) पण्डितजीके खेतोंको हड़प लूँगा, (२) उन्होंने जो भट्ठा लगाया है, उसे लूट लूँगा, (३) उनके बगीचेको काट डालूँगा, (४) ऐसा बदनाम करूँगा कि कहीं मुँह दिखाने योग्य नहीं रह जायँगे, (५) प्रति सातवें दिन वे इक्केसे गाँव आते हैं। किसी दिन इक्केसे उतारकर उनके ऊपर भालेके इतने वार करूँगा कि उनकी देह मुरब्बेकी तरह छिद जायगी।'

इन डरावनी चुनौतियोंको सुनकर घरवालोंका खाना, पीना, सोना सब छूट गया। एक बार जब पिताजी सातवें दिन घर लौटे तो उनसे कहा गया कि 'इस गाँवको छोड़कर अन्यत्र भाग जाया जाय।' पिताजीने कहा कि 'यदि हमने किसीका कोई कार्य बिगाड़ा नहीं है तो हमारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता है और यदि हमने किसीको कभी हानि पहुँचायी है तो कहीं भी जायँ, वह हानि तो हमें झेलनी ही पड़ेगी।' घरवालोंने कहा—आप कैसी बातें कह रहे हैं। हमलोग तीन-चार दिनसे खा-पी नहीं पा रहे हैं। रात-दिन किसी-न-किसी अनिष्टकी आशंकासे मन व्यथित हुआ करता है। तब पिताजीने पारिवारिकजनोंके भयको कम करनेके लिये वाल्मीकि रामायणके सुन्दरकाण्डका पाठ प्रतिदिन प्रारम्भ कर दिया। घरवाले भी शास्त्रविश्वासी तो थे ही, अपना समूचा बोझ हनुमान्‌जीके चरणोंमें सौंपकर निश्चिन्त हो गये।

मुकदमा चला, सत्यपक्षकी जीत हुई। अब तो वे महानुभाव

और अधिकाधिक अन्याय करनेपर उतारू हो गये। उनका द्रोह अतिद्रोहमें बदल गया। उनकी क्रूरता अतिक्रूरतामें बदल गयी। इस तरह सब बातोंमें वे अति करते चले गये। आङ्गिरसस्मृतिकी इस बातपर उनका कोई विश्वास नहीं रह गया था कि इन दुर्गुणोंमें अतिशयता आनेपर शीघ्र ही विनाश हो जाता है—

यदि कुर्वीत मोहेन सद्यो विलयमेष्यति॥

(आङ्गिरस० ९९)

गर्मीके दिन थे। एक दिन उन्होंने एक पंचायत की। उसमें चार-पाँच गाँवके लोग इकट्ठे हुए थे। उन्होंने उन पंचोंसे माँग की कि 'पण्डितजीसे आपलोग हमें हर्जाना दिलायें। पण्डितजीने मुझपर मुकदमा चलाकर मेरी प्रतिष्ठापर आँच लगा दी है। बाजारमें हमारी साख गिर गयी है। सब तरफ मुझे हानि-ही-हानि उठानी पड़ रही है। इसलिये आप पंच-भाइयोंसे निवेदन है कि आप सब मिलकर पण्डितजीको बाध्य करें कि वे हमें हर्जाना दें।'

जब उनका जोशीला भाषण समाप्त हो गया, तब चारों तरफ बहुत देरतक निस्तब्धता छायी रही। किसीने पक्ष या विपक्षमें जीभ चलानेकी कोशिश नहीं की। सभी लोग उनकी क्रूरता और नृशंसतासे परिचित थे। सत्यका पक्ष लेकर कोई विपत्ति मोल नहीं लेना चाहता था। धीरे-धीरे सभी लोग उठकर चले गये। जाते समय एक सज्जन, (जो ८७ वर्षके बूढ़े थे) ने कहा—'खाना भी दो, खभौनी भी दो।'

शास्त्रपर कोई विश्वास करे या न करे, शास्त्रका कथन तो सत्य होता ही है। क्योंकि यह ईश्वरकी आज्ञा है। फलतः जिन पाँच बातोंको पहले वे प्रतिदिन दोहराया करते थे, वे सब-के-सब उन्हींपर घटित होने लगीं। (१) मुकदमा जीतकर पण्डितजी मेरे खेतोंको न ले सकें, इसलिये उक्त सज्जनने अपने खेतोंको दूसरे मित्रोंके नामसे कर दिया था। उनके मित्र भी कलियुगी मित्र थे। उनके खेतोंको हड़पनेके लिये ही इनके मित्र बने थे। अब शत्रुतासे ही उन खेतोंको हस्तगत किया जा सकता था। अतः वे इनके शत्रु बन गये और उनको मार-मारकर भगा दिया। इस तरह इनके खेत दूसरोंने हड़प लिये। (२) किसी केसमें हार जानेपर पुलिसने इनके घरके ईंट-ईंट निकलवा ली। (३) इनके मित्र जो शत्रु हो गये थे, उन लोगोंने इनके चार बीघेके बगीचेको एक ही रातमें कटवा दिया। (४) इन घटनाओंसे इनकी इतनी बदनामी हुई कि कहीं ये मुँह दिखाने लायक नहीं रहे। (५) उनका पाँचवा कथन भी अक्षरशः उन्हींपर घटित हुआ, जो कम लोमहर्षक नहीं है।

अगहनका शुक्लपक्ष था। ये सज्जन उस परायी स्त्रीके साथ ईखकी रखवालीके लिये खेतपर ही सोये हुए थे। रातको इनसे क्रुद्ध हुए कुछ लोग आये जिन्होंने उस स्त्रीको भालोंसे छेद दिया। वह जान बचानेके लिये वहीं स्थित तालाबके जलमें कूद गयी। लक्ष्यको अकेला पाकर उन लोगोंने उन महानुभावपर भालेके इतने वार किये कि शरीरका कोई ऐसा हिस्सा नहीं था जो छिदनेसे बचा हो। सचमुच मुरब्बेकी तरह वे छिद गये थे। उसी हालतमें वे अस्पताल पहुँचाये गये। प्राथमिक उपचार शुरू हुआ।

इधर पिताजीने इन घटनाओंके बाद भी उनके प्रति अपने मैत्री-भावको सुरक्षित ही रखा था। वे कहते थे कि कुसंगतिने उसे बिगाड़ दिया तो क्या हुआ आखिर है तो मेरा मित्र ही। इस मैत्री भावनासे जो हृदय सुसंस्कृत है वह मुरब्बेकी तरह उनके घायल होनेकी बातको सुनकर काँप गया। वे दौड़कर अस्पताल पहुँचे। रक्तके बहनेके साथ-साथ उनकी दुर्भावनाएँ भी बह गयी थीं। अब पहलेकी तरह वे फिर भले बन चुके थे। उन्होंने अपने लोगोंसे कहा—'थोड़ा पानी लाओ। मैं पण्डितजीका चरण धोकर पी लूँ। अब मरना तो है ही। इनका चरणोदक ही अब परलोकमें पाथेयका काम करेगा। उन्होंने बड़े भक्ति-भावसे पिताजीका चरणोदक लिया। इस तरह मैत्रीका टूटा हुआ एक बन्धन फिर जुड़ गया था। दोनोंकी आँखें देरतक अविरल बरसती रहीं। सब तो हुआ, परंतु जो अतिशय हो गया था, उसका परिणाम भला कौन रोक सकता था। अच्छी तरह अस्पतालमें उपचार चल रहा था। चिकित्सा-व्यवस्थामें कोई कोर-कसर बाकी न रह गयी थी तथापि लाख उपाय करनेपर भी उनको बचाया नहीं जा सका—'**सद्यो विलयमेष्यति।**'

—पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र

पढ़ो, समझो और करो

(१)

विलक्षण सेवाव्रती

घटना शायद सन् १९५६ के अगस्त मासकी है। मैं अपने एक सम्बन्धीके यहाँ एक विवाहमें सम्मिलित होनेके लिये गया था, जो अलीगढ़ जिलेके एक गाँवमें रहते हैं। भगवान्‌की कृपासे सारे वैवाहिक कार्यक्रम सुचारु-रूपसे सम्पन्न हो गये और बारात भी प्रसन्नतापूर्वक बिदा हो गयी। तीन-चार दिनके बाद एक दिन हम लोगोंका कार्यक्रम मोटरसे अलीगढ़ जानेका बना। विवाहमें सम्मिलित होनेके लिये आये हुए एक सज्जनको सपरिवार घर जाना था और अलीगढ़से होकर जानेमें सीधा मार्ग था तथा अधिक सुविधाजनक था, साथ ही मेरे सम्बन्धीको अपने नवजात शिशुको डॉक्टरको दिखाना भी था। इसके अतिरिक्त और भी दो-एक छोटे-मोटे कार्य निकल आये; अतएव एक दिन हम लोग लगभग छः बजे सायंकाल अलीगढ़ गये। वहाँ पहुँचकर पहले वे दोनों काम किये गये। यह सोचा गया था कि इनसे निवृत्त होकर कुछ घूमा-फिरा जायगा; किंतु उन्हीं दोनों कामोंमें नौ बजनेको आ गये। कुछ बूँदा-बाँदी भी आरम्भ हो गयी। हम लोगोंके साथ उनका परिवार था, अतः वापस जानेमें अधिक विलम्ब करना हम लोगोंने उचित न समझा और यह निश्चय हुआ कि शेष कार्य भी शीघ्र ही निपटाकर चला जाय। अतः मोटर एक किनारे रोककर एक मुंशीजीको जो मेरे सम्बन्धीके परिचित थे, सामान इत्यादि लाने भेज दिया गया; क्योंकि बूँदा-बाँदी शनैः-शनैः तीव्र होती जा रही थी और मोटर छोड़नेकी न उनकी इच्छा थी, न मेरी ही। मुंशीजीको भेजकर हम लोग सब शीशे उठाकर आरामसे मोटरमें बैठे वर्षाका आनन्द लेने लगे। इतनेमें शीशेके पास एक व्यक्तिका चेहरा दिखायी दिया—दुबला-पतला चेहरा, वर्षासे भीगे एवं अव्यवस्थित केश, गलेको पूर्णरूपसे ढकती हुई दाढ़ी जो श्वेत एवं श्यामवर्णमिश्रित थी और जिसके मुखपर मूँछका कहीं भी अस्तित्व नहीं था, वह व्यक्ति शीशा गिरानेके लिये बार-बार हाथसे संकेत कर रहा था। उस सुखद मनोराज्यसे हम लोगोंको यथार्थके इस धरातलपर लानेवाले इस व्यक्तिके प्रति रोष आना स्वाभाविक ही था। अतः थोड़ा-सा शीशा गिराकर मैंने कुछ तेज स्वरमें पूछा—'क्या है?' 'मालूम होता है आपकी मोटरसे पेट्रोल लीक कर रहा है; क्योंकि सड़कपर तमाम पेट्रोल बह रहा है।' उसने कुछ क्षमा-याचनाके-से स्वरमें, जैसे अपनी धृष्टताके लिये स्पष्टीकरण-सा देते हुए उत्तर दिया। 'पेट्रोल लीक कर रहा है' यह वाक्य हम दोनों आदमियोंके मुखसे एक साथ बरबस निकल पड़ा और एक झटकेके साथ दरवाजा खोलकर हम लोग बाहर आ गये—बाहर, उस वर्षामें जहाँ आनेमें अभी क्षणभर पूर्व भयंकर कष्टकी अनुभूति हो रही थी, देखा कि भीगी हुई सड़कपर काफी दूरतक पेट्रोल फैला हुआ है। मोटरका 'बोनट' उठाकर देखनेपर पता चला कि पीछे लगी हुई टंकीसे पेट्रोल लानेवाला पतला पाइप इंजनके नीचे एक लोहेसे रगड़ खा-खाकर कट गया है और वहींसे पेट्रोल लीक कर रहा है। यह देखकर हम लोग तो स्तब्ध हो गये। 'अब क्या होगा' यह प्रश्न बड़े विकराल रूपमें आ उपस्थित हुआ। अब जबतक वह पाइप ठीक नहीं हो जाता, एक बूँद पेट्रोल भी ऊपर 'कारब्यूरेटर' में नहीं जा सकता और फलतः मोटर स्टार्ट होने या चलनेका कोई प्रश्न ही नहीं था। हम दोनों आदमी जहाँ थे, वहीं मूर्तिवत् खड़े रह गये। अब कैसे क्या किया जाय, कुछ समझमें नहीं आ रहा था कि इतनेमें वह व्यक्ति, जो पास ही खड़ा था, बोल उठा—'आप लोग बिलकुल परेशान न हों, एक साबुन मँगा लीजिये तो मैं इसे कामचलाऊ कर दूँगा, फिर आप ठीक करा लीजियेगा।' उसके ये शब्द कितने उत्साहवर्धक, कितने शान्तिदायक थे, यह केवल अनुभूतिकी वस्तु है। आशाका एक प्रकाशपुञ्ज भर दिया हम लोगोंके हृदयमें उसके इन शब्दोंने। अभी हम लोग साबुन ले आनेकी तैयारी कर ही रहे थे कि उसने सम्भवतः हम लोगोंकी उस शहरसे अनभिज्ञताको भाँप लिया और पैसे लेकर वह स्वयं ही साबुन भी ले आया। जब 'बोनट' उठाकर वह ठीक करने चला तो एक नयी समस्या उत्पन्न हो गयी। वह पाइप जहाँ कटा था वह स्थान नीचेकी ओर था और ऊपरसे उसका जोड़ना असम्भव था। केवल एक ही उपाय था कि मोटरके नीचेसे जोड़ा जाय और इसके लिये मोटरके नीचे लेटना पड़ता। वर्षासे भीगी उस सड़कपर लेटना बड़ा

ही दुस्तर कार्य था, इससे एक बार फिर हम लोग निराशाके अनन्त सागरमें डूबने-से लगे। मगर तभी देखा कि वह व्यक्ति लेटनेके लिये उचित स्थान देख रहा है और लेटनेकी तैयारीमें है। हम लोगोंने एक-दूसरेकी ओर देखा और आँखोंसे ही शत-शत धन्यवाद दिया उस क्षीणकाय मानव-रत्नको। मेरे सम्बन्धीने दो-एक बार उसे सड़कपर लेटकर कपड़े खराब करनेसे मना भी किया, परंतु उसे तो जैसे केवल एक धुन थी अपना कार्य शीघ्र पूर्ण करनेकी। उनकी बात अनसुनी करके वह अपने काममें लगा रहा। वह अभी नीचे लेटनेका उपक्रम कर ही रहा था कि मेरे सम्बन्धीका वह नवजात शिशु एकाएक रोने लगा। मोटरमें बैठे-बैठे वह शायद ऊब गया था और लाख चुप करानेपर भी वह चुप नहीं हो रहा था। हम लोग उसको चुप करनेका उपाय सोच-विचार रहे थे कि वह व्यक्ति उठा और सामनेकी दूकानमें जाकर दो-तीन कुर्सियाँ खाली कराकर उन्हें एक किनारे रखवाकर हम लोगोंसे स्त्रियों एवं बच्चोंको वहाँ बैठा देनेके लिये आग्रह करने लगा। उसने हम लोगोंको भी बैठनेके लिये कहा, किंतु हम लोग तो नहीं बैठे, स्त्रियों एवं बच्चोंको वहाँ बैठा दिया गया। अब वह व्यक्ति बिना किसी झिझक या संकोचके जमीनपर लेट गया। उसके कपड़े भीग तो पहले ही गये थे, अब गंदे भी हो गये। लगभग १५ या २० मिनटके बाद वह गाड़ीके नीचेसे उठा और ऊपरसे भी जोड़ने लगा ताकि और पक्का हो जाय। जहाँ वह पाइप कटा था, वहीं बैटरीका एक तार (Earth) लगा हुआ था। संयोगकी बात कि पाइप जोड़नेमें पता नहीं कैसे क्या हुआ कि उस तारका सिरा ही टूटकर अलग हो गया। यह एक नयी मुसीबत आ गयी थी, किंतु उस कर्मयोगीपर इसका जैसे कोई असर ही न पड़ा। वह अपना काम पूर्ववत् करता रहा। पाइप जोड़नेके बाद उस तारको जुड़वानेके लिये उसे बैटरीसे खोलने लगा, लेकिन वह किसी तरह भी न खुला। अन्तमें उसने पूरी बैटरीको ही मोटरसे निकाल लिया और अपने सिरपर उठाकर उस तारको जुड़वाने चला गया। यह सब कार्य वह इस तत्परता एवं लगनसे कर रहा था कि हम लोग अवाक् थे। हम लोग कुछ कहें, या कुछ सहायता करें इसकी उसे किंचित् भी अपेक्षा नहीं थी। जब वह बैटरी सिरपर उठाकर ले चला तो हम लोग कृतज्ञतासे अवरुद्धकण्ठ-से हो रहे थे। लगभग २० या २५ गजपर एक दूकान थी, वहाँ वह बैटरी ले गया और वहाँ चल रहे सभी कार्योंको बंद कराकर पहले तार जुड़वाया। जब तार जुड़ गया तो फिर उसी तरह अपने सिरपर उठाकर ले आया और बिना एक शब्द बोले, बिना एक बार भी इधर-उधर दृष्टिपात किये उसने बैटरी मोटरमें रखकर तार कस दिया और मोटर जो अभी थोड़ी देर पूर्व लोहेका केवल एक विशालकाय ढेरमात्र हो गयी थी, इस कर्मयोगीका स्पर्श पाकर पुनः गतिशील हो गयी। जब सब कार्य पूरा हो गया तो उसने कहा—'अब जरा साबुन मुझे दे दीजिये तो मैं हाथ धो डालूँ।' जब हाथ धोकर वह वापस आया तो मेरे सम्बन्धीने उसे कुछ रुपये देने चाहे, मगर उसने एकदम अस्वीकार कर दिया और उनके लाख आग्रह करनेपर भी कुछ नहीं लिया। *'परहित सरिस धर्म नहिं भाई'* इसको उसने पढ़ा था या नहीं, मैं नहीं कह सकता, किंतु इसको पूर्णरूपसे अपने जीवनमें उसने उतार लिया था, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। परहितका कैसा अनूठा उदाहरण था वह, निष्काम सेवा-भावकी कैसी यथार्थ परिभाषा है यह। आज भी जब मुझे उस अपूर्व सेवाव्रती मानवरत्नका स्मरण आ जाता है तो मेरा मस्तक श्रद्धासे स्वतः नत हो जाता है।

—रुद्रसेन सिंह

(२)

कण-कणमें व्याप्त हैं भगवान्

उस दिन थोड़ी-थोड़ी बूँदा-बाँदी हो रही थी और मुझे हाबड़ा स्टेशन पहुँचना था। गेस्ट हाउसके गेटपर अपना सारा सामान लेकर टैक्सीका इंतजार कर रहा था। आधा घंटा हो गया। कोई भी टैक्सीवाला उधर नहीं आया। मेरी परेशानी बढ़ने लगी। पासमें ही खड़े एक सुरक्षाकर्मीसे यह पता चला कि आज यातायातकी गड़बड़ीके कारण कोई टैक्सीवाला इधरसे नहीं आ रहा है। १२ बजेतक यातायात बाधित रहनेका अनुमान था और ट्रेन ११ बजे ही छूटने-

वाली थी। इस स्थितिमें मेरी धड़कन तेज होने लगी, क्योंकि मुझे गाड़ी पकड़ना बहुत आवश्यक था। मैं सोचने लगा अब क्या होगा, मैं कैसे स्टेशन पहुँचूँगा।

ठीक उसी समय एक खाली कार आती दिखायी दी जिसमें सिर्फ ड्राइवर ही था। मैंने फौरन आगे बढ़कर उस ड्राइवरसे प्रार्थना की कि भाई साहब, मुझे स्टेशन जाना है। बंबईकी गाड़ी पकड़नी है, आप कृपया मुझे अगले चौराहेतक पहुँचानेका कष्ट करें। वहाँसे मैं किसी टैक्सीसे स्टेशन चला जाऊँगा। उसने वैसा ही किया और मैं वहाँसे एक दूसरी टैक्सीसे स्टेशन पहुँच गया। वहाँ टैक्सीसे उतरकर मैं बहुत तेजीसे प्लेटफार्मकी ओर भागा। भीड़ इतनी कि अंदर जानेके लिये इधर-उधरसे रास्ता ढूँढ़कर जाना पड़ा। ऊपरसे पानीकी बौछारें तेज हो रही थीं। किसी तरह उस प्लेटफार्मपर पहुँचा, जहाँ बंबई जानेवाली ट्रेन खड़ी थी।

जब मैंने अपनी सीट ढूँढ़नेके लिये रिजर्वेशन टिकट निकाला तो मुझे होश आया कि मेरा टिकट तो वेटिंग लिस्टमें है, गाड़ी छूटनेवाली थी। अब तो मेरे पसीने ही छूट गये। मैं इतना अशक्त था कि बिना रिजर्वेशन मेरा जाना सम्भव नहीं था। मैंने दीनवत्सल प्रभुको याद कर कहा—हे भगवन्! तुम्हारे विभिन्न तीर्थ-स्थलोंके दर्शनकी कैसी महिमा है। अभी ऐसा सोच ही रहा था कि सहसा एक सज्जनने कहा—वेटिंग लिस्टवाला चार्ट लग गया है, आप देख लें शायद आपकी सीट कन्फर्म हो गयी हो। अभी मैं कुछ सोच ही रहा था कि उन्होंने कहा—लाइये टिकट मैं देख आता हूँ। वापस लौटकर उन्होंने कन्फर्म सीट नं० और कम्पार्टमेन्ट नं० लिखकर मुझे दे दिया और कहा जल्दी ट्रेनमें बैठ जाइये आपकी सीट कन्फर्म हो गयी है, ट्रेन भी छूटनेवाली है। फिर मैं अतिशीघ्र ट्रेनमें अपनी सीटपर आकर बैठ गया और बैठना ही था कि ट्रेन स्टार्ट हो गयी। अब मैं मन-ही-मन प्रभु-कृपाका स्मरणकर उनके ध्यानमें तल्लीन हो गया।

अबतक सभी यात्री अपनी-अपनी सीटोंपर पूर्णतः व्यवस्थित हो चुके थे। मैं भी अपनी सीटपर चादर बिछाकर लेट गया और अपनी यात्राके बारेमें सोचने लगा। बहुत ही आनन्द आया। गङ्गा-स्नान, जगन्नाथ भगवान्के दर्शन, मायापुरका मनमोहक दृश्य, श्रीचैतन्य भगवान्के जन्मस्थानके दर्शन और जिन-जिन स्थानोंको देखा था, उन सभीपर विचार आ रहे थे कि अचानक कलकत्तेकी ओर ध्यान गया। मैंने सोचा कि इस गाड़ीसे मेरी यात्रा किसी भी हालतमें सम्भव नहीं थी। लेकिन फिर भी मैं इस समय यात्रा कर रहा हूँ, यह सब कैसे हुआ? वह सज्जन कौन थे? उन्हें कैसे ज्ञात हुआ कि मेरे पास कन्फर्म सीट नहीं है, कैसे पता चला कि मैं बंबई जा रहा हूँ। इस तरहके कई सवाल मनमें उठ रहे थे। कुछ समझमें नहीं आ रहा था। और फिर वे सीट कन्फर्मेशनकी सूचना देकर एवं ट्रेनमें शीघ्र बैठनेकी सलाह देकर अनगिनत लोगोंकी भीड़में न जाने कहाँ विलीन हो गये। परंतु वे थे कौन? इस 'कौन' का विचार इतना तीव्र हो गया कि नींद आनेका प्रश्न ही कहाँ। उस डिब्बेमें करीब-करीब सभी यात्री आरामसे सो चुके थे।

काफी रात गये कोई बड़ा स्टेशन आया, वहाँपर कुछ लोगोंको लेकर टी०टी० महाशय डिब्बेमें आये। उन लोगोंको उनकी सीटोंपर बिठाकर जाने लगे तो मैंने उनसे प्रार्थना की कि कृपया यात्रियोंका सिटिंग चार्ट दिखानेकी कृपा करें। यात्रियोंका चार्ट देखकर तो मेरी परेशानी और बढ़ गयी। उसमें मेरा नाम ही नहीं था, और जिस सीटपर मैं लेटा था वह किसी एन० दासकी थी। यह कैसे हो सकता है, मैंने अपना टिकट निकालकर देखा तो उसपर मेरा ही नाम लिखा था। जितना ही इस गुत्थीको सुलझानेकी कोशिश कर रहा था, वह उतनी ही उलझती जा रही थी।

इस समय प्रातःकालके चार बज रहे थे। मैंने हाथ-मुँह धोकर बैगसे जप-माला निकाली और महामन्त्रका जप करने लगा। जप करते-करते ध्यान पिछले किस्सेपर गया तो सहसा बात सुलझ गयी, मेरी आँखोंसे अटूट अश्रुधारा बह चली और अपने-आप ही मुँहसे निकल पड़ा, हे प्रभु! क्षमा करना मैंने आपको पहचाना नहीं। अरे, आप तो स्वयं मेरे आराध्यदेव थे। भक्तोंके हितकारी दीनबन्धु दीनानाथ मुरलीवाले आपने स्वयं मुझ अभागेके लिये कष्ट किया।

आप मेरे इतने समीप आये, फिर भी मैंने आपको पहचाना नहीं। अबतक सब कुछ समझमें आ गया था। उनका चुपचाप आना और आरक्षण चार्ट देखनेकी सलाह देना, उनका स्वयं ही कन्फर्म टिकट लाकर देना और जल्दीसे गाड़ी पकड़नेको कहना—यह सब कुछ एक साथ ही दिमागमें घूम गया और मैं जोर-जोरसे रो पड़ा। पीले रंगकी बेनलोन, गहरे रंगका पेन्ट, काली चप्पलें, गोल-गोल गेहुएँ रंगका चमकता चेहरा, काले-काले बाल। सम्पूर्ण व्यक्तित्व इतना आकर्षक कि मन मोह जाय। लेकिन हाय रे दुर्भाग्य अज्ञानावृत्तमें अपने भगवान्‌को पहचान न पाया और हाथमें सब कुछ आया हुआ वैसे ही निकल गया, जैसे मनुष्यके शरीरसे आत्मा निकल जाती है। बरबस मेरे मुखसे निकल पड़ा—

तुलसी या संसारमें सबसे मिलिये धाय।
ना जाने किस भेषमें नारायण मिल जाय॥

इसके साथ ही मैं प्रभुके मनोहर रूपके दर्शनमें ध्यानस्थ हो गया।

—श्रीबृजेशकुमारजी दूबे

मनन करने योग्य

विनयके अवतार लाला बाबू

विनय विद्वान् एवं गुणी पुरुषोंका भूषण है। जो व्यक्ति धनी, विद्वान् और वीर होनेपर भी विनयी है, वह महान् है। एक श्लोक है—

नभोभूषा पूषा कमलवनभूषा मधुकरो
वचोभूषा सत्यं वरविभवभूषा वितरणम्।
मनोभूषा मैत्री विमलकुलभूषा सुचरितं
सदोभूषा सूक्तिः सकलगुणभूषा च विनयः॥

बंगालमें ऐसे ही विनयके अवतार श्रीलाला बाबू थे। वे सात्त्विक, वैराग्यवान्, विनयी और सरल-चित्त पुरुष थे। उनकी दानशीलताकी ख्याति दूर-दूरतक फैली थी। स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध—सभीके मुखसे लाला बाबूकी प्रशंसा ही सुनी जाती थी।

लाला बाबू अपने अतुल ऐश्वर्यको त्यागकर एक साधारण अवस्थाके सामान्य व्यक्तिकी तरह शुद्ध मनसे परमार्थचिन्तनमें लग गये। वे अकालग्रस्त, दीन-दुखियोंको बड़ी उदारतासे तथा विनम्रतासे अन्न-वस्त्रका दान किया करते थे।

उन्होंने वृन्दावनमें एक सदाव्रत स्थापित किया था। वहाँ जो भी क्षुधा-पीड़ित जाते, उन सबको निःशुल्क भोजन मिलता था।

लाला बाबूने वृन्दावनमें भगवान् श्रीकृष्णका विशाल मन्दिर भी बनवाया था।

सारी बंग-भूमिमें घर-घर लाला बाबूके पुनीत कार्योंकी प्रशंसा होने लगी; किंतु विनयी लाला बाबूके कानोंमें अपनी प्रशंसाकी चर्चा खटकने लगी। जिस महापुरुषने अहंकारको पैरोंतले दबाकर विनय एवं दैन्यको शिरमौलि बनाया और सारी धन-सम्पत्तिको परोपकार-व्रतमें लगा दिया, वह अपनी प्रशंसा कैसे सुन सकता था।

वे तो अपनी निन्दा करनेवाले मनुष्योंसे प्रेम करते थे। उनको यह आत्मश्लाघा परमार्थ-कार्योंमें बाधक प्रतीत होने लगी। अतः वे लोकोपकारक परमार्थ-साधनकी दृष्टिसे बंग-भूमि त्यागकर वृन्दावन चले गये।

श्रीकृष्णरायजीके मन्दिरमें ही निवासकर वे भजन-चिन्तनमें लीन रहने लगे। पर अबतक उन्होंने दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। उन दिनों भक्तिमार्गके एक संत बाबा कृष्णदासजी वृन्दावनमें ही निवास करते थे। कृष्णदासजीने 'भक्तमाल' ग्रन्थका बँगलामें अनुवाद किया था। लाला बाबूने इन्हीं वैराग्यवान् भक्त एवं विद्वान् महात्मासे दीक्षा लेनेका निश्चय किया।

बाबा पहले ही लाला बाबूके आदर्श गुणोंसे परिचित थे। वे हृदयसे लाला बाबूसे स्नेह करते थे। परंतु जब लाला बाबू दीक्षा लेनेके लिये बाबाजीके पास पहुँचे, तब बाबाजी

बोले—'तुम्हें मन्त्र देनेमें अभी देर है, कुछ समय और ठहरो। तुम्हारे विनयकी अभी और परीक्षा होगी।'

लाला बाबू बाबाजीकी बात सुनकर विस्मय और विषादमें डूब गये। उनके स्थानपर कोई अभिमानी पुरुष होता तो वह ऐसे अवसरपर दूसरे गुरुकी तलाशमें लग जाता! पर लाला बाबूका तो इन्हीं बाबाजीसे दीक्षा लेनेका निश्चय था। उन्होंने सोचकर देखा कि सचमुच उनके जीवनमें अभीतक विनयका पूर्णरूपसे अवतरण नहीं हुआ है। वे विचार करने लगे—

'मैं यद्यपि ठाकुरद्वारेमें एक मुट्ठी भगवान्‌का प्रसाद पाकर आठों पहर उनका नाम जपा करता हूँ, फिर भी मेरे मनसे वैमनस्य, भेदभाव आदि अभी दूर नहीं हुए हैं। मैं सेठजीके सदाव्रतकी तरफ भिक्षा लेने कहाँ गया हूँ। मेरे मनमें अब भी उनके प्रति घृणा एवं ईर्ष्याके भाव हैं। मेरा अन्तःकरण पूर्णरूपसे पवित्र नहीं हुआ है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि भेदभावके रहते अहंकार पूरी तरहसे नष्ट नहीं हो सकता।'

बात यह थी कि जयपुरके एक धनवान् सेठ भी भगवान्‌के भक्त थे। उन्होंने भी वृन्दावनमें भगवान् मुरली-मनोहरका एक रमणीय मन्दिर बनवाया था और एक सदाव्रत भी साधु-संतोंके लिये खोल रखा था।

मथुराके आस-पास इनकी काफी जमीन थी। इसी इलाकेमें लाला बाबूकी भी जमीन थी, जिसकी वार्षिक आय एक लाख रुपयेके लगभग थी। इसी जमीनके सम्बन्धमें दोनों (सेठ और लाला बाबू)-में दीर्घकालसे विवाद चल रहा था। इस झगड़ेके कारण बोल-चाल भी बंद थी।

लाला बाबू सब जगह भिक्षा माँगने जाते थे, किंतु सेठजीके ठाकुरद्वारेकी तरफ उनके पैर नहीं उठते थे। अब इस वैमनस्यका उन्हें अन्त करना था। स्थितप्रज्ञ संत पुरुषके लिये, सच्चे भक्तके लिये अब कौन-सी शत्रुता, ईर्ष्या और कलह। उन्होंने सेठजीके सदाव्रतकी ओर जानेका निश्चय कर लिया और एक दिन वे सेठजीके सदाव्रतपर पहुँच ही गये।

बंगालके धनी पुरुषको सेठजीके सदाव्रतपर भिक्षुके वेषमें देखकर मन्दिरके सब कर्मचारी, पुजारी आदि आश्चर्य करने लगे। वे लाला बाबूको भिक्षा देनेमें भी संकोच करने लगे; क्योंकि मन्दिरके मालिकके नाराज होनेका भी उन्हें भय था। दैवयोगसे उस समय सेठजी वहाँ उपस्थित थे। जब सेवकके द्वारा उन्होंने सुना कि लाला बाबू भिक्षा माँगने आये हैं, तब वे नंगे पैरों ही दौड़कर लाला बाबूके पास पहुँचे। लाला बाबूका साधारण वेष और अतुल वैराग्य देख सेठजीका शत्रुभाव सहसा सर्वथा लुप्त हो गया। वे लाला बाबूके पैरोंपर गिर पड़े। लाला बाबूने सेठजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। आज दोनोंके बीच मनोमालिन्य नष्ट हो गया! दोनोंके हृदय पवित्र हो गये। अब शत्रुताकी जगह मित्रताने ग्रहण कर ली। भिक्षा लेकर ज्यों ही लाला बाबू बाहर आये तो देखा कि बाबा कृष्णदास खड़े हैं।

लाला बाबू बाबाजीके चरणोंमें गिर पड़े। बाबाजीने बड़े यत्नसे उन्हें उठाकर गले लगाया और कहा—'लालाजी! आज तुम्हें दीक्षा दी जायगी। तुम आज परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये।'

लाला बाबूके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे!

गुरु-शिष्यका यह मिलन अद्भुत था। ऐसे थे विनयके अवतार लाला बाबू।

दमु दुर्गम, दान, दया, मख, कर्म, सुधर्म अधीन सबै धनको।
तप, तीरथ, साधन, जोग, बिरागसों होइ, नहीं दृढ़ता तनको॥
कलिकाल करालमें 'राम कृपालु' यहै अवलंबु बड़ो मनको।
'तुलसी' सब संजमहीन सबै, एक नाम-अधारु सदा जनको॥

(कवितावली)

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

आज सारे संसारमें जीवनकी जटिलताएँ बढ़ती जा रही हैं। अधिकतर लोग अपनी असीमित भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें संलग्न हैं। वे अपने क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोंका अहित करनेमें भी कोई संकोच नहीं करते। परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, कलह और हिंसाके वातावरणमें अशान्त स्थिति है। देशके कुछ भागोंमें तो हिंसाका नग्न ताण्डव दिखायी दे रहा है। अधिकतर लोग मानसिक तनावके शिकार बनते जा रहे हैं। कलिका प्रकोप सर्वत्र व्याप्त है। प्रश्न यह होता है कि इस स्थितिका समाधान क्या है? ऋषि-महर्षि, मुनि और शास्त्रोंने इस स्थितिको अपनी अन्तर्दृष्टिसे देखकर बहुत पहलेसे यह घोषित कर दिया है कि 'कलिकालमें मानव-कल्याण और विश्वशान्तिके लिये श्रीहरिके नामके अतिरिक्त कोई दूसरा सुलभ साधन नहीं है।' इसीलिये यह बात जोर देकर शास्त्रोंमें कही गयी है कि 'भगवान् श्रीहरिका नाम ही एकमात्र जीवन है। कलियुगमें इसके अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा—चारा नहीं है'—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

हमारे शास्त्रोंके अतिरिक्त अनुभवी संत-महात्माओंने भी भगवान्‌के नाम-स्मरण-जपको कलियुगका मुख्य धर्म (ऐहिक-पारलौकिक कल्याणकारी कर्तव्य) माना है। इतना ही नहीं, जगत्‌के समस्त धर्म-सम्प्रदाय भी किसी-न-किसी रूपमें भगवान्‌के नाम-स्मरण-जपके महत्त्वको प्रतिपादित करते हैं। नामके जप-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई भी नियम नहीं है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने भी कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।

'हे भगवन्! आपने लोगोंकी विभिन्न रुचि देखकर नित्य-सिद्ध अपने बहुत-से नाम कृपा करके प्रकट कर दिये। प्रत्येक नाममें अपनी सारी शक्ति भर दी और नाम-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई नियम भी नहीं रखा।'

विपत्तिसे त्राण पानेके लिये आज श्रीभगवन्नामका स्मरण ही एकमात्र उपाय है। ऐसा कौन-सा विघ्न है, जो भगवन्नाम-स्मरणसे नहीं टल सकता और ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो नहीं मिल सकती? इस कलिकालमें मङ्गलमय भगवान्‌के आश्रयके लिये भगवन्नामका सहारा ही एकमात्र अवलम्बन है। अतएव भारतवर्ष एवं समस्त विश्वके कल्याणके लिये, लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक सुख-शान्तिके लिये तथा साधकोंके परम लक्ष्य एवं मानवजीवनके परम ध्येय भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबको भगवन्नामका स्मरण, जप-कीर्तन करना चाहिये।

अतः 'कल्याण' के भाग्यवान् ग्राहक-अनुग्राहक पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं।

गत वर्ष तीस करोड़ नाम-जपकी प्रार्थना की गयी थी। प्रसन्नताकी बात है कि गत वर्षकी अपेक्षा इस वर्ष लोगोंने बड़े उत्साहसे भगवन्नामका जप किया तथा जप करनेवाले साधक महानुभावोंकी संख्यामें वृद्धि भी हुई। विभिन्न स्थानोंसे जो सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उनके अनुसार तैंतीस करोड़ नौ लाख मन्त्र-नाम-जप हुए हैं, जिन्हें अगले माह (नवम्बर)-में प्रकाशित किया जायगा। पिछले वर्ष इस नाम-जपकी संख्या लगभग अट्ठाईस करोड़ बावन लाख थी। अतः आप महानुभावोंसे इस वर्ष पैंतीस करोड़ भगवन्नाम-मन्त्र-जपकी प्रार्थना की जा रही है। यह नाम-जप अधिक उत्साहसे करना तथा करवाना चाहिये, जिससे भगवन्नाम-जपकी संख्यामें उत्तरोत्तर वृद्धि हो।

निवेदन है कि पूर्ववत् कार्तिक शुक्ल पूर्णिमासे जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ल वि०-सं० २०५४ तक पूरा किया जाय। पूरे पाँच महीनेका समय है।

भगवान्‌के इस प्रभावशाली नामका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसलिये 'कल्याण' के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक

प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे भी जप करवायें। नियमादि सदाकी भाँति ही हैं—

(१) जप प्रारम्भ करनेकी तिथि कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा (दिनाङ्क २५। ११। १९९६ ई०) सोमवार रखी गयी है। इसके बाद भी किसी भी तिथिसे जप आरम्भ कर सकते हैं, परंतु उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ल पूर्णिमा सं० २०५४ को कर देनी चाहिये। इसके आगे भी अधिक जप किया जाय तो और उत्तम है।

(२) सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

(३) एक व्यक्तिको प्रतिदिन उपरिनिर्दिष्ट मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार माला (एक माला) जप तो अवश्य ही करना चाहिये, अधिक तो कितना भी किया जा सकता है।

(४) संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे अथवा अङ्गुलियोंपर या किसी अन्य प्रकारसे भी रखी जा सकती है। तुलसीकी माला उत्तम होगी।

(५) यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समयपर आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय—सोनेके समयतक इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

(६) बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो बादमें अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

(७) संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं; उदाहरणके रूपमें—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—सोलह नामके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिमन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है, जिसमें भूल-चूकके लिये ८ मन्त्र बाद कर देनेपर गिनतीके लिये एक सौ मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिन जो भाई-बहन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ल पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर हमें अन्तमें सूचित करें। सूचना भेजनेवाले सज्जन जपकी संख्याकी सूचना ही भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि नहीं। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

(८) प्रथम सूचना तो मन्त्र-जप प्रारम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितनी जप-संख्याका संकल्प किया हो उसका उल्लेख रहे और दूसरी बार जप आरम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या उल्लिखित हो।

(९) जप करनेवाले सज्जनको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव नष्ट हो जायगा। स्मरण रहे, ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक होकर और प्रभावक बनते हैं।

(१०) सूचना संस्कृत, हिन्दी, मराठी, मारवाड़ी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी, उर्दूमें भेजी जा सकती है।

सूचना भेजनेका पता—

नामजप-कार्यालय, द्वारा—'कल्याण'—सम्पादकीय विभाग, गीताप्रेस, पो०—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)

प्रार्थी—

राधेश्याम खेमका

सम्पादक—'कल्याण'

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, वि० सं० २०५३, श्रीकृष्ण-सं० ५२२२, नवम्बर १९९६ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें) डाक-व्ययसहित ८० रु० (सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क डाक-व्ययसहित (भारतमें) ५०० रु० (सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

वर्ष ७० } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, वि० सं० २०५३, श्रीकृष्ण-सं० ५२२२, नवम्बर १९९६ ई० { संख्या ११
पूर्ण संख्या ८४०

मेरे सिवा नहीं कुछ भी, सब है मेरा लीला-विस्तार

विश्व चराचर निकला मुझसे, मुझसे व्याप्त सकल संसार।
मेरे सिवा नहीं कुछ भी, सब है मेरा लीला-विस्तार॥
मैं हूँ सूत्रधार, तुम हो मेरे हाथोंकी कठपुतली।
नाचो नाच, नचावे जैसे मेरे करकी यह सुतली॥
इसी बुद्धिसे, करके सब कर्मोंका मुझमें ही संन्यास।
छोड़ो राज-विभवकी ममता, तजो असत्‌की मिथ्या आस॥
तजो कामना भोगोंकी कर फलासक्तिका पूरा त्याग।
विगतज्वर हो, स्व-कर्तव्यका पालन करो सहित अनुराग॥
अहंकार मत आने दो, लो धनुष, करो अरिदल-संहार।
समराङ्गणमें रक्त-दानकर पूजो मुझको, पाण्डुकुमार!॥

(पद-रत्नाकर)

कल्याण

भगवान् शंकराचार्य 'चर्पटपञ्जरिका' (१)-में कहते हैं—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः०॥

दिन बीत गया, संध्या हुई, रात आयी, फिर प्रातःकाल हो गया; शिशिर ऋतु गयी, वसन्त आ गया; वसन्त गया, हेमन्त आया—इस प्रकार काल अपनी क्रीडा कर रहा है—खेल रहा है और हमारे आयुके दिन बीत रहे हैं। एक व्यक्तिके पास निश्चित थोड़ी-सी पूँजी है और वह समाप्त हुई जा रही है। आगेके लिये उसका कोई ध्यान नहीं है; उसका भविष्य अन्धकारमय है। ठीक यही दशा हमारी है, जो भगवान्‌की तरफ न लगकर संसारके प्रपञ्चोंमें ही रचे-पचे रहते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं—मानव-जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं। पता नहीं काल किस समय, किस हेतुसे, किस निमित्तसे, क्या बनकर आ जायगा और हमारा यह जीवन समाप्त हो जायगा। इसलिये जैसे-कैसे भी हो, अपने जीवनको भगवान्‌की ओर मोड़ देना बहुत आवश्यक है।

हमारे वर्तमान जीवनमें परिवर्तनकी आवश्यकता है; क्योंकि इस जीवनकी समाप्तिपर—मनुष्य-देह मिलनेसे भगवान्‌को पानेका जो अवसर हाथमें आया है, उसके निकल जानेपर पश्चात्तापके सिवा कुछ नहीं रह जायगा। इसलिये जीवन रहते थोड़ा-बहुत ही—जिससे जितना हो सके, उतना ही—जीवनको भगवान्‌की ओर लगानेका प्रयत्न करना चाहिये और वह होना चाहिये असली मनसे। भूखा व्यक्ति रोटी प्राप्त करनेके लिये स्वयमेव मनसे चेष्टा करता है। उसके इस प्रयत्नमें कहीं दिखावट नहीं होती; क्योंकि उसे भूख लगी है। प्यासे व्यक्तिको निरन्तर जलका स्मरण बना रहता है और जल-प्राप्तिकी वह चेष्टा करता है; क्योंकि जलके बिना उससे रहा नहीं जा रहा है, प्यास उसे बेचैन किये हुए है। उसके जल-प्राप्तिके प्रयत्नमें कोई दिखावट नहीं, प्रशंसा-प्राप्तिका भाव नहीं, सच्चे मनसे उसका यह प्रयत्न होता है। ठीक इसी प्रकार सच्चे मनसे—अन्तर्हृदयसे भगवान्‌के लिये हम लोगोंको सचेष्ट होना चाहिये।

दुनियामें रहकर घर-बाहरके काम करने पड़ते हैं और सब करने ही चाहिये। वे छूट नहीं सकते, छोड़नेकी बात कहना ही व्यर्थ है। पर उनपर एक नियन्त्रण तो हो सकता है—जितनी आवश्यकता हो, उतना उनमें मन लगे, उतना उनमें समय लगे, उतना ही प्रयास उनके लिये हो। शेष मनकी सारी वृत्तियाँ, शेष सारा समय और शेष सारे प्रयास केवल भगवान्‌के लिये हों। समझमें आ जानेपर तो घरके, शरीरके, आजीविकाके सारे काम भी भगवान्‌की सेवा बन सकते हैं। पर जबतक ऐसी वृत्ति न बने, तबतक घरके, शरीरके, आजीविकाके कार्योंसे बचा हुआ समय एवं वृत्तियाँ भगवान्‌में लगनी चाहिये। आगे चलकर जीवनका सम्पर्क एकमात्र भगवान्‌से जुड़ जानेपर हम जो कुछ भी करेंगे, वह भगवान्‌की सेवा ही होगी। जैसे पतिव्रता स्त्रीके जीवनके सारे काम केवल पतिके लिये होते हैं—उसका कपड़े पहनना, शृङ्गार करना, खाना, पीना, सोना—सब-के-सब पतिके लिये होते हैं, अपने लिये नहीं। इसी प्रकार यदि हम अपने जीवनको भगवान्‌के अर्पित कर दें, उसे भगवान्‌का बना दें तो जीवनका प्रत्येक छोटा-बड़ा कार्य भगवान्‌के लिये हो सकता है। फिर तो दिनभर भगवान्‌की पूजा होती है। इसके लिये हम आज इसी क्षणसे प्रयत्न करें और भगवान्‌को जीवनकी एक आवश्यकता बना लें। इतना कर लिया तो मानव-जीवन सफल है, अन्यथा—

'सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस जन
जनमत जगत जननि-दुख लागी।'
(विनय-पत्रिका, १४०। ३)

—की भाँति हमारी गति होनी निश्चित है।—'शिव'

महात्माके प्रति साधकका भाव एवं भगवत्प्रेम

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

वास्तवमें संसारमें भगवान्‌को तत्त्वतः जाननेवाले महात्मा बहुत ही कम हैं, लाखों-करोड़ोंमें कोई एक हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमें यानी उच्चकोटिके साधकोंमें कोई एक ही पुरुष मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है। जो भगवान्‌को तत्त्वतः जानता है, वही महात्मा है। भगवत्प्राप्त पुरुष महात्माके लक्षण शास्त्रोंमें बहुत जगह प्राप्त होते हैं। जैसे गीतामें संक्षेपमें कहा गया है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(१२। १३-१४)

जिनका किसीमें द्वेषभाव नहीं है, जिनकी सबके साथ मित्रता और प्रेम है, सबपर हेतुरहित दया है, हेतुरहित प्रेम है अर्थात् जैसे भगवान् सबके सुहृद् हैं, वैसे ही महात्मा सबके सुहृद् हैं। किसी चीजमें—स्त्री, पुत्र, घर तथा शरीरमें ममता एवं अहंता नहीं यानी ममता और अहंतारहित हैं, क्षमावान् हैं—कोई उनका कितना ही अपराध कर दे उसका अनिष्ट या बदला चाहते ही नहीं तथा सुख और दुःख जो कुछ प्राप्त हो उसमें समान रहते हैं यानी जैसा सुख वैसा दुःख। हर समय भगवान्‌के स्वरूपमें, आनन्दकी स्थितिमें मस्त रहते हैं। ऐसा योगी महात्मा पुरुष प्रत्येक क्षण आनन्दमें प्रसन्न रहता है, शान्तिमें मगन रहता है, मनको जीते हुए रहता है और दृढ़ निश्चयी होता है। मनको वशमें करके तथा उसे मेरेमें समर्पण कर मेरेमें ही निश्चयात्मक बुद्धिका समर्पण कर देता है। बुद्धिका यह निश्चय है कि 'परमात्मा एकदम प्रत्यक्ष है।' ऐसा अनुभव करके वह परमात्मामें ही बुद्धिको तद्रूप कर देता है यानी लगा देता है और मनको भी उन्हींमें लगा देता है। अर्थात् मन-बुद्धिसे तन्मय हो जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

अर्जुन! तू मेरेमें ही मन और बुद्धिको लगा दे। इसके उपरान्त तू मुझे ही प्राप्त होगा, इसमें कोई भी शंकाकी बात नहीं है।

यह तो साधन है और सिद्धके लक्षण गीताके १२वें अध्यायके १३वें और १४वें श्लोकमें ऊपर बतलाये गये हैं। इस प्रकार मन और बुद्धिको भगवान्‌के प्रति समर्पण करनेवाला भक्त भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।

इस संसारमें लाखों-करोड़ोंमें कोई एक महात्मा हैं। प्रथम तो महात्मा संसारमें दुर्लभ हैं, उनकी प्राप्ति बड़े भाग्यसे होती है या पूर्वमें किये हुए निष्काम कर्मोंके फलस्वरूप होती है। वे कर्म फल देनेके लिये आते हैं, क्योंकि इन निष्काम कर्मोंका फल है—जन्म-मरणसे मुक्त कर देना। रामायणमें कहा गया है—

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सत्संगति संसृति कर अंता॥

सकाम कर्म तो फल देकर शान्त हो जाते हैं। संत और महात्मा सकाम कर्मोंसे नहीं मिलते। संत-महात्माओंका मिलना जन्म और मरणका एकदम अन्त करनेवाला है। उनका तो मिलना ही दुर्लभ है, पर मिलनेके बाद कोई बात कठिन नहीं। मिलनेपर उनको पहचानना, जानना कठिन है, क्योंकि संसारमें सब पुरुष एक-से दीखते हैं, बाहरका तो कोई ऐसा चिह्न नहीं होता जिसके द्वारा प्रथम दृष्टिमें ही किसी महात्माकी सच्ची पहचान सम्भव हो सके। और यदि ऐसा चिह्न हो भी तो बहुतसे झूठे महात्मा खड़े हो जायँगे। हमें महात्मा यदि मिल जायँ और हम उन महात्माको जान लें तो फिर उसका फल अमोघ है। अमोघका अर्थ है कि उनका मिलना व्यर्थ नहीं जाता।

शंका होती है कि यदि महात्मा मिल जायँ तो उनसे

अधिक-से-अधिक लाभ कैसे उठावें? इसे समझानेके लिये कोई उदाहरण नहीं है। क्योंकि जो सांसारिक उदाहरण दिये जाते हैं वे अल्प हैं। पर क्या उपाय किया जाय?

किसीको पारस मिल जाय तो उसका क्या कर्तव्य है? यदि पारस प्राप्त करनेवाला न्यायकर्ता और बुद्धिमान् है तो इस पारससे सोना बनाकर सारी दुनियाको धनी बनानेका प्रयत्न करेगा अन्यथा वह मूर्ख है। वह किसीको भी गरीब क्यों रखेगा? दूसरा उदाहरण यह दिया जा सकता है—मान लो किसीके ऊपर कोई एक बड़ा सख्त फौजदारी मामला हो गया। जिस जजके पास मामला गया वह उसका परम मित्र है। इससे वह निश्चिन्त हो गया कि भगवान्‌ने ऐसी युक्ति बैठायी कि अपने परम मित्र जजके हाथमें मामला आ गया। इसमें अपनी विजय निश्चित है—यह तो अपनी एक-पक्षीय डिग्री ही है—चाहे हम अपराधी हों या न हों। जज उच्चकोटिका न्यायकर्ता और दयालु है। जैसे भगवान् न्यायकर्ता भी हैं और दयालु भी हैं, उसी प्रकार महात्मा भी दयालु और न्यायकर्ता हैं। अभियुक्त सोचता है कि जज साहब अपना परम हित करनेवाले हैं, अपने ही हैं, अपने आत्मीय हैं। उनके द्वारा जो न्याय होगा उसमें अपना प्रत्यक्ष परम हित है। उसने निश्चय कर लिया कि अपनी डिग्री पक्की हो गयी। इसी प्रकार यदि हमें महात्मा मिल जायँ तो उसी समय यह निश्चय कर लेना चाहिये कि अपना कल्याण तो सुनिश्चित है। कल्याण तो होगा ही, क्योंकि वे महात्मा उचित न्याय करनेवाले हैं और अपने परम मित्र हैं।

एक व्यापारीने एक हजार रुपयेका कर्जदारके ऊपर मुकदमा कर दिया था, जजने कर्जदारको यह आदेश दिया कि इसका एक हजार रुपया वापस लौटा दो। धनी आदमी बड़ा प्रसन्न हुआ और कहा कि न्यायाधीश ऐसा ही होना चाहिये। जज उसका परम मित्र है, मैंने तो सोचा था कि न्याय नहीं मिलेगा, किंतु बड़ा अच्छा न्याय किया।

निर्णय होनेके बाद ऋणीने कहा कि आपने ठीक किया, न्याय कर दिया, किंतु मेरे पास तो देनेके लिये एक हजार रुपये हैं ही नहीं। मेरी परिस्थिति तो आप जानते ही हैं। एक हजार रुपयेकी व्यवस्था भी आप ही करें। न्यायाधीशने कहा कि ठीक है उसका रुपया उसके घर पहुँच जायगा। तुम्हें किसीसे माँगना नहीं पड़ेगा। जज साहबने कहा कि तुमको याद है कि नहीं तुम्हारे कहनेसे मैंने तुम्हारे साझेमें काम किया, उसमें दो हजार रुपयेका लाभ हुआ था, जिसमें एक हजार रुपया तुम्हारा था और एक हजार मेरा। अब उसका रुपया उसके पास पहुँच जायगा, तू चिन्ता मत कर।

उसने कहा कि जब यह मुकदमा आपके पास आया था, मैं तभी निश्चिन्त हो गया था। इस प्रकार वे रुपये जज साहबने अपने पाससे भेज दिये। रुपया मिलनेपर धनीने कहा कि ऐसा न्यायकर्ता कहाँ मिले? मैंने तो यह समझ लिया था कि ये तो तुम्हारे मित्र हैं और हमारे मामलेको खारिज कर देंगे। इस प्रकार प्रतिपक्षीको भी अनुकूल बना लिया। मामला भी निपट गया और तीनों प्रेमसे एक हो गये। ईश्वरकी भक्ति भी ऐसी ही है और महात्माकी भक्ति भी ऐसी ही है। यह तो एक उदाहरण मात्र है, किंतु वस्तुतः परमात्मा या महात्माके विषयमें दुनियामें कोई उदाहरण है ही नहीं, कहाँसे लायें और कैसे समझायें। इससे अपनेको इतना अंश ही लेना चाहिये कि यदि महात्मा मिल जायँ तो समझ लो कि अपना बेड़ा पार है। रही साधनकी बात, सो साधन तो उनकी कृपासे अपने-आप ही होगा, साधन होनेमें कोई कठिनाई नहीं है। साधनसे और निरन्तर भजन-ध्यानसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है और निरन्तर भजन-ध्यान महात्माके प्रभावसे अपने-आप ही होगा। अपने मनमें भगवान्‌की प्राप्तिका एकदम दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। हम तो निमित्त मात्र हैं। भगवान्‌की प्राप्तिके उपाय अनायास अपने-आप ही प्राप्त होंगे, इसमें संदेहकी बात ही नहीं है।

भगवान् स्वयं ही योगक्षेम वहन करते हैं और महात्मा लोग भी करते हैं और हमें केवल निमित्त बनाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे जो मेरी उपासना करते हैं, भक्ति करते हैं,

उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम योग है और प्राप्तकी रक्षाका नाम क्षेम है। भगवान् कहते हैं कि साधनकी कमीकी पूर्ति भी मैं करता हूँ तथा उसकी रक्षा भी मैं करता हूँ, नष्ट नहीं होने देता। यदि भगवान् पूर्ति करें तो फिर रह ही क्या गया? यही बात महात्माओंके विषयमें है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(गीता १३। २५)

दूसरे जो ध्यानयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग कुछ भी नहीं जाननेवाले हैं, अल्पज्ञ हैं, किंतु वे भी यदि जाननेवाले महात्मा पुरुषोंके पास जाकर उनकी बात सुनकर साधन करते हैं तो वे भी केवल सुननेकी परायणतासे संसार-सागरसे तर जाते हैं। इसमें अपनी जिम्मेदारी इतनी ही है कि सुननेकी परायणता होनी चाहिये। सुननेकी परायणताका अर्थ है कि ध्यानसे सुनें और सुनकर काममें लायें। यदि अपनेको यह विश्वास हो जाय कि उनकी बात सुनकर काममें लानेसे अपना काम सिद्ध हो जायगा तो अनायास ही वह बात काममें लायी जा सकती है। महात्मा ऐसी बात कहते ही नहीं कि जिसको हम काममें न ला सकें और अगर कहें तो वह महात्मा ही क्या? क्योंकि महात्मा जानते हैं कि किसकी कितनी योग्यता है और ईश्वर तो जानते ही हैं। जिसकी जितनी योग्यता होगी उसके जिम्मे उतना ही काम दिया जाता है। अपनेमें जो बल, बुद्धि तथा शक्ति है, जैसा अपना स्वभाव है और जो कुछ अपने पास है, उस बातको भगवान् जानते ही हैं। इससे अधिक भगवान् न तो आपसे आशा करते हैं और न कभी ऐसी आज्ञा देते हैं कि तुम ऐसा करो। जो कुछ अपनेमें है वह तो भगवान्‌की दी हुई है, उनसे कोई छिपी हुई थोड़े ही है। उन्होंने अपनी प्राप्तिके लिये जो कुछ वस्तु आपको दे रखी है, वही वापस चाहते हैं और यदि उसमें कोई खर्च हो गयी तो वह भी माफ, किंतु जितनी तुम्हारे पास है उतनी उन्हें दे दो। यदि इस बातका ज्ञान हो जाय, विश्वास हो जाय तो कौन ऐसा मूढ़ होगा जो इतने कम मूल्यमें भगवान् मिलें तो उनको छोड़ेगा। एक पारस करोड़ों रुपये देनेपर भी नहीं मिलता है और वह पारस यदि कौड़ियोंमें मिले तो संकेत पानेमात्रसे आदमी टूट पड़ेगा और भगवान् तो पारससे भी बढ़कर हैं और खर्च कौड़ियोंका भी नहीं करना है, अपने पास खर्च करनेको है ही क्या?

प्रश्न है कि महात्माके मिलनेके बाद अपनी कैसी स्थिति होगी और कितने समयमें परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी? उत्तर यह है कि समयकी सीमा नहीं है, भाव ही प्रधान है। यदि अपना भाव एक मिनटमें बदल जाय तो एक मिनटमें भगवान् मिल जायँगे और क्षणमें बदल जाय तो क्षणमें मिल जायँगे।

भाव बदलनेकी कसौटी क्या है? इसकी कसौटी पहले कही गयी जजकी फैसलेवाली है—जैसे किसीका मामला अपने मित्र जज साहबके पास है तो वह जजसे डरता नहीं, क्योंकि जज तो उसका परम मित्र है। उसी समय उसने यह बात समझ ली कि अपनी विजय होगी। मैं जीत गया, क्योंकि अपना मामला अपने मित्रके पास है, मेरा काम हो गया। इसी प्रकार महात्माको देखकर समझना चाहिये कि ये तो अपने परम मित्र हैं और अपना केस इनके हाथमें है, अब अपनी तो विजय हो ही गयी। महात्माके दर्शनसे ही अपनी विजय है। हमें यह विश्वास हो कि सब कुछ इनके अधिकारमें है। परमात्माकी प्राप्ति ही डिग्री है। हम यह समझ लें कि परमात्माकी प्राप्ति इनके हाथमें है और ये अपने मित्र हैं। अतः अपने ही हाथमें है। ये न्यायकर्ता होनेसे हमसे निमित्तमात्र कुछ साधन करवाकर परमात्माकी प्राप्ति करवायेंगे, इसमें हमें क्या हानि है? बुद्धिका काम पड़ेगा तो बुद्धि देंगे, बलका काम पड़ेगा तो बल देंगे और अन्य जिस चीजकी भी आवश्यकता पड़ेगी वह चीज ये खुद देंगे। हम तो निमित्तमात्र हैं। हमें परमात्माकी प्राप्ति हो ही गयी। विलम्ब ही क्या है? विलम्ब तो फैसला सुननेका है। अपने मनमें आतुरता होनी चाहिये कि जल्दी फैसला सुना दें। जजने दावेदारसे कह दिया कि तुम अपने घर जाओ, तुम्हारे घर रुपया पहुँच जायगा। तुम खुश हो न, वह प्रसन्न-मनसे कहता है—हाँ बहुत खुश हूँ और देनदारको कह दिया कि अमुक जगह रुपया पड़ा है, लेकर दे आओ। घरसे रुपया भी नहीं लगा। उसके पास देनेके लिये पैसा था भी नहीं। ऋणदाताको न्याय मिला और ऋणीको ऋणसे

मुक्ति। यहाँ ऋणसे मुक्त करना संसारसे मुक्त करना है। यह आपको एक दृष्टान्त दिया है।

हमारे पास मेरे ममेरे भाईकी पंचायत आयी थी। उसने कहा कि आप हमारे हैं, आपके पास पंयाचत आयी है। आपका हमारा रुपया कोई दो नहीं है, इसलिये सामनेवाला जैसे प्रसन्न हो, वैसे ही आप निर्णय कर दें, इसीमें आपकी शोभा है। मुझे जैसी आशा भी नहीं थी वैसा उसने व्यवहार किया। माँगनेवालेसे मैंने पूछा कि कितना रुपया तुम्हें लेना है, ठीक-ठीक बताओ, उसने रकम बतायी। मैंने उससे कई बार पूछा कि इतना ही है न? ठीक बता रहे हो न? उसने कहा कि ठीक बता रहा हूँ। मैंने कहा कि ठीक है अपना रुपया अभी ले लो। उन्होंने कहा कि इस प्रकारके फैसलेकी हमारी धारणा ही नहीं थी। हम तो यह समझे थे कि आप आधा-आधा करेंगे। हमने कहा कि आपका रुपया है, आधा क्यों करेंगे पूरा देंगे। उनको आशातीत प्रसन्नता हुई और देनेवाले भाईकी प्रसन्नताका कोई ठिकाना ही नहीं। उसने कहा—भाईजी! आपने बहुत अच्छा न्याय किया। यह जो भाव है कि मेरेसे कुछ दिलाकर फैसला करवाया यह बहुत ऊँचे दर्जेका भाव है। उसको परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं लगता। यह मैंने आपको अपने साथ घटी हुई घटना बतलायी।

यदि भगवत्प्राप्त महात्माके प्रति शरीरसहित अपना सर्वस्व अर्पण कर दे, अपने पास किंचित्मात्र कोई भी चीज नहीं रखे तो उसी समय मुक्त हो जाय, क्योंकि बन्धन तो अहंता और ममताका ही है। जब अहंता और ममता खत्म हो गयी तो फिर बन्धन किस चीजका रहा। प्रसन्नतासे सब समर्पण कर देना चाहिये। जो पंच है उसे उस समय हिचक होनेकी थोड़ी गुंजाइश रह जाती है, जब देनेवालेके मनमें रुपयोंके प्रति ममता हो और उनसे न्याय करवावे। यहाँ रुपयेकी जगह मैं और मेरा है।

कर किससे ले, माल हो तो कर लगे। माल नहीं हो तो बहुतसे आदमी जाते हैं, उनसे चुंगीवाले क्या लेते हैं? पूछते हैं कि तुम्हारे पास क्या है, कहते हैं कि कुछ नहीं है। मैं ही हूँ।

जिसके पास कुछ नहीं होता, उससे दुनियामें सरकार भी कुछ नहीं ले सकती और परलोकमें यमराज कुछ नहीं ले सकता।

महात्माके दर्शनसे क्षण-क्षणमें उसे इतना उत्तरोत्तर लाभ और प्रसन्नता होती रहती है कि प्रसन्नता उसमें समाती ही नहीं। वह उनके रुखकी तरफ देखता रहता है कि किसी भी प्रकारसे अपनेको कोई बातका संकेत कर दें। यद्यपि कल्याण तो बिना संकेतके ही हो जाता है, पर संकेत कर दें तो वह संकेत उसके लिये साधन है, उस साधनसे भगवान्‌से मिला जाय तो वह ज्यादा महत्त्वकी बात है। भगवान् तो बिना साधन मिलनेको तैयार हैं ही, केवल साधकसे कुछ साधन करवाते हैं और यदि कोई संकेत हो जाय तो उसके लिये तो बहुत अच्छी बात है। अपना सब कुछ अर्पण करनेके लिये हर समय हाथमें लिये खड़ा रहे कि कब हुक्म हुआ बस तैयार। प्रेरणा हो जाय तो समझे आज मैं धन्य हुआ। मेरे लिये इस बातकी प्रेरणा हो गयी कि तुम यह करो। प्रेरणा मिलनी अपने भाग्यमें कहाँ है? सच्चा साधक महात्माके आस-पास घूमता रहता है इसलिये कि यदि दूसरेके लिये भी कोई हुक्म हो जाय तो उससे लाभ उठा लें। जैसे अर्जुनको भगवान्‌का निर्देश हुआ—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

हे अर्जुन! तू सब प्रकारसे, सर्वभावसे परमात्माकी शरण हो जा, उसकी कृपासे तू शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जायगा। भगवान्‌ने तो अर्जुनको निर्देश दिया, किंतु उसको हम अपने लिये मान लें, वह अपने लिये ही है, अर्जुनको तो निमित्त बनाकर सारे संसारके लिये भगवान्‌ने गीता कही है, वह सबके लिये है और सबमें अपने हैं ही। आज्ञा अर्जुनको दें और अपनी श्रद्धा हो तो जो लाभ अर्जुनको हुआ वही लाभ हम उठा सकते हैं। यदि अर्जुन काममें नहीं लायें और हम काममें ले आयें तो अर्जुनको भले ही भगवान्‌की प्राप्ति न हो हमें तो हो ही जाय। अर्जुनसे भगवान्‌ने यह बात कही है, इसलिये अर्जुनको न हो, ऐसी बात नहीं है। भगवान्‌ने कहा भी है कि 'यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरा पतन हो जायगा,' न्यायसे यह

बात ठीक है। पर अर्जुन भगवान्‌का भक्त है और भक्तका कभी पतन नहीं होता, क्योंकि भगवान् स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति**'—तू मेरा भक्त है, मेरा सखा है और यह भी कहा है कि '**न मे भक्तः प्रणश्यति**' तू मेरा भक्त है और मेरे भक्तका विनाश नहीं होता। अर्जुनका विनाश तो किसी प्रकारसे होना ही नहीं है, इसलिये भगवान् 'यदि' शब्द देकर कहते हैं कि यदि अहंकारके आश्रित होकर तू मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरा पतन हो जायगा। न माननेमें और कोई हेतु नहीं है—केवल अहंकार है और यह बहुत खराब है। जहाँ अहंकार है, वहाँ ममता है, जहाँ मैं हूँ वहाँ मेरा है, और अहंकारके साथ ही ममताका त्याग हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि केवल अहंकारको ही यदि तू रखेगा तो गड़बड़ी हो सकती है। गड़बड़ीका और कोई कारण नहीं है। 'यदि' कहनेका यही अभिप्राय है कि अर्जुन भगवान्‌की बात नहीं माने ऐसी बात नहीं है किंतु यदि नहीं माने तो यहाँ भगवान्‌ने एक प्रकारसे नीति दिखायी और भय दिखाया। इस भयमें यह भाव भी है कि अर्जुन कहीं मेरी बात न माननेके रास्तेमें नहीं चला जाय। अर्जुन तो न माननेके रास्तेमें जानेवाला था ही नहीं, उसने तो साफ कह दिया था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८। ७३)

हे प्रभो! आपकी कृपासे मेरे मोहका नाश हो गया, अब मैं स्मरण-शक्तिको प्राप्त हो गया हूँ। जो बात आपने कही वह सब मेरे ध्यानमें है। हे अच्युत! अब मुझे कोई शंका नहीं रही, मेरे सब संशय नष्ट हो गये, मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। बादमें अर्जुन भगवान्‌के संकेतके अनुसार चलने लगे, आज्ञाके अनुसार नाचने लगे। अर्जुनकी यही दृष्टि रहती कि भगवान् जो कहते हैं, उसीकी कीमत है। भगवान् जो चाहते हैं वही करते हैं। अपने तो उससे अलग कोई बात है ही नहीं।

महात्मा पुरुषका दर्शन, भाषण, वार्तालाप, स्पर्श, चिन्तन या किसी भी इन्द्रियसे—मनसे या बुद्धिसे सम्बन्ध उत्तरोत्तर प्रसन्नता और आनन्दको ही देनेवाला है। उससे इतना आनन्द होता है कि वह समाता नहीं। इसके सामने संसारके जितने भी दृष्टान्त हैं, सब रद्द हैं। गोपियोंका भगवान्‌में प्रेम था तो उनको भगवान् किसी भी बहानेसे मिल जाते, उससे बढ़कर उनके लिये कोई बात थी ही नहीं। इसी प्रकार मुनि-पत्नियाँ थीं। कृष्ण और बलदेवजीने उनको कहलवा भेजा कि हम भूखे हैं, हमें भोजन चाहिये। जब उन्हें मालूम हुआ तो वे स्वयं भोजन लेकर जहाँ कृष्ण और बलराम थे, वहाँ पहुँचीं और किसीकी भी नहीं सुनीं। एक स्त्रीको उसके पतिने घरमें बंद करके ताला लगा दिया कि तू अब कैसे जायगी, वह स्त्री सबसे आगे पहुँची और घर खोलकर देखा तो उसकी लाश पड़ी थी, उसमें प्राण नहीं थे। उसकी आत्मा तो जहाँ भगवान् थे, वहाँ पहुँच चुकी थी। भगवान्‌को देख-देखकर मुग्ध हो रही है।

जब भगवान् श्रीकृष्णजी वनसे होकर अपने घरको जाते तो गोपियाँ अपने-अपने द्वारपर खड़ी होकर प्रतीक्षा करती रहतीं, देखती रहतीं। देखनेके बाद ऐसी मन्त्रमुग्ध होतीं कि प्रेमके कारण, आनन्दके कारण तथा प्रसन्नताके कारण अपने-आपका होश ही नहीं रहता। उनकी दृष्टिमें तो वह भगवान्‌की ही प्राप्ति थी, दूसरोंकी दृष्टिमें चाहे न हो। भगवान्‌को हजारों-लाखों आदमी देखते थे, उन सबमें यह बात थोड़े ही थी, गोपियोंमें यह बात थी। उनका भाव था, इसलिये यह बात उनके दिलसे कभी दूर नहीं होती। जब उनका कभी भगवान्‌से मिलन नहीं होता तो एक सखी दूसरीसे कहती कि भगवान् कृष्ण मेरे हृदयमें बस गये, वे दर्शन देते नहीं या तो कोई ऐसी बात हो कि मैं भूल जाऊँ, तब चैन पड़े नहीं तो आकर दर्शन देना चाहिये।

मैं आशिक तेरे नामका, बिन मिले सब्र नहीं होता।

इस प्रकार भगवान्‌के आशिक हो जाय तो भगवान्‌को मिलना ही पड़ेगा। तुलसीकृत रामायणमें विभीषणजी हनुमान्‌जीसे कहते हैं कि अब मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि बिना भगवान्‌की कृपाके महात्मा नहीं मिलते—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

भगवान्‌की मेरे ऊपर असीम कृपा है जो तेरा दर्शन हो गया और तेरे दर्शनका फल भगवान्‌का मिलन है। अब

भगवान् मिलेंगे ही। अगर यह बात अपने दिलमें आ जाय कि भगवान्‌की कृपासे ही महात्मा मिलते हैं तो उस कृपाको जितनी मानता है, उतनी ही हो जाती है। कृपाको अपने मनमें पूर्ण मान ले तो पूर्ण है। पूर्ण कृपाकी पहचान यह है कि महात्माके मिलनेके साथ ही भगवान् मिल जायँ। भगवान्‌का जो मिलन है वह भी पूर्ण कृपाका फल है या यों कहें कि पूर्ण कृपाका स्वरूप है। अपनी सामर्थ्य नहीं है कि उस आनन्दकी बाढ़का हम त्याग कर दें। महात्माका जो संकेत है या उनके हृदयका जो भाव है और उसका हमें ज्ञान हो गया तो उसके पालनसे हम वञ्चित रह जायँ, उसे हम ना कर दें—यह हमारी सामर्थ्य नहीं है। उनका संकेत हमें नचा देगा, वह स्वयं ही काम करवा देगा। उसमें इतना आनन्द है कि उससे अपने रुक ही नहीं सकते, बल्कि दूसरा भी नहीं रोक सकता। हमारी ऐसी सामर्थ्य ही नहीं है कि हम नहीं चाहें और न करें। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अपने पिता दशरथजीमें श्रद्धा थी, वह पिता समझकर थी, महात्मा समझकर नहीं। महात्मामें श्रद्धा ज्यादा ऊँचे दर्जेकी होती है और ईश्वरमें उससे भी ज्यादा ऊँचे दर्जेकी है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने दशरथजीको ईश्वर भी नहीं माना, महात्मा भी नहीं माना, पिता माना। वाल्मीकीय रामायणमें माता कौसल्याके प्रति भगवान् रामने यह बात कही कि पिताकी आज्ञापालन न करनेकी मेरी सामर्थ्य नहीं है। पिताने कहा कि तुम वन जाओ तो मैं वन नहीं जाऊँ, ऐसी मेरी सामर्थ्य नहीं है। कैकेयी कहती है कि मैंने तेरे पितासे वरदान माँग लिया, अब तेरे पिता तुमको वन भेजनेमें संकोच कर रहे हैं। तुलसीकृत रामायणमें यह बात बतायी गयी कि भगवान् रामने कहा कि माता! इसमें संकोचकी क्या बात है? इसमें सब प्रकारसे मेरा हित है। एक तो पिताकी आज्ञा और फिर आपकी सम्मति और वनमें मुनियोंसे मिलना और सबसे बढ़कर यह बात कि मेरे परम प्यारे भाई भरतको राजगद्दी मिलेगी। यह मेरे लिये सौभाग्यकी बात है। ऐसा मौका मुझे फिर कब मिलेगा। यदि मैं ऐसा मौका चूक जाऊँ तो मूर्खोंमें प्रधान गिना जाऊँ। पिताकी आज्ञासे मैं अग्निमें प्रवेश कर सकता हूँ, विष पी सकता हूँ, वन जानेकी तो बात ही क्या है? आज्ञा-पालन करनेकी बात कहना भी कलंककी बात है। नहीं करनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। यह श्रद्धा तो पिता समझकर आज्ञापालनमें थी। महात्मा समझनेपर इससे ज्यादा तथा परमात्मा समझनेपर इससे भी ज्यादा श्रद्धा हो जाती है। श्रद्धा होते ही उसी समय परमात्माकी प्राप्ति हो जानी चाहिये। श्रद्धाकी कमी ही हेतु है। महात्माको महात्मा समझते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जानी चाहिये। अन्यथा श्रद्धा-विश्वासकी कमी है, समझकी कमी है। श्रद्धाके दो भेद हैं—सकाम तथा निष्काम। सकाम श्रद्धा उच्चकोटिकी नहीं है, कामना भी बेसमझीसे है। इससे विलम्ब हो सकता है, किंतु निष्काम श्रद्धामें विलम्ब नहीं होता। साधक भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌के तत्त्वको शीघ्र ही जान जाता है। भगवान्‌का मिलना प्रेमसे होता है। शिवजी महाराज कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

भगवान् सब जगह समान-भावसे व्यापक हैं, किंतु प्रेमसे मिलते हैं, इस बातको मैं जानता हूँ। महात्माओंको महात्मा जाननेके बाद उनके संकेतसे हँसता-हँसता नाचता है। मदारीके बंदरका उदाहरण दिया जाय तो वह यहाँ लागू नहीं होता, क्योंकि मदारीका बंदर नाचता तो है, किंतु उसको प्रसन्नता नहीं रहती। हम कठपुतलीका दृष्टान्त दें तो वह भी यहाँ लागू नहीं होता, क्योंकि कठपुतली सूत्रधारके नचानेके अनुसार ही नाचती है, किंतु वह तो जड है, उसमें मन-बुद्धि तो है नहीं, अतः प्रसन्नताका प्रश्न ही नहीं उठता। किसी भी सांसारिक पदार्थका ऐसा उदाहरण है ही नहीं, जिसके द्वारा यह स्थिति समझायी जा सके। जो उस अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, वही उसका उदाहरण है। भगवान् ऐसे अनुपमेय प्रेमी भक्तोंसे उनके हितके लिये ही, उनमें आतुरता—चाह बढ़ानेके लिये ही छिपकर रहते हैं। जब उनमें श्रद्धा बढ़ जाती है, प्रेम बढ़ जाता है, आतुरता बढ़ जाती है, तब छिपकर नहीं रह सकते; भगवान् कहीं भी रहें भक्त उनको खोज निकालते हैं। भगवान् जब सखी-वेष धारण करके आते तो तत्त्वको जाननेवाली सखियाँ उन्हें पहचान लेतीं कि यह सखी नहीं, सखा है। जो भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जानते हैं, भगवान्‌का संग करते हैं, जिन्हें भगवान्‌के स्वरूपका अनुभव हो जाता है, उनसे भगवान् नहीं छिप सकते। भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

जो मुझे सब जगह देखता है, सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अलग नहीं होता और वह मुझसे कभी अलग

नहीं होता। उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये कभी अदृश्य नहीं होता। वह जो कुछ भी करता है उसका वह करना मेरेमें ही रमण है। भगवान्ने कहा—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

सारे भूतोंमें मैं स्थित हूँ, मुझ परमात्मामें तन्मय होकर एकीभावसे स्थित होकर मेरे स्वरूपका जो अनुभव करता है, वह संसारमें वर्तता हुआ भी मेरेमें ही वर्तता है, मेरेमें ही क्रीड़ा करता है, मेरेमें ही रमण करता है। उसकी दृष्टिमें मेरे सिवाय और कोई वस्तु नहीं है। भगवान्से वह एक क्षण दूर नहीं रह सकता, भगवान् उससे एक क्षण दूर नहीं रह सकते, क्योंकि **'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'**—भगवान्को भूलनेसे परम व्याकुलता हो जाती है। किन्तु व्याकुलता तो तब हो जब वियोग हो, उसका वियोग तो होता ही नहीं। वियोग तो साधनकालमें होता है। वह वियोग भी संयोगसे बढ़कर सुख देनेवाला है। वियोगमें एक दूसरे प्रकारका आनन्द-रस आता है। वियोग-अवस्थामें अपने प्रेमीका ध्यान रहता है, उसे भूल नहीं सकता। किसी समय यदि भूल जाय तो मनुष्य एकदम व्याकुल हो जाता है, यह तो विरहकी व्याकुलताकी बात है, जहाँ प्रत्यक्ष मिलन है, वहाँकी तो बात ही क्या है। जब भगवान्का प्रत्यक्ष मिलन होता है, चाहे वह राम, कृष्ण, विष्णु किसी भी स्वरूपमें हो एक ही बात है, उसके आश्चर्यकी सीमा ही नहीं रहती कि कहाँ मैं और कहाँ भगवान्। क्या देख रहा हूँ? भगवान् मेरेसे मिल रहे हैं। ऐसी अवस्थामें आनन्द समाता ही नहीं। फिर जब उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वहाँ स्तुति, प्रार्थना, भय, लज्जा, मान सबकी समाप्ति हो जाती है। यदि कहीं स्तुति-प्रार्थना देखनेमें आती है तो वह उतने अंशमें परमात्माको यथार्थ जाननेमें कमी है। स्तुति तो साधन-अवस्थामें होती है, जब परमात्माको यथार्थ जान लिया, तब स्तुति कौन करे और किसकी करे। गुणगानका नाम स्तुति है। स्तुति एक प्रकारसे खुशामद है। वहाँ खुशामद कौन करे, क्यों करे, किसलिये करे। प्रार्थना माने भगवान्से कुछ माँगना। कुछ बाकी ही नहीं रहता तो भगवान्से माँगे ही क्या? जहाँ कमी होती है, वहीं माँगना बनता है। जहाँ बड़ा-छोटा होता है, वहाँ आदर-सत्कार-मान होता है, जहाँ एक ही हैं वहाँ आदर-सत्कार कौन किसका करे। भय वहाँ होता है, जहाँ अनिष्टकी सम्भावना हो। वहाँ अनिष्टका तो नामोनिशान ही नहीं, फिर भय किसका। लज्जा पर-भावमें होती है। अपने-आपसे किसीको लज्जा होती ही नहीं। ये सब समाप्त हो जाते हैं। देखनेके ही दो हैं, किंतु वस्तुतः एक ही हैं।
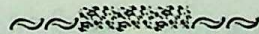
सांसारिक हानि-लाभ प्रारब्धसे मिलता है

मनुष्यका अपना स्वभाव होता है और वह प्रत्येक वस्तुको अपनी आँखसे देखता है। जहाँतक बने, चेष्टा ऐसी रखनी चाहिये कि हम जिसके साथ काम कर रहे हैं, उसका अधिक-से-अधिक आदेश पालन करें और उसके अनुकूल चलें! जहाँपर पाप स्वीकार करना पड़ता हो, वहाँपर उतने अंशमें उनका समर्थन न करके अन्य चीजोंका तो समर्थन करना ही चाहिये। यही नीति है। रही दोषकी बात, सो भगवान्के सामने मनुष्यको सदा सच्चा रहना चाहिये। सांसारिक हानि-लाभ पूर्व-जन्मार्जित कर्मोंके अनुसार बने हुए प्रारब्धसे मिलते हैं। उसे बदलना बहुत कठिन है, न तो हम स्वयं उचित-अनुचित बर्ताव करके उसे बदल सकते हैं, न दूसरे ही हमारे साथ न्याय-अन्यायका बर्ताव करके बदल सकते हैं। दूसरेके द्वारा अपना अहित होता देखकर तो यह समझना चाहिये कि वह व्यक्ति केवल निमित्त है, मेरा अहित मेरे कर्मवश हुआ है, पर मेरा अहित चाहकर उसने अपना अहित कर लिया है, भगवान् उसे क्षमा करें। और अपने मनमें कभी किसीके अहित करनेकी कल्पना आये तो यह सोचना चाहिये कि उसके प्रारब्धके बिना उसका अहित करना मेरे लिये असम्भव है, परंतु उसका अहित सोचकर मैं अपना अहित अवश्य कर रहा हूँ। अतएव अपने अहितसे बचना चाहिये।
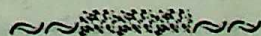
भागवतधर्म—पञ्चम पुरुषार्थ

(बालयोगी श्रीशंकरानन्दजी ब्रह्मचारी)

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

(कठ० १। २। २)

मानवमात्रकी प्रवृत्ति दो प्रकारके साधनोंमें होती है। धन, मान एवं भौतिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये किये गये साधन प्रेय-साधन कहलाते हैं तथा सर्वजनहिताय या अपने आध्यात्मिक उत्कर्षके लिये किये जानेवाले साधन श्रेय-साधन कहलाते हैं। जिनकी बुद्धि सत्-शास्त्र-श्रवण, अध्ययन तथा महापुरुषोंके सत्संगद्वारा विवेकवती हो गयी है, वे कल्याण-पथमें धैर्यसे बढ़नेवाले सम्यक् प्रकारसे प्रयत्नशील विवेकीजन ही प्रेयकी अपेक्षा श्रेय अर्थात् परम कल्याणको अधिक महत्त्व देते हैं।

श्रेय एवं प्रेय दोनोंकी प्राप्तिकी इच्छावाले व्यक्तिको यथाप्राप्त समस्त जागतिक सुख-सामग्रियोंको भगवत्स्वरूप जानकर यथासाध्य सर्वहितार्थ ही नियोजित करना चाहिये, क्योंकि सत्कर्म ही उभयविध (लौकिक-पारलौकिक) कल्याणका दाता है। कहा गया है—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

(रा०च०मा० ३। १६। १-३)

भगवान् रामने लक्ष्मणको अपनी प्रसन्नताका कारण बताते हुए कहा है, धर्मसे वैराग्यकी तथा योगसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है, और ज्ञान मोक्षप्रद है ऐसा वेदोंमें वर्णित है। परंतु भक्ति स्वतन्त्र है उसे ज्ञान एवं वैराग्यकी अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान तो उसके अधीन हैं। भागवतमें भी कहा गया है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

(श्रीमद्भा० १। २। ७)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति होते ही अनन्य प्रेमसे उनमें चित्त जोड़ते ही निष्काम ज्ञान और वैराग्यका आविर्भाव हो जाता है।

अब यह जानना आवश्यक है कि भक्त एवं भक्तिका स्वरूप क्या है? जो कभी भगवान्‌से विभक्त न हो अर्थात् जिसके प्रत्येक कर्म भगवान्‌के लिये होते हैं, क्षणमात्रके लिये भी जिसे भगवत्-विस्मृति नहीं होती ऐसा भक्त होता है। सतत भगवत्स्मरण तभी हो सकता है, जब यह धारणा दृढ़ हो जाय कि यह जगत् ईश्वरसे भिन्न नहीं है, बल्कि वह ईश्वर ही जगत्-रूपमें भासित हो रहा है—

हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः॥

(श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी)

इसी ईश्वर और जगत्‌की अभिन्नता या कण-कणमें ईश्वरकी सर्वव्यापकताके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत महापुराणका यह प्रसंग द्रष्टव्य है—'एक समय ब्रह्माजीको वन-भोजन-कालमें श्रीकृष्णद्वारा ग्वालोंका उच्छिष्ट ग्रहण करते देख संदेह हुआ कि जिसे पवित्रतापूर्वक वेदमन्त्रोंसे भोग लगानेपर भी भक्षण करते नहीं देखा जाता, वह ग्वालोंका जूठन कैसे ग्रहण कर सकता है।' इसलिये अपने संदेह-निवारण एवं श्रीकृष्णकी भगवत्ताके परीक्षणार्थ उन्होंने ग्वालों और बछड़ोंका हरण कर लिया। श्रीकृष्ण चाहते तो ब्रह्माजीद्वारा छिपाये गये ग्वालों-बछड़ोंको अनायास ही ला सकते थे, परंतु इससे ब्रह्माजीका मोह नहीं मिटता, अतः ब्रह्माजीका मोह एवं सृष्टिकर्तापनके अभिमानको विनष्ट करनेके लिये श्रीकृष्ण ग्वाले-बछड़े ही नहीं बल्कि वंशी-छड़ी तथा सींगसे बना वाद्य, आभूषण, वस्त्र, गुण एवं स्वभाव—सब कुछ स्वयं ही बन गये। अभिप्राय यह कि ब्रह्माजीद्वारा अपहृत समस्त ग्वाल-बाल, बछड़े एवं अन्यान्य पदार्थ ज्यों-के-त्यों ब्रह्माजीको वहाँ सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगे—

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। १९)

वेदवाणी '**सर्वं विष्णुमयं जगत्**' को सत्य कर दिखानेके

लिये भगवान् जड-चेतन स्वयं बन गये, अत: भक्त जब सारे विश्वको भगवान्से भिन्न नहीं जानता तभी उसे सतत भगवत्स्मृति रहती है तथा प्रवहमान जलधारासे सहगमन करनेवाले जलमें जैसे निर्मलता बनी रहती है, वैसे ही भक्तके अन्त:करणमें भी विकार नहीं आने पाते। रामचरितमानसमें भक्तकी महिमा इन शब्दोंमें वर्णित है—

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

आइये, थोड़ा भक्तिपर भी विचार कर लें। **'भज इत्येष धातुर्वै सेवायां परिकीर्तिता'**। **'भज सेवायाम्'** धातुसे भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। भगवान् सर्वभूतोंमें आत्मास्वरूपसे विराजमान हैं, ऐसा जानकर मान-बड़ाईका त्यागकर यथाशक्ति सबकी सेवा करना ही सच्ची भक्ति है। भगवान् कपिल अपनी माता देवहूतिको सांख्यशास्त्रका उपदेश देते हुए कहते हैं—'जो सभी प्राणियोंमें मुझे विराजमान न देखकर उनकी अवहेलना—तिरस्कार करता है और मन्दिरमें मेरी मूर्तिकी पूजा-अर्चना करता है तो यह विडम्बनामात्र है।'—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थित: सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्य: कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। २१)

भक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) विधि-प्रधान, जिसमें उपासनाकी तीन विधियों—वैदिक, पौराणिक तथा तान्त्रिकमेंसे किसी एक विधिसे आराध्यकी उपासना की जाती है। (२) प्रेम-प्रधान, इसमें विधि गौण एवं प्रेम प्रमुख होता है। विधि-विधानत: ईश्वराराधन करते-करते अन्त:करणकी विशुद्धि होनेपर वैधी भक्ति ही प्रेमलक्षणा-भक्तिमें परिणत हो जाती है। यह भक्तिकी ही परमोत्कृष्ट स्थिति है। याद रखो, जबतक इस लोक या परलोकके भोगोंकी इच्छा शेष रहेगी, तबतक प्रेमाभक्ति हो ही नहीं सकती—

भक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

(पद्मपुराण)

प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिका प्रमुख साधन भक्त एवं भगवान्के चरित्रोंका श्रवण ही है। एक विशेषता है, भक्ति भगवच्चरित्रोंके श्रवणसे जितनी नहीं बढ़ती, उतनी भक्तोंके चरित्र-श्रवणसे बढ़ती है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गत:।
सर्वेशे मनसो वृत्ति: भक्तिरित्यभिधीयते॥

(भक्तिरसायन १। ३)

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी अपने भक्तिरसायन ग्रन्थमें भगवच्चरित्रों एवं भक्तचरित्रोंके श्रवण-प्रभावसे अन्त:करणके द्रवित होनेपर मनकी वृत्तिका तैल-धारासदृश सतत प्रवहमान होनेको ही भक्ति बताते हैं। मनसे किसीका सतत स्मरण अत्यधिक प्रेम या शत्रुता होनेकी स्थितिमें ही होता है, अन्यथा नहीं। अत: ईश्वरमें प्रेमकी प्रगाढ़ता ही मनको उनसे जोड़ सकती है। रूपगोस्वामीजीने इष्टदेवमें प्रेमावेशकी अधिकतासे मनके स्वाभाविक रूपसे अनुरक्त होनेको ही प्रेमलक्षणा भक्तिकी संज्ञा दी है—

इष्टे स्वारसिको राग: परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्ति: सात्र रागात्मिकोदिता॥

प्रेमाभक्तिका साधक, अपने इष्टके चरणोंमें निरन्तर अनुराग बढ़े यही चाहता है, उसका साध्य भगवान् नहीं भक्ति ही होती है, यही कारण है भगवान्के भक्तिपरवश होकर दर्शन देनेपर भी वह उनसे भक्तिकी ही याचना करता है। ऐसा भक्त अपनेमें प्रेमकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर भी प्रेमकी कमी ही मानता है, उसका भगवत्प्रेम शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान बढ़ता है, परंतु इसमें कभी पूर्णिमा नहीं आती, जिससे घटता ही नहीं है। यही भगवत्प्रेमरूपी चन्द्रमाकी विशेषता है—

प्रेम सदा बढ़िबो करै ज्यौं शशिकला सुवेष।
पै पूनो यामें नहीं ताते कबहुँ न शेष॥

जिस पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धिके निमित्त यह मानव-तन मिला है, उसे भी प्रेमी भक्त भगवत्प्रेमपर न्योछावर कर देता है। उसकी सिद्धि पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्तिमें नहीं, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें है। *'साधन सिद्धि राम पग नेहू'* भक्तकी साधना और सिद्धि दोनों भगवत्प्रेम होता है। रामप्रेममूर्ति भरतजी तीर्थराज प्रयागमें स्नानकर त्रिवेणीजीसे आर्तभावसे माँगते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

(रा०च०मा० २। २०४)

मुमुक्षु साधक जिस मुक्ति-प्राप्तिके लिये कई जन्मोंतक साधना करते हैं, उन पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंको (१-सालोक्य=भगवद्धाम-प्राप्ति, २-सार्ष्टि=भगवान्‌के समान ऐश्वर्यभोग, ३-सामीप्य=भगवत्-समीपता, ४-सारूप्य=भगवद्रूपप्राप्ति एवं ५-सायुज्य=भगवान्‌के विग्रहमें समा जाना अर्थात् ब्रह्मरूपकी प्राप्ति) ठुकराकर भगवत्प्रेमके लिये गर्भवास भी स्वीकार करते हैं—*'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ ॥'* भगवत्प्रेममें डूबे श्रीहितहरिवंशजीने कहा है—

धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथा वार्तया।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसी अन्यके लिये आदरणीय होंगे। मेरे लिये इनकी व्यर्थ चर्चासे क्या लाभ? प्रेमाभक्तिकी आचार्या गोपियाँ जिन्होंने उद्धव-जैसे ज्ञानी भक्तके ज्ञानके अहंकारको चूर्ण कर उन्हें भी प्रेमी भक्त बना दिया, उनकी स्थितिका वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार किया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(१०। ४४। १५)

दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, शिशुओंको झूला झुलाते, रोते बालकोंको चुप कराते, घरोंमें झाड़ू लगाते, यहाँतक कि सम्पूर्ण कार्य करते हुए निरन्तर श्रीकृष्णमें चित्त लगा होनेसे प्रेमाश्रुपूरित गद्गदकण्ठसे श्रीकृष्ण-लीलाओंको गानेवाली व्रजस्त्रियाँ धन्य कही गयी हैं। प्रेमाभक्ति होनेपर स्वाभाविक रूपसे सतत भगवत्स्मरण होनेके कारण ही प्रेमी साधक अन्य मार्गके साधकोंसे श्रेष्ठ कहा गया है—**'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा'** (ना०भ०सू० २५)।

नारीके उद्गार

'मा' जब मुझको कहा पुरुषने, तुच्छ हो गये देव सभी।
इतना आदर, इतनी महिमा, इतनी श्रद्धा कहाँ कभी?
उमड़ा स्नेह-सिन्धु अन्तरमें, डूब गयी आसक्ति अपार।
देह, गेह, अपमान, क्लेश, छिः! विजयी मेरा शाश्वत प्यार॥

'बहिन!' पुरुषने मुझे पुकारा, कितनी ममता! कितना नेह!
'मेरा भैया' पुलकित अन्तर, एक प्राण हम, हों दो देह।
कमलनयन अंगार उगलते हैं, यदि लक्षित हो अपमान।
दीर्घ भुजाओंमें भाईकी है रक्षित मेरा सम्मान॥

'बेटी' कहकर मुझे पुरुषने दिया स्नेह, अन्तर-सर्वस्व।
मेरा सुख, मेरी सुविधाकी चिन्ता—उसके सब सुख ह्रस्व॥
अपनेको भी विक्रय करके मुझे देख पायें निर्बाध।
मेरे पूज्य पिताकी होती एकमात्र यह जीवन-साध॥

'प्रिये!' पुरुष अर्धाङ्ग दे चुका, लेकरके हाथोंमें हाथ।
यहीं नहीं—उस सर्वेश्वरके निकट हमारा शाश्वत साथ॥
तन-मन-जीवन एक हो गये, मेरा घर—उसका संसार।
दोनों ही उत्सर्ग परस्पर, दोनोंपर दोनोंका भार॥

'पण्या!' आज दस्यु कहता है! पुरुष हो गया हाय पिशाच!
मैं अरक्षिता, दलिता, तप्ता, नंगा पाशवताका नाच!!
धर्म और लज्जा लुटती है! मैं अबला हूँ कातर, दीन!
पुत्र! पिता! भाई! स्वामी! सब तुम क्या इतने पौरुषहीन?

—सुदर्शन

भगवद्भक्तका जीवन एवं भक्तचरितका महत्त्व

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भक्तोंके चरित सदा ही मङ्गलमय हैं, सदा ही सात्त्विक-स्फूर्तिदायक हैं, सदा ही चिन्तन, मनन और सेवन करने योग्य हैं एवं सदा ही नवीन हैं। आदर्श व्यवहार, इन्द्रिय-मनपर विजय, पवित्र सेवाभाव, त्याग और तपस्या, विषयविरक्ति, भगवद्भक्ति और प्रेम आदिका सच्चा स्वरूप उपदेशोंमें नहीं मिलता—वह तो भक्तचरितोंमें ही प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। भक्त-चरित स्वयं मूर्तिमान् उपदेश हैं। भक्तोंके विभिन्न विचित्र असंख्य भाव होते हैं। अपने प्रभुके साथ वे अपने भावके अनुसार ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं और भक्तवत्सल भगवान् भक्तके उसी भावको स्वीकारकर तदनुकूल ही लीला करके भक्तको सुख देते और भक्तके पवित्र प्रेम-रस-पूरित भावका रसास्वादन करते हैं। भक्तोंका स्मरण अन्तःकरणको पवित्र करता है और भगवान्में प्रीति उत्पन्न करता है। भक्त-चरितोंको श्रद्धा, भक्ति तथा चित्तकी संलग्नतासे पढ़नेपर दुर्लभ भगवद्भक्तिकी प्राप्ति सहज हो सकती है। इसलिये भक्तचरित्रकी बहुत बड़ी उपयोगिता है।

भक्तोंकी जीवनीमें कुछ-न-कुछ चमत्कारका उल्लेख करना एक नियमित प्रथा-सी हो गयी है और वस्तुतः भक्तजीवनमें चमत्कारी घटनाओंका होना आश्चर्य भी नहीं है, परंतु चमत्कार या अलौकिक घटनाओंमें पवित्र भक्त-जीवनकी पूर्णता नहीं है। चमत्कारोंके बलपर भक्त कहलाना या कहना तो यथार्थतः सच्ची भक्तिका तिरस्कार करना है। भगवत्कृपाके बलपर भक्तके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, पर इसमें विशेष महत्त्व नहीं है। भक्तमें तो उसके परमाराध्य अचिन्त्यानन्त विचित्र दिव्यगुणगणोंसे अलंकृत भगवान्के सदृश दैवीगुणोंका विकास-प्रकाश होना चाहिये। भक्तकी यही सच्ची कसौटी है। भक्त-जीवनका सर्वथा शुद्ध, लोक-परलोक-कल्याणकारी, स्वाभाविक वैराग्यमय, ज्ञानमय और प्रेममय जीवनमें परिणत हो जाना ही उसका सबसे बड़ा आदरणीय, स्पृहणीय और अभिनन्दनीय चमत्कार है।

× × ×

भक्त भगवान्का निज-जन होता है। उसके योग-क्षेमका, उसके रक्षणावेक्षणका सारा भार भगवान् उठा लेते हैं, अतएव भक्त सब प्रकारसे पाप-तापसे मुक्त होता है। वह संसारका सर्वोच्च आदर्श होता है, क्योंकि भगवान्के दिव्यगुणोंका उसीके अंदर विकास हुआ करता है। ऐसा भक्त ही भगवान्को प्यारा होता है और ऐसे ही भक्तका उद्धार करनेके लिये भगवान् जिम्मेदारी लेते हैं। भक्त अपना हृदय, मन-बुद्धि, शरीर-परिवार, धन-ऐश्वर्य, वासना-कामना आदि सब कुछ भगवान्के चरणोंमें अर्पणकर निश्चिन्त हो जाता है। वह सारे संसारमें अपने स्वामीको व्याप्त देखता है, इसीलिये वह अखिल विश्वके सकल चराचर जीवोंके साथ प्रेम करता है और उनकी सेवा करनेके लिये पागल हुआ-सा घूमता है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस ४। ३)

ऐसे अनन्य भक्तका जीवन प्रभुमय होता है, उसके समस्त कार्य प्रभुके कार्य होते हैं, वह प्रभुके ही परायण होता है, एकमात्र प्रभुका ही भजन करता है, संसारकी किसी भी वस्तुमें आसक्त नहीं होता और सर्वभूतोंके प्रति—अपने साथ वैर रखनेवालोंके प्रति भी—निर्वैर रहता है। वह पहचानता है केवल अपने एक प्रभुको और संसारमें सर्वथा एवं सर्वदा केवल उसीकी लीलाका विस्तार देखता है। जीवन-मरण दोनों ही उसके लिये समान सुखप्रद होते हैं—

जीवन-मरण चरणके चाकर, चिन्तारहित चित्त है नित्य।

वह जीवनसे कभी ऊबता नहीं और मृत्युके भयसे कभी काँपता नहीं, प्रभुकी कृपासे यदि कभी उसके सामने मरणकी वह मूर्ति आती है, जिसको लोग अत्यन्त भीषण मानते हैं, तो भक्तकी दृष्टिमें वह बड़ी मोहिनी होती है और वह बड़े प्रेम तथा उत्साहसे उसका आलिङ्गन करनेको सामने दौड़ पड़ता है। वह समझता है कि इस मृत्युके रूपमें मेरे प्रभु ही मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करने और अपनी गोदमें उठा लेनेको पधारे हैं। **'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'** इस गीताकथित भगवान्के वाक्यका स्मरण करके वह हर्षोत्फुल्ल-हृदयसे मृत्युका स्वागत करता है। यही कारण है कि भक्तगण अपने प्रभुकी सेवाके लिये धर्मकी वेदीपर हँसते-हँसते अपनी

बलि चढ़ा देते हैं, अपने प्रभुके लिये प्राणोंको न्योछावर कर देना उनकी बुद्धिमें बड़े गौरवका काम होता है। जहाँ, जिस समय, जिस प्रकारसे प्राण-दानके लिये वे अपने भगवान्‌का आह्वान सुनते हैं, वहाँ, उसी समय, उसी प्रकारसे प्राणोंकी आहुति देनेको वे वैसे ही दौड़े जाते हैं, जैसे कंगाल धनकी लूटके लिये दौड़ता है—

जो सिर साँटे हरि मिलै तो हरि लीजै दौर।
'नारायण' या देरमें गाँहक आवै और॥

मस्तकको तो वे हाथोंमें लिये घूमते हैं, अवसर ढूँढ़ते रहते हैं उसे प्रभुके चरणोंपर चढ़ा देनेका। जहाँ वह प्रभुके काम आ जाता है, वहाँ वे अपनेको परम धन्य और कृतकृत्य मानते हैं। यही कारण है कि बड़े-से-बड़ा भय भी उन्हें सन्मार्गसे विचलित नहीं कर सकता, महान्-से-महान् दुःख भी उन्हें प्रभुके पथसे डिगा नहीं सकता—

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

प्रह्लादपर मत्त गजराज छोड़े गये, बड़े-बड़े विषधर सर्पोंसे उसे डसवानेका प्रयत्न किया गया, जादू-टोने किये गये, पर्वतके ऊँचे शिखरोंसे उसे गिराया गया, मायाके प्रयोगद्वारा उसे मारनेकी चेष्टा की गयी, काल-कोठरीमें बंद करके उसमें जहरीली गैस भर दी गयी और वह पर्वतोंके नीचे दबाया गया, परंतु वह टेकका पक्का अटल विश्वासी भक्त न डरा, न मरा और न उसने अपनी टेक ही छोड़ी। हिरण्यकशिपुको हैरान होकर यह कहना पड़ा—'यह बालक होकर भी मेरे समीप किस निर्भयतासे बैठा है! जान पड़ता है कि यह अत्यन्त सामर्थ्यवान् है।' प्रह्लादमें क्या शक्ति थी? उसमें ऐसा कौन-सा अलौकिक बल था कि जिससे वह ऐसा कर सका? उसमें भगवद्भक्ति थी, उसका हृदय भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण था, वह अपनेको सब प्रकारसे परमात्माके हाथोंमें सौंपकर सदाके लिये सब ओरसे निर्भय और निश्चिन्त बन चुका था एवं उसका यह अटल विश्वास था—उसे वास्तवमें ऐसा ही दीखता था कि 'सारा संसार प्रभुमय है, जगत्‌की प्रत्येक वस्तु मेरे स्वामीका रूप है।' इसलिये हिरण्यकशिपुने उसे मारनेके लिये जिन-जिन उपकरणोंका प्रयोग किया, वे सभी उसको ईश्वररूप दिखायी दिये। इस अवस्थामें ईश्वर अपने भक्तको क्यों मरने देते, प्रत्युत प्रह्लादके वचनको सत्य करनेके लिये—अपनी सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष करा देनेके लिये—निराकार अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्याप्त परमात्मा स्तम्भको चीरकर अद्भुत-रूपमें प्रकट हो गये—

प्रेम बदौं प्रह्लादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े।

(कवितावली ७। १२७)

मीराने हँसते-हँसते जहरका प्याला पी लिया। भक्त हरिदासने हरिनाम पुकारते-पुकारते बेतोंकी मार सहर्ष सह ली और मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना की। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्त कायर होते हैं, वे कायरताके कारण सब कुछ सह लेते हैं। कायर मनुष्य कभी सहनशील नहीं हो सकता, वह प्राणोंके भयसे भागता है, परंतु मन-ही-मन बुरा मानता और शाप देता है। भक्तोंका हृदय क्षमा, दया, अहिंसा और प्रेमादि सद्गुणोंसे भरा रहता है, इसीसे वे किसीका अनिष्ट नहीं करते, स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंका कल्याण चाहते हैं, बुरा करनेवालोंके प्रति भी भला बर्ताव करते हैं। इस तथ्यको न समझनेवाले लोग उन्हें दीन और कायर मान बैठते हैं, परंतु वास्तवमें वे बड़े वीर होते हैं। क्षमा, अहिंसा, दया आदि वीरोंके धर्म हैं, कापुरुषोंके नहीं।

आजकल लोग भक्तिका स्वाँग धारण कर लेते हैं, परंतु उनका हृदय नाना प्रकारके भयोंसे व्याकुल रहता है। वे भूत-प्रेतोंकी कल्पनाकर राह चलते काँप उठते हैं, छूतकी बीमारीके भयसे आत्मीय स्वजनोंकी भी सेवा छोड़कर निष्ठुरताका परिचय देते हैं। समाजके और झूठी इज्जतके भयसे प्रत्यक्ष पापयुक्त प्रथाओंको भी छोड़ना नहीं चाहते, दोष समझकर भी दूषित कार्यके परित्यागमें हिचकते हैं, जेल-जुर्मानेके भयसे अन्याय और अधर्मपूर्ण शासनका समर्थन करते हैं, धन-ऐश्वर्यकी हानिके डरसे सत्य, अस्तेय और अहिंसा आदि दैवी गुणोंका त्याग कर देते हैं और बात-बातमें अत्याचारियों और पापियोंकी चापलूसी करते एवं जान-बूझकर स्वार्थवश उनका पक्ष-समर्थन करते हैं। ये सब भक्तके लक्षण नहीं। भक्त डरकर कभी अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होता, वह न लोभ या भयवश पाप करता है न किसी अधर्मके त्यागमें हिचकता है, न रोग या प्राणनाशके भयसे सेवा छोड़ता है और न कभी अन्यायका समर्थन करता है। वह तो परमात्माके अभय चरणोंका आश्रय पाकर भयको सदाके लिये भगा देता है, वह नित्य-

निर्भय होता है, सबके साथ विनयका बर्ताव करना एवं मधुर तथा हितकर वचन बोलना तो उसका स्वभाव बन जाता है, परंतु सत्य कहनेमें वह कभी कालसे भी नहीं डरता। जब मनुष्य मामूली पुलिस अफसर या मजिस्ट्रेटकी शरण लेकर अपनेको निर्भय मान लेता है, तब जिसने कालके भी महाकाल, यमराजके भी भयदाता भगवान्के अभय चरणोंकी शरण ग्रहण कर ली है, वह किसीसे क्यों डरेगा? माताकी सुखद गोदमें स्थित बालकको किसका भय और किस बातकी चिन्ता रहती है? जो अपनेको सर्वोपरि 'माता धाता पितामह' भगवान्का भक्त समझकर भी भयभीत रहते हैं, वे न तो भगवान्का प्रभाव जानते हैं और न वे यथार्थमें भगवान्के सम्मुख ही हो सकते हैं। भगवान्के शरण हो जानेपर तो भयके लिये कहीं जरा-सा भी स्थान नहीं रह जाता। एक बार भी शरण आ जानेवाले भक्तको अभय कर देना तो भगवान्का व्रत है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा०रा० ६। १८। ३३)

सच्चा भक्त अपने किसी अनिष्टकी आशङ्कासे सन्मार्गका—ईश्वरसेवाका कदापि त्याग नहीं करता। तन-मन-धन—सभी प्रभुकी ही तो सम्पत्ति हैं, फिर उन्हें प्रभुके काममें लगा देनेमें अनिष्ट कैसा? यह तो बड़े ही गौरव तथा आनन्दका विषय है। इसीसे यदि असहाय रोगीकी सेवा करते-करते भक्तके प्राण चले जाते हैं या भूखे-गरीबोंका पेट भरनेमें उसकी सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाती है तो वह अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझता है।

भगवच्चिन्तन और भगवन्नाम-स्मरण तो उसके प्राणोंकी क्रियाके सदृश स्वाभाविक बन जाते हैं। भगवत्सेवाके सिवा संसारमें उसका और कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। उसका सोना-जागना, खाना-पीना, उठना-बैठना, कहना-सुनना और जीना-मरना—सब भगवान्के लिये होता है। वह संसारमें इसीलिये जीवन धारण करता है कि उसके स्वामी भगवान् उसको इस नाम-रूपमें जीवित देखना चाहते हैं। उसको न तो संसारकी कुछ परवा होती है और न वह संसारको छोड़ना ही चाहता है, न उसका भोगोंमें राग होता है और न वह संन्यासका विरोध ही करता है। वह तो अपने स्वामीकी इच्छानुसार बर्तता है, प्रभुके नचाये नाचता है, यन्त्रीके हाथका यन्त्र बना रहता है। वह मानापमान या सुख-दुःखकी ओर ध्यान नहीं देता, उसके अपमान या दुःखमें स्वामीका खेल—स्वामीकी लीला चरितार्थ होती है तो उसको उन्हींमें आनन्द आता है। उसके मान या सुखसे प्रभुकी लीलाका अभिनय पूर्ण होता है तो वह मान एवं सुखको धारण कर लेता है, न तो वह भोगियोंकी भाँति मान या सुखके लिये स्पृहा करता है और न संन्यासियोंकी भाँति मान या सुखका विरोध ही करता है। जिस बातसे, जिस खेलसे प्रभु प्रसन्न होते हैं, जिस आचरणसे प्रभुकी लीलामें पूर्णता आती है, प्रभुके गुप्त संकेतसे वह लज्जा-भय या हानि-लाभका विचार छोड़कर उसीमें लग जाता है। वह उसीमें अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है, इस आनन्दके सामने संसारके भोगोंकी तो बात ही कौन-सी है, वह मोक्षसुखको भी तुच्छ समझता है। मुक्ति देनेपर भी वह उसे ग्रहण नहीं करता, उसे तो स्वामीकी इच्छानुसार उसकी सेवामें ही परम सुख मिलता है—'**दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।**' ऐसा भक्त प्राणिमात्रका सहज मित्र होता है। वह अपने स्वार्थवश—भोग, सुख, साम्राज्य या स्वर्गके लिये भी किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, किसीको किंचित् भी कष्ट नहीं पहुँचाता। परंतु प्रभुके लिये, प्रभुकी लीलाके लिये, प्रभुके इङ्गितसे धर्मयुद्धमें वह विपक्षियोंसे लोहा लेनेको, मरने-मारनेको भी सहर्ष प्रस्तुत रहता है।

काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, भय, मान, स्वार्थ, वैर, हिंसा, प्रमाद, आलस्य आदि दुर्गुण भक्तके हृदयसे समूल नष्ट हो जाते हैं और दया, अहिंसा, क्षमा, शूरता, नम्रता, सेवा, पवित्रता, निःस्वार्थता, प्रेम, सत्य, ब्रह्मचर्य, शम, दम, भोगोंमें अनासक्ति, वैराग्य, प्रभुभावसे सबमें आसक्ति, अमानिता, प्रभुका अभिमान, संतोष, समता आदि धर्म उसमें भक्तिके आनुषङ्गिक गुणोंके रूपमें स्वभावसे ही प्रकट हो जाते हैं। उत्साह, तत्परता, श्रद्धा, विश्वास, शान्ति और आनन्द आदि उसके नित्य सहचर रहते हैं। वह किसीको न दबाता है न किसीसे दबता है, न किसीको डराता है न किसीसे डरता है, न किसीको उद्विग्न करता है न किसीसे उद्वेगको प्राप्त होता है।

भक्त सबका सुहृद, सबका आत्मीय, सबका बन्धु और

बलि चढ़ा देते हैं, अपने प्रभुके लिये प्राणोंको न्योछावर कर देना उनकी बुद्धिमें बड़े गौरवका काम होता है। जहाँ, जिस समय, जिस प्रकारसे प्राण-दानके लिये वे अपने भगवान्‌का आह्वान सुनते हैं, वहाँ, उसी समय, उसी प्रकारसे प्राणोंकी आहुति देनेको वे वैसे ही दौड़े जाते हैं, जैसे कंगाल धनकी लूटके लिये दौड़ता है—

जो सिर साँटे हरि मिलै तो हरि लीजै दौर।
'नारायण' या देरमें गाँहक आवै और॥

मस्तकको तो वे हाथोंमें लिये घूमते हैं, अवसर ढूँढ़ते रहते हैं उसे प्रभुके चरणोंपर चढ़ा देनेका। जहाँ वह प्रभुके काम आ जाता है, वहाँ वे अपनेको परम धन्य और कृतकृत्य मानते हैं। यही कारण है कि बड़े-से-बड़ा भय भी उन्हें सन्मार्गसे विचलित नहीं कर सकता, महान्-से-महान् दुःख भी उन्हें प्रभुके पथसे डिगा नहीं सकता—

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

प्रह्लादपर मत्त गजराज छोड़े गये, बड़े-बड़े विषधर सर्पोंसे उसे डसवानेका प्रयत्न किया गया, जादू-टोने किये गये, पर्वतके ऊँचे शिखरोंसे उसे गिराया गया, मायाके प्रयोगद्वारा उसे मारनेकी चेष्टा की गयी, काल-कोठरीमें बंद करके उसमें जहरीली गैस भर दी गयी और वह पर्वतोंके नीचे दबाया गया, परंतु वह टेकका पक्का अटल विश्वासी भक्त न डरा, न मरा और न उसने अपनी टेक ही छोड़ी। हिरण्यकशिपुको हैरान होकर यह कहना पड़ा—'यह बालक होकर भी मेरे समीप किस निर्भयतासे बैठा है! जान पड़ता है कि यह अत्यन्त सामर्थ्यवान् है।' प्रह्लादमें क्या शक्ति थी? उसमें ऐसा कौन-सा अलौकिक बल था कि जिससे वह ऐसा कर सका? उसमें भगवद्भक्ति थी, उसका हृदय भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण था, वह अपनेको सब प्रकारसे परमात्माके हाथोंमें सौंपकर सदाके लिये सब ओरसे निर्भय और निश्चिन्त बन चुका था एवं उसका यह अटल विश्वास था—उसे वास्तवमें ऐसा ही दीखता था कि 'सारा संसार प्रभुमय है, जगत्‌की प्रत्येक वस्तु मेरे स्वामीका रूप है।' इसलिये हिरण्यकशिपुने उसे मारनेके लिये जिन-जिन उपकरणोंका प्रयोग किया, वे सभी उसको ईश्वररूप दिखायी दिये। इस अवस्थामें ईश्वर अपने भक्तको क्यों मरने देते, प्रत्युत प्रह्लादके वचनको सत्य करनेके लिये—अपनी सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष करा देनेके लिये—निराकार अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्याप्त परमात्मा स्तम्भको चीरकर अद्भुत-रूपमें प्रकट हो गये—

प्रेम बदौं प्रह्लादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े।

(कवितावली ७। १२७)

मीराने हँसते-हँसते जहरका प्याला पी लिया। भक्त हरिदासने हरिनाम पुकारते-पुकारते बेतोंकी मार सहर्ष सह ली और मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना की। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्त कायर होते हैं, वे कायरताके कारण सब कुछ सह लेते हैं। कायर मनुष्य कभी सहनशील नहीं हो सकता, वह प्राणोंके भयसे भागता है, परंतु मन-ही-मन बुरा मानता और शाप देता है। भक्तोंका हृदय क्षमा, दया, अहिंसा और प्रेमादि सद्‌गुणोंसे भरा रहता है, इसीसे वे किसीका अनिष्ट नहीं करते, स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंका कल्याण चाहते हैं, बुरा करनेवालोंके प्रति भी भला बर्ताव करते हैं। इस तथ्यको न समझनेवाले लोग उन्हें दीन और कायर मान बैठते हैं, परंतु वास्तवमें वे बड़े वीर होते हैं। क्षमा, अहिंसा, दया आदि वीरोंके धर्म हैं, कापुरुषोंके नहीं।

आजकल लोग भक्तिका स्वाँग धारण कर लेते हैं, परंतु उनका हृदय नाना प्रकारके भयोंसे व्याकुल रहता है। वे भूत-प्रेतोंकी कल्पनाकर राह चलते काँप उठते हैं, छूतकी बीमारीके भयसे आत्मीय स्वजनोंकी भी सेवा छोड़कर निष्ठुरताका परिचय देते हैं। समाजके और झूठी इज्जतके भयसे प्रत्यक्ष पापयुक्त प्रथाओंको भी छोड़ना नहीं चाहते, दोष समझकर भी दूषित कार्यके परित्यागमें हिचकते हैं, जेल-जुर्मानेके भयसे अन्याय और अधर्मपूर्ण शासनका समर्थन करते हैं, धन-ऐश्वर्यकी हानिके डरसे सत्य, अस्तेय और अहिंसा आदि दैवी गुणोंका त्याग कर देते हैं और बात-बातमें अत्याचारियों और पापियोंकी चापलूसी करते एवं जान-बूझकर स्वार्थवश उनका पक्ष-समर्थन करते हैं। ये सब भक्तके लक्षण नहीं। भक्त डरकर कभी अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होता, वह न लोभ या भयवश पाप करता है न किसी अधर्मके त्यागमें हिचकता है, न रोग या प्राणनाशके भयसे सेवा छोड़ता है और न कभी अन्यायका समर्थन करता है। वह तो परमात्माके अभय चरणोंका आश्रय पाकर भयको सदाके लिये भगा देता है, वह नित्य-

निर्भय होता है, सबके साथ विनयका बर्ताव करना एवं मधुर तथा हितकर वचन बोलना तो उसका स्वभाव बन जाता है, परंतु सत्य कहनेमें वह कभी कालसे भी नहीं डरता। जब मनुष्य मामूली पुलिस अफसर या मजिस्ट्रेटकी शरण लेकर अपनेको निर्भय मान लेता है, तब जिसने कालके भी महाकाल, यमराजके भी भयदाता भगवान्के अभय चरणोंकी शरण ग्रहण कर ली है, वह किसीसे क्यों डरेगा? माताकी सुखद गोदमें स्थित बालकको किसका भय और किस बातकी चिन्ता रहती है? जो अपनेको सर्वोपरि 'माता धाता पितामह' भगवान्का भक्त समझकर भी भयभीत रहते हैं, वे न तो भगवान्का प्रभाव जानते हैं और न वे यथार्थमें भगवान्के सम्मुख ही हो सकते हैं। भगवान्के शरण हो जानेपर तो भयके लिये कहीं जरा-सा भी स्थान नहीं रह जाता। एक बार भी शरण आ जानेवाले भक्तको अभय कर देना तो भगवान्का व्रत है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा०रा० ६। १८। ३३)

सच्चा भक्त अपने किसी अनिष्टकी आशङ्कासे सन्मार्गका—ईश्वरसेवाका कदापि त्याग नहीं करता। तन-मन-धन—सभी प्रभुकी ही तो सम्पत्ति हैं, फिर उन्हें प्रभुके काममें लगा देनेमें अनिष्ट कैसा? यह तो बड़े ही गौरव तथा आनन्दका विषय है। इसीसे यदि असहाय रोगीकी सेवा करते-करते भक्तके प्राण चले जाते हैं या भूखे-गरीबोंका पेट भरनेमें उसकी सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाती है तो वह अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझता है।

भगवच्चिन्तन और भगवन्नाम-स्मरण तो उसके प्राणोंकी क्रियाके सदृश स्वाभाविक बन जाते हैं। भगवत्सेवाके सिवा संसारमें उसका और कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। उसका सोना-जागना, खाना-पीना, उठना-बैठना, कहना-सुनना और जीना-मरना—सब भगवान्के लिये होता है। वह संसारमें इसीलिये जीवन धारण करता है कि उसके स्वामी भगवान् उसको इस नाम-रूपमें जीवित देखना चाहते हैं। उसको न तो संसारकी कुछ परवा होती है और न वह संसारको छोड़ना ही चाहता है, न उसका भोगोंमें राग होता है और न वह संन्यासका विरोध ही करता है। वह तो अपने स्वामीकी इच्छानुसार बर्तता है, प्रभुके नचाये नाचता है, यन्त्रीके हाथका यन्त्र बना रहता है। वह मानापमान या सुख-दु:खकी ओर ध्यान नहीं देता, उसके अपमान या दु:खमें स्वामीका खेल—स्वामीकी लीला चरितार्थ होती है तो उसको उन्हींमें आनन्द आता है। उसके मान या सुखसे प्रभुकी लीलाका अभिनय पूर्ण होता है तो वह मान एवं सुखको धारण कर लेता है, न तो वह भोगियोंकी भाँति मान या सुखके लिये स्पृहा करता है और न संन्यासियोंकी भाँति मान या सुखका विरोध ही करता है। जिस बातसे, जिस खेलसे प्रभु प्रसन्न होते हैं, जिस आचरणसे प्रभुकी लीलामें पूर्णता आती है, प्रभुके गुप्त संकेतसे वह लज्जा-भय या हानि-लाभका विचार छोड़कर उसीमें लग जाता है। वह उसीमें अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है, इस आनन्दके सामने संसारके भोगोंकी तो बात ही कौन-सी है, वह मोक्षसुखको भी तुच्छ समझता है। मुक्ति देनेपर भी वह उसे ग्रहण नहीं करता, उसे तो स्वामीकी इच्छानुसार उसकी सेवामें ही परम सुख मिलता है—'**दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः**।' ऐसा भक्त प्राणिमात्रका सहज मित्र होता है। वह अपने स्वार्थवश—भोग, सुख, साम्राज्य या स्वर्गके लिये भी किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, किसीको किंचित् भी कष्ट नहीं पहुँचाता। परंतु प्रभुके लिये, प्रभुकी लीलाके लिये, प्रभुके इङ्गितसे धर्मयुद्धमें वह विपक्षियोंसे लोहा लेनेको, मरने-मारनेको भी सहर्ष प्रस्तुत रहता है।

काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, भय, मान, स्वार्थ, वैर, हिंसा, प्रमाद, आलस्य आदि दुर्गुण भक्तके हृदयसे समूल नष्ट हो जाते हैं और दया, अहिंसा, क्षमा, शूरता, नम्रता, सेवा, पवित्रता, नि:स्वार्थता, प्रेम, सत्य, ब्रह्मचर्य, शम, दम, भोगोंमें अनासक्ति, वैराग्य, प्रभुभावसे सबमें आसक्ति, अमानिता, प्रभुका अभिमान, संतोष, समता आदि धर्म उसमें भक्तिके आनुषङ्गिक गुणोंके रूपमें स्वभावसे ही प्रकट हो जाते हैं। उत्साह, तत्परता, श्रद्धा, विश्वास, शान्ति और आनन्द आदि उसके नित्य सहचर रहते हैं। वह किसीको न दबाता है न किसीसे दबता है, न किसीको डराता है न किसीसे डरता है, न किसीको उद्विग्न करता है न किसीसे उद्वेगको प्राप्त होता है।

भक्त सबका सुहृद्, सबका आत्मीय, सबका बन्धु और

सबका सच्चा सेवक होता है। वह सत्यका स्वरूप, धैर्यका सागर, क्षमाका धाम, तेजका पुञ्ज, निर्भयताकी मूर्ति और प्रेमका भंडार होता है। उसके पवित्र और आदर्श व्यवहारसे प्रभावित होकर जगत्के मनुष्योंका हृदय स्वभावसे ही भगवान्की ओर झुक जाता है। ऐसा भक्त ही यथार्थमें भगवान्का अत्यन्त प्रिय और विश्वासी संदेशवाहक होता है। वह नित्य भगवान्में निवास करता है और भगवान् सदा उसके हृदय-मन्दिरमें विराजते हैं—

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

श्रीहरिको प्रेमपूर्वक हृदयमें धारण करनेका फल

(श्री जय जय बाबा)

परम मोक्षदायक महापुराण श्रीमद्भागवतमें विराट्-स्वरूपकी विभूतियोंकी महिमाको प्रतिपादित करते हुए सृष्टिके आदिकारण ब्रह्माजी नारदजीको सम्बोधित कर कहते हैं—प्यारे नारद!

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥

(श्रीमद्भा० २। ६। ३३)

'मैं प्रेमपूर्ण एवं उत्कण्ठित-हृदयसे भगवान् श्रीहरिके स्मरणमें मग्न रहता हूँ, इसीलिये मेरी वाणी कभी असत्य होती नहीं दीखती। मेरा मन कभी असत्य संकल्प नहीं करता और मेरी इन्द्रियाँ भी कभी मर्यादाका उल्लंघन करके कुमार्गमें नहीं जातीं।'

भगवान् श्रीहरि निर्गुण भी हैं और सगुण भी। वे भगवान् अनन्त हैं, अतः उनके गुण भी अनन्त हैं। उनके गुणोंका पार पानेमें कोई भी समर्थ नहीं है, जैसा कि कहा गया है—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥

(श्रीमद्भा० ११। ४। २)

अर्थात् भगवान् अनन्त हैं और इसी कारण उनके गुण भी अनन्त हैं। जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणोंकी गणना कर लूँगा वह अल्पबुद्धिवाला है—बालक है। यह तो सम्भव है कि कदाचित् कोई पृथ्वीके धूलिकणोंकी गणना कर भी ले, परंतु समस्त शक्तियोंके आधारभूत भगवान्के अनन्त गुणोंकी गणना तो कोई किसी प्रकार भी नहीं कर सकता।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७। ३)

यह पुरुष श्रद्धामय है अतः जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह वैसा ही हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति भगवान्का भक्त होकर श्रद्धाके साथ उनके गुणोंका चिन्तन-मनन करता है, वह वैसा ही हो जाता है। **'अखिलशक्तिधाम्नः'** यानी समस्त शक्तियोंके आधार श्रीभगवान्के गुणोंका चिन्तन-मनन करनेवालेकी वाणी एवं मन और इन्द्रियाँ भी अवश्य ही शक्तिशाली हो जाती हैं जिसके कारण उसका कभी भी अधःपतन नहीं हो सकता। भाव यह है कि भगवान्के तत्तद्गुणोंका श्रद्धापूर्वक चिन्तन-मनन करता हुआ श्रद्धावान् भक्त भगवान्के गुणस्वरूप अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हो जाता है।

भगवान्का एक नाम है—'अच्युत'। इसका अर्थ है—जो अपने स्वरूपसे, अपने स्वभावसे कभी गिरता नहीं, अलग नहीं होता। जैसे अग्निका स्वभाव है जलाना और प्रकाश देना। अग्निका यह स्वभाव कभी भी उससे अलग नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार हमारी आत्माका स्वभाव है नित्य-बोधरूप एवं ज्ञानस्वरूपमें अवस्थित रहना। आत्माके इस स्वभावको कभी भी उससे अलग नहीं किया जा सकता। गुणको गुणीसे, धर्मको धर्मीसे किसी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता, यह एक नैसर्गिक नियम है, विधि है तथा सृष्टिपरक प्रतिष्ठा है।

श्रुतिवाक्य है—**'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्'** सर्वद्रष्टा आत्माके अविनाशी होनेके कारण उसकी

दृष्टि अर्थात् उसके ज्ञानका कभी नाश नहीं होता। इसीलिये आत्माके विषयमें कहा गया है—'**धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्**', '**अलुप्तदृग्**', '**अविद्धदृग्**' इत्यादि। अतः ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माको जिसने अपने हृदयमें दृढ़तासे धारण कर लिया है, उसके वाणी, मन और इन्द्रियाँ कभी भी असत्—द्वैतकी ओर प्रवाहित नहीं हो सकतीं। अपने ज्ञानालोकमें वह सदैव सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माको ही धारण किये रहता है।

भक्तके लिये तो सब संसार भगवत्स्वरूप है—'**इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः**' तात्पर्य यह कि जिनसे जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय होते हैं, वे भगवान् ही इस विश्वके रूपमें हैं। इसका सम्यक् बोध हो जानेपर उस भक्तकी वाणी, मन और इन्द्रियाँ भगवान्‌को छोड़ अन्यत्र कहाँ जायँगी?

भगवत्प्राप्तिके लिये सबसे सरल और उत्तम मार्ग बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त उद्धवजीसे कहते हैं—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः॥
यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत्।
तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तम॥
एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १९-२२)

हे उद्धवजी! मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सर्वश्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय। यही मेरा अपना भागवतधर्म है। इसको एक बार आरम्भ करनेके बाद पुनः किसी प्रकारकी विघ्न-बाधासे इसमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि यह धर्म निष्काम है और स्वयं मैंने ही इसे निर्गुण होनेके कारण सर्वोत्तम निश्चित किया है। भागवतधर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि होना तो दूर रहा, यदि इस धर्मका साधक भय तथा शोक आदिके अवसरपर होनेवाली भावनाओं और निरर्थक कर्मोंको भी निष्कामभावसे मुझे समर्पित कर दे तो वे भी मेरी प्रसन्नताके कारण धर्म बन जाते हैं। विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस असत्य और विनाशी शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी और सत्य-तत्त्वको प्राप्त कर लें।

सभी भगवद्भक्तोंको सच्चे मनसे यह अन्तर्निरीक्षण करना चाहिये कि हमारी वाणी, मन और इन्द्रियाँ संसारके असत् पदार्थोंकी ओर प्रवाहित तो नहीं हो रही हैं, यदि ऐसा है तो तुरंत ही भगवान् श्रीहरिका स्मरण प्रारम्भ कर दें। वे सर्वशक्तिमान् हैं; वे सब प्रकारके अनर्थोंसे बचानेकी शक्ति रखते हैं—

'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'

(श्रीमद्भा० ८। १०। ५५)

हमारा मन और बुद्धि श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें स्थिर हो जायँ बस यही भाव निरन्तर भगवान्‌में ही बने रहनेका सबसे बड़ा साधन है जैसा कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

हे अर्जुन! तू मुझ विश्वरूप ईश्वरमें ही अपने संकल्प-विकल्पात्मक मनको स्थिर कर और मुझमें ही निश्चय करनेवाली बुद्धिको स्थिर कर ले। ऐसा कर लेनेपर तू निस्संदेह एकात्मभावसे मुझमें ही निवास कर लेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं।

अतः सभी निष्काम भगवद्भक्तों, उपासकों एवं भगवत्प्रेमियोंको चाहिये कि वे मन, वाणी एवं कर्मसे अपने कर्म, विकर्म तथा अकर्मोंका सर्वस्व-समर्पणकर भगवान्‌में ही अपनेको इस प्रकार एकीभूत कर लें कि उससे भिन्न किसी अन्य सत्ताका भान भी न रहे। ऐसा हो जानेपर भक्त साक्षात् भगवान् ही हो जाता है और भगवान् ऐसे अनन्यभावी भक्तके योग-क्षेमकी जिम्मेदारी स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं। अब उस भक्तको क्या चाहिये, अब तो उसे कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता है। इसीलिये भगवान् स्वयं अपने परमधामका मार्ग भी भक्तको बतला देते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

साधकोंके प्रति—

मैंपनसे रहित स्वरूपका अनुभव

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है। कारण कि 'मैं' और 'मेरा' ही माया है, जिससे जीव बँधता है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥

(मानस, अरण्य० १५। २)

मैं-मेरे की जेवरी, गल बँध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है—कर्मयोगमें '**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति**' (२। ७१), ज्ञानयोगमें '**अहंकारं ...... विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते**' (१८। ५३) और भक्तियोगमें '**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी**' (१२। १३)। इस विषयमें साधकोंके लिये एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि वास्तवमें हमारा स्वरूप अहंता (मैंपन)-से रहित है। अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन)—दोनों अपने स्वरूपमें मानी हुई हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर ये वास्तविक होतीं तो हम कभी निर्मम और निरहंकार नहीं हो सकते और भगवान् भी निर्मम और निरहंकार होनेकी बात नहीं करते। परंतु हम निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं, तभी भगवान् ऐसा कहते हैं।

'मैं' क्या है?

प्रत्येक मनुष्यका यह अनुभव है कि 'मैं हूँ'। यह 'मैं हूँ' ही चिज्जडग्रन्थि है। यद्यपि इसमें 'मैं' की मुख्यता प्रतीत होती है और 'हूँ' उसका सहायक प्रतीत होता है, तथापि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो मुख्यता 'हूँ' (सत्ता) की ही है, 'मैं' की नहीं। कारण कि 'मैं' तो बदलता है, पर 'हूँ' नहीं बदलता। जैसे, 'मैं बालक हूँ; मैं जवान हूँ; मैं बूढ़ा हूँ; मैं रोगी हूँ; मैं नीरोग हूँ'—इनमें 'मैं' तो बदला है, पर 'हूँ' नहीं बदला। 'हूँ' निर्विकार-रूपसे सदा रहता है। 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' प्रकृतिसे अतीत परमात्माका अंश है। यह 'हूँ' सत्ताका वाचक है। 'मैं' साथमें होनेसे ही यह 'हूँ' है। अगर 'मैं' साथमें न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। वह 'है' सर्वदेशीय है। 'मैं' के कारण ही एकदेशीय 'हूँ' का भान होता है।

मैं, तू, यह और वह—इन चारोंमें केवल 'मैं' के साथ ही 'हूँ' है, शेष तीनोंके साथ 'है' है; जैसे—तू है, यह है और वह है। अनादिकालसे चले आये अनन्त प्राणियोंको हम 'है' कह सकते हैं कि 'ये प्राणी हैं'। पृथ्वी, स्वर्ग, नरक, पाताल आदि सभी लोकोंको 'है' कह सकते हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—चारों युगोंको 'है' कह सकते हैं। परंतु 'मैं' कहनेवाला एक ही है। आजकलकी भाषामें सब-के-सब वोट 'है' के ही हैं, 'मैं' का केवल एक ही वोट है!

'मैं' जड़ है और 'हूँ' चिन्मय सत्ता है। 'मैं' और 'हूँ'—दोनोंका एक हो जाना, घुल-मिल जाना तादात्म्य (चिज्जडग्रन्थि) है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले आनन्दको भी चाहते हैं और नाशवान् भोग तथा संग्रहको भी चाहते हैं। ये दो विभाग 'मैं' और 'हूँ' के तादात्म्यके कारण ही हैं।

हम सदा रहना (जीना) चाहते हैं तो यह इच्छा न तो उसमें होती है, जो सदा नहीं रहता और न उसमें ही होती है, जो सदा रहता है। यह इच्छा उसमें होती है, जो सदा रहता है, पर उसमें मृत्युका भय आ गया। मृत्युका भय जड़ताके संगसे आता है; क्योंकि जड़ता नाशवान् है, चिन्मय सत्ता अविनाशी है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता ('है')-में 'मैं' मिलानेसे ही जीनेकी इच्छा होती है। अतः जीनेकी इच्छा न 'मैं' में है और न 'हूँ' में है, प्रत्युत 'मैं हूँ'—इस तादात्म्यमें है। इस तादात्म्यके कारण ही मनुष्यमें भोगेच्छा और जिज्ञासा (मुमुक्षा) दोनों रहती हैं।

'मैं हूँ'—इन दोनोंमें हम 'मैं' को प्रधानता देंगे तो संसार (भोग एवं संग्रह)-की इच्छा हो जायगी और 'हूँ' को प्रधानता देंगे तो परमात्मा (मोक्ष)-की इच्छा हो

जायगी। जब 'मैं' से माना हुआ सम्बन्ध अर्थात् तादात्म्य मिट जायगा, तब संसारकी इच्छा मिट जायगी और परमात्माकी इच्छा पूरी हो जायगी। कारण कि संसार अपूर्ण है, इसलिये उसकी इच्छा कभी पूरी नहीं होती और परमात्मा पूर्ण हैं, इसलिये उनकी इच्छा कभी अपूर्ण नहीं होती अर्थात् पूरी ही होती है। भोगेच्छा हो अथवा मुमुक्षा हो, इच्छामात्र जड़के सम्बन्ध (तादात्म्य)-से ही होती है। तादात्म्य मिटते ही हम जीवन्मुक्त हो जाते हैं। वास्तवमें हम जीवन्मुक्त तो पहलेसे ही हैं, पर 'मैं' के साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मान लेनेसे जीवन्मुक्तिका अनुभव नहीं होता। इसलिये जो नित्यप्राप्त है, उसीकी प्राप्ति होती है और जो नित्यनिवृत्त है, उसीकी निवृत्ति होती है।

हमारा अनुभव

प्रश्न—'मैं' अलग है और 'हूँ' अलग है—इसका अनुभव कैसे करें?

उत्तर—यह तो हम सबके अनुभवकी ही बात है! जाग्रत् और स्वप्नमें तो हमारा व्यवहार होता है, पर सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)-में कोई व्यवहार नहीं होता। कारण कि सुषुप्ति-अवस्थामें मैंपन जाग्रत् नहीं रहता, प्रत्युत अविद्यामें लीन हो जाता है। परंतु मैंपन लीन होनेपर भी हमारी सत्ता रहती है। इसीलिये सुषुप्तिसे जगनेपर हम कहते हैं कि 'मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था', तो 'कुछ भी पता नहीं था'—इसका पता तो था ही! नहीं तो कैसे कहते कि कुछ भी पता नहीं था? इससे सिद्ध हुआ कि जाग्रत् और स्वप्नमें मैंपन जाग्रत् रहनेपर भी हमारी सत्ता है तथा सुषुप्तिमें मैंपन जाग्रत् न रहनेपर भी हमारी सत्ता है। अतः हम मैंपनके भाव और अभाव दोनोंको जाननेवाले हैं। अगर हम मैंपनसे अलग न होते, अहंकाररूप ही होते तो सुषुप्तिमें मैंपनके लीन होनेपर हम भी नहीं रहते*। अतः मैंपनके बिना भी हमारा होनापना सिद्ध होता है।

हम अहम् ('मैं')-के भाव और अभाव—दोनोंको जानते हैं, पर अपने अभावको कभी नहीं जानते; क्योंकि हमारी सत्ताका अभाव कभी होता ही नहीं—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। असत् वस्तु अहम्के भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाली हमारी सत्ता निरन्तर रहती है। जैसे, कल हम जाग्रत्में थे, रात्रिमें स्वप्न अथवा गाढ़ निद्रा आ गयी और आज पुनः जाग्रत्में हैं तो जाग्रत् और स्वप्नमें अहम्के भावका अनुभव होता है, पर गाढ़ निद्रामें अहम्के अभावका अनुभव होता है। जाग्रत् आदि अवस्थाएँ निरन्तर नहीं रहतीं—यह भी हमारा अनुभव है। अतः हमारा स्वरूप अहम् तथा अवस्थाओंके भाव और अभावको प्रकाशित करनेवाला अलुप्त प्रकाश है। इसीलिये हम कहते हैं कि कल जो मैं जागता था, वही आज जागता हूँ और वही स्वप्न तथा सुषुप्तिमें था। तात्पर्य है कि तीनों अवस्थाओंमें हमें अखण्ड-रूपसे अपनी सत्ताका अनुभव होता है। इसी तरह हम किसी भी योनिमें जायँ, हमारी अहंता तो बदलती है, पर हम नहीं बदलते। जैसे पहले हम कहते थे कि 'मैं बालक हूँ', फिर हम कहने लगे कि 'मैं जवान हूँ' और अब हम कहते हैं कि 'मैं वृद्ध हूँ' तो बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था तो अलग-अलग हुए, पर उनमें हमारी सत्ता एक ही रही अर्थात् अवस्थाओंके बदलनेपर भी हमारी सत्ता नहीं बदली। ऐसे ही जीव मनुष्य-शरीरमें आनेपर 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा मानता है, देवता बननेपर 'मैं देवता हूँ' ऐसा मानता है, पशु बननेपर 'मैं पशु हूँ' ऐसा मानता है, भूत-प्रेत बननेपर 'मैं भूत-प्रेत हूँ' ऐसा मानता है, आदि-आदि। इससे यह सिद्ध होता है कि देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर अहंता तो बदल जाती है, पर हमारी सत्ता नहीं बदलती।

इस प्रकार सुषुप्तिमें अहंकारके अभावका और अवस्थाओं तथा देहान्तरकी प्राप्तिमें अहंकारके परिवर्तनका अनुभव तो सबको होता है, पर अपनी सत्ताके अभाव और परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको हुआ नहीं, हो सकता नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि अहंकार (मैंपन) हमारा स्वरूप नहीं है। हमारेसे गलती यह होती है कि हम अपने इस् अनुभवका आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते। अगर हम इस अनुभवको महत्त्व दें तो अनादिकालसे अहंकारके साथ

*सुषुप्तिमें मैंपन मिटता नहीं है, प्रत्युत लीन होता है और जाग्रत्-अवस्थामें आते ही पुनः प्रकट हो जाता है। परंतु तत्त्वज्ञान होनेपर मैंपन मिट जाता है।

अपनेपनके जो संस्कार भीतर पड़े हैं, वे संस्कार अपने-आप कम होते-होते मिट जायँगे।

हमारा स्वरूप

हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। उस सत्तामें मैं-तू-यह-वहका भेद नहीं है। मैं, तू, यह और वह—ये चारों प्राकृत हैं और स्वरूप प्रकृतिसे अतीत है। ये चार हैं और सत्ता एक है। ये चारों अनित्य हैं और सत्ता नित्य है। ये चारों सापेक्ष हैं और सत्ता निरपेक्ष है। ये चारों प्रकाश्य हैं और सत्ता प्रकाशक है। ये चारों आधेय हैं और सत्ता आधार है। ये चारों जाननेमें आनेवाले हैं और सत्ता जाननेवाली है। इन चारोंका परिवर्तन तथा अभाव होता है और सत्ताका कभी परिवर्तन तथा अभाव नहीं होता। इसलिये इन चारोंके बदलनेका, आने-जानेका, उत्पन्न-नष्ट होनेका तो अनुभव होता है, पर अपने बदलनेका, आने-जानेका, उत्पन्न-नष्ट होनेका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

मैं, तू, यह और वह—ये चारों तो असत्, जड़ और दु:खरूप हैं, पर चिन्मय सत्ता सत्, चित् और आनन्दरूप है। इस चिन्मय सत्तामें सबकी स्वत: निरन्तर स्थिति है। सांसारिक स्थूल व्यवहार करते हुए भी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई विकार, हलचल, अशान्ति, उद्वेग नहीं होता। कारण कि सत्तामें न अहंता (मैंपन) है, न ममता (मेरापन) है। वह सत्ता ज्ञप्तिमात्र, ज्ञानमात्र है। इस ज्ञानका ज्ञाता कोई नहीं है अर्थात् ज्ञान है, पर ज्ञानी नहीं है। जबतक ज्ञानी है, तबतक एकदेशीयता, व्यक्तित्व है। एकदेशीयता मिटनेपर एकमात्र निर्विकार, निरहंकार, सर्वदेशीय सत्ता शेष रहती है, जो सबको स्वत: प्राप्त है*।

स्वरूपमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—ये पाँचों ही अवस्थाएँ नहीं हैं। ये पाँचों अवस्थाएँ अनित्य हैं और स्वरूप नित्य है। अवस्थाएँ प्रकाश्य हैं और स्वरूप प्रकाशक है। अवस्थाएँ अलग-अलग (पाँच) हैं, पर उनको जाननेवाले हम स्वयं एक ही हैं। इन पाँचों अवस्थाओंके परिवर्तन, अभाव तथा आदि-अन्तका अनुभव तो हमें होता है, पर अपने (स्वरूपके) परिवर्तन, अभाव तथा आदि-अन्तका अनुभव हमें नहीं होता; क्योंकि स्वरूपमें ये हैं ही नहीं। जैसे स्वप्नावस्थामें देखे गये पदार्थ मिथ्या (अभावरूप) हैं, ऐसे ही उन पदार्थोंका अनुभव करनेवाला (स्वप्नको देखनेवाला) अहंकार भी मिथ्या है। स्वप्नावस्थामें तो जाग्रत्-अवस्था दबती है, मिटती नहीं, पर जाग्रत्-अवस्थामें स्वप्नावस्था मिट जाती है। अत: स्वप्नावस्थाके साथ-साथ उसका अहंकार भी मिट जाता है। इसी तरह जाग्रत्-अवस्थामें जो अहंकार दीखता है, वह भी शरीर छूटनेपर मिट जाता है; परंतु तादात्म्यके कारण दूसरे देहकी प्राप्ति होनेपर पुन: अहंकार जाग्रत् हो जाता है। यद्यपि जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंका अहंकार भी अलग-अलग होता है, तथापि उनमें अपनी सत्ता एक रहनेके कारण अहंकार भी एक दीखता है।

एक तुरीयावस्था (चतुर्थ अवस्था) होती है, जिसको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके बादकी अवस्था कहते हैं। परंतु वास्तवमें तुरीयावस्था कोई अवस्था नहीं है, प्रत्युत तीन अवस्थाओंकी अपेक्षासे उसको तुरीयावस्था अर्थात् चतुर्थ अवस्था कह देते हैं। इसको बद्धावस्थाकी अपेक्षासे मुक्तावस्था भी कह देते हैं। निर्वाण पद भी इसीका नाम है—

> **लखे कोई विरला पद निरवाण॥**
> **तीन लोकमें काल समाना, चौथे लोकमें नाम निसाण॥**

तुरीयावस्था, मुक्तावस्था अथवा निर्वाण पद कोई अवस्था नहीं है, प्रत्युत हमारा स्वरूप है।

मैंपनको मिटानेका उपाय

'मैंपन कैसे मिटे?' यह प्रश्न यदि हरदम जाग्रत् रहे तो अहंकार मिट जायगा। वास्तवमें अहंकार मिटा हुआ ही है। परंतु लगन न होनेके कारण इसका अनुभव नहीं हो रहा

*वास्तवमें सत्ताका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उसको असत्‌की अपेक्षासे सत्, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, अहंकारकी अपेक्षासे निरहंकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय कह देते हैं, पर वास्तवमें उस सत्तामें सत्, निर्विकार आदि शब्द लागू होते ही नहीं। कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, जबकि सत्ता निरपेक्ष और प्रकृतिसे अतीत है। इसलिये गीतामें आया है कि उस तत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३। १२)।

है। एक संतके चरित्रमें आया है कि गरमीका समय था, जोरसे प्यास लग रही थी और कमण्डलुमें ठंडा जल भी पासमें रखा था; परंतु लगन लगी थी कि जबतक अनुभव नहीं होगा, तबतक पानी नहीं पीऊँगा! ऐसी लगन लगते ही चट अनुभव हो गया! ऐसा अनुभव एक बार हो जायगा तो फिर वह सदाके लिये, युग-युगान्तरतकके लिये हो जायगा।

अहंकारको मिटानेके तीन उपाय बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगमें निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करें, दूसरोंको सुख पहुँचायें तो अपने भोग और संग्रहकी इच्छा मिट जायगी। भोगेच्छा सर्वथा मिटनेपर अहंकार नष्ट हो जायगा; क्योंकि भोगेच्छापर ही अहंकार टिका हुआ है। ज्ञानयोगमें विवेकके द्वारा यह समझें कि असत्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत हमारा सम्बन्ध सर्वव्यापक सत्-स्वरूपके साथ है। ऐसा समझकर सत्-स्वरूपमें स्थित हो जायँ तो अहंकार नष्ट हो जायगा। भक्तियोगमें 'भगवान् ही मेरे हैं, संसार मेरा नहीं है'—ऐसा मानकर संसारसे विमुख और भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ तो अहंकार नष्ट हो जायगा। कर्मयोगमें अहंकार शुद्ध होता है, ज्ञानयोगमें अहंकार मिटता है और भक्तियोगमें अहंकार बदलता है। शुद्ध होना, मिटना और बदलना—तीनोंका परिणाम एक (अभाव) ही है।

अहंकार अनित्य और परिवर्तनशील है—यह सबका अनुभव है। एक दिनमें कई बार अहंकार बदलता है। बापके सामने हम कहते हैं कि 'मैं बेटा हूँ' और बेटेके सामने कहते हैं कि 'मैं बाप हूँ'। अगर कोई हमसे पूछे कि आप एक बात बताओ कि आप बाप हो या बेटा हो तो हम क्या बतायेंगे? एक बात सच्ची हो तो बतायें! इस बनावटीपनको छोड़कर जब हम अपनी सत्ताको देखेंगे, तभी सच्ची बात मिलेगी। हम माँके सामने बेटे बन जाते हैं, बहनके सामने भाई बन जाते हैं, स्त्रीके सामने पति बन जाते हैं—यह जो हमारा बहुरूपियापना है अर्थात् बदलनेवालेको सत्य मानना है, यही अहंकारके मिटनेमें बाधक है। वास्तवमें हम न बाप हैं, न बेटे हैं, न भाई हैं, न पति हैं, प्रत्युत इन सबमें रहनेवाली एक सत्ता हैं। वह सत्ता ही हमारा स्वरूप है। अगर अपना स्वरूप बाप होता तो वह कभी बेटा नहीं बनता और बेटा होता तो कभी बाप नहीं बनता। परंतु बेटेके सामने वह कहता है कि मैं बाप हूँ और बापके सामने कहता है कि मैं बेटा हूँ तो यह सापेक्ष अहंवृत्ति है, जो केवल व्यवहारके लिये है। अहंवृत्ति कर्ता नहीं है, प्रत्युत करण है। कर्ता अहंकार है। खाता हूँ, पीता हूँ, बोलता हूँ आदि सामान्य क्रियाएँ 'अहंवृत्ति' से होती हैं, पर अहंकार सब क्रियाओंमें निरन्तर रहता है। उन क्रियाओंको लेकर जब हम अपनेमें कोई विशेषता देखते हैं, तब अभिमान हो जाता है; जैसे—मैं धनवान् हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं व्याख्यानदाता हूँ आदि।

गीतामें आया है—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (३। २७)

'अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अर्थात् अहंकारसे तादात्म्य करनेवाला मनुष्य अपनेको कर्ता मान लेता है।' वास्तवमें स्वरूप (स्वयं) कर्ता नहीं है। अतः साधकको चाहिये कि वह 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' इसपर दृढ़ रहे—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' गीता (५। ८)। जब अपनेमें कर्तापन और लिप्तता नहीं रहती, तब साधकको पूर्णता प्राप्त हो जाती है, वह सिद्ध हो जाता है—'**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते**' (गीता १८। १७)।

पदार्थ, रुपये, कुटुम्ब, शरीर आदिमें जो प्रियता (राग) है, वह बुद्धिकी लिप्तता है। कर्तापन और लिप्तता—दोनों ही स्वरूपमें नहीं हैं, प्रत्युत मानी हुई हैं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। जैसे हम किसी प्रकाशमें बैठे हैं तो वह प्रकाश किसीसे भी लिप्त नहीं होता और उसमें 'मैं प्रकाश हूँ; मेरा प्रकाश है'—ऐसी अहंता-ममता भी नहीं होती, ऐसे ही सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकाशित करनेपर भी स्वरूप (स्वयं) निर्लिप्त रहता है। वह क्रियाओंको प्रकाशित करता नहीं है, प्रत्युत कियाएँ उससे प्रकाशित होती हैं अर्थात् स्वरूपसे उन क्रियाओंको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है।

तादात्म्यसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय, उद्वेग-हलचल आदि विकार उत्पन्न होते हैं। अगर ये विकार न

होते हों, प्रत्युत अपनेमें केवल एकदेशीयपना दीखता हो तो यह भी साधकको असह्य होना चाहिये। कारण कि अहंता तो एकदेशीय है, पर सत्ता एकदेशीय नहीं है। जब सत्ता ही अपना स्वरूप है, तो फिर अपनेमें एकदेशीयपना क्यों दीखता है—ऐसा विचार करके साधकको संतोष नहीं करना चाहिये। इसलिये पूर्वसंस्कारसे अपनेमें एकदेशीयपना (अहंता) दीखे तो साधकको ऐसा मानना चाहिये कि वास्तवमें अहंता आ नहीं रही है, प्रत्युत जा रही है। दरवाजेपर आदमी आता हुआ भी दीखता है और जाता हुआ भी दीखता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अहंताके टुकड़े होते हैं। अहंताके टुकड़े नहीं होते, प्रत्युत अनादिकालसे अहंताके जो संस्कार पड़े हुए हैं, उनका अचानक भान हो जाता है। अतः उसको महत्त्व न देकर उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये और दृढ़तासे यह अनुभव करना चाहिये कि अपनेमें अहंता नहीं है। कारण कि अगर अपनेमें अहंता होती तो वह सुषुप्तिमें भी रहती और अवस्थान्तर अथवा देहान्तरकी प्राप्तिमें भी रहती।

जब प्रकृतिका कोई भी कार्य स्थिर नहीं है, तो फिर अहंता कैसे स्थिर रहेगी? अहंता हरदम बदलती है, कभी स्थिर और एकरूप नहीं रहती और न रह सकती है। परंतु जो प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (अपनी सत्ता) है, वह कभी बदलता नहीं, सदा स्थिर और एकरूप रहता है। अतः बदलनेवाली वस्तुके साथ हमारा (न बदलनेवालेका) सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसा दृढ़तासे अनुभव कर लेना चाहिये; क्योंकि यह वास्तविकता है।

मैंपनकी खोज

अब यह खोज करनी है कि मैंपन किसमें है? यदि सत्में मैंपन मानें तो फिर मैंपन कभी मिटेगा ही नहीं और मनुष्य कभी निर्मम-निरहंकार हो ही नहीं सकेगा। मैंपन प्रकृतिका कार्य है और सत्-तत्त्व प्रकृतिसे अतीत है। मैंपन प्रकृतिमें भी नहीं है, फिर प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें कैसे होगा? सत्-तत्त्व इतना ठोस है कि उसमें मिटनेवाले मैंपनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यदि असत्में मैंपन मानें तो असत् एक क्षणके लिये भी नहीं टिकता फिर उसमें मैंपन कैसे टिकेगा? जिसकी खुदकी ही सत्ता नहीं है, उसमें दूसरी वस्तुकी कल्पना कैसे बैठेगी? अतः मैंपन न तो सत्में है और न असत्में है। सत् और असत्के सम्बन्धमें भी मैंपन नहीं मान सकते। कारण कि जैसे प्रकाश और अन्धकारका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही सत् और असत्का भी संयोग नहीं हो सकता। मैंपनको अन्तःकरणमें भी नहीं मान सकते; क्योंकि अन्तःकरण एक वृत्ति है, जो कर्ताके अधीन है। अतः जो कर्ता है, उसीमें मैंपन है।

अब प्रश्न होता है कि कर्ता कौन है? शरीर कर्ता नहीं है; क्योंकि शरीर प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार करण हैं, जिनको 'अन्तःकरण' कहते हैं। यह अन्तःकरण भी कर्ता नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। परंतु कर्ता स्वतन्त्र होता है—'**स्वतन्त्रः कर्ता**' (पाणि० अ० १। ४। ५४)। करण तो क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त सहायक होता है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ० १। ४। ४२), इसलिये करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं। जैसे, कलम स्वतन्त्रतासे नहीं लिखती, प्रत्युत वह तो लिखनेका एक साधन (करण) है, जो लेखक (कर्ता)-के अधीन होता है। अन्तःकरण कर्ता नहीं होता और कर्ता करण नहीं होता। यदि अन्तःकरण 'करण' है तो फिर वह कर्ता कैसे? दूसरी बात, यदि करणमें कर्तापन है तो फिर खुद सुखी-दुखी क्यों होता है? सत्-स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि मैंपन तो प्रकृतिका कार्य है, वह प्रकृतिसे अतीतमें कैसे सम्भव है? यदि स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं; क्योंकि स्वरूप अविनाशी है। इसलिये गीतामें आया है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(गीता १८। १६)

'जो कर्मोंके विषयमें शुद्ध आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।'

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'यह आत्मा शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दु:खी) होता है, वही कर्ता होता है। अब प्रश्न होता है कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न सत् है, न असत् है। सत् भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि सत्‌का कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सत:**', जबकि भोक्तापनका अभाव होता है—'**न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। असत् भी भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि असत्‌की सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भाव:**'। अत: उसमें भोक्तापनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तापन और भोक्तापन न तो सत्‌में है और न असत्‌में ही है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मैंपनको सत्‌से भी हटा ले और असत्‌से भी हटा ले। इन दोनोंसे मैंपन हटाते ही मैंपन नहीं रहेगा, कर्ता-भोक्ता नहीं रहेगा, प्रत्युत चिन्मय सत्ता रह जायगी।

जब कोई कर्ता-भोक्ता नहीं रहता, तब 'योग' रहता है। योग होनेपर भोग नहीं रहता अर्थात् 'योग' तो रहता है, पर योगी नहीं रहता, 'ज्ञान' तो रहता है, पर ज्ञानी नहीं रहता, 'प्रेम' तो रहता है, पर प्रेमी नहीं रहता। जबतक योगी रहता है, तबतक योगका भोग होता है। जबतक ज्ञानी रहता है, तबतक ज्ञानका भोग होता है। जबतक प्रेमी रहता है, तबतक प्रेमका भोग होता है। अत: जो योगी है, वह योगका भोगी है। जो ज्ञानी है, वह ज्ञानका भोगी है। जो प्रेमी है, वह प्रेमका भोगी है। जो योगका भोगी है, वह कभी विषयोंका भोगी भी हो सकता है। जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी अज्ञानका भोगी भी हो सकता है। जो प्रेमका भोगी है, वह कभी काम (राग)-का भोगी भी हो सकता है।

जब भोगी नहीं रहता, तब केवल योग रहता है। योग रहनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। परंतु मुक्त होनेपर भी महापुरुषने जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है, उस साधनका एक संस्कार रह जाता है, जो दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होने देता। इस संस्कारके कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अपने मतका संस्कार दूसरे दार्शनिकोंके मतोंका समान आदर नहीं करने देता। परंतु प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अपने मतका संस्कार भी नहीं रहता और सबके साथ एकता हो जाती है। इसलिये रामायणमें आया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

अत: कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। प्रेममें अपने मतके संस्कारका भी सर्वथा अभाव हो जानेसे सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और '**वासुदेव: सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसका अनुभव हो जाता है। सबमें परमात्माको देखनेसे सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव हो जाता है; क्योंकि अपने इष्ट परमात्मासे विरोध सम्भव ही नहीं है—'*निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध*' (मानस, उत्तर० ११२ ख)। इसलिये गीतामें '**वासुदेव: सर्वम्**' का अनुभव करनेवाले महात्माको अत्यन्त दुर्लभ बताया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें अर्थात् मनुष्यजन्ममें 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

खूब तेजीसे भगवान्‌की ओर बढ़िये

जीवन तो समाप्त होगा ही, चाहे विषयोंके संगमें बीते अथवा भगवान्‌के संगमें। भगवान्‌की ओर जितना बढ़ियेगा, उतनी शान्ति बढ़ेगी। उनको छोड़कर जगत्‌के किसी भी प्रपञ्चमें सुख खोजियेगा तो जलन बढ़ेगी। आजतक जितने संत हुए हैं, वे सब-के-सब कह गये हैं—जीवनका भरोसा नहीं है, अतएव खूब तेजीसे भगवान्‌की ओर बढ़िये। अवश्य ही घबरानेकी जरूरत नहीं है। भगवान्‌की पूर्ण कृपा आपके साथ है।

मैं कौन हूँ?

[यथागत/तथागत]

(श्रीबालकृष्णजी गर्ग)

'मैं कौन हूँ? क्या हूँ? क्यों हूँ? कैसे हूँ?' यथागतने बार-बार पूछा। उसके चेहरेसे व्याकुलता झलक रही थी।

'तुम्हारा प्रश्न है आत्म-विज्ञानके लिये। मैं एक साधारण व्यक्ति तुम्हें कैसे समझाऊँ भला?'—तथागतने टालना चाहा।

'आप सामर्थ्यवान् हैं!'—यथागतने पैर पकड़ लिया—'यदि मेरे मनको शान्ति न मिली तो यहीं प्राण त्याग दूँगा।'

तथागत विचारमग्न हो गये। आत्मज्ञान, मन-वाणीसे परे—अनुभूतिका विषय। मात्र शब्दोंद्वारा किसी प्रकार समझाया नहीं जा सकता। किंतु जिज्ञासु तो है सच्चा, पूर्ण अधिकारी। कुछ करना ही होगा।

'ठीक है, कुछ दिन यहीं रहो और जो मैं कहूँ, करो!'—तथागत बोले।

'आप जैसा कहेंगे, वैसा ही करूँगा। आदेश करें भगवन्!'—यथागतका चेहरा अब आशासे चमक रहा था।

'अभी तो इतना ही करो! रोज सुबह नगरमें जाया करो और रातको लौटकर वहाँके सभी समाचार मुझे सुनाया करो।'

'जैसी आज्ञा भगवन्!'—यथागतने सिर झुकाया।

यथागत नियमित रूपसे नगर जाता और लौटकर सारी घटनाएँ तथागतको ज्यों-की-त्यों सुना देता। महीनों यह क्रम चलता रहा। अचानक एक दिन तथागतने पानीसे भरी हुई एक थाली उसे दी और कहा—'आज यह थाली लेकर नगरमें जाना होगा। लेकिन सावधान रहना! पानीकी एक भी बूँद थालीसे नीचे न गिरने पाये। लौटकर रोजकी तरह नगरका पूरा हाल मुझे सुनाना।'

इसके बाद एक अनुगतको बुलाकर तथागतने आज्ञा दी—'तुम एक तलवार लेकर यथागतके पीछे-पीछे जाओ। थालीसे एक भी बूँद पानी कहीं गिरे तो तुरंत वहीं इसके दोनों हाथ काट देना! मेरे पास पूछनेके लिये भी आनेकी जरूरत नहीं!'

'जो आज्ञा प्रभु!'—अनुगतने कहा और तलवार लेकर यथागतके पीछे-पीछे जानेको तैयार हो गया।

नित्य नगर जाकर समाचार लानेकी एक ही दिनचर्यासे यथागत ऊब-सा गया था। आज कार्य-परिवर्तन तो हुआ, लेकिन बड़ा ही रोमाञ्चक एवं अत्यन्त दुःसाध्य। वह बेहद डर गया! उसने सपनेमें भी नहीं सोचा था कि तथागत ऐसा अद्भुत-अनोखा और साथ ही इतना भयानक आदेश भी देंगे। खैर! बड़ी सावधानीसे पानीसे भरी थाली लिये यथागतने नगरकी ओर प्रस्थान किया। नंगी तलवार लिये दूसरा शिष्य उसकी थालीपर कड़ी नजर रखते हुए उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।

रास्तेमें लोग कौतूहल और विस्मयसे इस दृश्यको देखते और परस्पर अनुमानादि तर्कोंसे इस विस्मापक मूक प्रश्नका समाधान ढूँढ़ते। पर यथागतका ध्यान थाली और उसके पानीको छोड़ अन्य किसी ओर जरा भी नहीं था। जब कोई कुछ पूछता, तब भी वह उत्तर न दे पाता—फिर विगत दिनचर्याके क्रममें समाचार-संग्रहकी सुधि ही कहाँ? जैसे-तैसे शनैः-शनैः पूरे नगरका परिभ्रमण पूरा हुआ। रातको दोनों लौटकर तथागतके पास पहुँचे। कहना न होगा, थालीसे एक भी बूँद पानी नीचे नहीं गिरा था।

'नगरके सभी समाचार सुनाओ!'—तथागतने आदेश दिया।

'नगर तो आज मैं जरा भी नहीं देख पाया। फिर वहाँके समाचार कैसे सुनाऊँ भगवन्!'—यथागतने नम्रतापूर्वक कहा।

'क्यों? नगरसे ही तो तुम आ रहे हो! क्या पूरे दिन नगरका चक्कर तुमने नहीं लगाया?'

'लगाया तो है भगवन्!'—यथागत बोला।

'फिर नगर नहीं देखा?', 'ऐसा क्यों कहते हो?'—पूछा तथागतने।

'आपने मेरे नगर-भ्रमणके साथ ही अपने अनुगतको यह आदेश भी तो दिया था न कि थालीसे एक भी बूँद पानी नीचे गिरे तो मेरे दोनों हाथ वह उसी समय तलवारसे

काट दे। बस, इसीसे भयाक्रान्त हो मैं एक पलको भी अपना ध्यान थालीसे नहीं हटा सका! फिर नगर, भला कैसे देखता!'—यथागतने उत्तर दिया।

'बस वत्स, बस, यही है आत्मज्ञानकी कला—आत्म-विद्या-प्राप्तिका उपाय। जिस प्रकार थालीसे पानी गिरनेके डरसे तुम पूरे नगरमें घूमते हुए भी, कुछ भी देख-सुन न सके—तुम्हारे मनकी वृत्तियाँ जरा भी इधर-उधर नहीं गयीं—यद्यपि नगरकी सजावट, चहल-पहल, राग-रंग एवं घटनाक्रम, सभी कुछ तो पूर्ववत् ही था, तथापि तुम्हारा ध्यान वह अपनी ओर न खींच सका, उसी प्रकार संसारकी सारी मोह-ममताको छोड़कर, सभी वस्तुओंसे ध्यान हटाकर, दियेकी लौके सदृश, सच्चे एकाग्रमनसे एक परमात्मामें ही ध्यान लगा दो तो धीरे-धीरे तुम्हारा स्वरूप तुम्हारे सामने स्पष्ट होगा—और होगा तुम्हारी सारी शंकाओंका समाधान, उपलब्ध होगा तुम्हें अपने सभी प्रश्नोंका उत्तर और मिलेगी मनको आध्यात्मिक शान्ति। यही है आत्मविज्ञान, यही है मोक्षका मार्ग और यही है तुम्हारा जीवन-लक्ष्य!—इतना कहकर तथागत समाधिस्थ हो गये।

मातृदेवो भव!

(संत श्रीविनोबा भावे)

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनुस्मृति २। १४५)

शास्त्रोंमें आया है—'दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा एक आचार्य—शिक्षक, सौ आचार्यों—शिक्षकोंकी अपेक्षा पिता और पितासे हजार गुना बढ़कर एक माता है।' माताओंको ऐसा गौरव प्रदान किया गया है।

माता अपने बच्चेकी सेवा रात-दिन करती है। अगर उसके पास कोई सेवाकी 'रिपोर्ट' माँगने जाय तो वह क्या 'रिपोर्ट' देगी? माता इतनी सेवा करती है कि वह 'रिपोर्ट' इस वाक्यमें दे देगी—'मैंने तो बच्चेकी कुछ सेवा नहीं की।' भला, माताकी 'रिपोर्ट' इतनी छोटी क्यों? इसका कारण है, माताके हृदयमें बच्चेके प्रति जो प्रेम है, उसके मुकाबलेमें उसके द्वारा बच्चेकी कुछ भी सेवा नहीं हुई है, ऐसा उसे लगता है। सेवा करनेमें उसे कष्ट कुछ कम नहीं सहने पड़े हैं, लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम ही नहीं हुए।

मान लीजिये, माँके पास एक कटोरा पानी है। माँ यही कहती है कि जबतक मेरे सब बच्चोंको पानी नहीं मिल जाता, तबतक मुझे पानी नहीं चाहिये। वह तबतक अपनी प्यास नहीं बुझायेगी, जबतक सारे बच्चोंकी प्यास नहीं बुझ जाती। अगर अपने लिये पानी शेष नहीं बचता है तो भी वह आन्तरिक सुखका ही अनुभव करेगी। यही माताका मातृत्व है।

शास्त्रमें पहले कहा है—'**मातृदेवो भव!**' उसके बाद ही '**पितृदेवो भव!**' कहा गया है, अर्थात् माताका स्थान पहला माना गया है।

ज्ञान देनेका पहला गुरुत्वपूर्ण दायित्व माताको सौंपा गया है। ज्ञानदेवका अभंग प्रसिद्ध ही है। शिशुको पलनेमें सुलाकर पलना हिलाते-हिलाते उसे माताने वेदान्त सिखलाया। मातामें इतनी शक्ति भरी है। ऐसी माताओंको आगे आना चाहिये। घरमें उनका राजकाज चलता है, यह ठीक ही है, लेकिन बाहर भी उनका अङ्कुश होना चाहिये। जिन व्यक्तियोंके जीवनमें माताका ऐसा अङ्कुश रहा, उनके जीवनमें एक अजीब ही चमक दीख पड़ती है। शिवाजी और साने गुरुजीको बचपनमें मातासे ही बोध मिला और उसी समय वह उनके हृदयमें घर कर गया। श्रुतिको शंकराचार्यने 'माता' कहा है। हमलोग श्रीज्ञानेश्वरको 'ज्ञानोबा माउली' (ज्ञानदेव मैया) कहते ही हैं। गुरुको भी मराठीमें 'माउली' (मैया) कहा जाता है। ज्ञानदेव तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं।

'जेथ प्रियाची परिसीमा। तेथ भेटे माउली आत्मा॥'

'वहीं आत्मा मैयाकी भेंट होगी, जहाँ प्रेमकी परिसीमा हो जाती है।'

स्त्री-पुरुष—दोनोंके साथ-साथ चलनेसे समाजकी गाड़ी

चलती है। दोनोंको मोक्ष-प्राप्तिका समान अधिकार है। स्त्रियोंको मोक्ष, विज्ञान, ज्ञानका—और वे चाहें तो धनका भी अधिकार होना चाहिये। स्त्री-पुरुष—दोनोंका समान अधिकार होना चाहिये। माताओंको अगर ठीक ढंगसे ज्ञान मिलेगा तो सारे समाजकी परिपूर्ण रक्षा होगी।

मुझे आजका शिक्षण यान्त्रिक ढाँचेमें ढला दीखता है। लगता है—उससे अशिक्षण ही बेहतर है। आज जो शिक्षण चल रहा है, वह अगर बंद हो जाता तो क्या बाप बच्चेको इंसानियतकी तालीम न देता, खेती-बारीका ज्ञान, सदाचार और व्यवहारका ज्ञान न देता? बच्चेको सबसे पहले माता-पिता तालीम देते हैं, उससे थोड़ी अधिक तालीम गुरु देते हैं। इसलिये गुरुओंको यह अहंकार नहीं रखना चाहिये कि हम तालीम देते हैं। माताएँ जो तालीम देती हैं, वह नंबर एककी तालीम होती है, पिता जो तालीम देता है, वह नंबर दोकी होती है और गुरु जो तालीम देता है, वह नंबर तीनकी होती है। लेकिन सरकारी महकमेसे जो तालीम मिलती है, उसका तो कोई नंबर ही नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो 'ढाँचा' है।

जबतक माँ-बाप मौजूद हैं—बिना माता-पिताके बच्चे पैदा नहीं होते—तबतक बच्चोंको ज्ञान मिलता रहेगा। परमेश्वरकी योजना ही ऐसी है कि जहाँ उसने बच्चेको भूख दी, वहाँ माँके स्तनमें दूध भी पैदा किया। बच्चेको भूखके साथ माँको पिलानेकी प्रेरणा दी। इस तरह बचपनसे ही माँके जरिये प्रेमकी तालीम दी जाती है। बच्चोंको मातृभाषा सिखानेके लिये सरकार कितने करोड़ रुपये खर्च करती है। लेकिन माँ तो दूध पिलाते-पिलाते बच्चेको मातृभाषा सिखाती है। दुनियाभरके बच्चे माँसे भाषा सीखते हैं। माँ बच्चेसे कहती है—'यह देखो चाँद'। बच्चा सुनता है। माँ फिर उससे पूछती है—'चाँद किधर है, बताओ', वह परीक्षा लेती है। बच्चा अँगुलीसे बताता है कि चाँद कहाँ है। बादमें वह बोलने लगता है—'च, च, न, न, द' और फिर 'चाँद-चाँद' कहता है। मतलब यह कि पहले वस्तु ग्रहण करता है, फिर बोलता है। यह जो सारा ज्ञान है, भाषा सीखनेका ज्ञान है, क्या वह विद्यालयोंकी शिक्षासे कम है? दो-ढाई सालमें शून्यमेंसे ज्ञान पैदा किया जाता है और माताएँ ही यह सब करती हैं। शिक्षणशास्त्री अनुभव और निरीक्षणसे कहते हैं कि 'बच्चेको शुरूके साल-दो-सालमें जितना ज्ञान मिलता है, उतना ज्ञान आगेकी सारी जिंदगीमें नहीं मिलता।' इसलिये दुनियाभरके लोगोंने माना है कि अगर माताएँ संस्कारवान् बनीं तो दुनिया बचेगी अन्यथा नहीं। इसलिये व्यक्तिका सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठतम गुरु तो माता है।

भगवान् श्रीकृष्ण जब गुरुके घर गये, तब गुरुको आश्चर्य हुआ कि सारे विश्वका उद्धार करनेवालेको मैं क्या पढ़ाऊँ? फिर छः महीने पढ़ाईका नाटक चला। ऐसी कथा प्रचलित है कि उतना सीखनेपर बिदाईके समय श्रीकृष्णने गुरुकी सेवा की। तब गुरुने कहा कि 'तू वरदान माँग।' श्रीकृष्णने यह वरदान माँगा—'**मातृहस्तेन भोजनम्**'—मुझे माताके हाथसे भोजन मिले।

माताके द्वारा अपने हाथसे रसोई बनाकर लड़केको खिलानेसे बढ़कर 'वशीकरण' की शक्ति क्या हो सकती है? गाँधीजीने भी आश्रममें हमलोगोंको रसोई परोसी है। इससे ज्यादा सेवा दूसरी कोई हो नहीं सकती। मातृ-वात्सल्यकी बड़ी कीमत है। इसलिये मैं तो रसोईकी बड़ी कीमत करता हूँ और उसे 'फाइन आर्ट' कहता हूँ। संगीत, चित्रकला एवं नृत्य जैसे ललित-कलाएँ हैं, वैसे ही रसोई भी ललित-कला है। यह कला भी माताकी बहुत बड़ी शक्ति हो सकती है। पर आज तो होटल खुल रहे हैं और धीरे-धीरे यह कला भी स्त्रियोंके हाथोंसे जा रही है। स्त्रियोंको टप्-टप् टाइपिस्टका काम अथवा यान्त्रिक काम देते हैं। कहते हैं कि स्त्रियोंकी अँगुलियाँ जल्दी चलती हैं, इसलिये उन्हें आफिसमें बैठाते हैं। यह काम स्त्रियोंको नहीं करना चाहिये—यह मैं नहीं कहता। मेरा कहना तो यही है कि उन्हें ऐसे काम करने चाहिये, जिनमें स्त्री-शक्तिका विकास हो और शान्तिकी रक्षा हो। जिस धंधेमें पावित्र्य हो, शान्ति हो, ऐसा काम करनेका आग्रह स्त्रियोंको रखना चाहिये। लड़के-लड़कियोंका सह-शिक्षण माताओंके हाथमें होना चाहिये। बुनियादी शिक्षण स्त्रियोंके हाथमें रहेगा तो बचपनसे लड़कोंपर अच्छा संस्कार पड़ेगा और समाजका उद्धार होगा।

कितनी ही स्त्रियाँ दुःखी, बीमार, बेरोजगार होती हैं। मुझे उन सबके पास पहुँचना है, उनकी सेवा करनी है। मुझे स्मरण है कि जब किसीके यहाँ रसोईकी अड़चन पड़ती, मेरी माँ स्वयं वहाँ पहुँच जाती और रसोई कर आती। अपने

घरकी रसोई शुरूमें ही वह बनाकर रख देती थी। मैंने पूछा—'यह स्वार्थ क्यों? पहले हमारे लिये रसोई बनाती हो, फिर उनके लिये।' माँने कहा—'यह स्वार्थ नहीं, परमार्थ ही है। अगर पहले उनकी रसोई कर आऊँगी और बादमें तुम्हारी करूँगी तो तुम्हें खानेके समय गरम रसोई मिलेगी, लेकिन उनके खानेके समयतक वह सबेरेकी रसोई ठंडी हो जायगी।'

माताका असली मातृत्व रसोईमें ही है। अच्छी-से-अच्छी रसोई बनाना, बच्चोंको प्रेमसे खिलाना, इसमें कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है। रसोईका काम यदि माताओंके हाथोंसे ले लिया जाय तो उनका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेमभाव प्रकट करनेका मौका छोड़नेके लिये कोई माता तैयार न होगी। उसीके सहारे तो वह जिंदा रहती है।

हिंदुस्तानमें स्त्रियोंने धर्मकी रक्षा अधिक की है। पुरुषोंमें जितने व्यक्ति व्यसनी मिलते हैं, उनकी तुलनामें स्त्रियाँ बहुत कम व्यसनी मिलेंगी। स्त्रियोंने दुनियामें सदाचार जिंदा रखा है, इसलिये उनपर बालकोंकी जिम्मेवारी होती है। बच्चोंमें अच्छी आदतें डालना और उनको साफ-सुथरा रखना स्त्रियोंके हाथमें है। स्त्रियाँ अपने बच्चोंको सच्चरित्र बनायेंगी तो देशको अच्छे नागरिक मिलेंगे। बच्चे देशकी सबसे बड़ी सम्पत्ति हैं, इनसे बढ़कर कौन-सा धन है? कौसल्याकी कोखसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रकट हुए और देवकीकी कोखसे भगवान् श्रीकृष्ण। जितने भी सत्पुरुष हुए हैं, उनकी माताएँ धर्मपरायणा थीं। जिस घरकी स्त्रियाँ भगवान्‌का स्मरण करती हैं, सत्यका पालन करती हैं, प्रेमभावसे रहती हैं, उस घरमें अच्छे पुरुष पैदा होते हैं, यह बात दुनियाभरमें प्रसिद्ध है। अतएव—

'मातृदेवो भव! मातृदेवो भव! मातृदेवो भव!'

विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है

(श्रीमगनलालजी चाण्डक)

'विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है'—इस एक ही पंक्तिमें सारे जीवनकी पूरी महिमा अन्तर्हित है। यह विवेक किसी कर्मका फल नहीं है, यह आलोकित विवेकका प्रकाश मानवमात्रको परमपिता परमात्माकी अहैतुकी कृपासे मिला है। हमलोग प्रायः आकृति-विशेषको ही मानव समझते हैं, परंतु मानवकी आकृति होनेपर भी यदि वह अपनी ज्ञानशक्ति, भावशक्ति एवं क्रियाशक्तिका यथास्थान अपने विवेकके प्रकाशमें सदुपयोग नहीं करता है तो उस व्यक्तिका जीवन मानव-जैसा नहीं है। इस कारण मानव-जीवनकी महत्ता यही है कि वह अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति या निवृत्ति विवेकके प्रकाशमें ही करे, इसीसे अपना कल्याण और सुन्दर समाजका निर्माण भी होगा।

भगवान्‌ने मनुष्यको अपने जीवनको सम्यक् प्रकारसे चलानेके लिये और अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये ज्ञानशक्ति, भावशक्ति और क्रियाशक्ति दी है तथा विवेकका प्रकाश भी दिया है। यदि अपने विवेकके प्रकाशमें इन तीनों शक्तियोंका सदुपयोग करें तो मानवमात्रको भी वह जीवन मिल सकता है जो किसी महामानवको मिला हो। इसके लिये हमें अपने सम्बन्धमें गम्भीरतासे विचार करना होगा। दूसरी बात यह है कि अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार अपनी वर्तमान परिस्थितिका भी अध्ययन करना होगा। अपनी वास्तविक आवश्यकताकी खोज करनी होगी और शरीर-धर्म तथा स्वधर्मको भी समझना होगा।

इन सभी विषयोंपर अपने जीवनको केन्द्रमें रखकर विवेकके प्रकाशमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा तथा अपने श्रद्धेयसे भी विचार-विमर्श किया जा सकता है।

१-ज्ञानशक्तिका विवेकके प्रकाशमें सदुपयोग

ज्ञानशक्ति और विवेकके प्रकाशका आपसमें गहरा सम्बन्ध है। यदि जीवनमें विवेकके प्रकाशमें ज्ञानशक्तिका आदर होने लगे तो जीवनमें असफलताका दर्शन नहीं होगा और सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त हो सकती है। ज्ञान-शक्ति मनुष्यको अपना जीवन अपने लिये उपयोगी बनानेके लिये मिली है। यह मानवमात्रके लिये साधनकी सबसे पहली बात है।

हमें इन्द्रियोंसे जैसे ज्ञान होता है, उसी प्रकार हमें बुद्धिसे भी ज्ञान होता है। इस दृष्टिसे बुद्धि भी यन्त्र ही है। इन्द्रियोंकी जो विषयोंके प्रति स्वाभाविक रुचि—प्रवृत्ति रहती है, उसको नियन्त्रित करनेके लिये हमें बुद्धिरूपी यन्त्र मिला है। बुद्धिके ऊपर स्वयंका शासन विवेकके प्रकाशमें होना ही विवेकयुक्त मानव-जीवन है।

आजकल एक रिवाज चल पड़ा है कि 'क्या करें संस्कार ही ऐसा है, स्वभाव खराब है, परिस्थिति ऐसी है, वातावरण बहुत ही प्रतिकूल है।'—ये सभी बातें केवल अपने बचावकी दृष्टिसे ही कही जाती हैं। दोष है स्वयंमें और मढ़ा जाता है इन्द्रियों एवं बुद्धिपर, मन और बाहरके सभी कारणोंपर।

इस बुराईका आरम्भ होता है विवेक-विरोधी सम्बन्धके स्वीकार करनेके कारण, इसीको अपने ज्ञानका अनादर भी कह सकते हैं। जिस शरीरपर अपना कोई अधिकार नहीं है, उसीको अपना मानना ही सर्वप्रथम विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। जब साधक शरीरको अपना मानता है या अपने लिये मानता है तो साधक-जीवनसे उसका सम्बन्ध नहीं रहता। उसमें कर्तव्यके विपरीत अकर्तव्यकी प्रधानता हो जाती है। जीवन सुखके प्रलोभन और दुःखके भयसे घिर जाता है। दीनता और अभिमानसे ओतप्रोत जीवन इधर-उधर भटकता है। परंतु विवेक-विरोधी सम्बन्धका त्याग नहीं करता है, न ही अपने जीवनको सामने रखकर अपनी समस्याओंका समाधान अपनी योग्यता, सामर्थ्य, रुचि और परिस्थितिके अनुसार ढूँढ़ता है। इस प्रकार साधक पराश्रय और परिश्रमके द्वारा भक्ति एवं मुक्ति प्राप्त करना चाहता है।

साधकको सोचना चाहिये कि 'जीवन और साधनमें कभी विभाजन सम्भव है क्या? क्या वह भी साध्य है जिससे देश-कालकी दूरी हो? क्या वह भी कोई सिद्धि है जो वर्तमानमें न मिल सके? क्या वह भी प्रियतम है जिसकी हमें स्मृति स्वाभाविक न हो?'—इन सभी प्रश्नोंपर साधकको अपने विवेकके प्रकाशमें एकान्तमें बैठ करके शान्तिपूर्वक विचार करना है, अपने जीवनको अपने ज्ञानके अनुसार बनाना है। बिना विवेक-विरोधी सम्बन्धका त्याग किये कदाचित् कोई साधनरूप पुण्यकर्म हो भी जाय, तो भी अपने ज्ञानसे होनेवाली मुक्ति तथा अपने विश्वासके अनुसार प्राप्त होनेवाली भक्ति वर्तमानमें ही सिद्धि प्रदान करनेमें हेतु कदापि नहीं हो सकती है।

विवेक-विरोधी सम्बन्धका त्याग होनेपर जीवनसे विवेक-विरोधी विश्वास और विवेक-विरोधी कर्मका त्याग हो जायगा। इनका त्याग ही सत्संग है। इसको सत्संग इसलिये कहा गया है कि शरीर आदि किसी भी वस्तुको अपना मानना या उनपर अपना अधिकार समझना ही असत्‌का संग है। जब साधक अपने विवेकके प्रकाशसे यह अनुभव करता है कि प्रकृतिसे निर्मित यह शरीर, योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु आदि कुछ भी मेरा नहीं है और मुझे कुछ भी चाहिये नहीं तभी उसको स्वाधीनताकी प्राप्ति होती है। स्वाधीन व्यक्ति ही अपने लिये उपयोगी होता है, स्वाधीन व्यक्ति ही उदार होता है और तभी वह संसारके लिये उपयोगी सिद्ध होता है। जब साधकके जीवनमें स्वाधीनता और उदारता आ जाती है, उसमें प्रभुको अपना माननेका सामर्थ्य या पात्रता आती है, तभी उसमें प्रभु-प्रेम एवं स्मृतिकी जागृति होती है। प्रभु-प्रेम या स्मृति किसी क्रिया-विशेषका फल नहीं है जो साधक संसारको पसंद करते हुए या उसकी आवश्यकताका अनुभव करते हुए साधन करते हैं वह साधन एक प्रकारसे असाधनके साथ किया गया साधन है।

उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णनसे यह स्पष्ट होता है कि किसी क्रिया-विशेष या साधना-विशेषका नाम साधन नहीं है, बल्कि अपने जाने हुए असाधनके संगका त्याग ही साधकका साधन है और साधकका पुरुषार्थ है।

जब हमारे जीवनमें अपनी जानी हुई बुराई और की हुई भूलके लिये कोई स्थान नहीं रहता है तभी हमारी क्रियाशक्ति समाजके लिये उपयोगी होती है और हमारी भावशक्तिद्वारा विचारका उदय होनेसे हमारी भावशक्ति प्रभु-विश्वास तथा प्रभु-प्रेमसे भर जाती है। उसका प्रभाव सारे जीवनपर पड़नेसे पूरा-का-पूरा जीवन साधनमय हो जाता है। फिर जीवन और साधनमें कहीं भी देश-कालकी दूरी नहीं रहती है। हमें शान्तिकी खोजमें कहीं बाहरका आश्रय खोजना नहीं पड़ता है। वास्तवमें साधनमें किसी बाह्य साधन या सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है। मानव जन्मजात साधक है और विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। आज मानवने अपने ही जीवनका मूल्याङ्कन संसारके आधारपर करनेके कारण अपना मूल्य घटा दिया है। यही कारण है कि साधक भ्रमित होकर भटक रहा है। अपने जीवनके सत्यको विवेकके प्रकाशमें आदर करना ही अपना विकास है।

पति-सेवासे ईश्वर-प्राप्ति

(श्रीअर्जुनलालजी बन्सल)

एक समयकी बात है, महाराष्ट्रके एक गाँवमें 'सांतोबा' नामका एक व्यापारी रहता था। उसकी पत्नीका नाम था ज्ञानवती। सांतोबा सनातनधर्ममें आस्थाके कारण स्वार्थपरायणता तथा अहंकारसे सर्वथा अनभिज्ञ था। दयालु प्रवृत्तिका वह सांतोबा दीन-दुखियोंकी सदैव ही सहायता करता रहता था। दान-पुण्यमें रुचिके कारण सभी ग्रामवासी उसका बहुत सम्मान करते थे। एक दिन सांतोबाके मनमें धन, सम्पत्ति, परिवार तथा संसारके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया, परिणामस्वरूप प्रभु-दर्शनकी लालसासे चुपचाप घर त्याग वनकी ओर चल दिया।

ज्ञानवतीने जब अपने पतिको घरमें नहीं देखा, तब चिन्तातुर हो ग्रामवासियोंको सूचना दी। देखते ही देखते यह दु:ख ज्ञानवतीका न होकर सम्पूर्ण ग्रामका बन गया। सांतोबाकी खोजमें ग्रामवासी चारों दिशामें फैल गये, परंतु सांतोबाका कोई पता नहीं लगा। ज्ञानवतीके दु:खसे दु:खी पूरा गाँव उदास रहने लगा। कई दिनोंके बाद एक पथिकने सूचना दी कि भीमा नदीके किनारेवाली पहाड़ीपर सांतोबाको मैंने मौन बैठे देखा है।

ग्रामवासियोंने मिलकर विचार किया कि ज्ञानवतीको साथ लेकर चला जाय, या तो सांतोबा हमारी प्रार्थनापर लौट आयेंगे अन्यथा ज्ञानवती भी अपने पतिके साथ वहीं रहने लगेगी। इस निर्णयके अनुसार सभी ग्रामवासी ज्ञानवतीके साथ भीमा नदीके किनारे पहाड़ीपर पहुँच गये। उन्होंने देखा सांतोबा आँखें बंद किये प्रभु-स्मरणमें लीन हैं। अपने निकट आहट सुनकर सांतोबाका ध्यान उधर आकृष्ट हुआ। उन्होंने अपने सामने ज्ञानवतीको ग्रामीणोंके साथ देखकर आनेका कारण पूछा; उत्तरमें सभी लोगोंने सांतोबासे वापस गाँव चलनेका निवेदन किया। इसपर सांतोबाने अपना निश्चय बतलाते हुए कहा कि गाँव लौटना अब मेरे लिये सम्भव नहीं है। ग्रामीणोंकी अनुनय-विनयका जब सांतोबापर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब ज्ञानवतीको वहीं छोड़ सभी अपने गाँव लौट आये।

उधर सांतोबा भगवत्प्राप्तिके लिये तपस्यामें लीन रहने लगे और ज्ञानवती एक आदर्श सती पत्नीका धर्म पालन करते हुए अपने पतिकी यथोचित सेवा करने लगी। एक दिन सांतोबाने ज्ञानवतीसे कहा कि आजकी भिक्षामें केवल चार सूखी रोटियाँ लेकर आना। पतिकी आज्ञाके अनुसार ज्ञानवती नित्यकी भाँति भीमा नदीके पार चार कोसकी दूरीपर बसे गाँवमें भिक्षाके लिये पहुँच गयी। एक घरके बाहर भिक्षाके लिये आवाज लगायी। स्त्री-कण्ठकी आवाज सुनकर गृहिणी बाहर आकर देखती है—एक अति सुन्दर स्त्री साधारण-सी वेषभूषामें भिक्षापात्र हाथमें लिये खड़ी है। वह गृहिणी अन्य कोई नहीं सांतोबाकी बहिन थी। अपनी भाभीको इस अवस्थामें देख वह अवाक् खड़ी रह गयी। इस परिस्थितिमें अकस्मात् भेंट होनेपर दोनोंकी आँखोंसे प्रेमकी अश्रुधारा बह निकली। ज्ञानवतीने अपनी ननदको आश्वस्त करते हुए सारी बात कह सुनायी। उस बहिनने अपने भाईके प्रेममें वशीभूत हो अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पकवान बनाकर ज्ञानवतीको दे दिये। ज्ञानवतीने सांतोबाके पास पहुँचकर भिक्षा ग्रहण करनेकी प्रार्थना की। सांतोबा शान्तभावसे अपनी पत्नीसे बोले—'मैंने तुमसे चार सूखी रोटियाँ लानेको कहा था, तुम यह पकवान क्यों ले आयी?' ज्ञानवतीने सब कथा कह सुनायी; परंतु वह वैरागी कब माननेवाला था। अपनी पत्नीसे केवल चार सूखी रोटियाँ लानेको कहा। अपने पतिके आदेशानुसार वह सती नारी पुन: भीमा नदी पारकर किसी अन्य ग्रामसे चार सूखी रोटियाँ माँगकर पुन: पतिके स्थानकी ओर चल दी।

एक ही दिनमें दो बार इतनी दूर आने-जानेके कारण संध्याका समय हो गया। उसी समय आकाशमें मेघ-मालाएँ भी घिर आयीं। तेज प्रचंड वायुके झोंकोंके साथ वर्षा भी प्रारम्भ हो गयी। वर्षाके इस वेगमें भीगती हुई ज्ञानवती भीमा नदीके किनारे पहुँच गयी। गहन अन्धकार और भयंकर वर्षाके कारण नदी पार जानेके लिये कोई नाव भी दिखायी नहीं पड़ी। ज्ञानवती चिन्ताके अथाह सागरमें डूब गयी। 'पति भूखे रहेंगे' ज्ञानवती इस असह्य दु:खकी कल्पनामात्रसे संतप्त हो उठी। उसने अपनी साड़ीके सूखे पल्लेमें रोटियोंको बाँधकर बिना नावके ही नदी पार करनेका निश्चय कर उस जलधारामें जैसे ही प्रवेश किया, पीछेसे

आवाज आयी—'रुक जाओ बहिन, मैं नाविक हूँ और तुम्हें अभी नदी पार करवा देता हूँ।' इस नाविकके मुखसे बार-बार 'बहिन' शब्द सुनकर ज्ञानवती भाव-विभोर हो गयी। नाविकके पास नाव न देखकर उसे कुछ विस्मय तो हुआ, परंतु तर्कका समय न देख नाविकके आग्रहपर उसके कंधेपर सवार हो गयी। इस प्रकार वह नाविक नदी पार करने लगा। वर्षासे रोटियोंको बचानेके लिये वह बार-बार भीग चुके पल्लेको हटाकर सूखे हिस्सेमें लपेट लेती और इस प्रकार नदी पार करते-करते उसकी पूरी साड़ी रोटी बचानेके काममें आ गयी। नाविक नदी पारकर दूसरे किनारेपर पहुँच जाता है। ज्ञानवतीने नीचे उतरनेका संकेत किया, नाविक बोला—बहिन, पहले मेरे इस पीताम्बरसे अपने तनको ढँक लो फिर तुम्हें नीचे उतारूँगा। ज्ञानवती उस वस्त्रको धारणकर नाविकके प्रति आभार प्रकट करती हुई बोली—'भैया! तुम्हारे उपकारके कारण ही आज मेरे पतिको यह भिक्षा प्राप्त हो जायगी।' नाविक बिना कुछ कहे-सुने उस अन्धकारमें विलीन हो गया। ज्ञानवतीने अपने पतिके पास पहुँचकर रोटियाँ देते हुए सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

सांतोबा कहने लगे—'ज्ञानवती, जिस नाविकने हमारे ऊपर इतना उपकार किया है, अब मैं भिक्षा ग्रहण करनेसे पहले उस महापुरुषके दर्शन कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँगा।' अपने पतिकी इच्छापूर्तिके लिये ज्ञानवतीने एक ऊँचे स्थानपर चढ़कर नदीकी ओर आवाज लगायी, परंतु दूर-दूरतक न तो कोई दिखायी दिया और न ही उत्तरमें कोई स्वर सुनायी पड़ा। सांतोबाने उस महापुरुषको अपने हाथोंसे प्रथम कौर खिलाकर ही प्रसाद पानेका संकल्प कर लिया। ज्ञानवती भी अपने पतिके साथ निराहार रहने लगी। कई दिन बीत जानेके बाद एक दिन एक भद्र पुरुष लड्डुओंसे भरा थाल लेकर सांतोबाके पास पहुँचकर कहने लगा—'भैया, यह थाल केवट भैयाने भेजा है, कृपा करके इसे ग्रहणकर भोग लगा लें।' सांतोबाका मन किसी औरके चरणोंमें भटक रहा था, थोड़ेसे आवेशमें आकर सांतोबाने वह थाली पहाड़से नीचे फेंक दी जो एक कन्दरामें जाकर रुक गयी। वह भद्र पुरुष लीलादर्शनके उद्देश्यसे एक वृक्षपर चढ़कर बैठ गया।

ज्ञानवतीने अपने पतिको समझानेकी बहुत चेष्टा की, परंतु प्रयत्नको व्यर्थ समझकर इस झंझटसे छुटकारा पानेके लिये भीमा नदीमें कूदकर प्राण त्यागनेका निश्चय कर लिया। ज्ञानवती पहाड़के उस स्थानपर पहुँच गयी, जिसके नीचे वेगवती भीमा नदी बह रही थी। अपने प्राण त्यागनेसे पहले जब ज्ञानवती अपने केवट भैयाका स्मरण कर नदीमें छलाँग लगानेको थोड़ी झुकी तो पीछेसे आवाज आयी—'रुक जाओ बहिन, मैं आ गया हूँ। मुझे क्षमा करना बहिन, आनेमें थोड़ी देरी हो गयी, मेरा गाँव यहाँसे बहुत दूर है।' ज्ञानवती पीछे मुड़कर देखती है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने हाथोंमें वही लड्डुओंसे भरा थाल लिये खड़े हैं। प्रभु एक हाथमें थाल और दूसरे हाथसे ज्ञानवतीका हाथ पकड़कर सांतोबाके पास पहुँच गये। अपनी भाव-साधनामें सांतोबाने अपने समीप दिव्य सुगन्ध और प्रकाशका अनुभव किया। नेत्र खोलकर देखा, ज्ञानवतीका हाथ पकड़े भगवान् श्रीकृष्ण खड़े हैं।

ज्ञानवतीने बताया कि 'ये ही मेरे केवट भाई हैं। इन्होंने ही उस घोर अँधियारी रातमें अपने कंधेपर बिठाकर मुझे नदी पार करायी थी।' सांतोबा भगवान्के दर्शन पाकर धन्य हो गया। नेत्रोंसे बहती अविरल अश्रुधारासे प्रभुके चरणोंको धोने लगा। सांतोबाने कहा—'आपका दर्शन पाकर मेरा जीवन धन्य हो गया, मेरी तपस्या सार्थक हो गयी।'

भगवान् कहने लगे—'सांतोबा, किसी भ्रममें न रहना। मैं यहाँ तुम्हारी तपस्यासे नहीं, ज्ञानवतीके त्याग और पतिभक्तिसे प्रसन्न होकर आया हूँ। अपने निश्चयके अनुसार अपनी रोटीका प्रथम कौर मुझे समर्पित करके स्वयं भी अन्न ग्रहण कर लो।' सांतोबाने ऐसा ही किया। भोजन पूर्ण होनेपर भक्तवत्सल भगवान् ज्ञानवतीको अपनी भक्तिका वरदान और सांतोबाको आशीर्वाद देकर अपने धाम लौट गये।

'निरमल मन जन सो मोहि पावा' भगवान् कहते हैं कि निर्मल-मनका मनुष्य ही मुझे पाता है। पतिकी सेवा साक्षात् परमेश्वरकी सेवा है। अत: नारीका यह पुनीत कर्तव्य है कि वह निष्कपट-भावसे सदैव पतिसेवामें निरत रहे। यही उसका साध्य है और साधन भी। अतएव पतिपरायणाको ईश्वर-प्राप्ति सहज ही सुगम हो जाती है।

जागरूक लक्ष्योन्मुखी पुरुषार्थ

(श्रीमहावीरजी सैनी)

मननशील होनेके कारण हम मानव कहलाते हैं। प्रकृतिने मात्र हमें ही यह छूट दी है कि सही-गलतका निर्णय मनन-चिन्तनसे, अपनी प्रज्ञा-विवेकसे ठीकसे कर सकें। हम निर्णय करनेकी क्षमतामें जितनी अधिक वृद्धि करेंगे, उसी अनुपातमें जीवन उत्तरोत्तर प्रगति करता जायगा।

आपने उस थके हुए मजदूरके बारेमें सुना होगा, जो समयसे पहले नाटक देखने चला गया था। उसने सोचा नाटक शुरू होनेमें अभी कुछ समय बाकी है तबतक थोड़ा सो लूँ और जब सोकर जगा तब देखता है कि लोग तो जा चुके हैं, नाटक समाप्त हो चुका है। बहुत पश्चात्ताप किया। लेकिन अब पश्चात्ताप करनेसे क्या हो सकता था? उसने अवसर खो दिया था। कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम भी जीवनको इसी प्रकार व्यर्थ किये जा रहे हैं।

अधिकांश लोग प्राय: यह सोचते हैं—'बस थोड़ी परिस्थितियाँ ठीक हो जायँ, तब साधना शुरू करूँगा।' परंतु हम सभी उस व्यक्तिके विषयमें जानते हैं, जो समुद्र-स्नानके लिये गया था। लेकिन नहाना तब चाहता था, जब लहरें थम जायँ। वह प्रतीक्षा करने लगा। उसकी प्रतीक्षा कभी पूरी नहीं हुई। बिना नहाये ही रह गया बेचारा। इसलिये हमें प्राप्त परिस्थितियोंमें ही समय एवं शक्तिका निर्माणकर कुछ करना होगा।

उन मित्रोंकी भी चर्चा कर लें, जिनको पूर्णिमाकी रातमें नौका-विहार करते, खाना-पीना-गाना-बजाना करते हुए, प्रवाहके साथ बहते-बहते एक स्थानसे दूसरे स्थान जाना था। सबने भाँग छानी, मस्तीमें सब चलता रहा। पूरी रात नाव खेते रहे, सुबह हुई तो उन्होंने पाया कि वे तो जहाँसे चले थे वहीं-के-वहीं रह गये हैं। वास्तवमें वे नाव खोलना भूल गये थे। नाव खूँटेसे बँधी ही रह गयी थी। फिर भी उन्होंने तो यह तय किया था कि हम लोगोंको अमुक स्थानपर पहुँचना है, लेकिन हमने सम्भवत: यह भी नहीं किया है।

हम अपनी जीवन-नौका इस संसार-सागरमें लिये, बड़े परिश्रमसे, बड़े विधि-विधानसे सब करते-कराते बढ़े जा रहे हैं, मृत्यु-द्वारपर पता लगता है कि नाव तो ममताकी रस्सीसे बँधी है। कुछ प्रगति नहीं हो पायी। व्यक्ति मृत्यु-द्वारपर जागे तो व्यर्थ है। अब जागनेकी कोई उपयोगिता नहीं रह गयी है। अवसर बीत चुका है।

जब भी जागे, तभी सबेरा। अब विलम्ब न हो। हम प्रतिदिन कुछ मिनट अपने पिछले चौबीस घंटोंमें किये गये कार्योंके विषयमें अवश्य विचार करें। लोग अक्सर इसकी शिकायत करते हैं कि यदि पिछला जीवन है तो हमें याद क्यों नहीं आता है। उसका मुख्य कारण है—हम पिछले घटनाक्रमों एवं उससे सम्बन्धित विचार-शृंखलाओंके प्रति सजग नहीं थे। हमारा दिन जागरूकतामें नहीं गुजरा। हम सावधान थे ही नहीं कि क्या कर रहे हैं, क्या हो रहा है, हमारे भीतर-बाहर क्या चल रहा है, इस तथ्यपर हमारा ध्यान ही नहीं गया।

अत: आवश्यकता इस बातकी है कि हम पहले केवल घटनाक्रमको याद करें, फिर उसके साथ जो विचार चल रहे थे उनको याद करें और अन्तमें इसका विश्लेषण करें कि जो कुछ भी चल रहा था, उसका हेतु क्या था, हमारा उद्देश्य क्या था, इस विचारसे जीवन बदलने लगेगा। जागरूकता बढ़ेगी। श्रम तथा समयकी सार्थकता सिद्ध होगी। हमारी मूल्यवान् प्राथमिकताएँ स्पष्ट होती जायँगी। बाहर-भीतर क्या है, क्या होना चाहिये था, क्या हो सकता था, क्या किया जा सकता था, यह सब क्रमश: हमें मालूम होता जायगा।

इस हिसाब-किताबको शास्त्रोंमें पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष)-की संज्ञा दी गयी है। हम जो कुछ भी करते हैं या कर सकते हैं, वह सब इन पुरुषार्थोंकी परिधिके भीतर ही होगा। समझनेके हिसाबसे इनको दो भागोंमें बाँट लें—पहला अर्थ तथा काम और दूसरा धर्म एवं मोक्ष। आगे बढ़नेसे पहले इनका अर्थ स्पष्ट कर लें—

अर्थ—हिसाब—गणना करके अपने वर्तमान और भविष्यकी सुरक्षाके लिये जो कुछ किया जाता है, उसे अर्थके अन्तर्गत

माना जाता है। भविष्यके बारेमें जीव-जन्तु भी हमारी तरह ही व्यवहार करते हैं। उदाहरणार्थ—कुत्तेको यदि पेट भरनेसे अतिरिक्त कुछ मिल गया तो जमीनमें गड्ढा खोदकर कलके लिये वह छिपा देगा। मधुमक्खियाँ शहदको इसी आशामें जमा करती हैं कि भविष्यमें काम आयेगा।

काम—जो कुछ मौज-मजेके लिये करते हैं, 'जो हमें अच्छा लगता है, जिससे हमारी इन्द्रियोंको संतुष्टि मिलती है', उसे कामके अन्तर्गत माना गया है। यह भी समस्त जीव-जगत्‌में प्राय: समान-रूपसे पाया जाता है। लेकिन मनुष्यमें धर्म एवं मोक्ष विशेष हैं, जो उसे शेष जीव-जगत्‌से अलग करते हैं।

धर्म—मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाजके समस्त सदस्योंका ध्यान रखते हुए अपना निर्वाह करना चाहिये। समाजमें व्यवस्था बनी रहे इसके लिये व्यक्तिको अपने ऊपर कुछ विधि-विधान, नीति-नियम लागू करने होते हैं। उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रतामें भी एक सामाजिक समझौता छिपा रहता है। इसे ही 'धर्म'की संज्ञा दी गयी है। देश, काल और परिस्थितियोंके अनुरूप धर्म एक परिवर्तनशील घटक है। वह व्यक्ति तथा समाज—दोनोंके रक्षण एवं विकासके लिये अपरिहार्य तथा अनिवार्य है। निरंकुश जीवन स्वयंके लिये भी कदापि शोभनीय नहीं हो सकता।

मोक्ष—इन तीनों पुरुषार्थोंके सम्पादनके बाद जब व्यक्ति अपने-आपमें अपूर्णता तथा अभावका अनुभव करता है तो उसके द्वारा मोक्षकी खोज शुरू होती है। नि:स्वार्थ-भावसे जो कुछ भी किया जाता है, उसे मोक्षके अन्तर्गत माना जाता है। अन्तर्जगत्‌की यात्रा, बढ़ती हुई अन्तर्मुखता तथा स्थिरता यह अनुभव कराती है कि वह अपूर्ण है ही नहीं। पूर्णताका यह अनुभव, और उस पूर्णताके लिये किये गये प्रयास मोक्षके अन्तर्गत हैं।

सजग व्यक्तिके लिये ये चारों पुरुषार्थ जीवनरूपी गाड़ीके चार पहिये हैं। हर व्यक्तिको, अपने व्यक्तित्वकी माँग, समझ, अनुभव, सामर्थ्य, पात्रता एवं परिस्थितियाँ—इन सबका ध्यान रखते हुए इन चारोंमें सदैव संतुलन बनाये रखना अनिवार्य है, तभी जीवनयात्रा अपने लक्ष्यकी तरफ अग्रसर हो पायेगी।

आज जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे व्यक्तिका जीवन अर्थ तथा काम-प्रधान हो गया है। यही समस्याओंका मूल है। पश्चिमने अपनी भूल समझ ली है। वे सही दिशामें बढ़ भी रहे हैं। हर व्यक्तिको, हर साधकको सजग—सावधान रहकर यह तालमेल निरन्तर जारी रखना होगा।

आजकी शिक्षा-पद्धतियाँ एवं परिवार भी इस विषयमें विशेष सावधान नहीं हैं। यह चिन्तनीय है। शिक्षा भी अर्थपरक होकर रह गयी है। कामके अबाध, दुर्दान्त प्रवाहमें तो पूरे कुएँमें ही भाँग पड़ गयी है। आजके अधिकांश रोगोंके मूलमें यही प्रधान कारण है। बिना कारणका निवारण किये समस्याका स्थायी समाधान कैसे निकल पायेगा?

जब हर व्यक्ति जानता-मानता था एवं सजग-सक्रिय रहकर इस दिशामें अनवरत प्रयास करता था कि मैं धरतीपर आया, तब जो भी स्थिति थी, उसे अपने जीवनकालमें और अच्छी बनाकर बिदा लूँगा तो मानसिक कठिनाइयाँ नहींके बराबर थीं। प्राचीन कालमें ताले थे ही नहीं, दान देनेवाले बहुत थे, पर स्वीकार करनेवाला ढूँढ़नेसे मिलता था। अकाल-मृत्यु हुई तो राजा अपने-आपको अपराधी मानता था। प्रकृति सदय थी, अनुकूल थी। मानव परिवेशको बिगाड़ने तथा सुधारनेवाला है। वह अपनी इच्छानुसार निर्णय ले सकता है, उसे क्रियान्वित कर सकता है। हम सब मिलकर क्या नहीं कर सकते। वेदोंका प्रथम पाठ पुरुषार्थ हमें यही शिक्षा देता है।

हम स्वयं जागें, अपने पड़ोसीको, परिवारको, मित्रोंको और सम्बन्धियोंको जगानेका प्रयास करें। पहले ही बहुत देर हो चुकी है। अत: अब और विलम्ब करना उचित नहीं। आज विज्ञान तथा तकनीकका सही उपयोग इन मूल्योंके प्रचार-प्रसारमें किया जाय तो कोई कारण नहीं कि हम समयकी धाराको बदल न दें। आज शिक्षाका प्रचार है, विशाल साहित्य भी आसानीसे उपलब्ध है। जिन बहुत-सारी चीजोंको, विधाओंको हम गोपनीय रखते रहे, जटिल बनाते रहे, छिपाते रहे, वे सब उपलब्ध होती जा रही हैं। धरती एक छोटा-सा गाँव होती चली जा रही है। आज प्रगति आसान है, बशर्ते सही दिशामें प्रयास हो। हर व्यक्ति

आत्मविश्लेण तथा आत्मनिरीक्षण करे।

अपनी पात्रताका विकास करे। हमारी तैयारी और योग्यता या पात्रता होगी तो लक्ष्य स्वयमेव मिलेगा, बिना किसी शर्त या समझौतेके मिलेगा। पात्रता पैदा करनेके लिये हमें अपनी प्रज्ञाके आलोकमें सही दिशामें बढ़ते जाना है, आगेका मार्ग स्वतः आलोकित होता जायगा।

मूल शास्त्रोंपर आधिकारिक टीकाएँ पढ़िये। उनपर चिन्तन-मनन कीजिये, प्रभुसे ज्ञानालोकके लिये प्रार्थना कीजिये। लक्ष्यकी प्राप्ति स्वतः सुगम हो जायगी।

सच्चे लोग किसीको प्रभावित करनेका प्रयास नहीं करते। वे क्षीर-सागरमें शेषशय्यापर सोये भगवान् विष्णुके जैसे हैं। तटस्थ हैं, लेकिन हमने मदद चाही तो वे सदैव तत्पर हैं। मदद अवश्य मिलेगी। अध्यात्मका पथिक शीघ्रता नहीं करे, धीरज रखे, जो मिलेगा भीतरसे मिलेगा। बाहरसे मिल पाना तभी सम्भव है, जब हम पात्रताका निर्माण कर लें, वह स्वयंके ही लक्ष्योन्मुखी जागरूक पुरुषार्थसे सम्पादित होगी।

प्रभु हमारी सहायता करनेको अपनी प्रतिज्ञासे बँधे हैं। हम पुकारेंगे तो अनुकूल जवाब मिलेगा, भीतर शान्ति-स्थिरता पैदा होगी तो वहाँ प्रभुकी प्रेरणा पैदा होगी। उसके लिये सरलता तथा पवित्रता आधार हैं। साधना व्यर्थ जा ही नहीं सकती। उस प्रभु-प्रेरणाके ऊर्जा-स्रोतसे ही हमारी चेतना हमारा मार्ग-निर्देशन कर पायेगी। चेतनाकी प्रखरता पानेके लिये पुरुषार्थ-संतुलन करना है तथा लक्ष्यतक अबाधगतिसे आगे बढ़ना है। यही जागरूकता लक्ष्योन्मुखी पुरुषार्थको क्रियान्वित कर साधकके साध्य-प्राप्तिके मार्गको सदैव प्रशस्त करती है।
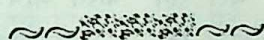
आख्यान—

आर्जव (विनम्रता)

मार्कण्डेय-स्मृतिने ऐसे बहुतसे गुण गिनाये हैं जिनके सेवनसे मनुष्य स्वर्गका अधिकारी होता है। उनमें 'आर्जव' का भी परिगणन किया गया है—

सत्यार्जवरता ये च ते नराः स्वर्गगामिनः।

(मार्कण्डेयस्मृ० पृ० १०३)

यह आर्जव (विनम्रता) कितना मृदु, सहज एवं सरल होता है, इसका परिचय एक आख्यानद्वारा अत्यन्त सम्यक् रूपमें प्राप्त होता है।

कुलशेखर नामके एक संस्कृतके प्रौढ़ विद्वान् थे। विद्वत्तासे अधिक उनमें भगवान्के प्रति प्रेम था और विनम्रता तो मानो उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। गाँवके एक मन्दिरमें वे नित्य ही भगवान्की कथा कहा करते थे। उनके हृदयमें जो विनम्रतापूर्ण प्रेम भरा था, वह कथामें यदा-कदा सहज ही छलक जाया करता था, जिससे वक्ता और श्रोता दोनों श्रवण-कथनरूपी सुधाधारासे आप्यायित हो बिलकुल रसविभोर हो जाया करते थे। उस समय ऐसा लगता था, मानो उन लोगोंने भगवान्से तादात्म्य स्थापित कर लिया हो।

उसी गाँवमें नंबियार नामके एक और विद्वान् भक्त रहते थे। वे भी कथावाचक थे। किंतु उनकी कथामें लोग कम जाते थे। इसलिये उनके मनमें कुलशेखरके बढ़ते प्रभावके कारण ईर्ष्या उत्पन्न होने लगी थी।

एक बार नंबियार कहीं बाहर गये थे। शामको जब घर लौटे तो वे भूख-प्यास और थकानसे चूर थे। घरमें पत्नीको अनुपस्थित देखकर सोचने लगे कि कहीं वह भी कुलशेखरकी कथामें तो नहीं जा पहुँची। इस कल्पनाने उनकी ईर्ष्याकी आगको और अधिक भभकानेमें घीका काम किया। तत्क्षण ही वे कुलशेखरकी कथामें जा पहुँचे। देखा, उनकी पत्नी भी शान्तमनसे कथा सुन रही है। अब तो वे साक्षात् क्रोधकी प्रतिमूर्ति ही हो गये। उन्होंने कुलशेखरको फटकारते हुए कहा—'तुम मूर्ख हो। तुम कथाका रहस्य क्या जानो। तुमसे भी बढ़कर ये श्रोता मूर्ख हैं, जो तुम्हारी कथा सुनने चले आते हैं।'

नंबियारके क्रोधाभिभूत गर्जन-तर्जनसे कथामें विघ्न पड़ गया। कुलशेखर समझ नहीं पा रहे थे कि उनसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया, जिससे नंबियार-जैसे विद्वान्

अत्यन्त क्षुब्ध हो गये हैं। वे अपराधीकी भाँति सन्न रह गये। इस अप्रत्याशित घटनासे वे एकदम किंकर्तव्यविमूढ़-से हो गये। श्रोताओंमेंसे भी किसीने नंबियारका उत्तर नहीं दिया। नंबियारकी पत्नी तुरंत घर चली आयी।

घर आकर नंबियारने अपनी पत्नीको खूब फटकारा। कथा-श्रवणके लोकोत्तर प्रभावसे उनकी पत्नी विनम्र बनी रही और बिना किसी प्रत्युत्तरके पतिको खिलाने-पिलानेका प्रबन्ध करने लगी। भोजन तैयार हो गया। पत्नीद्वारा अत्यन्त आग्रह किये जानेपर भी उन्होंने भोजन नहीं किया। क्रोधकी धधकती आगमें नंबियारकी भूख भी जल गयी थी। दोनों भूखे सो गये। क्रोधावेगसे अशान्त नंबियारको नींद क्या आती, बस करवट बदलते रहे। थकी और भूखी पत्नीको नींद आ गयी थी। उस स्थितिमें भी जब घरका कण-कण नंबियारकी क्रोधाग्निमें धू-धू करके जल रहा था, उनकी पत्नी साक्षात् शान्तिकी प्रतिमूर्ति-सी दीख रही थी। ऐसा लग रहा था मानो उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे विनम्रतारूपी शीतल जलके फव्वारे प्रस्फुटित हो रहे हों, जो क्रोधाग्निको शान्त करनेके लिये अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी थे। यह देखकर नंबियारका क्रोध शान्त होने लगा। धीरे-धीरे कुलशेखरकी और श्रोताओंकी विनम्रता भी उन्हें याद आने लगी। जिस विनम्रताके कारण किसीने भी नंबियारका प्रतिकार नहीं किया।

सभीकी सम्मिलित विनम्रताने नंबियारको सोयेसे जगा दिया। वे सोचने लगे कि ईर्ष्याकी राक्षसी प्रवृत्तिके प्रकोपसे प्रभावित होनेके कारण ही उनसे विनम्र कुलशेखर और गाँवके लोगोंका अपमान हो गया है। उनसे घोर पाप हो गया है, जो उन्हें कभी सुखी न रहने देगा। इसी पश्चात्तापकी अग्निमें झुलसते हुए सोचने लगे—क्यों न चलकर कुलशेखरसे क्षमा माँग ली जाय। सोचते-सोचते ब्राह्ममुहूर्त हो गया। कड़ाकेकी ठंड पड़ रही थी। उन्होंने सोचा कुलशेखर अब जग गये होंगे, चलकर उनसे क्षमा माँग ही लूँ। वे उठे और दरवाजा खोलकर कुलशेखरके घरकी ओर चल पड़े। टिमटिमाती बत्ती साथमें थी। धीमे प्रकाशमें उन्हें दीख पड़ा कि कोई व्यक्ति कंबल ओढ़कर ओसमें ही बैठा है। नंबियारने आवाज दी—'कौन हो भाई! इस तरह ठंडमें क्यों बैठे हो?' आवाज सुनते ही कुलशेखर उठे और नंबियारके चरणोंपर गिर पड़े, बोले—'आपने मेरा दोष दिखला दिया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। परंतु मुझसे आपके प्रति क्या अपराध बन गया है, यह मैं जान नहीं पा रहा हूँ, कृपया बतायें, जिससे पुनः उस अपराधकी मुझसे पुनरावृत्ति न हो। मैं अपराधी हूँ, क्षमा चाहता हूँ। आप कहीं जा रहे हैं, उसमें प्रतिरोध उत्पन्न कर फिर अपराध कर रहा हूँ। आप जायँ, किंतु मुझे क्षमा प्रदान करते जायँ।'

कुलशेखरकी यह उदात्त विनम्रता नंबियारके लिये और बोझ बन गयी। कहाँ तो नंबियार कुलशेखरसे क्षमा माँगकर अपना पाप हलका करना चाहते थे और कहाँ कुलशेखर ही उनके चरणोंपर गिरकर विनयावनत अश्रुपात कर रहे हैं। यह तो विनम्रताकी पराकाष्ठा थी। उस समयके इस दृश्यसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे विनम्रता नंबियारके चरणोंमें शरण माँग रही हो। मानो विनम्रता कह रही हो कि हे महाभाग! मुझे अपना लो। नंबियारका हृदय हाहाकार कर उठा। वे फूट-फूटकर रोने लगे। उधर कुलशेखरका अश्रु-वर्षण भी जोरोंपर था। हल्ला-गुल्ला सुनकर नंबियारकी पत्नी भी दौड़कर आयी। दोनों संतोंके रोनेमें उसे स्वर्ग झाँकता हुआ दीख पड़ा। किंतु वह भी रो रही थी, उसका भी रोना रुक नहीं रहा था। यह था हृदय-परिवर्तनका लोमहर्षक दिव्य दृश्य, जिससे सभी पात्र विनम्रता (आर्जव)-की सुधाधारासे अभिषिक्त हो रहे थे।

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

अधिकार कर्तव्यका दास है, क्योंकि कर्तव्यनिष्ठ प्राणियोंको अधिकार स्वतः ही मिल जाता है और कर्तव्यपालन न करनेपर मिला हुआ अधिकार छिन जाता है, इसी कारण विचारशील जन अधिकार माँगनेका प्रयत्न नहीं करते, प्रत्युत अपने कर्तव्यपालनमें सदैव तत्पर रहते हैं। प्रत्येक कर्ता अपने कर्तव्यपालनमें सर्वदा स्वतन्त्र है। अकर्तव्य केवल मिली हुई शक्तिके दुरुपयोगमें है। अतः मिली हुई शक्तिका सदुपयोग कर कर्तव्यनिष्ठ बन जाओ, यही उन्नतिका मूल है।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

मङ्गल सोचो, मङ्गल करो

प्रिय भाई! सप्रेम हरिस्मरण! तुम्हारा पत्र मिला था। तुम्हारे साथ जो कुछ हो रहा है, यद्यपि वह बड़ा ही दु:खद और अवाञ्छनीय है, तथापि उसे भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर संतुष्ट रहनेकी चेष्टा करो। निश्चय ही, मनुष्यको फलरूपमें जो कुछ भी भला-बुरा—अनुकूल-प्रतिकूल प्राप्त हो रहा है, वह उसके अपने ही किये हुए कर्मका फल है, दूसरे तो केवल निमित्तमात्र हैं। अतएव उनपर रोष करके उनके प्रति मनमें द्वेषका स्थान नहीं देना चाहिये। वे तुम्हारा अनिष्ट कर वस्तुत: अपना ही अनिष्ट कर रहे हैं—अपने लिये आप ही दु:खोंका निर्माण कर रहे हैं अतएव दयाके पात्र हैं। इस स्थितिमें यदि तुम्हारे मनमें द्वेष होगा तो तुम अंदर-ही-अदंर जलते रहोगे। द्वेषाग्नि जलाया करती है और द्वेषवश उनको हानि पहुँचानेकी चेष्टा करोगे जिससे वैर बद्धमूल होगा, तुम्हारे चित्तकी अशान्ति बढ़ेगी और तुम्हारी साधन-शक्ति जो अपने तथा दूसरोंके मङ्गल-सम्पादनमें लगती, अमङ्गलमें लगकर सब ओर अमङ्गलकी सृष्टि करती रहेगी। सर्वोत्तम तो यह है कि बुरा करनेवालेका भला करनेकी चेष्टा करके तुम अमृत-वितरण करो, उनके मनके विषको नष्ट कर दो। यही संतका आदर्श है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

(रा० च० मा० ५। ४१। ७)

मनुष्यको सदा मङ्गल सोचना तथा मङ्गल-कार्य करना चाहिये। प्राणिमात्रका मङ्गल सोचने-करनेवालेका कभी अमङ्गल नहीं होता। उसका प्रत्येक श्वास मङ्गलमय बन जाता है। उससे सूर्यके प्रकाशकी भाँति सहज ही सबको मङ्गल प्राप्त होता है। उसका बुरा चाहनेवालोंका मन भी उसकी मङ्गलमयतासे प्रभावित होकर बदल जाता है। वह उनकी बुराईको भलाईमें परिणत कर देता है। पर कहीं कदाचित् ऐसा न भी हो तो उसका अपना अमङ्गल तो होता ही नहीं। यही बड़ा लाभ है।

अतएव तुम मनमें भलीभाँति सोचकर दूसरे तुम्हारा अहित—अमङ्गल कर रहे हैं, इस मान्यताको छोड़कर कभी किसीका बुरा मत चाहो। अपने मनको तथा क्रियाको अपना तथा सबका भला सोचनेमें लगाकर सबको सहज ही मित्र बनानेका मार्ग स्वीकार करो। शक्तिका सदुपयोग करके उससे लाभ उठाओ। कभी दुरुपयोग मत करो।

जो संकट आया है, उसे भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर स्वीकार करो। उसे टालनेकी न्याययुक्त चेष्टा करो। इसके लिये प्रधान उपाय है—'सच्चे विश्वासके साथ भगवान्‌से कातर प्रार्थना।' पर ध्यान रहे—प्रार्थनामें कभी भी दूसरोंका अमङ्गल हो, दूसरोंको हानि पहुँचे—ऐसा भाव मत आने दो। बुद्धिको स्थिर रखकर भगवान्‌से यही प्रार्थना करो कि 'नाथ! किसीका भी कभी तनिक भी अमङ्गल हो, ऐसा विचार मेरे मनमें कभी न आये, ऐसी चेष्टा मुझसे कभी न बन पड़े। सबका मङ्गल हो, उसीके साथ मेरा भी मङ्गल हो। मुझपर जो कष्ट आया है, उसे आप हरण कर लें। उत्तम तो यह है कि मैं उस कष्टको आपका मङ्गल वरदान मानकर उसे सचमुच वरदानमें बदल सकूँ, आपकी कृपाके विश्वासपर। ऐसा बल दो मेरे प्रभु! यही वास्तवमें आपके द्वारा मेरा कष्ट-हरण होगा। मुझे प्रत्येक कष्टमें सदा-सर्वत्र आपकी अनन्त कृपाके दर्शन हों। आपका मङ्गलमय, आनन्दमय कर-स्पर्श प्राप्त करके मैं धन्य हो सकूँ। मेरा जीवन सर्वथा आपके अनुकूल रहे—उसका बाहरी रूप कैसा ही क्यों न हो—सुखमय या घोर दु:खमय।'

बस, इसी आशयकी विश्वासपूर्वक सच्चे हृदयसे अपने ही शब्दोंमें प्रार्थना करो। प्रभु-कृपासे तुम सारे संकटोंसे सर्वथा मुक्त हो जाओगे।

फिर, वस्तुत: ये संकट कुछ भी अर्थ नहीं रखते। यहाँके धन, मान, वैभव, अधिकार, पद, पदार्थ सभी तो अनित्य, अपूर्ण एवं विनाशी हैं, अत: दु:खरूप हैं। इनके मनके अनुकूल न रहने या चले जानेको हम 'दु:ख'का नाम देते हैं और इनके मनके अनुकूल बने रहनेको 'सुख' कहते हैं। यह हमारे मनकी कल्पनामात्र है। इनके आने-जानेसे आत्मामें कोई लाभ-हानि नहीं होती। अत: इस मोहको छोड़नेका प्रयास करो। जगत्‌में एक यात्रीकी भाँति रहो और जीवनयात्रा चलाते रहो। पर ध्यान रखो—यात्राके लक्ष्य रहें भगवान्, भोग नहीं!

तुम्हारा शरीर ठीक होगा। तुम चिन्ता बहुत करते हो। चिन्ताका बुरा असर शरीरपर भी होता है। तुम्हारे पेटकी बीमारीका यह एक प्रधान कारण हो सकता है। अतएव हर हालतमें भगवान्‌के विधानकी मङ्गलमयतापर विश्वास करके प्रसन्न रहनेका प्रयास करो। शेष भगवत्कृपा।

(२)

मानसिक दासता

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा सो ठीक है, पर इसमें प्रधान कारण 'मानसिक दासता' है। वास्तवमें शारीरिक दासताकी अपेक्षा मानसिक दासता कहीं अधिक भयानक और पतनकारक होती है। आज हम इसी मानसिक दासताके शिकार हो रहे हैं। अँगरेजोंका शासन नहीं रहा। वे यहाँसे चले गये। भारतने शारीरिक तथा शासनकी स्वतन्त्रता प्राप्त की, परंतु अँगरेजोंके रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, भाषा-भाव एवं जीवन-पद्धतिका इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनके जानेके बाद हम और भी अधिक उनकी नकल करने लगे। महात्मा गाँधीजीके आन्दोलनके समय देशमें खादीका धोती-कुर्ता विशेषरूपसे प्रचलित था। धोती-कुर्ता पहननेमें लोग गौरवका अनुभव करते थे। विभिन्न प्रदेशोंमें पहलेसे ही अपना-अपना पहनावा था। धोती, कुर्ता, मिरजई, साफा, पगड़ी, टोपी आदिका प्रचलन था। अब तो चारों ओर सभी प्रदेशोंमें और सभी अवसरोंपर—यहाँतक कि सामाजिक कार्योंमें, धार्मिक समारोहोंमें और विवाह-शादी आदिमें भी पेंट, कोट, शर्ट, नेकटाई आदि ही नजर आते हैं, बल्कि इसीमें लोग अपनी शान समझते हैं और देशी पोशाक धोती-कुर्ता पहननेवालोंको मानो असभ्य या पिछड़े हुए मानते हैं। यह मानसिक दासताका प्रत्यक्ष चिह्न है। जिस जातिमें अपनी संस्कृति, अपनी वेश-भूषा, अपने खान-पान, अपने भाषा-भावके प्रति हेयबुद्धि हो जाती है, वह अंधी होकर दूसरोंकी नकल करती है, उसे दूसरोंकी बुरी चीज भी अच्छी मालूम होती है और अपनी अच्छी चीज भी बहुत बुरी मालूम होती है। यही कारण है कि आज पवित्र भारतीय संस्कृतिके नर-नारी विदेशी पोशाक पहनकर अभिमान करते हैं, मातृभाषाके बदले अँगरेजीमें बातचीत करना गौरवकी बात मानते हैं। हाथ-पैर धोये बिना खाना, जूते पहने खाना, कुरसीपर बैठकर खाना, हर एककी जूठन खाना, छूरी-काँटेसे खाना, प्रणामादि न करके अँगुली दिखाना या हाथ मिलाना, बच्चोंको माताजी, अम्माजी, पिताजी, बाबूजी आदि कहना न सिखाकर मम्मी, डैडी, पापा कहना सिखाना, खड़े-खड़े मूत्र-त्याग करना, खाकर कुल्ले न करना आदि छोटी-बड़ी इतनी बातें हैं, जिनसे सब प्रकारकी हानि होती है, पर हमारा गुलामीसे भरा दिमाग इसीमें लाभ मानकर उन्हींको करता-करवाता है। यह हमारा मानसिक पतन है जो हमें सदाचारसे दूर हटाकर दुराचारमें प्रवृत्त करता है।

सबसे दुःखकी बात तो यह है कि अपनी संस्कृतिकी जड़ काटनेवाले इन सब कार्योंमें हमारी गौरवबुद्धि हो गयी है। भगवान् ही रक्षा करें।

निज देशमें ही आज हम पूरे विदेशी हो गये।
वेश, भाषा, भाव सब अपने चिरन्तन खो गये॥
मानसिक दासत्व वश कर त्याग निज संस्कृति अमल।
करने लगे हर बातमें पाश्चात्त्यकी अंधी नकल॥
श्वेत धोती, साफ कुर्ता, मिरजई, पगड़ी हटी।
कोट औ पतलूनके सँग नेकटाई आ डटी॥
खाने लगे जूँठन सभीकी मेजपर रक्खी हुई।
भोजकी पशुरीति निकली अब बुफे (बुफे सिस्टम) नामक नई॥
मातृभाषा छोड़ अंगरेजी लगे हम बोलने।
पश्चिमी रंगमें रँगे ही लगे हिलने-डोलने॥
बाल भी माता-पिताजी अब कभी कहते नहीं।
मम्मी, डैडी और पापा बोलते हैं सब कहीं॥
अन्ध पर-अनुकरणताका जोर अब सब ओर है।
इसीसे अब पतनका भी कहीं ओर न छोर है॥

विशुद्ध अध्यात्म-जगत्से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसमें किसी देश, काल, जाति, संस्कृतिका भेद नहीं है। तथापि अध्यात्मकी ओर अग्रसर होनेमें जितनी त्यागमूलक भारतीय संस्कृति सहज सहायक है, उतनी ही भोगमूलक पाश्चात्त्य संस्कृतियाँ सहज बाधक हैं। अतएव इस दृष्टिसे भी भारतीय संस्कृतिका समादर, संरक्षण छोटे-छोटे व्यावहारिक कार्योंके द्वारा भी किया जाना आवश्यक है।

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

(इस जपकी अवधि कार्तिक पूर्णिमा, विक्रम-संवत् २०५२ से चैत्र पूर्णिमा, विक्रम-संवत् २०५३ तक रही है।)

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'राजन्! मनुष्योंमें वे लोग भाग्यवान् हैं तथा निश्चय ही कृतार्थ हो चुके हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नाम-स्मरण करते और दूसरोंसे स्मरण करवाते हैं।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस वर्ष भी इस षोडश-नाम-महामन्त्रका जप पर्याप्त संख्यामें हुआ है। विवरण इस प्रकार है—

(क) मन्त्र-संख्या ३३,०९,०००,०० (तैंतीस करोड़, नौ लाख)

(ख) नाम-संख्या ५,२९,४४,००,००० (पाँच अरब, उन्तीस करोड़, चौवालीस लाख)

(ग) षोडश नाम-मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी जप हुआ है।

(घ) बालक, युवक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने उत्साहसे जपमें योग दिया है। भारतका शायद ही कोई ऐसा प्रदेश बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। भारतके अतिरिक्त बाहर अमेरिका, नेपाल आदिसे भी जप होनेकी सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

स्थानोंके नाम—

अंकलेश्वर, अंगदखेड़ा, अंजड़, अंडवा, अंता, अँधियारी, अंबरनाथ, अंबाजोगाई, अंबाला छावनी, अंबालाशहर, अकबरपुर, अकलतरा, अकलवानी, अकोट, अकोढ़ी, अकोदिया, अकोला, अक्कलकोट, अक्खासर, अक्षयगढ़, अगरेड़खुर्द, अगसौली, अगौस, अचरोल, अचलपुरसिटी, अचानकमार, अजईखेड़ा, अजनौरा, अजबपुरा, अजमेर, अजमेरी, अजापुरा, अटाली, अथाईखेड़ा, अदलीपुर, अधिकारी, अधीया, अनगुल, अनियाला, अनूपगढ़, अनूपपुर, अबाड़ा, अमझोर, अमड़ापुर, अमरा, अमलीपाली, अमलैहड़, अमलोई, अमायन, अमेरा, अमौली, अमृतपुर, अमृतसर, अरकार, अरड़का, अरनियाँगौड़, अरनियाँचौहान, अरनेठा, अररिया आर० एस०, अर्जुनधारा, अर्जुनपुर, अरौली, अलकापुरी, अलवर, अलसीसर, अलीगढ़, अलीपुरा, अलीसरिया, अल्मोड़ा, अल्लागंज, अल्लापुर, असदपुर, असनावर, असरीखेड़ा, असवार, अस्टोट, अहमदपुर, अहमदाबाद, अहरी, अहलादपुरकरार, अहेरी, आँकोदा, आऊबा, आगरा, आगरा कैंट, आगरी (गणेश्वर), आगूचा, आछोडीह, आजमगढ़, आजमपुर-केवटी, आदमपुर, आदर्शग्राम, आदर्शचबा, आदिग्राम फुलोरिया, आदित्यपुर, आमला, आमलीझाड़, आमल्या, आरणी, आरा, आलमपुर, आलाबीरा, आर्सींद, आसैर, इंदौर, इंफाल, इगतपुरी, इजरही, इटारसी, इटावा, इटौजा, इमिलिया, इलाहाबाद, इसौली, इस्लामनगर, इस्लामपुर, ईकरी, ईशाचक, ईशापुर, ईशुआ, ईश्वरनगर, ईसागढ़, उकलानामंडी, उछटी, उजलपुर, उजान-मंगौली, उज्जैन, उत्तरापुर, उदयपुर, उदयाखेड़ी, उधमपुर, उधौली, उनियारा, उन्नाव, उपली ओडन, उपाध्यायटोला, उफरीकलाँ, उमटा, उमरखेड़, उमरिया, उमरियापान, उमरी, उरई, उरगा, उरतुम, उल्दन, उल्हासनगर, उस्मानाबाद, ऊँटाला, ऊदपुर, ऊना, ऊसरी, ऋषिकेश, एटा, एरंडोल, एलूरू, ओड़ेकेरा, ओबेदुल्लागंज, औरंगाबाद, औराही-मोतीनगर, औरेई, औरैया, कंगटी, ककडई-सुलह, ककीरा, कचंदा, कछवा बाजार, कछुबी, कटंगटोला, कटकपुरा, कटरिया, कटहरा, कटापाली, कटार, कटारी, कटिहार, कठलग, कठार, कठूमर, कठौर, कड़ैल, कनकापुर, कनेछणकलाँ, कपरपुर, कपासन, कमतरा, कमावा, कमासिन, कमोल, करंजाभिलाई, करकवेल, करनपुर, करनमेया, करनाल, करमाला, करम्मर, करवाड़, करसोघ, करही (शुक्ल), कराड, करायल, करीमनगर, करीरा, करुई, करेली, करौदापानी, करौली, करौलीखुर्द, कर्री-चलगली, कर्वी, कलकत्ता, कलमी, कलवन, कलवारी, कलहोड़िया, कलूँगा, कलौलीजार, कल्याणपुरा, कवर्धा, कवाई, कसरावाँ, कसहा (पूर्व), कसेरवा, कस्तूरामाल, कहंरा-सुलेमपुर, कहानी, काँकेर, काँटाबाँजी, काँधला, काकड़दा, कादरगंज, काद्रीपुर, कानपुर (देहात), कानपुर (नगर), कामड़ारा, कामदेवपुर, कारौलीभूडा, कालंद्री,

कालपी, कालाडेरा, कालानौर, कालीकट, कालीगाँव, काशीपुर, कासगंज, किकिरदा, किरठल, किरनापुर, किरीबुरू, किरीबुरू टाउनशिप, किशनगंज, किशनगंजबाजार, किशुनपुरा, किस्तवाड़, कीनवट, कुंजनपुर, कुंड, कुंडल, कुंभराज, कुंभी, कुँवरकोटरी, कुँवरपुर, कुँवारिया, कुकरमुंडा (जय-अमृता), कुटिलिया, कुटेनपाली, कुटेला, कुढ़ाना, कुदरबाधा, कुमता, कुमारधुवी, कुम्हला, कुरमाली, कुरुक्षेत्र, कुरुद, कुरेड़ी, कुवरवा, कुवाहेड़ी, कुशमुंडाकालरी, कुसाईकालोनी, कुसुमकला, कुसुम्भी, कुसैला, कूंचलवाडाकलाँ, कूदन, कूर्डी (त्यागियोंकी), केउटी, केकड़ी, केज, केडगाँव, केर-आबू उतर, केवलारी, केशवाँ, केशोपुर, केसठ, कैथल, कैल, कैलारस, कोंच, कोंडली, कोंडागाँव, कोआड़ीमदन, कोकपुर, कोचस, कोटड़ी, कोटपुतली, कोटद्वारा, कोटा, कोटा जं०, कोटाडेम, कोठी, कोठी-सनसई, कोडंगल, कोडपगल, कोडरमा, कोडलहंगरमा, कोदंडा, कोनाग, कोमना, कोयूडा, कोरोराघवपुर, कोलाहलपुर, कोल्हापुर, कोसरा, कौड़िया, क्यामसर, खंगौड़ा, खंडरीचा, खंडवा, खंडार, खंडेवला, खकसीस, खगौल, खजूरी, खटौराकलाँ, खड़की, खड़ात, खड़ीत, खड्डी, खन्नामंडी, खप्तिहाकलाँ, खरकड़ीकलाँ, खरगोन, खरदहाँ-नीलकंठ, खरपतिया, खरसिया, खलारी, खलीलाबाद, खवासपुर, खवासा, खांडौली, खाखरवाड़ा, खाचरौद, खानजहाँपुर, खानपुर-मेवान, खामगाँव, खारखन्दा, खारिया-ढढ़ेसरी, खालवा, खालवागाँव, खितौरा, खितौली, खिदरपुर, खिरनी, खींवसर, खीचन, खुटौना, खुड़ीमोट, खुदागंज, खुरहानमिलिक, खुरुसलेंगा, खुर्जा, खूँटलिया, खूंता, खेजडोली, खेड़ाकागुजर, खेड़ाठाकुर, खेड़ीराम, खेतराजपुर, खेतिया, खेमादेई, खेरोट, खैरथल, खैरवा, खैराना, खोडी-टिहरी, खोपा, खोलन, खोलसी, खोलीघाट, खौंडू, खौड़, गंगाखेड, गंगानी, गंगापुरसिटी, गंगाबख्शपुरवा, गंगौर, गंजजलालाबाद, गड़रियनपुरवा, गढ़दीवाल, गढ़फुलझर, गढ़बसई, गढ़मोराँ, गढ़वा, गढ़वाड़ा, गढ़सान, गढ़ी इलाराय, गढ़ेरी, गमहरिया, गम्हरियाटोला, गया, गयासपुर, गरदीवाला, गरसाहड, गरोठ, गवाँ, गवारड़ी, गहाँसाड़, गाँधीग्राम, गागर, गाजियाबाद, गाजीपुर, गाडरवारा, गाड़ाटोल, गारियाखेड़ी, गितकेरा, गिरिजास्थान, गिरिडीह, गीदड़वाहा, गुजरवाडा, गुडगुर्की, गुडलाचंदन, गुड़गाँव, गुड़ासूरसिंह, गुढ़ारोड, गुना, गुरदासपुर, गुरसराय, गुराड़ियाजोगा, गुरारखेड़ा, गुरुपाली, गुलबर्गा, गुलवार-कोठार, गुलाबपुरा, गेडाप, गैंता, गैंसड़ी बाजार, गैरतलाई, गोंडा, गोकलपुर, गोगोलाव, गोठडा, गोड़हिया नं० १, गोड़ारी, गोनौन, गोनौली, गोपालपुर, गोबरौरा, गोरखपुर-खामी, गोरगामा, गोलाघाट, गोविंदगढ़, गोविंदनगर, गोविंदपुर, गोविंदपुरा, गोसाईगंज, गोसाईपुर, गोहनी, गौघाट, गौतमपुरा, गौराबगनहा, गौल, ग्वालियर, घंगोट, घगराबस्ती, घड़सीकनैता, घड़सीकनैला (क्यार), घाटकोपर, घाटमपुर, घाटलोदिया, घाटशिला, घाटाखेडी, घाटाविलोह, घुट्कुनवापारा, घोंघौर, घोड़ेगाँव, चंगईपुर, चंगर-तरसूह, चंडीगढ़, चंडेश्वर, चंदखुरी, चंदला, चंदवा, चंदा, चंदेरी, चंद्रनगरकामत, चंद्रहटी, चंधारा, चक, चकिया, चक्रधरपुर, चटोल, चदनियाँ, चमरौला, चमाला, चम्मूटोला, चरखीदादरी, चलोखर, चवण-हिप्परगा, चांडिल, चाँदपुरकलाँ, चाँनपारी, चाईबासा, चाकलू, चाठा, चापाखोवा (सदिया), चिंगावनम्, चिंचोली, चिंहारा, चिकना, चिटगुप्पा, चिड़ावा, चितवन, चित्तौड़गढ़, चित्रकोंडा, चिमनाखारी, चिराँवडा, चिराखान, चिरिकीपाड़ा-सासन, चिलकहर, चिलौली, चीचगढ़, चीचली, चीत, चूरू, चूला, चेरगाँव, चैनपुर, चैसार, चोतराका खेड़ा, चौका सोनवर्षा, चौबयाना-तालबेहट, चौरई, चौरा, छतना, छतरपुर, छतियाना, छतौनी, छनछड़ा, छपड़ाधरमपुर जदू, छयालसिंग, छाजाका नांगल, छाणी, छापर, छापीहेड़ा, छारेटा, छिछोर, छोटी बरेली, जंगबहादुरगंज, जंडवाल, जगतपुर, जगतपुर वरियाटोल, जगदलपुर, जगदीशपुर, जगदीशपुर बघनगरी, जगदेवपुर, जगन्नाथपुर, जगरामपुरा, जगाधरी, जटनी, जटवारी (द्वितीय), जठाई, जड़वा, जनौटीपालड़ी, जबलपुर, जमदहा, जमलापुर, जमशेदपुर, जमुअन, जमुअरियाकलाँ, जमुनाकालरी, जम्मू, जयन्त, जयपुर, जरहामहका, जरौली, जलगाँव, जलाड़ी, जवलकवरूल, जसपुरखुर्द, जसवंतगढ़, जहाँगीराबाद, जहानाबाद, जाँजगीर, जाँडोल, जाखौदा, जागीवाडा, जाजपुर, जाजैकलाँ, जाजोता, जानपुर उर्फ रानी निवादा, जाबड़ा, जामागुड़ीहाट, जारंगरामपुर, जालंधर, जालना, जालौन, जावर, जावरा, जिनवाँ, जियारामराघोपुर, जींद, जुक्कल, जुल्की, जूनागढ़, जूनालखनपुर, जैतगढ़, जैतपुर-कोपरा, जैतपुरामढ़ी, जैतारण, जैसनी,

जैसलमेर, जैसीनगर, जोंकी, जोंरा, जोगियारा, जोगीडीहबस्ती, जोजवा, जोधपुर, जोबनी, जोरवा, जौनपुर, ज्योरी, झंझारपुर, झाँसड़ी, झाँसी, झाक, झामर, झालरापाटन, झालावाड़, झिंझाना, झिकटिया, झिलाय, झींकपानी, झुँझुनूँ, झूमरीतिलैया, झूलाघाट, झेरली, झोटवाड़ा, टहरौली, टाँट, टाशिलिंग, टिटिलागढ़, टिपरी, टिसौरा, टीपीवनम्, टूँडला, टेंघा, टेकापार, टेहटा, टोंक, टोडारायसिंह, टोला भैस्कोट, टोला शिवनराय, ठाकुरद्वारा, ठूलई, डकाचा, डड़वाखुर्द, डबरा, डबवाली, डभोई, डाकपत्थर, डाबरा, डाबलाखुर्द, डालटनगंज, डाला, डालामारा, डालामारा (झापीजुड़ी), डालीशहरकोना, डाविच, डाह, डिंडीगुल, डिघारी, डिमौली, डिलारी, डिलीया, डिवाई, डीडवाना, डुड़गाँव, डुमरवार, डुमरातरियानी, डुमरिया, डूँगरपुर, डूँडलोद, डेहरी, डोंबिवली पूर्व, डोय, डोल, डोरावली, ढंडारीकलाँ, ढाँढ़ण, ढालपुर, ढिकुली, ढेंगाडीह, ढेकियाजुली, ढोसर, तंवरा, तड़ोला, तरकेड़ी, तराना, तरेंगा, तरौका, तलुवापुर, तलेगांव (भोगेघर), तलोटी, तवड़ा, तसीमों, ताखलाकलाँ (अरी), ताजनीपुर, ताजपुर, तारकू, तारनपुर, तारले, तालगुप्पा, ताली, तालीकोटी, तालीवपुर, तालेड़ाजमात, तालेड़ी, तावडू, तासगाँव, तिकुनिया, तिजारा, तितावै, तितिरा, तिनसुकिया, तिरुवण्णामलै, तिरोजपुर, तिर्वा, तिलहर, तिलावदगोविंद, तिहाड़, तीखमपुर, तीगाँव, तुनि, तुमसर, तुसरा, तेंदूखेड़ा, तेंदूखेड़ा (सागोनी), तेईया, तेरुखा, तेवाड़ीखोला, तोड़, तोरनी, तोसीणा, थड़ोली, थलोटा, थानखमरिया, थानपुर, दगौरी, दतिया, दबनाला, दमोह, दयाछपरा, दर्रेकसा, दशाल, दानपुर, दानियोंकी कोटरी, दापोरी, दामापुर, दारी, दावणगेरे, दिग्धी, दिलशादगार्डन, दिल्ली, दिल्लीकैंट, दीनी, दुआड़ा, दुधौरा, दुबा, दुमका, दुर्गापुर, दुलावनी, दूधौला, देववाड़ा, देवकिरारी, देवकुली (दुबौली), देवगढ़, देवगढ़-मदारिया, देवगाँव, देवठी, देवतालाब, देवदरा, देवनगरपुराना, देवनाल, देवपुरा, देवरार-भटमई, देवराली-मसहार, देवरिया, देवरी, देवरी उर्फ जगदीशपुर, देवरीनाहरमऊ, देवरीबखत, देवलालीप्रवरा, देवलीखुर्द, देवलोंद, देवसर, देवास, देहरादून, देहूरोड, दोघट, दोडवाड, दोनपाह, दोरवाँ, दोसुत, दौरई, दौलतगढ़, दौलतपुर, दौलतपुरा, दौसा, धकजरी, धनकपुरा, धनकोसा, धनगढ़ी, धनवाद, धनला, धनसार, धनौजा, धमधा, धमौरा, धरमपुर जारंग, धरमपुरी, धरहरा, धराकड़, धर्मपुरा, धामनोंद, धार, धुमाभाटा, धुर्बा, धुवेनपाली, धूरी, धेपुरा, धोइंदा, धौलपुर, धौलादेवी, धौलीपाल, ध्राँगध्रा, ध्रुवगंज, नंदोरखुर्द, नईदिल्ली, नगराम, नगलाबल्लभ, नगलामूर्ली, नगलामोहन, नगावली, नगुला, नजफगढ़, नजीबाबाद, नत्थुवावाला, नदवई, ननौरा, नबाबगंज, नयानगर, नयाबाजार, नयाहैवतपुर, नरयावली, नरसिंहगढ़, नरसिंहपुर, नहरपुर, नरहवाँशुक्ल, नरही, नरायनपुर, नरी, नल्लाजर्ला, नवकापुरा, नवगछिया, नवगाँई, नवरंगपुर, नवरगाँव, नवादा-गिद्धौर, नवाशहर, नसीबपुर, नोंगलडेरी, नाँगलदेवत, नाँदिया, नाँदेड, नाँवदी, नाकोट, नागठाणा, नागपुर, नागलबोहरा, नागौर, नाचनी, नाडोली, नाढ़ी, नाथद्वारा, नाथूवास, नादौनबेला, नापासर, नारकंडा, नारनौल, नारवा, नारायननगर, नारेपुर (पश्चिम), नावली-वृंदावन (देवाला), नावापारा, नासरीगंज, नासिक, नाहरगढ़, नाहापाड़ा, निगड़ी, निघवा, निटूटी, निफाड, निरमंड, निहाल, नीदर (मंडरायल), नीमच, नीमड़ी-चाँदावता, नीर, नूरपुर, नूराबाद, नेरी, नेवढ़ी, नेवादा, नैनवारा, नैमिषारण्य, नोएडा, नोखा, नोवी, नोहर, नौगड़ी, नौगवाँ पकडिया, नौगाँव, नौघई, नौधना, नौबस्ता, न्यायाकला, न्यालकल, न्योली, पंचकुला, पंचपहाड़, पंचवटी, पंडरीतराई, पंडरीपानी (पतराटोली), पंतनगर, पचपदरानगर, पचपेड़वा, पचरुखिया, पचलाना, पचौमी, पचौरी, पटना, पटनातमोली, पटामुंडाई, पटियाला, पटोरी, पठानकोट, पडुआ, पड़रिया, पड़री, पड़रीखुर्द, पड़िहारा, पतरिया, पतारी, पतैलिया, पतैली, पदमपुरा, पनई, पनकी, पनगरा, पनवाड़ीहाट, परबतसर शहर, परभणी, परलीपार, परवानू, परसदा, परसाईपिपरिया, परसीपुरा, परसोडीह, परसोंदागूजर, परासर, परासी-चकलाल, परियर, परेबरा, पलटवाड़ा, पलसोडा, पलाड़ा, पलाशडोह, पलासवाडे, पलियाकलाँ, पलेरा, पवनी, पवित्रनगर, पसगवाँ, पहारपुर स्टेशन, पांगना, पांचोर, पांठर-कवड़ा, पांडातराई, पांडुकेश्वर, पाखाटोला, पाटगाँव, पाटन, पाटमऊ, पाटवा, पाटौदी, पाडलीया, पादड़ा, पादड़ी, पानागढ़, पानापुर, पानीपत, पारसौल, पालमपुर, पालवास, पालवी, पाली, पावटा, पासुपुला, पाहरपुर-पांडेडीह, पाहल, पिंडलवाडा, पिंड्राजोरा, पिथौरागढ़, पिपरहा, पिपरातहसील, पिपरिया, पिपरिया (गल्लाटोला), पिपरिया (उड़नी), पिपलेट, पिपलौदा, पिलंग,

पिलखुवा, पिहानी, पीठ, पीथलपुर, पीपरी-गहरवार, पीपलपुर (अजीतगढ़), पीपलाज, पीपली-आचार्यान, पीपल्दा, पीपल्या-जोधा, पीरोचौक, पुनहद, पुनहा, पुन्नेरी, पुन्हाना, पुर, पुराना-भोजपुर, पुरानी बसेड़ी, पुरूलिया, पुवायाँ, पुष्कर, पूतूर, पूना, पूरेकेरहन, पूर्णियाँ, पूलासर, पूसा, पूसारोड, पेशम, पेशुआ, पेशोक, पैंची, पोंगरी, पोईमा, पोखरी, पोडैयाहाट, पोलादपुर, पोसालिया, पौना, प्रतापगढ़ (राज०), प्रशस्तडीह, प्रशान्तबिहार, प्रह्लादपुर, प्रीतमपुरी, प्रेमकापुरा, फतेहगंज पूर्वी, फतेहपुर, फरदफोड़, फरहदा, फरिया, फरीदकोट, फरीदाबाद, फरौदा, फर्रूखाबाद, फलोदी, फागी, फाजिल्का, फिरोजाबाद, फूलवार, फुलहर, फुलहर—१, फुलहारा, फुलेरा, फुसावली, फूलपुररामा, बंडामुंडा, बंतोल, बंधबहाल, बंधुछपरा, बंबेली, बंसरामऊ, बखरा बुजुर्ग, बखरी, बगचौलीखार, बगड़, बगरू, बगही, बगही पश्चिमवारी, बगाहर, बघेरा, बजरगढ़, बजहा, बड़गाँव, बड़लियास, बड़वानी, बड़हरवा फत्तेमोहम्मद, बड़हरा, बड़हिया, बड़ाखड़कलाँ, बड़ागाँव, बड़ीसादड़ी, बडोदरा, बड़ौत, बड़ौद, बड़ौदा, बड़ौदा (श्योपुरकलाँ), बथरा, बदगुंदाकलाँ, बदपरी, बनवारीबसंत, बनासो, बनियागाँव, बनेठिया, बनेड़ा, बबनटोली, बबरोली, बबहेली, बबेडी, बमनपुरी (बरेली), बमनाला, बम्भई, बयाना, बरकर, बरगढ़, बरगाँव, बरघाट, बरदबट्टा, बरनमहगवाँ, बरबाही, बरमसर, बरमसिया, बरला, बरवा, बरवाबाद, बरहापुर, बरही, बराई (मिश्रपुर), बराटा, बरालोकपुर, बराही, बरुआघाट, बरेजाके टोला, बरेली, बरोदियाघाट, बरौंधा, बलंदा, बलदिया, बलरामपुर, बलरामपुर-तलगड़, बलवाड़ा, बलाऊ, बलिया, बलिया नबाबगंज, बलिहारा, बलौदा, बल्लभगढ़, बसंतपुर, बसवा, बसेडी कुंडाल, बसोहली, बसौनी, बसौरा, बहरांवडा, बहराइच, बहरोड़, बहलोलपुर, बहादुरगढ़, बाँकी, बाँकुड़ा, बाँगरोद, बाँजीबाहाल, बाँदरी, बाँदीकुई, बाँसवाड़ा, बाँसाकलाँ, बाँसी लाला, बा (फीजी), बागपिपरिया, बाग्लुंग बजार (नेपाल), बागोरी, बाजार शुक्ल, बाटाडु, बाठोज-शुक्लेश्वर, बाड़ी, बाढ़, बाढ़पुर, बानसी, बाप, बामनियाँकलाँ, बामोरीशाला, बाम्हनवाड़ा, बाराटोला, बाराबंकी, बालसी, बालाघाट, बालाचडी, बालाजी-मिहोना, बालापुर, बालू—१, बालेसर (दुर्गावत), बालोतरा, बालोद, बावड़ी, बावनघाट, बावल, बास, बासदेवासिंघिया, बासनपानी, बिंदा, बिचपुरीगुजरान, बिछिया, बिछौदना, बिजनौर, बिजोलियाँ, बिझड़ी, बिदियाद, बिलावल, बिरलाग्राम, बिरसा (मरारीटोला), बिरोल, बिलंदपुर, बिलसंडा, बिलाड़ी, बिलाबर, बिलासपुर, बिल्हौर, बिशाड़ (खोलगाड़ा), बिशौनी, बिसरा, बिसरापार, बिसाऊ, बिसूंदनी, बिहार, बीकानेर, बी० कैथी, बीड, बीदासर, बी० बी० एस० आर०, बीरचंद्रहा, बीरपुर, बीरमपुर, बीरवन्ना, बीरवा, बीलाग्राम, बुद्धाराजा, बुद्धिकामना, बुढ़िया, बम्हौरी, बुरदा, बुरहानपुर, बुलंदशहर, बूँदी, बूरमाजरा, बेंगलौर, बेंगू, बेगूसराय, बेणीबाजार, बेतिया, बेदला, बेनियाँका बास, बेनोडा (शहीद), बेरखेडी-गोसाई, बेराघाट, बेलरगाँव, बेलरबाजार, बेलागंज, बेलापुर, बेहरावल, बैका-विष्णुपुर, बैजनाथ, बैतूल, बोंदा, बोकठा, बोकारो-स्टील-सिटी, बोटाद, बोड़ा, बोड़ासम्बर, बोतराई, बोदवड, बोधन, बोरनार, बोरावड़, बोरीवली (प०), बोहना, ब्यावर, ब्यास, ब्लूमीनागाँव, ब्रजराजनगर, ब्रह्मनगर, ब्रह्मपुर, ब्रह्मावली, ब्रह्मोतरा, भंजननगर, भंडारा, भंडारिया, भंडारो, भंतूर, भगलपुरा, भगवंतनगर, भगवानपुर, भग्यापुर, भजनगामा, भटकरजा, भटनावर, भटली, भटवाडा, भटवाड़ा, भट्टूकलां, भदलियानोसर, भदलिया-नोसर (गोकुल), भदवर, भदैनी, भनौखर, भभुआ, भमरहा, भमावद, भरतपुर, भरथुआ, भरवलिया शुक्ल, भराड़ी, भलुहा-रोर, भलेरा, भवानंदपुर, भवानीपुर, भवानीपुरा, भवानीमंडी, भवारा, भसवानपुर, भाँकरी-निरंजनकोट, भागनबीघा, भाटापारा, भादरा, भानपुरखास, भानपुररानी, भानपुरा, भारौलीखुर्द, भिकियासैण, भिरखी, भिलाई, भिवानी, भिसीमिर्जापुर, भीखनीडीह-पीपरा, भीखापाली, भीमावरम, भीरा, भीराणी, भीलवाड़ा, भीष्मगिरि, भुतही, भुवनेश्वर, भुवाखेड़ी, भूरा, भूलनपुर, भूलीनगर, भेउसा, भेडौली, भेड़रा, भेड़वन, भेला, भैंसवाही, भैंसवाहीकलाँ, भैंसोदा, भैरवपुर, भैलामऊ, भोगपुर, भोजपुर, भोजपुर कोल्हुइया, भोजावास, भोपाल, भोलग-कंगर, भ्रमरपुर, मंगलनगर-कटनी, मंगलपुर, मंगलेश्वर, मंगलौरटाउन, मंगोनाकलाँ, मंझनपुर, मंडरो, मंडला, मंडावरी, मंडी, मंडी अटेली, मंडी-गोविंदगढ़, मंदर, मंदलोग, मंदसौर, मंशियान, मऊ (सहानियाँ), मऊगंज, मकराना, मखदुमपुर, मखमेलपुर,

मगरमू, मगराना, मगरोल, मछलीशहर, मजेड़ा-सतगढ़-खतेड़ा, मजेवडी, मझिआँव, मझिला, मटवारी, मटेहनी, मठिया पचपेड़ा, मड़ावदा, मडोरी, मढ़ा, मतवाना, मत्तेपुर, मथुरा, मदनगंज, मदनगीर, मदनपुर, मदनमोहननगर, मदुरै, मदेरणा, मद्दूर, मद्रास, मधविया, मधुरापुर, मनफरा, मनवा, मनिगाँव, मनेला, मनैतापुर, मनोहरा-धनगढ़ी, मरदानपुर, मरौंदा-मझवारा, मर्दनपुरवा, मलंगवा न० पा०, मलकलीपुर-डेवढ़ी, मलकापुर, मलकीसर, मलकौली-पठकौली, मलार, मलारनाडूँगर, मलारा, मलावनी, मलिका, मलिनियाँदिरा, मलेहरानिवादा, मल्टनी, मल्दी, मवइया (चैनपुर), मसरख, महथी, महनियाँवास, महरोली, महाजनटोली, महादेवाँ, महावीरनगर, महासमुंद, महिदपुर, महियामा, महुआखेड़ा, महुगांई (देवगण), महुड़र, महुवार-वसगितिया, महू, महेशवारा, महेशाकरकपुर, महोली, माँकरौल, मांडल, मांडलगढ़, माँसी, माचनूर, माचाडी, माछरा, माछरौली, माड़ीपुर, मातापुर, माधवनगर, माधोगंज, माधोपुर, माधोपुर-गोविंद, मानपुररानी, मानसा, मानहड़, मानिकतला, मानिकपुर, मायना, मायागढ़ी स्टेट, मारकंडा, मारकन, मारकानगर, मारवाड़ जं०, मालपुर, मालविया, मालेगाँव, मासलपुर, मिड़का-बम्हौरी, मिर्जापुर, मिश्रोलिया, मिहाना, मिहोना, मीरपुर (सिरोही), मुंगावली, मुंगेर, मुंगेली, मुंगो, मुंडका, मुंडीवाड़ा, मुंबई, मुगलसराय, मुजफ्फरनगर, मुजाहिदपुर, मुढ़ेना, मुरादनगर, मुरादाबाद, मुर्तिजापुर, मुलाना, मुशेदपुर, मुसाफा, मुस्तफाबाद, मुहम्मदाबादगोहना, मूंडवाड़ा, मेई, मेड़तासिटी, मेड़ास, मेथुरापुर, मेदनीपुर, मेरठ, मैगलगंज, मैत्रीनगर, मैनपुरी, मैसूर, मोडासा, मोतीनगर, मोदीनगर, मोरवा, मोहगाँवखुर्द, मोहनपुर, मोहनपुरा, मोहबा, मौघिया, मौजपुर, मौजपुर-तिलहर, मौड़ा, मौनामहिमा, मौनाहुसेछपरा, मौरोज, म्याऊ, यदुपट्टी, यमुनानगर, यवतमाल, येवला, रंगत, रंगेली, रंधाड़ा, रक्सौल, रघुनाथपुर, रघुराजगढ़, (मनगवाँ), रजऊपरसपुर, रजपुरा, रटलाई, रठेरा, रणजीतपुर, रतनगढ़, रतलाम, रत्ताटिब्बा, रत्ननगर, रत्नापुर, रबूपुरा, रयकोना, ररी, रसेन, रहिनियाँपुर, रहुआ-संग्राम, राँची, रांहेरा, राऊरकेला, राखीताल, राजकोट, राजगढ़, राजगढ़-सादुलपुर, राजगीर, राजग्राम, राजनांदगाँव, राजा, राजाखेड़ा, राजापुरविंधन, राजुरवाड़ी,

राजेराँ, राणावास, राणीगाँव, रातूसर, रानापुर, रानीटोला, रानीधानोरा, रानीपुर, रामकोट (सई), रामगंजमंडी, रामगढ़कैंट, रामगढ़-जवंधे, रामचन्द्रपुर अन्हैल, रामचन्द्रपुरा, रामचौरा, रामदासपुर, रामदीरी, रामपुर, रामपुर कोलियारी, रामपुर छोटा, रामपुर-जलालपुर, रामपुरबखरा, रामपुर-माधो, रामपुरवाँ बाजार, रामपुरा, रामेश्वर, रायगड, रायथल, रायपुर, रायपुर-जागीर, रायपुरसानी, रायसिंहनगर, राल, रावतपुरगाँव, रावतभाटा, रावलामंडी, रिछरा, रिपुर, रिमारी, रिसड़ा, रिसोड, रुड़की, रुस्तमनगर (राजाका सहसपुर), रुहट्टा, रुईभर, रूरा, रूलही, रूवातला, रेंड़ावद, रेंदड़ी, रेणूसागर, रेधरा, रेनवाल, रेवई, रेवन, रेवाड़ी, रेहटी, रोटेदा, रोहतक, रोहिणी, रौसरा, लंका, लक्ष्मणपुर-मिश्रान, लक्ष्मीपुर-सायत, लखनऊ, लखीबाग, लखीमपुर, लखीमपुर-खीरी, लखीसराय, लखोरिया, लखौरी, लचीदा, लछुमनपुर, लतिवाड़ी (कुमारीकाटा), लत्ता, लभेड़ा-पिछोर, ललितपुर, लवहरफरना, लवाइच, लश्कर, लसाड़िया, लस्करी, लहानबाजार, लाउमुंडा, लाखेरी, लातूर, लातेहर, लारोंन, लालगंज, लालपुरा, लालसिंग, लालसोट, लावन, लासूर स्टेशन, लुकसानबाजार, लुधियाना, लुहारी, लेयो-कोलियरी, लैलूँगा, लोइसिंगा, लोईंग, लोधना, लोपड़ा, लोफंदी, लोवधिया, लोहंडियाबाजार, लौड़ी, लौर, लौरियाबाजार, लौह, वजीरपुर, वडाला, वनखंडा, वरकतपुर, वरटोला, वरड़ा (रावजी), वरणा, वरारी, वरोडी (पंचवटी), वरोरा, वरोरी, वला, वहादुरा, वाजितपुर (झखड़ा), वाजिदपुर (पूर्वटोला), वाडा, वारंगल, वाराणसी, वाराही, वालगुदर, वालसावंगी, वास्कोडिगामा, विकाराबाद, विक्रमनगर, विक्रमपुर, विगाही, विजयग्राम, विजयनगर, विजयपुर, विजयानगरम्, विजलपुरा (लोहा), विदिशा, विद्यानगर, विद्यानगर-हुबली, विनाई, विनिका, विराजपुर, विरौंधी, विष्णुपुर, विशाखापट्टनम्, विश्वम्भरपुर, वीरपुर, वीसलपुर, वृंदावन, वेलकुर, वेल्लोर, वैजापुर, वैभपुर, वैर, वैरवार, व्यासविलाकानोड़, शकरा, शक्करगढ़, शांतिपुरी, शामती, शामत्ती, शाहकोट, शाहगढ़, शाहजहाँपुर, शाहदरा, शाहपुर, शाहपुर-टहला, शाहोपुरवरमा, शिकारपुर, शिकोहाबाद, शिमला, शिरपुर, शिराला, ३२ शिराला, शिवकासी, शिवगंज, शिवगढ़, शिवगढ़-चौहान, शिवपुर, शिवपुरकलाँ, शिवपुरा, शिवपुरी, शिवपुरी सेंटर,

शिवरीनारायण, शिवलिंग (नेपाल), शिवाड़, शीतलपुरी, शीशूपुर, शुखा, शुजालपुरमंडी, शूजापुर, शेरुणा, शेगाँव, शेरगढ़, शेलगाँवबाजार, शोपुर, शोरोकटरा, श्यामपुर, श्रीगंगानगर, श्रीनगर, श्रीपुर, श्रीवैकुंठम्, श्रीशिरनियाँ, संजौली, संतरामपुर, संतोषगढ़, संदला-सारोटी, संहौली, संबलपुर, सकरार, सकरीगली, सगरा, सगौली, सड़क-पिपलिया, सड़रा, सतजोरी, सतना, सतोहल, सथरा, सदरपुर, सनई चौराहा, सनावल, सपोटरा, सफीदमंडी, सफीपुर (ब्राह्मणटोल) सबजपुर, सभागंज, समदियाल, समालखा, समेसर, सरखों, सरदारशहर, सरदुलेवाला, सरमेरा, सरवाड़, सराय-अगहत, सरावज्ञान, सरिया, सरेंधी, सरैयाबाजार, सलगोई, सलेमपुर, सलेहा, सवलगढ़, सस्तरा, सहरना, सहरी, सहार, सहारनपुर, सहिजनाहमजापुर, सहिहामाँठा, साँकाकलाँ, साँगली, सांडिया, सांभरलेक, साकेत-पत्तेरापाली, सागर, सागरपुर, सागोर, सादूमल, सादाबाद, सादुलपुर, साधपुर, साबड़ा, साबरमती, सामी, सायला, सालमगढ़, सालिमपुर, सालेवाडा, सालोन-बी, सावनेर, सावलपुर, साहवा, साहिबाबाद, साहिवाड़मोड़, साहोपड़री, सिंगोली-चारभुजा, सिंघाना, सिंडोली, सिंदुवारटोली, सिकन्दरा (मोंठ), सिगाँव, सितारगंज, सितुआही, सिद्धबरौलिया, सिद्धरामपुर, सिधौली, सिनपुरी, सिमरी, सिरपुरकागजनगर, सिरसगाँव कसवा, सिरसा, सिरसी, सिरसुँ, सिरेगाँवखुर्द, सिरोंचा, सिरोही, सिर्रोंद, सिरौंज, सिलहरा, सिलीगुड़ी, सिवनी, सिहाल, सिहोरा, सीकर, सीतापुर, सीतामन, सीनखेड़ा, सीवाँ, सीवान, सीसवाली, सीहोर, सुंगरहा, सुंहेत, सुकलाना, सुखबाग, सुखवास, सुजानगढ़, सुजिया-महोलिया, सुठालिया, सुतरी, सुनेल, सुभाषनगर, सुरनी, सुरपुरा, सुरेंद्रनगर, सुरेबान, सुलगाँव, सुलताना, सूखीढांग, सूत्रापाड़ा, सूरजपुरकलाँ, सूरजपुराकलाँ, सूरजपुराकी ढाणी, सूरत, सूरतगढ़, सूरसागर, सूरौठ, सेंट्रलपल्प मिल, सेंठा, सेऊ, सेथौरा बिसुनपुर, सेपोन, सेमरा, सेमरामेडरौल, सेरुकहा, सेवर, सेवाग्राम, सेहरी, सेहलंग, सेहिणी, सैणीमौहरी, सैदनपुर, सोंठवा, सोईकलाँ, सोनई, सोनकच, सोनवला, सोनेवाडीखुर्द, सोफ्ता, सोलन, सोलापुर, सोवरीनी बाजार, सोहरामऊ, सोहागपुर, स्वार, हंसडीहा, हटा, हणेगाँव, हथौड़, हथौड़ाखेड़ा, हदरहटा, हनुमानगढ़, हनुमानगढ़ जं०, हनुमाननगर, काँटुलक्ष, हनुमाननगरटोला, हरगनपुर, हरदी, हरदुआ (नाहिल), हरदोई, हरनावदा-शाहजी, हरनी, हरनौत, हरपुर, हरपुररेवाड़ी, हरिकृपा, हरिद्वार, हरिपुर, हरिपुर-डाक, हरिपुर-बेदौलिया, हरिशंकरपुर-असीनचक, हरिहरक्षेत्र, हरीपुरनायक, हरीपुरा, हलद्वानी, हलेड़, हसनपुर, हसनापुर, हसामपुर, हसुवा, हाँफा, हाँसी, हाजीपुर, हाथज, हाथरस, हाथीसर, हाबड़ा, हारीज, हार्सिकट्टा, हास्पेट, हिंडोरिया, हिंदमोटर, हिनूँ, हिमतसर, हिमायतनगर, हिरामनपुर, हिसार, हिसार ड्यौली, हिसावाँ, हिरानंद, हुबली, हुमायूँपुर, हूर, हेमावास, हेलीमंडी, हैंजा, हैदराबाद, होशंगाबाद, होशियारपुर, होसिर, ५६ ए० पी० ओ०।

राम सों दयालु कौन समरथ शरन्य हैं

पठये सुकण्ठ हनुमान आये भेद लैन,
भेद-भाव भूलि भये सेवक अनन्य हैं।
संग ही सुग्रीव शरणागत सुरक्षित भे,
पाय के सम्बन्ध-सख्य भये धन्य धन्य हैं।
भेद पाय प्रभु को, प्रभाव औ सुभाव देखि,
धन्य किते भील-काग-गीध से जघन्य हैं।
'नारायण' खोजि देखु तीन काल तीन लोक,
राम सों दयालु कौन समरथ शरन्य हैं॥

—श्रीनारायण दास 'भक्तमाली'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सच्ची सहानुभूति और करनीका फल

शिवराम गरीब था। पैंसठ रुपये मासिक वेतन पाता था। उसकी कन्या बाईस वर्षकी हो गयी, अतः उसके विवाहकी बड़ी चिन्ता हो गयी। उसने नौकरीके अतिरिक्त रातको तथा सुबह एक व्यापारीके यहाँ तीन वर्षतक प्रतिदिन पाँच घंटे काम करके पंद्रह सौ रुपये इकट्ठे किये। बड़ी दौड़-धूपके बाद एक संस्कारी शिक्षित लड़केके साथ लड़कीकी सगाई की। विवाह एक महीने बाद करना निश्चित हुआ। परंतु विधाताका विधान दूसरा ही था—इसीसे शिवरामको पर-दुःखनिवारणका आदर्श प्रकट करनेका अवसर मिल गया।

शिवरामके पड़ोसमें ही धनीसिंह नामक एक अच्छे घरानेके सज्जन रहते थे। इनपर झूठा आरोप लगाया गया। वहींके एक बदमाश धनीकी धनीसिंहकी पत्नीपर बुरी नीयत हो गयी। धनीसिंह गरीब था, पर था बलवान् और बहादुर। अतएव उस धनी दुराचारीने पुलिस तथा कुछ दूसरे लोगोंको मिलाकर धनीसिंहपर झूठा मुकदमा चलवा दिया। धनीसिंहको जेल भेजकर उसकी अनुपस्थितिमें उसकी पत्नीपर कब्जा करनेकी उसकी नीच वासना थी। कुछ पैसे खर्च करके धनीसिंहपर बारह सौ रुपयेकी डिग्री करवा ली और एक दूसरे फौजदारी मुकदमेमें तीन सौका जुर्माना न दे सके तो छः महीनेकी कैदकी सजाका हुक्म हो गया। रुपये वसूल करनेके लिये वारंट निकला। रुपये वसूल न हों तो धनीसिंहको जेल भेज दिया जाय। रुपये वसूल होनेकी तो सम्भावना थी ही नहीं, कारण कि धनीसिंह इतना गरीब था कि घरमें दो दिनका अनाज भी नहीं था। इस प्रकार सुनियोजित षड्यन्त्रके माध्यमसे धनीसिंहको जेल भिजवानेकी सारी व्यवस्था हो गयी।

धनीसिंहकी सुन्दरी पत्नी बड़ी ही सुशीला थी। इस भयानक षड्यन्त्र और कोर्टके फैसलेकी बात सुनकर वह तो हक्की-बक्की रह गयी। पर वह साहस करके अपनी पड़ोसिन शिवरामकी पत्नी चन्दनीके पास गयी और उसको सारा हाल सुनाकर उससे सलाह माँगी।

अश्रुधारा बहाती धनीसिंहकी पत्नीकी सारी बातें सुनते ही चन्दनीका हृदय पिघल गया। उसने अपने पतिके पास जाकर धनीसिंहकी पत्नीकी कही हुई सारी बातें सुनायीं और कहा—

'अपनी लड़कीके विवाहमें तो अभी एक महीना बाकी है। भगवान्‌की कृपा होगी तो इस बीच कोई दूसरी व्यवस्था हो जायगी। नहीं तो, साल-छः महीने बाद सही। पर इनका काम तो आज ही करना है। विवाहके लिये आपने जो पंद्रह सौ रुपये इकट्ठे किये हैं, वे देकर इनको इस विपत्तिसे छुड़ा लेना चाहिये।'

शिवरामके हृदयमें भी सहानुभूतिकी बाढ़ आ गयी। उसने भी चन्दनीसे कहा—'तेरा विचार बहुत सुन्दर है। इस बहिनको विश्वस्त करके भेज दो। मैं स्वयं धनीसिंहके पास जाकर रुपये दे आता हूँ।' पतिकी यह बात सुनकर चन्दनीको बहुत ही हर्ष हुआ। अपनी पुत्रीके विवाहकी बात भूलकर धनीसिंहको विपत्तिसे छूटा हुआ देखनेकी पवित्र इच्छासे बड़ी नम्रताके साथ तथा आदरपूर्वक चन्दनीने धनीसिंहकी पत्नीको आश्वासन देकर विदा किया।

कुछ ही देर बाद पंद्रह सौ रुपये लेकर शिवराम धनीसिंहके पास पहुँचा और बड़ी शान्तिके साथ उसे समझाकर रुपये दे दिये। रुपये लेनेमें उसे संकोच तो हुआ, पर उसके हृदयमें जो आनन्द छाया वह अवर्णनीय है।

यों पंद्रह सौ रुपये जमाकर दिये गये। बदमाशकी बुरी नीयत सर्वथा निराशामें परिणत हो गयी।

'भगवान्‌का न्याय देरसे फल देता है'—ऐसा कहा जाता है, पर यहाँ तो फल भी हाथोंहाथ ही मिल गया। एक शेयर दलालके माध्यमसे शिवरामने कुछ शेयर खरीदे हुए थे और महीनेके अंदर ही उससे दो हजार रुपये मिल गये। ईश्वर-कृपासे कन्याका विवाह निश्चित तिथिपर ही सानन्द सम्पन्न हो गया और उस बदमाश धनीका मोटर-दुर्घटनामें दाहिना पैर टूट गया। *'जैसी करनी वैसी भरनी।'*

[अखण्ड आनन्द]

(२)

कलियुगमें भी ईमानदारी मौजूद है

घटना ११ जुलाई बृहस्पतिवार १९९६ की है। मेरे पुत्र कमलकुमारने अपने एक पैंटकी जेबमें चार हजार रुपये रखे थे। दूसरे दिन सुबह घरसे दुकान जाते समय उसने दूसरा पैंट पहन लिया और पहलेवाले पैंटको जिसमें रुपये रखे थे, घरपर छोड़ दिया। उसी दिन उसकी पत्नीने उस पैंटको धुलवानेके लिये धोबीको दे दिया। जब दोपहरमें वह घरपर भोजन करनेके लिये आया, तब उस पैंटमें रखे रुपयोंके विषयमें पत्नीसे पूछनेपर पता चला कि वह पैंट तो धोबीके यहाँ धुलवानेके लिये दे दिया गया है। यह सुनते ही वह घबरा गया और सोचने लगा कि अब तो रुपया मिलना मुश्किल है, फिर भी भगवन्नाम-जप करते हुए प्रभुपर अटूट विश्वास करते हुए वह उसी समय स्कूटरसे धोबीके घर पहुँचा। धोबीके घरपर पहुँचते ही धोबीकी पत्नीने कहा कि 'आपके पैंटकी एक जेबसे चार हजार रुपये मिले हैं'—इतना कहकर उसने तुरंत रुपये वापस लौटा दिये।

आजके इस विषाक्त घोर भ्रष्टाचार एवं बेईमानीके युगमें आर्थिक रूपसे विपन्न एक धोबीकी इस ईमानदारीको देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया। और यह सोचनेको विवश हो गया कि आज इस कलियुगमें भी मानवता तथा नैतिकतासे ओतप्रोत भगवद्भक्त एवं ईमानदार लोग मौजूद हैं तभी तो हमारी भारतीय संस्कृतिकी रक्षा सम्भव हो रही है। उस धोबीका यह सहज निर्लोभ श्लाघनीय है।

—सीताराम बडेरा

(३)

गोमूत्रका अद्भुत चमत्कार

यह घटना २५-५-१९९५ की है। जब असह्य दुःख सुखमें परिवर्तित हो गया। बात यह है कि मेरी एड़ीमें बहुत पीड़ा रहती थी। इसके इलाजके लिये मैं अनेक देशी-विदेशी दवाइयोंका सहारा लेता रहा, अन्तमें डॉक्टरोंने परामर्श दिया कि 'आपकी एड़ीमें पस आ गया है, हड्डी बढ़ गयी है, मांस कम हो गया है, इसलिये आपके पैरसे शिरिंजद्वारा पस निकाला जायगा एवं अन्य उपचार करने पड़ेंगे' आदि-आदि। यह प्रक्रिया लगभग डेढ़ महीनेतक चली, किंतु कुछ लाभ न हुआ।

उन्हीं दिनों मेरे एक रिश्तेदार हमारे घर आये। वे 'कल्याण'के नियमित पाठक हैं। उन्होंने मुझे गोमूत्रका सेवन करनेकी सलाह दी। मैंने गोमूत्र-सेवन करना शुरू किया। यद्यपि इसके सेवनमें पहले मुझे थोड़ी कठिनाई तो हुई, किंतु इसके सेवनसे लाभ होते देख मुझे इस कठिनाईका आभास भी नहीं हुआ। गोमूत्रसे किया गया यह उपचार रामबाण सिद्ध हुआ। दो दिनमें ही बहुत लाभ मालूम हुआ। आज स्थिति यह है कि मैं सुबह काफी दूरतक दौड़ आता हूँ और अन्य कार्य भी सरलतासे कर लेता हूँ।

इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें गौकी महत्ताका विशेषरूपसे बखान हुआ है और यहाँतक कहा गया है कि गौके पञ्चगव्यके सेवनसे आन्तरिक एवं बाह्य शुद्धि होती है, गोमूत्रके सेवनसे तो कैंसर-जैसा असाध्य रोग भी दूर हो सकता है। गाय हमारी माता कही जाती है। माताके रग-रगमें पुत्र-कल्याणकी भावना रहती है। गायका दूध तो अमृतमय ही है।

इस अद्भुत चमत्कारसे मेरे मस्तिष्कमें यह तथ्य अब और अधिक स्पष्ट हो गया है कि गोसेवा एवं गोमूत्र आदिके सेवनसे अनेक असाध्य रोगोंसे मुक्ति मिलती है, चित्त शान्त एवं प्रसन्न रहता है। इसीलिये तो प्राचीन कालसे ही हमारे शास्त्रोंमें गायको माता-जैसा उत्तम महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अतः यह सभीके समादर-योग्य है।

—गौरव गोयल

(४)

हृदयरोगका मन्त्र—'श्रीरामनाम'

१९७४ की एक सत्य घटना है। मैं 'भारतीय जीवन-बीमा निगममें' विकास-अधिकारीके पदपर कार्यरत था। मैं अपने पूर्व कार्यक्रमके अनुसार मोटरसाइकिलसे अपने क्षेत्रमें जानेके लिये तैयार था। अचानक आँखोंके सामने अँधेरा छा गया, दिलकी धड़कन तेज हो गयी। मैं बहुत परेशान था। थोड़ी देर बाद वहाँके स्थानीय डॉक्टरको

बुलाया गया, जिन्होंने हृदयरोगकी शंका व्यक्त की। फिर मुझे हृदयरोगके एक विशेषज्ञ डॉक्टरके पास ले जाया गया। उन्होंने बताया हार्ट ब्लॉक हो गया है। यह सुनकर मैं अत्यन्त व्याकुल हो उठा, क्योंकि बच्चे बहुत छोटे-छोटे थे और मुझे अपने उपचारका कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। मैं अपनी जीवनलीला समाप्त समझ एकदम निराश एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। एक दिन मेरे एक पड़ोसीने जो परम धार्मिक विचारके थे, मुझे एक विरक्त गुरुदेवकी शरणमें जानेकी सलाह दी। मैं वहाँ गया और आँखोंमें आँसू-भरे अपना दुखड़ा कह सुनाया। गुरुका हृदय पिघल गया और श्रीगुरुदेवजीने 'श्रीरामनाम'का जप करनेका आदेश दिया। मेरे हृदयकी गति असामान्य थी और दम काफी फूल रहा था। रह-रहकर हृदयमें दर्द भी हो जाया करता था। जब-जब मुझे दर्द होता तब-तब मैं 'श्रीरामनाम'का जप करने लग जाता। जपनेके बाद मुझे राहत मिलती। धीरे-धीरे भगवन्नाम-जपमें विश्वास दृढ़ होने लगा। उधर उस चिकित्सकने मुझे आयुर्विज्ञान-संस्थान, दिल्ली जानेकी सलाह दी। मैंने श्रीगुरुदेवजीसे आदेश माँगा कि क्या करूँ। उन्होंने भी मुझे शीघ्र जानेको कहा।

मैंने दिल्ली जाकर वहाँके हृदयरोग-विशेषज्ञ डॉक्टरको दिखाया। उन्होंने पूर्णत: परीक्षण करनेके पश्चात् हृदयगतिको ठीक करनेके लिये 'पेसमेकर' नामक एक यन्त्र लगानेका सुझाव दिया। यह यन्त्र अत्यन्त खर्चीला पड़ रहा था। इसके लिये एक अच्छी-खासी रकमकी आवश्यकता थी, जिसकी व्यवस्था कर पाना मेरी सामर्थ्यके बाहर था। अत: विवश होकर मैं लौट आया और पुन: श्रीगुरुदेवजीके चरणोंमें अपनी विवशता जाहिर की। श्रीगुरुदेवजीने मेरी नब्ज अपने हाथोंमें क्षणभरके लिये लेकर कहा—आजसे सभी दवाइयाँ बंद कर दो और *'श्रीराम जय राम जय जय राम'* का नियमित जप शुरू कर दो। भगवान्की कृपा हुई तो भगवन्नाम-महामन्त्रके जपके साथ-ही-साथ तुम्हारी हृदयगति भी क्रमश: ठीक होती जायगी।

मैंने श्रद्धा और विश्वासके साथ जप शुरू किया और दूसरे ही दिनसे हृदयकी गतिमें सुधार मालूम पड़ने लगा। अब मैं और भी करुण-भक्तिभावसे तन्मय होकर 'श्रीरामनाम'का जप करने लगा। धीरे-धीरे इस मन्त्रका ऐसा चमत्कारपूर्ण प्रभाव हुआ कि मेरा हृदयरोग पूर्णतया ठीक हो गया और आज मैं बिलकुल स्वस्थ हूँ तथा उसी मन्त्रके सहारे जीवन धारण किये हूँ।

भगवान्में श्रद्धा, आस्था, भक्ति एवं दृढ़ अनुरागका ही यह परिणाम है कि आज मैं अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वोंका निर्वहन करते हुए सुखपूर्वक भगवत्स्मरणमें तल्लीन रह रहा हूँ। धन्य है, श्रीरामनामकी महिमा।

—श्रीदर्पनारायणसिंहजी

(५)

प्रभु-स्मरण ही सर्वोपरि शक्ति

घटना ३० जनवरी १९९६ की है। मैं अपने देवरकी लड़कीकी सगाईमें इंदौर गयी थी। कार्यक्रम सम्पन्न होनेके बाद मैं अपने बड़े बेटेके साथ इंदौरसे भोपाल वापस आ रही थी। हम लोग करीब सवा बारह बजे इंदौरसे चले थे। थोड़ी ही दूर जानेके बाद सिहोर नामक एक स्थानसे जैसे ही हमारी बस रेलवे-क्रासिंग पार करके कुछ आगे बढ़ी कि फंदा गाँवके निकट एक मिनी बस जो भोपालसे सिहोरकी ओर बहुत तेज गतिसे आ रही थी, हमारी बससे आमने-सामने बड़ी जोरसे टकरा गयी। मैं और मेरा बेटा— दोनों सबसे आगेवाली सीटपर बैठे थे। टक्कर इतनी जोरदार थी कि मेरी तो दिलकी धड़कन ही बंद हो गयी थी। मैं बेहोश होकर गिर गयी। पर भगवान्ने मेरे बेटेको बड़ी हिम्मत दी। मेरी ऐसी हालत देखकर भगवत्प्रेरणासे निरन्तर भगवन्नाम-स्मरण करता हुआ वह कुछ समयतक मेरे हार्टको दबाता रहा। उसके इस प्रयत्नसे मेरी साँस धीरे-धीरे फिरसे यथावत् शुरू हो गयी। मेरी स्थिति कुछ ठीक देखकर वह अत्यन्त भाव-विभोर हो कुछ क्षणके लिये भगवत्कृपाके वशीभूत हो उन्हीं परब्रह्म परमेश्वरके ध्यानमें निमग्न हो गया। मैंने बेहोश होनेके पहले अपना अन्तिम समय जान भगवान्का नाम लिया था। उस समय मैंने मौतको बहुत करीबसे

देखा। लेकिन उस दयालु प्रभुकी कृपा और माँ दुर्गाकी कृपासे हम माँ-बेटेको कुछ मामूली चोटें ही आयी थीं, जो धीरे-धीरे ठीक हो गयीं। उस बस तथा मिनी बसके करीब ७ यात्री तो वहीं खत्म हो गये थे। ४५ घायल यात्रियोंमें १७ की हालत गम्भीर थी। हम लोग उन सभीके कल्याणार्थ परमपिता परमेश्वरसे प्रार्थना कर रहे थे कि 'हे प्रभो! इन दीन शरणागतोंकी रक्षाका योग-क्षेम आपके हाथमें है, अत: इनकी रक्षा करें।' बादमें उन सभीको अस्पतालमें उपचारके लिये ले जाया गया। जो धीरे-धीरे ठीक हो गये। मेरे मायके और ससुरालमें शुरूसे ही धार्मिक वातावरण था। मैं भी बचपनसे ही नियमित रूपसे यथासाध्य पूजा-पाठ करती रहती थी। उस संस्कारजनित प्रभावसे ही सामूहिक कल्याणके लिये भगवत्प्रार्थनाकी प्रेरणा प्राप्त हुई और उस दयालु प्रभुने ही हम लोगोंकी जान बचायी। मैं उस परम प्रभुका लाख-लाख धन्यवाद करती हूँ, जिनके स्मरणमात्रसे हम सभीका कल्याण हो गया।

—अनुराधा मंडलोई

(६)

आस्थाका सम्बल

लातूर शहरमें लगभग २०० वर्ष-पूर्व निर्मित एक अतिप्राचीन श्रीहनुमान्‌जीका मन्दिर है, जिसका नाम है 'श्रीसेंट्रल हनुमान् देवस्थान'। इस मन्दिरमें अन्य देवी-देवताओंकी १४ मूर्तियाँ भी स्थापित हैं। इन्हीं १४ मूर्तियोंको, स्थापनाके लिये लाने-हेतु मैं अपने कुछ साथियोंके साथ लातूरसे ही एक मेटाडोर लेकर जयपुरके लिये रवाना हुआ। वहाँ पहुँचकर हमलोगोंने मूर्तियोंको मेटाडोरमें भर लिया और लातूरके लिये वापस चल पड़े। जयपुरमें ही एक चौराहेपर राजस्थान पुलिसने हमें रोककर कहा—'मेटाडोरमें सामान ले जाना अपराध है, इसलिये बारह सौ रुपयेका चालान किया जा रहा है' और यहाँसे आपलोग यह सामान उतारकर किसी ट्रकसे लेकर जाइये। ऐसा निर्देश देकर पुलिसवालोंने हमलोगोंको गाड़ीसहित वहीं रोक दिया। साथके सभी लोग परेशान हो गये, किंतु मेरे मनमें अटूट विश्वास था कि पवनपुत्र हमें कोई कष्ट नहीं होने देंगे। अभी मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि सहसा एक ट्रैफिक इन्सपेक्टर वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने हमें न जानते हुए भी उन पुलिसवालोंसे कहा कि 'हमें इन्हें रोकना नहीं चाहिये, ये लोग अच्छे कार्यमें लगे हुए हैं, इन्हें तुरंत जाने दिया जाय'। तत्पश्चात् हमें बिना कोई कष्ट दिये आगे जानेके लिये छोड़ दिया गया। जैसे ही हमलोग शामको लगभग ८ बजे इंदौरके निकट पहुँचे हमारी गाड़ी खराब हो गयी। मूसलाधार वर्षा होने लगी, घना जंगल तथा अँधेरा होनेके कारण कुछ भी दिखायी नहीं दे रहा था, साथ ही जोरोंसे भूख लगनेके कारण हम सभी परेशान थे। आगरा-बंबई राष्ट्रिय मार्ग होनेसे गाड़ियाँ अत्यन्त तीव्रगतिसे आ-जा रही थीं। रोकनेपर भी कोई रुक नहीं रहा था। हम सभीने अपने-अपने मनमें श्रीहनुमानचालीसाका पाठ करना शुरू कर दिया। इसके बाद मैंने दृढ़ विश्वासके साथ कहा कि पवनपुत्र हनुमान् आधे घंटेमें ही अवश्य कोई व्यवस्था करेंगे। इतनेमें एक मुसलमान सज्जनने अपनी भरी हुई ट्रक लाकर हमारे समीप खड़ी कर दी और हमसे कहा कि ऐसे निर्जन प्रदेशमें रुकना ठीक नहीं और उन्होंने अपने ट्रकके पीछे हमारी गाड़ी बँधवाकर उसे खींचते हुए एक सुरक्षित स्थानपर जहाँ एक पेट्रोल-पंप था, हमें छोड़ दिया तथा बिना कोई शुल्क लिये वे आगे निकल गये और स्वयं ही आगेसे एक मिस्त्री भी उन्होंने भेज दिया, जिसने तुरंत हमारी गाड़ी ठीक कर दी। यह हनुमान्‌जीकी कृपाका प्रत्यक्ष फल था। पवनपुत्रपर किये दृढ़ विश्वासके कारण ही हम सब सुरक्षित लातूर पहुँच गये। आज 'श्रीसेंट्रल हनुमान् देवस्थान' लातूरका एकमेव सुन्दर देवस्थान माना जाता है। जो इस समय समस्त भारतीय जन-मानसके लिये आस्था एवं विश्वासका प्रतीक बना हुआ है।

—रामेश्वर रामचन्द्रजी तिवारी

मनन करने योग्य

नया अवतार

कञ्चनवर्णकी कायावाले नौजवान नन्दूको न मालूम कैसे अकस्मात् गलित कुष्ठका रोग लग गया। रोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। शरीरसे दुर्गन्ध फैल रही थी, वह सबके लिये अस्पृश्य-सा बन गया था। नन्दूके माता-पिता स्वर्गवासी हो चुके थे। भाई-भाभी थे, किंतु अब वे नन्दूके पास जानेको तैयार नहीं थे। पड़ोसके लोग नन्दूको खेतके एक छप्परमें छोड़ आये थे। टूटी-फूटी चारपाईपर पड़ा-पड़ा नन्दू राम-रामका मन्द स्वरसे उच्चारण करता दिन काट रहा था। जंगलमें किसीको दया आ जाती तो थोड़ा पानी और रोटीके दो टुकड़े मिल जाते। असहाय नन्दू केवल इसीलिये जी रहा था कि उसकी मृत्यु नहीं आ रही थी।

गाँवके लोग कहते थे—'अब नन्दू थोड़े ही दिनोंका मेहमान है।' राम-नामके अतिरिक्त अब उसका कोई दूसरा सहारा नहीं था। भाई-भाभीके लिये तो वह कबका मर चुका था।

जंगलके बीच खेतके रास्तेसे एक किशोर जा रहा था कि उसे 'पानी.......पानी'की आवाज सुनायी दी। आज दिनभर नन्दूको पानी भी नहीं मिला था। पानीकी पुकार सुनते ही बाल-हृदयमें दयाका स्रोत उमड़ पड़ा। उसके पाँव उस झोंपड़ीकी ओर खिंचने लगे। दूरसे ही बदबू आ रही थी, किंतु हृदयकी दयाकी सुवाससे वह दुर्गन्ध दब जाती थी। झोंपड़ीमें पहुँचते ही किशोरने प्रश्न किया—'क्यों नन्दू, पानी पीना है क्या? मैं अभी ला देता हूँ......।'

'नहीं, मेरे भाई!' किशोरको देखकर नन्दूकी आँखोंमें आँसू आ गये। वह बोला—'तू चला जा यहाँसे, मुझे अब मरने दे, कहीं तुझे रोग लग जायगा तो........।' कहते-कहते नन्दू फूट-फूटकर रोने लगा।

'नहीं, नन्दू! नहीं!' किशोरने दृढ़तासे कहा—'रोग लगता हो तो भले लगे, किंतु मैं तुम्हें पानी बिना मरने नहीं दूँगा।'

कोनेमें पड़ी टूटी हुई मटकी लेकर किशोर पासके कुएँपर गया और पानी लेकर आ पहुँचा। आकर उसने नन्दूको पानी पिलाया। नन्दू प्रसन्न हो गया, वह किशोरको आशीर्वाद देने लगा।

परंतु किशोरको अभी संतोष नहीं हुआ था। वह जल्दीसे दौड़कर अपने खेतमें गया और घासकी गठरी उठाकर अपने घर आया। जाते ही उसने अपनी माँसे नन्दूके दुःखकी बात कह सुनायी। माँ भी साक्षात् दयाकी देवी थी। उसने कहा—'बेटा, तूने जो किया, बहुत अच्छा किया, अब तुझे भी भूख तो लगी होगी, परंतु बेचारा नन्दू न मालूम कितने दिनोंसे भूखा पड़ा होगा, ये रोटियाँ और साग लेकर दौड़ते हुए जाकर उसे दे आ। बेटा! अपने पेटकी तो कुत्ते भी चिन्ता करते हैं, जो दूसरेके पेटकी चिन्ता करे, वही सच्चा मानव है।'

किशोरने जाकर नन्दूको भोजन दिया। नन्दू भोजन पाकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसको लगा—जैसे इस किशोरके रूपमें आकर साक्षात् भगवान् ही उसे भोजन दे रहे हैं। रोटी खाते-खाते नन्दू सोच रहा था—'मेरा प्यारा राम प्रत्येकके हृदयमें बैठा हुआ है, उसमें भी 'हारेको हरिनाम' तो निराशाके घोर अन्धकारमें भी अमृतका काम करता है। मनुष्य तो मात्र अपनी ही चिन्ता करता है, मेरा राम तो सारी दुनियाको खिलाकर ही खाता है।'

थोड़े ही दिनोंमें नन्दूकी चिन्ताका भार किशोरके माता-पिताने ले लिया। माता-पिता और किशोर बालक—तीनोंने मिलकर नन्दूकी सेवा-शुश्रूषा शुरू की। औषध, पथ्य और स्नेहयुक्त मानवीयताके स्पर्शसे नन्दू धीरे-धीरे अच्छा होने लगा। अब नन्दूको अपने शरीरमें चन्दनकी-सी शीतलताका अनुभव होने लगा।

भला-चंगा होनेमें ६—८ मास लग गये, किंतु अच्छा होनेके बाद नन्दू साक्षात् श्रद्धा एवं मानवताकी प्रतिमूर्ति ही बन गया और किसीका भी दुःख-दर्द सुनकर वह तत्क्षण ही उसकी सेवा-शुश्रूषामें लग जाता था। वह मानता था—'ईश्वरने मुझे 'नया अवतार' इसीलिये दिया है कि मैं दूसरोंके दुःख-दर्दको अपना दुःख-दर्द समझूँ।'

[अखण्ड आनन्द]

श्रीगीता-जयन्ती

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(गीता ६। ३०-३१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जगत्‌में दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-कर्मपर आरूढ़ करानेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये ही यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्-शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही है। इसका विश्वमें जितना वास्तविक रूपमें अधिक प्रचार होगा, उतना ही वह सच्चे सुख-शान्तिकी ओर आगे बढ़ सकेगा।

मार्गशीर्ष शुक्ल ११ शुक्रवार, दिनाङ्क २० दिसम्बर १९९६ ई० को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीता-प्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये। आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है। इस पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य होने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थ-पूजन।

(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन।

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके हेतु गीता-प्रचारार्थ एवं समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्य-परायण बनानेकी महती शिक्षाके लिये इस परम पुण्य दिवसका स्मृतिमहोत्सव मनाना तथा उसके संदर्भमें सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन एवं भगवन्नाम-संकीर्तन आदि करना-कराना।

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीता-पाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण आदि।

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीता-कथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्‌का विशेषरूपसे पूजन और आरती करना।

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा (जुलूस) निकालना।

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदयोंद्वारा गीता-सम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करने और करानेका संकल्प लेना, तदर्थ प्रेरणा देना और—

(९) देश, काल, पात्र (परिस्थिति)-के अनुसार गीता-सम्बन्धी अन्य कार्यक्रम अनुष्ठित होना चाहिये।

—सम्पादक